ॐ

श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० २९

समयसार प्रवचन

तृतीय भाग

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत

श्री समयसार शास्त्र पर

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के

प्रवचन

अनुवादक --

पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

— प्रकाशक —

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पा० ट्रस्ट

मारोठ (मारवाड)

प्रकाशक—

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी

दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्टान्तर्गत

श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मारोठ (मारवाड़)

मूल्य साढ़े पाँच रुपये

प्रथमावृत्ति प्रति १००० वीर सं ४७८

मई १९५२

मुद्रक—

नेमीचन्द बाकलीवाल

एम० के० मिल्स प्रेस, मदनगंज (किशनगढ़)

—ॐ—

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के विषय में उल्लेख
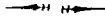
वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द
कुन्द प्रभा प्रणयि कीर्ति विभूषिताश ।
यश्चार-चारण कराम्बुजचञ्चरीक—
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि-शिलालेख

अर्थ —कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणों के चारण ऋद्धिधारी महामुनिओं के करकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे प्रभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नहीं हैं ?

* * * *

कोण्डकुन्दो यतीन्द्र ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त—
र्बाह्येपि सव्यञ्जयितु यतीश ।
रज पद भूमितल विहाय
चचार मन्ये चतुरङ्गुल स ॥

[विन्ध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थ —यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रजस्थान भूमितल को छोड़कर चार अगुल ऊपर आकाश मे गमन करते थे, उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु अन्तर में, वैसे ही बाह्य में, रज से (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अतरग में वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे)।

• • • •

जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणति ॥

[दर्शनसार]

अर्थ —(महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमधर स्वामी से प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञानके द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते ?

• • • •

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के विषय में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रकाशकीय

आज ग्रंथाधिराज श्री समयसार प्रवचन के तृतीय भाग को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रंथाधिराज मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्वलाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओं को मोक्षमार्ग में लगाने के मूल कारणभूत इस ग्रंथराज की विस्तृत व्याख्या के प्रकाशन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात है।

इस ग्रंथराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इस समयसार के स्मरण मात्र से हा मुमुक्षु जीवों के हृदयरूपी वीणा के तार आनन्द से झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रथम भागकी प्रस्तावनामें दिया हुआ है इसलिये यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांग का निचोड़ स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्व इस समयसार में कूट कूट कर भरा गया है, एव यह ग्रंथराज भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनि से सीधा सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रमाणीक है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का हमारे ऊपर महान् उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधार कर १००८ श्री सीमन्धर भगवान के पादमूल में आठ दिवस तक रह कर भगवान की दिव्यध्वनिरूप अमृत का पेट भर कर साक्षात् पान किया, और भरतक्षेत्र पधार कर हम भव्य जीवों के लिये उस अमृत को श्री समयसार, श्री प्रवचनसार श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, अष्टपाहुड आदि ग्रंथों के रूप

परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग रहे हैं एवम् भविष्य में भी लगेंगे।

इसीप्रकार समयसार के अत्यन्त गम्भीर एवम् गूढ रहस्यों को प्रकाशन करने वाले श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने भी भगवान के गणधर (जो ॐकार रूप ध्वनि को द्वादशांगरूप में विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थ के गम्भीर रहस्यों को खोलने का कार्य किया है, इसलिये उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान् उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवम् रुचि की मंदता के कारण हम लोग उस टीका को भी यथार्थरूप में नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवम् रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगा कर तत्व की जगह अतत्व प्राप्त करके मिथ्यात्व को और भी दृढ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसार के अभ्यास का ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समय में हमारे सद्भाग्य से समयसार के मर्मज्ञ एवम् अनुभवी पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामीके सत् समागम का महान् लाभ हम मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुनने वाला धुनिया रुई के बंधे पिंड को धुन धुनकर एक एक तार अलग अलग करके विस्तृत कर देता है उसीप्रकार आपने भी समयसार के एवम् उसकी टीका के गम्भीर से गम्भीर एवम गूढ रहस्यों को इतनी सरल एवम् सादी भाषा में खोल खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धि वाला भी, इसको यथार्थ रुचि के साथ ग्रहण कर लेने से, अनन्तकाल में नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्ग को सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये हम वर्तमान बुद्धि वाले जीवों पर तो श्री कानजी महाराज का महान् उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराज को नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्गकी प्राप्ति कैसे होती? इसलिये हमारे पास आपके उपकारका वर्णन करने के लिये कोई शब्द ही नहीं हैं। मात्र श्रद्धा के साथ आपको प्रणाम करते हैं।

ही मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता था और उसी से पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे धीरे जीवों की रुचि, आयु, बल और क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवान के निर्वाण होने के करीब पांचसौ वर्ष बाद ही मोक्षमार्ग के मूल प्रयोजनभूत तत्व का श्री कुंदकुंद देव द्वारा ग्रन्थरूप में सङ्कलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उनके एकहजार वर्ष बाद ही श्री अमृतचन्द्राचार्य देव द्वारा उसकी और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या होगई, और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एकहजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या श्री कानजी स्वामी द्वारा होरही है। यह सब इस बात के द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवान का मार्ग इस काल के अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसका पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजी स्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी सङ्कलना किसप्रकार किसके द्वारा और क्यों की गई, यह सब प्रथम भाग की प्रस्तावना में खुलासा किया गया है। यह प्रवचन गुजराती भाषा में गाथा १४४ तक के प्रकाशित हो चुके हैं और आगे का प्रकाशन चालू है। उन प्रवचनों का हिन्दी भाषा-भाषी भी पूरा लाभ लेवें, इस भावना को लेकर इनका हिंदी में प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसमें से प्रथम भाग में समयसार की गाथा १ से १२ तक पर पूज्य महाराजजी के प्रवचन प्रकाशित हुये हैं तथा द्वितीय भागमें गाथा १३ से गाथा ३३ तक पर जो प्रवचन हुये थे प्रकाशित हो चुके हैं अब इस तृतीय भागमें गाथा ३४ से गाथा ६८ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं, इसप्रकार प्रथम गाथा से ६८ गाथा तक पर जो गंभीर रहस्यों को खोलने वाला अध्यात्म मूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन हुये वे प्रकाश में आगये हैं-आशा है मुमुक्षुगण इन प्रवचनों द्वारा अपने आत्म तत्व को पहिचान कर सत्स मागम द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करेंगे।

अन्तमें पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजी स्वामी को मेरा अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसार को नष्ट कर देने वाले सत्धर्म की प्राप्ति हुई।

भवदीय—

नेमीचन्द पाटनी प्रधान मन्त्री
श्री मगनमल हीरालाल पाटनी
दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट
मारोठ (मारवाड़)

कार्तिक शुक्ला १
वीर नि० सं० २४७८

शुद्धि-पत्र

पत्र नं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
१	७	रामका	रामको
७	३	पीछे	निरन्तर जितना अशमें
१६	५	कपाय	कषाय
४१	१७	वाल	वाला
५६	२४	माँस	प्रथम माँस–
६५	१३	सममाने का	समझने का
१०२	५	समक	सम्यक्
१०४	५	ना कर्मको	नोकर्म को
११८	२०	अपनान	अपना
११६	२	पूज	पूजा
१६६	१८	कामणि	कार्मण
१७०	२६	परिश्रय	परिश्रम
१७८	२२	?हीसण	दरीसण
१८२	११	वाधक	बाधक
१८२	१०	दिये	लिये
१८२	१८	हो	०
१६०	१८	परमार्थ में	व्यवहार म
१६८	२०	व्यवहारनयन	व्यवहारनय न
२०३	३	औ	और
२०८	६	आमा	आत्मा
२१२	४	उष्णता	उष्ण
२२१	१३	खवरन हीं	खबर नहीं
२२७	१६	चली ती	चली जाती
२३०	१७	स	रस
२३२	१	ज्ञानावरणीय कर्मका वध कमवध हुआ, और इसलिये	०

पत्र न०	लाइन्	अशुद्धि	शुद्धि
१	७	रामका	रामको
७	३	पीछे	निरन्तर जितना अशमें
१६	५	कपाय	कषाय
४१	१७	वाल	बाला
५६	२४	माँस	प्रथम माँस-
६५	१३	सममाने का	समझने का
१०२	५	समक	सम्यक्
१०४	५	ना कर्मको	नोकर्म को
११८	२२	अपनान	अपना
११९	२	पून	पूजा
१६९	११	कामणि	कार्मण
१७०	२६	परिश्रय	परिश्रम
१७८	२२	दहीसए	दरीसए
१८२	११	बाधर	बाधक
१८२	१२	दिये	लिये
१८२	१८	हो	०
१९०	१८	परमाथ में	व्यवहार में
१९८	२२	यवहारनयन	व्यवहारनय न
२०३	३	औ	और
२०८	९	आमा	आत्मा
२१२	४	उष्णता	उष्ण
२२१	१३	गनरन हीं	ग्यर नहीं
२२७	१६	चली ती	चली जाती
२३०	१७	स	रस
२३२	१	ज्ञानावरणीय कर्मका बध कमबध हुआ, और इसलिये	०

पत्र नं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
२४८	५	क्रमश नहीं	तमाश
२४८	८	भाव	भान
२४८	१०	स्वामित्य	स्वामित्व
२६३	१६	द्रव्यलोक	द्रव्य लोक
२६६	२१	धव	ध्रुव
२७३	२७	पूर्व	पूब पढे
२८१	१७	ज्ञान	ज्ञान
२८६	८	सर्था	तथा
३२३	२८	आशक्ति	आसक्ति
३२७	१७	पुण्प	पुण्य
३५६	२६	मिर्मल	निर्मल
३६०	७	विया	विया
३६०	१३	पयाय	पर्याय
३६१	२०	श्रत	श्रुत
३७२	१२	नव	दस
३७४	१	सम्यक्	सम्यक
३७४	१२	प्रकोर	प्रकार
३९०	६	हस्तमालकयत्	हस्तामलकवत्
४३२	२७	सरूपी	अरूपी
४३३	२०	अथा	अन्यथा
४६३	१३	भी तरसे	भीतर
४७२	२७	यह	यह मूठा आगम है और निमि
४७७	२६	ज्ञात–	ज्ञाता–
४८६	२	प्रदति	प्रटति
४८६	१६	पपच	प्रपच
४९२	१८	बीज	बीन
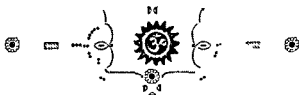
श्री समयसार प्रवचन

तीसरा भाग

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

श्री समयसार शास्त्र पर

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

गाथा ३४ से प्रारम्भ

शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवान ! इस आत्मारामका अन्य द्रव्य का त्याग-वह किसे कहा जाता है ? इस आत्माराम को पर को छोड़ना-वह क्या है ? शिष्य त्यागकी बात समझता है, तथापि गुरुके निकट विनय पूर्वक त्यागकी बात पूछता है, ऐसे आकांक्षी जीवको गुरु उत्तर देते हैं।

सव्वे भावे जह्मा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

अर्थ —जिससे 'अपने अतिरिक्त सब पदार्थ पर हैं'—ऐसा जान कर प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है, इससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा नियमसे जानना। अपने ज्ञानमें त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, अन्य कुछ नहीं।

ज्ञान प्रत्याख्यान है, यह बात लोगोंको कैसे जमे ? जिस बालकने बकरी का दूध पिया हो उसे भरपूर मक्खनबड़े और गुलाबजामुन कैसे पच सकते हैं ? उसीप्रकार जिसे अनंतकालसे विपरीत पोषण मिला हो उसे यह बात सुनकर आघात लगता है, किन्तु पात्र जीवोंको यह सुनते ही उल्लास आ जाता है कि—अहो ! यह बात हमने कभी नहीं सुनी;—ऐसा उल्लास आनेसे वे पात्र हो जाते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्यने कहा है कि 'भावि निर्वाणभाजनम्'—इसप्रकार वे पात्र जीव आत्माका भान करके, चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त करनेके लिये तैयार हो जाते हैं।

जगतमें जब सत् प्रगट होता है उससमय जो पात्रजीव होते हैं वे यथार्थरूपसे समझकर स्वीकार करते हैं और जो अपात्र हैं वे विपरीत धारणा बनाते हैं।

जैसे—श्री ऋषभदेव भगवान प्रथम तीर्थंकर होने से पूर्व इस भरत क्षेत्रमें अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपमका धर्मका अंतर था, उतने समयतक कोई तीर्थंकर नहीं हुए थे, पाचवाँ गुणस्थान भी उतने कालमें किसी को नहीं होता था। अकेले जुगलिया थे, वे जुगलिया मरकर देव होते थे, मनुष्य भी नहीं होते थे, तिर्यंच भी नहीं होते थे, एकेन्द्रिय भी नहीं होते थे, और न नरक में भी जाते थे,—मात्र देव भवमें ही सब जाते थे। लेकिन जब श्री ऋषभदेव भगवान को केवलज्ञान हुआ और दिव्यध्वनि खिरी तथा वह ध्वनि समस्त जीवों ने सुनी कि वहाँ विभाग हो गये और मनुष्य, तिर्यंच, नरक और सिद्ध, चारों गतियाँ चालू हो गईं—देव गति तो थी ही। कल्पवृक्षमें फलों की कमी होने लगी इसलिये सबको पहले जैसा समभाव था वह न रहकर किसीको क्रोधकी तीव्रता और किसीको मंदता–ऐसा होने लगा। कल्पवृक्षके फल जब कम पड़ने लगे उस समय लोग आपसमें झगड़ने लगे। कोई बादमें आये और कहे कि—मुझे पहले खाने दो, मुझे बहुत भूख लगी है, तब दूसरा बोले कि—तुझे कैसे खाने दूँ ? पहले हम आये हैं। और तीसरा कहे कि–

भाइ इसीको पहले खा लेने दो, इसे जोरों से भूख लगी है इसलिये यह भले पहले खा ले, हम बादमें खा लेंगे— इसप्रकार कितने ही क्रोधकी मंदता, कितने ही तीव्रता और अनेक विलकुल छोड़ने लगे,-इसप्रकार अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपममें जो भग नहीं पड़ा था वह पड़ने लगा और विरोध अविरोधके भाव होने लगे। जिन्होंने मंदकषाय करके शांत परिणाम रखे थे वे जीव योग्यपात्र थे, भगवानकी दिव्य ध्वनि सुनकर उन्हें ऐसा लगा कि—अहो ! यह स्वरूप ! पुण्य-पापसे पृथक्, अकेला, निराला और निर्मल – ऐसा हमारे आत्मा का स्वरूप !—ऐसा समझ कर अनेक तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए, अनेकोंने मुनित्व ले लिया, अनेक केवलज्ञानको प्राप्त हुए और अनेक ध्वनि सुनकर ऐसे विरोधमें पड़े कि नरक-निगोदमें जानेके परिणाम प्रारम्भ हो गये और चौबीस दण्डकमें जानेकी तैयारी करली।

प्रश्न—भगवानकी दिव्य ध्वनि सुनकर पात्र जीवोंने सत्यको समझा, उन्हें सब बातें यथार्थ-योग्य मालूम हुईं और अपात्र जीवोंने विपरीत मान्यता बनाली, सब मिथ्या मालूम हुआ—वह किसके कारण ?

उत्तर—अपने कारण, भगवानकी दिव्यध्वनिमें तो क्रोध और क्षमा के स्वरूपका पूरा उपदेश आता है, उसमें जिन्होंने फल खाते समय क्रोध किया था उन्हें ऐसा लगा कि—देखो तो, मेरी ही बात लगा रखी है कि—क्रोधका फल ऐसा, क्रोधका फल वैसा। हमने क्रोध किया था इसलिये हमें सुना रहे हैं—इसप्रकार कषायकी तीव्रता करने लगे, उन्होंने दुर्गतिकी तैयारी की। जहाँ भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी वहाँ सीधे और उलटे—दो पक्ष तुरन्त होगये। सत्य बात प्रगट होने पर सच्चेको सच्चा बल और झूठेको मिथ्याबल आये बिना नहीं रहता।—यह वस्तु स्वभाव है, जिसप्रकार समझमें आये समझो !

आचार्यदेव कहते हैं कि तत्त्वज्ञानकी गुप्त बात प्रगट होने पर जो पात्रजीव थे वे सम्यग्दर्शन प्राप्त करके क्रमशः चारित्र ग्रहण करके केवल

नान प्राप्त करनेवाले हैं। हमें यह शास्त्र रचनेका विकल्प उठा है इसलिये प्राणी तैयार होनेवाले हैं—यह निश्चय है।

अब आचार्यदेव प्रत्याख्यानका उत्तर देते हैं। यह भगवान ज्ञाता द्रव्य है,—वह अन्य द्रव्यके स्वभावसे होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, वे अपने स्वभावभाव द्वारा व्याप्त न होनेसे, पररूप जानकर त्याग करता है वही प्रत्याख्यान है।

अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं, शुभाशुभपरिणाम भी पर हैं, दयाकी वृत्ति होना शुभ है और हिंसाकी वृत्ति होना अशुभ है, और मैं परसे निराला, निर्दोष, ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा जानकर ज्ञानमें एकाग्र होता है वह प्रत्याख्यान है।

मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ—ऐसा भान होने पर उसी समय वीतराग नहीं हो जाता। अल्प राग-द्वेष होते हैं उन्हें दूर करके स्थिर होना सो प्रत्याख्यान है।

ज्ञान प्रत्याख्यान अर्थात् आत्मा परसे निराला है;- उस ज्ञातामें ज्ञातारूपसे स्थिर हुआ और जो जो वृत्तियाँ उठें उनमें नहीं रुका वह प्रत्याख्यान है, इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

कोई कहे कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है इसलिये आनंद करो! लेकिन भाइ! ज्ञान अर्थात् अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना सो प्रत्याख्यान है उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसा नियमसे जानता कि जो पर है सो मैं नहीं हूँ, व्रत और अव्रतके परिणामोंको छोड़कर जो ज्ञान की एकाग्रतारूप परिणाम हैं वही प्रत्याख्यान है।

हे शिष्य! अपने अतिरिक्त सब पदार्थ पर हैं। शरीरादि और पुण्य पापके परिणाम वह सब पर हैं। यह सब जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं वे परभाव हैं—ऐसा जानकर उनका त्याग करता है वह प्रत्याख्यान है। इस

प्रकार जो ज्ञानमें एकाग्र होता है वह प्रत्याख्यान है, इससे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। आत्माको परका त्याग नहीं है, किंतु ज्ञानसे वह सब पर है—ऐसा जानना ही परवस्तुका त्याग है। ज्ञानमें परके त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है।

मैं निर्दोष हूँ, ज्ञाता हूँ और विकार होता है वह मेरी अवस्थामें होता है, लेकिन वह मेरा स्वरूप नहीं है,—ऐसा जानकर ज्ञानमें रहना सो प्रत्याख्यान है।

ज्ञानमूर्ति चैतन्य स्वभावमें रागरूप विकारका त्याग और ज्ञानकी एकाग्रताको ही श्री तीर्थंकरदेव सच्चे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं, उसके अतिरिक्त प्रत्याख्यानका स्वरूप कहीं बाहरमें नहीं होता।

सम्यक्दर्शन हुआ तबसे भगवान कहा है, मानसे भगवान कहा है, एक-दो भवमें मोक्ष जाता है इसलिये भगवान कहा है, भविष्यका भगवान है इसलिये भगवान कहा है।

किसी रंक-भिखारीसे कहा जाये कि—तू भगवान है, तो वह कहेगा कि—भाई साहब! मुझको भगवान मत कहो! उसके हृदयमें तो जो धनवान पैसेवाले सेठ हैं उनका माहात्म्य है। जब कोई सेठ घर आये तो कहता है कि—आओ सेठ साहब, पधारो! किंतु सर्वश्रेष्ठ जो भगवान आत्मा है उसकी जिसे श्रद्धा हुई वही सच्चा श्रेष्ठ (सेठ) है, उसे आचार्यदेवने भगवान कहा है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ अन्य द्रव्यके स्वभावसे होनेवाले अन्य समस्त परभावोंका ज्ञाता-द्रष्टा रहता है। अन्य समस्त राग-द्वेष, पुण्य हो अथवा पाप हो, मनके परिणाम हों या अशक्ति, अथवा विकल्प हो या मोदक,—वह सब परभाव है, वह सब अन्य वस्तुमें डाल दिया है। एक ओर अकेला भगवान आत्मा और दूसरी ओर वह समस्त जड़का दल कहा है। पुरुषार्थकी निर्बलताको भी गौण करके जड़का दल कहा है।

विकारी अवस्थाको छोड़ता है, और अतीत छूट चुकी है वह सब पर-भाव है। प्रत्याख्यानी जीव ऐसा जानता है कि—पुण्य-पापके परिणामरूप विकारी अवस्था मेरे स्वभाव द्वारा व्याप्त नहीं है, वह मेरे स्वभावमें प्रसरित नहीं होती। मेरा स्वभावकी वृद्धि शरीर, मन, वाणीकी क्रियासे या शुभाशुभ परिणामोंसे नहीं हो सकती, मेरा जो परसे निराला वीतरागस्वभाव है उसीसे मेरे स्वभावकी वृद्धि होती है। मेरे स्वभावकी वृद्धि हो तो वह निर्मल अवस्थारूप होती है, किन्तु रागरूपसे वृद्धि हो वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे स्वभावमें से रागकी वृद्धि नहीं हो सकती।

कर्मके निमित्तसे यह जो किंचित् भी उपाधि दिखाई देती है, वह मेरे निर्मल स्वभाव द्वारा व्याप्त न होनेसे, पर द्वारा व्याप्त होनेसे, परके द्वारा प्रसरित होनेसे वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा पररूपसे जानकर उसका त्याग करते हैं।

हाथ जोड़कर खड़ा हो जाना प्रत्याख्यान नहीं है, वह तो व्यवहार कहलाता है। हाथ जोड़कर खड़े होनेका व्यवहार ज्ञानीके भी होता है। देखो, यहाँ विनयपूर्वक गुरुसे पूछते हैं न! जहाँ आत्माका भान हो वहाँ विनय और व्रतादिका व्यवहार होता है। गुरुके निकट विनय करके व्यवहारकी शुभभावकी विधि करते हैं, किन्तु जानते हैं कि यह व्रतादिका शुभभाव भी मेरे स्वभावमें से उत्पन्न नहीं होता। शुभभाव होता है, तथापि उसका स्वीकार नहीं है, स्वीकार तो एक अखंड ज्ञायकका है। व्रत लूँ और चारित्र ग्रहण करूँ—वह विकल्प भी मेरे द्वारा व्याप्त नहीं है, वे सब अन्य द्रव्यसे होनेवाले विकार हैं। मेरे चैतन्य स्वभावका वह विस्तार नहीं है, कर्मभावसे होने वाला परका विस्तार है। ज्ञानीको व्रत लेनेकी शुभवृत्ति उठती है, परन्तु वे जानते हैं कि—यह वृत्ति मेरे स्वभावमें प्रसरित नहीं है, मेरे स्वभावका यह विस्तार नहीं है, इसका विस्तार और प्रसरित होना परमें है। मेरे स्वभावके विस्तारमें तो अनन्तज्ञान और शांति होती है। चारित्र लेनेका विकल्प उठे वह भी अन्यभाव है। चारित्र लेनेका जो विकल्प उठा उसका त्याग करना

चाहते हैं, जो वर्तमान विकल्प है उसका त्याग करने—नाश करनेकी इच्छा रखते हैं। सम्यक्दर्शन होनेके पश्चात् श्रावकके बारह व्रत और मुनिके पंच महाव्रत—ये सब पुण्य परिणाम हैं, उनके पीछे अकषायभावकी स्थिरता है वह निश्चयचारित्र है।

ज्ञानी समझते हैं कि मेरे पुरुषार्थकी मदतासे पुण्य-पापकी वृत्तियाँ मुझमें होती हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, तब फिर शरीरादि तो कहाँ से मेरेमें होंगे?

जिसने ऐसा जान लिया कि यह मैं नहीं हूँ, वही जानकर स्थिर होता है? दूसरा कोई त्याग करनेवाला नहीं है—ऐसा जहाँ भान हो, पश्चात् जो मन का शुभ विकल्प उठा वह व्यवहार प्रत्याख्यान है और स्वभाव में स्थिर होना वह परमार्थ व्रत है।

ज्ञान ने यह जाना कि–शुभाशुभ की वृत्ति भी विकार है, वह मलिन है, वह मैं नहीं हूँ,—इसप्रकार आत्मामें निश्चय करके प्रथम सम्यक्दर्शन हुआ, दर्शन होने के पश्चात् प्रत्याख्यानके समय बीचमें ज्ञान क्या कार्य करता है उसकी सधि ली है कि–स्वरूप की जो अविकारी निर्विकल्प स्थिरता है सो मैं हूँ–ऐसा जानकर शुभवृत्ति उठी वह मैं नहीं हूँ–ऐसी बीचमें ज्ञानकी सधि की है।

अकेले चैतन्य स्वभाव में सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि है कि जो भाव ज्ञात होता है उसका मैं ज्ञाता हूँ। राग–द्वेपका त्याग करूँ, विकारको छोड़ूँ,—ऐसे जो भाव हैं वे भी उपाधि मात्र हैं;–ऐसा ज्ञानी समझते हैं।

मैं परका ज्ञाता हूँ, किन्तु उसमें एकाकार होने वाला नहीं हूँ–ऐसा निश्चय करके प्रत्याख्यानके समय राग–द्वेप को छोड़ूँ–ऐसा भाव भी शुभ विकल्प है, उपाधिमात्र है। राग पर्याय को छोड़ दूँ–ऐसा उपाधिभाव स्वभाव में नहीं है। मैं निर्विकारी शुद्ध चिदानंद स्वरूप हूँ, ऐसा भान करके उसमें स्थिर होने

से वह राग पर्याय सहज ही छूट जाती है। उसे छोड़ने की ओर लक्ष रखने से नहीं छूटती, किंतु आनंद मूर्ति आत्मा में स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाती है। आत्मा स्वभाव से राग–द्वेष रहित है, उसमें परवृत्ति को छोड़ूँ यह नाममात्र है, उपाधि है। 'अकेले आत्मा में' इतना भी नहीं चल सकता।

प्रत्याख्यान के समय रागादिकके त्याग का कर्तृत्व नाममात्र है, राग छूटता है सो असद्भूत व्यवहार नय से है। और स्वभाव में स्थिर होना सो सद्भूत व्यवहार है। यहाँ अकेली स्वभावदृष्टि रखी है, बहुत ही अच्छी टीका की है, इसमें कितना समावेश कर दिया है! मुनि और श्रावकके व्रत की यह बात की है, यह बात अत्यंत सूक्ष्म है।

यहाँ द्रव्य दृष्टिसे बात है। परका त्याग करूँ—ऐसा विकल्प भी परके ऊपर लक्ष जानेसे होता है, वह त्यागके कर्तृत्वका नाममात्र है, उपाधि स्वरूप है, शरीर, मन, वाणीका संयोग तो नहीं, किंतु त्याग की वृत्तिमें भी एकमेक न होनेवाला–ऐसा मैं आत्मा हूँ, मैं परको छोड़ूँ—ऐसा विकल्प भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

परमार्थसे परके त्यागका नाम भी अपनेको नहीं है। यदि स्वभाव की दृष्टिसे देखा जाये तो राग द्वेषको छोड़ूँ—ऐसा कर्तापनेका नाम भी आत्माको नहीं है। प्रत्याख्यान करनेवाला सम्यक्त्वी विचार करता है कि– यह जो शुभभाव बन रहा है उसे मैंने जान लिया, लेकिन, 'विकारको छोड़ूँ'– ऐसे विकल्प भी जिसमें उपाधिमात्र भाव है— ऐसा मेरा चैतन्य स्वभाव अखंडानंद है। मेरा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, इसलिये मैंने यह तो जान लिया कि–'यह मैं हूँ, और यह पर है', लेकिन परका जो स्वरूप है वह मेरा नहीं है। रागको छोड़ूँ और अराग पर्यायको ग्रहण करूँ– वह भी व्यवहार है रागको छोड़ूँ और वीतराग भाव ग्रहण करूँ- यह भी व्यवहार है, राग द्वेषका व्यय और वीतरागी पर्यायकी उत्पत्ति सो व्यवहार है, रागको छोड़कर स्वरूपमें स्थिर होना भी व्यवहार है। सहज स्वभावमें स्थिर होकर राग द्वेषको

छोड़ूँ और निर्मल पर्यायको अंगीकार करूँ—वह भी व्यवहार है। अस्थिर पर्याय दूर होकर स्थिर पर्याय प्रगट हुई—उन दो भेदोंका लक्ष नहीं है किन्तु ध्रुव पर ही लक्ष है। स्वसन्मुख होकर जिस समय पर्याय प्रगट होती है उसी समय अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि है वह ध्रुवदृष्टि है। सम्यक्दृष्टि पर्यायको ग्रहण न करके ध्रुवको ग्रहण करता है। चारित्रकी शक्ति, व्यक्तिकी पर्याय पर लक्ष देनेसे रागकी कीली बीचमें आती है, इससे चारित्रपर्याय विकसित नहीं होती। इसलिये मोक्षपर्याय, चारित्रपर्याय ग्रहण न करके, उसपर लक्ष न देकर, अकेले द्रव्य स्वभावके प्रति लक्ष देनेसे चारित्रपर्याय, मोक्षपर्याय प्रगट होती है,—उस ध्रुवदृष्टिकी यहाँ बात है। स्वभावकी दृष्टिके बलसे अवस्थाको गौण कर देते हैं, उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह यथार्थ बात है, तीन कालमें नहीं बदल सकती। ऐसी बात भी न सुनी हो वहाँ प्रत्याख्यान तो हो ही कैसे सकता है? शरीर है सो मैं हूँ—ऐसा माननेवाले मिथ्या दृष्टिकी तो बात ही कहाँ रही? आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु! तू अपनी प्रभुताके बिना कहाँ स्थिर रहेगा? अर्थात् भान बिना प्रत्याख्यान कहाँसे होगा?

यह बात बहुत उत्तम है। भाई! संसारकी बातें तो अनंत बार सुनी हैं, किन्तु यदि जन्म मरणको दूर करना हो तो एक बार यह बात अवश्य सुनना पड़ेगी।

परमार्थसे देखा जाये तो परभावके कर्तृत्वका नाम भी आत्माके नहीं है। यह छोड़ दूँ, वह छोड़ दूँ—इस उपाधिसे आत्मा रहित है, क्योंकि स्वयं तो अपने ज्ञान स्वभावसे अर्थात द्रव्य स्वभावसे छूटा नहीं है। यहाँ ज्ञानको द्रव्य कहा है। स्वयं अखण्डस्वभावी है, ध्रुव है—उससे कभी भी पृथक् नहीं हुआ है, इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। इसके अतिरिक्त जगतमें प्रत्याख्यानका दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। मलिन अवस्था दूर होकर निर्मल अवस्थाकी वृद्धि होती है, उसपर सम्यग्दृष्टिका लक्ष नहीं है, किन्तु द्रव्य पर

से यह राग पर्याय सहज ही छूट जाती है। उसे छोड़ने की ओर लक्ष रखने से नहीं छूटती, किंतु आनद मूर्ति आत्मा में स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाती है। आत्मा स्वभाव से राग–द्वेष रहित है, उसमें परवृत्ति को छोड़ूँ वह नाममात्र है, उपाधि है। 'अकेले आत्मा में' इतना भी नहीं चल सकता।

प्रत्याख्यान के समय रागादिकके त्याग का कर्तृत्व नाममात्र है, राग छूटता है सो असद्भूत व्यवहार नय से है। और स्वभाव में स्थिर होना सो सद्भूत व्यवहार है। यहाँ अकेली स्वभावदृष्टि रखी है, बहुत ही अच्छी टीका की है, इसमें कितना समावेश कर दिया है! मुनि और श्रावकके व्रत की यह बात की है, यह बात अत्यन्त सूक्ष्म है।

यहाँ द्रव्य दृष्टिसे बात है। परका त्याग करूँ—ऐसा विकल्प भी परके ऊपर लक्ष जानेसे होता है, वह त्यागके कर्तृत्वका नाममात्र है, उपाधि स्वरूप है, शरीर, मन, वाणीका सयोग तो नहीं, किन्तु त्याग की वृत्तिमें भी एकमेक न होनेवाला–एसा मै आत्मा हूँ, मै परको छोड़ूँ—एसा विकल्प भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

परमार्थसे परके त्यागका नाम भी अपनेको नहीं है। यदि स्वभाव की दृष्टिसे देखा जाये तो राग द्वेषको छोड़ूँ—एसा कर्तापनेका नाम भी आत्माको नहीं है। प्रत्याख्यान करनेवाला सम्यक्त्वी विचार करता है कि–यह जो शुभभाव वर्त रहा है उसे मैंने जान लिया, लेकिन, 'विकारको छोड़ूँ'–ऐसे विकल्प भी जिसमें उपाधिमात्र भाव है—एसा मेरा चैतन्य स्वभाव अखडानन्द है। मेरा स्व पर प्रकाशक स्वभाव है, इसलिये मैंने यह तो जान लिया कि–'यह मै हूँ, और यह पर है', लेकिन परका जो स्वरूप है वह मेरा नहीं है। रागको छोड़ूँ और अराग पर्यायको ग्रहण करूँ– वह भी व्यवहार है रागको छोड़ूँ और वीतराग भाव ग्रहण करूँ–यह भी व्यवहार है, राग द्वेषका व्यय और वीतरागी पर्यायकी उत्पत्ति सो व्यवहार है, रागको छोड़कर स्वरूपमें स्थिर होना भी व्यवहार है। सहज स्वभावमे स्थिर होकर राग द्वेषको

छोड़ूँ और निर्मल पर्यायको अंगीकार करूँ—यह भी व्यवहार है। अस्थिर पर्याय दूर होकर स्थिर पर्याय प्रगट हुई—उन दो भेदोंका लक्ष नहीं है, किन्तु ध्रुव पर ही लक्ष है। स्वसन्मुख होकर जिस समय पर्याय प्रगट होती है उसी समय अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि है वह ध्रुवदृष्टि है। सम्यक्दृष्टि पर्यायको ग्रहण न करके ध्रुवको ग्रहण करता है। चारित्रकी शक्ति, व्यक्तिकी पर्याय पर लक्ष देनेसे रागकी कीली बीचमें आती है, इससे चारित्रपर्याय विकसित नहीं होती। इसलिये मोक्षपर्याय, चारित्रपर्याय ग्रहण न करके, उसपर लक्ष न देकर, अकेले द्रव्य स्वभावके प्रति लक्ष देनेसे चारित्रपर्याय, मोक्षपर्याय प्रगट होती है,—उस ध्रुवदृष्टिकी यहाँ बात है। स्वभावकी दृष्टिके बलमें अवस्थाको गौण कर देते हैं, उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह यथार्थ बात है, तीन कालमें नहीं बदल सकती। ऐसी बात भी न सुनी हो वहाँ प्रत्याख्यान तो हो ही कैसे सकता है? शरीर है सो मैं हूँ—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही कहाँ रही? आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु! तू अपनी प्रभुताके बिना कहाँ स्थिर रहेगा? अर्थात् भान बिना प्रत्याख्यान कहाँसे होगा?

यह बात बहुत उत्तम है। भाई! संसारकी बातें तो अनंत बार सुनी हैं, किन्तु यदि जन्म-मरणको दूर करना हो तो एक बार यह बात अवश्य सुनना पड़ेगी।

परमार्थसे देखा जाये तो परभावके कर्तृत्वका नाम भी आत्माके नहीं है। यह छोड़ दूँ, यह छोड़ दूँ—इस उपाधिसे आत्मा रहित है, क्योंकि स्वयं तो अपने ज्ञान स्वभावसे अर्थात् द्रव्य स्वभावसे छूटा नहीं है। यहाँ ज्ञानको द्रव्य कहा है। स्वयं अखण्डस्वभावी है, ध्रुव है—उससे कभी भी पृथक् नहीं हुआ है, इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। इसके अतिरिक्त जगतमें प्रत्याख्यानका दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। मलिन अवस्था दूर होकर निर्मल अवस्थाकी वृद्धि होती है, उसपर सम्यक्दृष्टिका लक्ष नहीं है, किन्तु द्रव्य पर

लक्ष है। इसमें अनत पुरुषार्थ है। परकी ओर लक्ष जाता है कि-राग द्वेषको छोड़ दूँ, वह भी अपना स्वरूप नहीं है, वह उपाधिमात्र है, नाममात्र है। वास्तवमें अपने स्वभावमें स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाता है, यही चारित्र है—ऐसा भगवानने कहा है। इसीका अनुभव करना सो प्रत्याख्यान है, दूसरा कोई प्रत्याख्यानका स्वरूप नहीं है।

यह प्रत्याख्यानकी व्याख्या चल रही है। लोग कहते हैं कि त्याग करो, त्याग करो, तो त्यागका क्या स्वरूप होगा? त्याग क्या वस्तु है? कोई गुण है या किसी पदार्थ की अवस्था है? क्योंकि जो भी शब्द बोला जाता है वह किसी द्रव्यका या गुणका अथवा तो पर्यायका अवलम्बन लेकर कहा जाता है। त्याग क्या किसी परवस्तुका होता है? कि किसी राग द्वेपका त्याग है? या स्वरूपमें एकाग्र रहना सो त्याग है?

आत्माके मूल स्वभावमें ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आत्माने परको ग्रहण किया हो तभी उसका त्याग करे न? इससे स्वरूपको पहिचान कर उसमें स्थिर रहना ही त्याग है और वह आत्माकी निर्मल पर्याय है। मकान, कुटुम्ब, लक्ष्मी आदि कहीं आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो गये हैं, फिर उनका त्याग कैसे कहा जा सकता है? वे मकानादि आत्मामें नहीं किंतु मान्यतामें प्रविष्ट हो गये हैं। जीवन मान लिया है कि-शरीर, मन, वाणी, मकान, स्त्री, लक्ष्मी आदि सब मेरे हैं—वही उसका अत्याग भाव है।

जो विपरीत माना था उसका भान हुआ कि-यह मैं नहीं हूँ, मेरे स्वभावका विस्तार विकाररूप नहीं है, मै एक आत्मा हूँ और जानने देखने का मेरा स्वभाव है, उसमें परनिमित्तसे क्रोध, मान, माया और लोभका जो विस्तार दिखाई देता है वह मेरे आत्माके स्वभावका विस्तार नहीं है। राग द्वेष को छोड़ देना भी व्यवहार है। आत्माके अखण्ड शुद्ध निर्मल स्वभावमें जितने अशसे स्थिर हुआ उतने अश सो राग द्वेप सहज ही छूट जाता है, उसे त्याग कहते हैं।

भारतवर्षके लोग त्यागके नामपर ठगे जा रहे हैं। अनेक साधु सन्यासी त्याग लेकर निकल पड़े हैं। उनका बाह्य त्याग देखकर भारतवर्ष ठगा जाता है, क्योंकि इतनी यहाँ आर्यता है, त्यागका प्रेम है इससे यहाँके लोग त्यागके बहाने ठगे जाते हैं, किन्तु सच्ची पहिचान नहीं करते।

संसार लोलुपी जीवोंने किसी सेठ साहूकारोंको या अमलदार पदवी धारियोंको बड़े मान रखा है किंतु क्या वह वास्तवमें बड़ा हो गया? इसी प्रकार कलके भिखारीने आज वेश बदल दिया, स्त्री, कुटुम्बको छोड़ दिया,तो इससे क्या वह त्यागी होगया? सबने मिलकर त्यागी मान लिया, तो क्या बाह्य संयोग वियोगसे त्याग है? अन्तरमें कुछ परिवर्तन हुआ है या नहीं वह तो देख। बाहरसे दिखाई देता है कि अहो, कैसा त्यागी है! स्त्री नहीं, बच्चे नहीं, जंगलमें रहता है—ऐसे बाह्य त्यागको देखकर बड़ा मानते हैं, लेकिन त्यागका क्या स्वरूप है उसे नहीं समझते। बाह्य पदार्थोंको छोड़ना अपने हाथकी बात नहीं है, तब फिर अपने हाथमें ऐसा क्या है जिसे स्वयं छोड़ सकता है? मैं शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूँ—ऐसे स्वभावका मान करके विकार में—पुण्य-पापमें युक्त न होना और स्वभावमें रहना अपने हाथकी बात है, उसीका नाम त्याग है। ऐसा त्याग आने पर मकान, स्त्री, कुटुम्बका त्याग सहज ही हो जाता है।

ज्ञानी विचार करते हैं कि अहो! मैं स्वयं ही महिमावन्त हूँ, एक पृथक् ज्ञान पिण्ड हूँ, उसमें विकार हो ही नहीं सकता। क्रोधादिका कर्तृत्व भी मुझमें नहीं है, मैं तो एक ज्ञाता पदार्थ हूँ, जिसमें न तो विकल्प हैं और न राग-द्वेष। जिसकी महिमा पुण्य-पापसे अर्थात् बाह्य ऋद्धिसे नहीं आँकी जा सकती ऐसा आत्मा भगवान अर्थात् महिमावंत है। ज्ञानी विचार करते हैं कि-मेरी वस्तु ही महिमावंत है। मेरे स्वभावके सन्मुख इन्द्रासन भी सड़े हुए तिनकोंके समान है।

त्याग करनेवाला प्रथम दशामें क्या विचार करता है? कि कर्म और उसके संयोगसे होनेवाले मन और अन्नके परिणाम अन्य, समस्त पर

भाव हैं, विकार हैं, श्रावकके बारह व्रत और मुनियोंके पचमहाव्रत भी विकार है, क्योंकि उन विकारोंका अपने अर्थात् मेरे स्वभाव द्वारा विस्तार नहीं है। मैं अकेला वीतराग ज्ञानस्वरूप हूँ इसलिये उन सबका मुझमें विस्तार नहीं है, मेरा विस्तार मुझमें है, मेरे ज्ञान स्वरूपके अतिरिक्त जो बदलते हैं, खण्ड स्वरूप हैं,—ऐसे जो व्रतादिके परिणाम होते हैं उनमें एकरूप नहीं होता, किंतु मैं ज्ञाता तो पृथक्का पृथक् ही रहता हूँ—इससे वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो निर्दोष सत्-तत्त्व हूँ,—इसप्रकार प्रत्याख्यान लेनेवाला प्रथम विचार करता है, इसलिये जो पहले जानता है वही बादमें छोड़ता है। *प्रत्याख्यान करनेवालेकी प्रथम भूमिका कैसी होती है, त्यागीकी दशा कैसी होती है*-यह यहाँ कहा जा रहा है। सम्यग्दर्शनके पश्चात् पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान कैसा होता है—उसकी यह बात है।

मैं अकेला निर्दोष ज्ञाता हूँ-ऐसा जो जानता है वह पुण्य-पापकी विकारी वासनाका ज्ञाता है। वह ज्ञाता ज्ञायक भावमें स्थिर रहकर छोड़ता है। विकल्प उठे कि—इसे छोड़ दूँ, वह भी शुभभाव है, उसे भी ज्ञाता, ज्ञानमें रहकर छोड़ता है। साक्षी ही उसे छोड़नेवाला है दूसरा कोई छोड़नेवाला नहीं है, इससे जिसने जाना वही त्याग करता है। जिसने परभावोंको विकारी जाना, वे स्वभावके नहीं हैं— ऐसी प्रतीति की वही फिर उनमें युक्त नहीं होता।

प्रत्याख्यान लेनेवाला समझता है कि परको जानते समय मैं अपने स्वभावको ही निश्चयसे जानता हूँ। मेरा स्व पर प्रकाशक स्वभाव है उसीको मैं जानता हूँ। *यह विकारी भाव मेरे नहीं हैं*, मेरे स्वभावमें से वे प्रगट नहीं होते ऐसा जाननेवाला ही उनमें युक्त नहीं होता। पर पदार्थोंके प्रति जो प्रीति आसक्ति है वह मुझ ज्ञाताके स्वभावमें नहीं है, मेरे स्वभावमें से वह प्रगट नहीं होते;—ऐसा जाननेवाला त्याग करता है, छोड़ता है। इस प्रकार जो जानता है वही बादमें त्याग करता है।

आजकल जगतमें त्यागके नामपर अँधाधुन्धी चल रही है। धुजड़े-काछी जैसों ने भटे-भाजीकी तरह व्रतोंका मूल्य कर दिया है। प्रत्याख्यानका स्वरूप क्या है उसे नहीं समझते। यथार्थ स्वरूप समझे विना व्रतादिके शुभ भाव करे तो पुण्य भले हो, किन्तु जो अपनी भूमिका नहीं है उसे माने और मनाये तो वह कषायकी तीव्रता है, मिथ्यादर्शनकी तीव्रता है, ऐसे भान विना किये गये अनंत व्रतोंको अज्ञानरूपी भैंसा खा गया। ये शुभ छोड़कर अशुभ परिणाम करनेकी यह बात नहीं है, किन्तु यथार्थ पहिचान करनेकी बात है।

जो पहले परको अपना मानता था वह अब अपने स्वरूप को समझ कर ज्ञानी होता हुआ त्यागका निश्चय करता है कि—मै अपने स्वरूप में स्थिर हो जाऊँ तो विकल्प सहज ही छूट जाते हैं। ऐसा निश्चय करने के पश्चात् त्याग करता है।

इसमें कहीं पुनुरुक्ति दोष नहीं लगता, किन्तु पुष्टि होती है। जिस प्रकार प्रतिदिन रोटी खाते रहने पर भी उसके प्रति अरुचि नहीं आती। जहाँ रुचि है वहाँ पुनुरुक्ति दोष नहीं मानता, तो फिर इस बात में भी पुनुरुक्ति दोष नहीं लगता, किन्तु भाव की दृढ़ता होती है। जिसे रुचि होती है उसे बारम्बार सुनने से अरुचि नहीं आती, किन्तु अपूर्वता मालूम होती है।

प्रत्याख्यान के समय जो विकल्प आते हैं कि—व्रत ग्रहण करूँ, नियम ले लूँ, स्वच्छंद को छोड़ दूँ, अव्रत छोड़ दूँ—वे सब उपाधिमात्र हैं। 'छोड़ दूँ'—ऐसी कर्तृत्व बुद्धि भी आत्मा में नहीं है। परमार्थ से मैं ज्ञायक ही हूँ—इस दृष्टि से देखा जाये तो परभाव के कर्तृत्व का नाममात्र भी अपने को नहीं है। मैं जहाँ अपने ज्ञायक स्वभाव में स्थिर होऊँ वहाँ विकल्प अपने आप छूट जाता है, प्रत्याख्यान हो जाता है।

मैं आत्मा चिदानन्द, निर्दोष वीतराग मूर्ति हूँ, उसमें राग-द्वेष को छोड़ूँ—ऐसा अवकाश स्वभाव में नहीं है। वे अपने में प्रविष्ट होगये हों तभी तो उन्हें छोड़ा जा सकता है। ग्रहण किया हो तभी त्याग हो न! कुटुम्ब,

मकान, लक्ष्मी आदि परवस्तु का सयोग छोड़ूँ तो गुण हो–ऐसा नहीं है, और राग–द्वेष को छोड़ूँ तो गुण हो–ऐसा भी नहीं है, किन्तु भीतर आत्मा में गुण भरे हैं उसमें से प्रगट होते हैं। जिसमें गुण न हों उसमें से प्रगट नहीं होते। आत्मा में निर्विकल्प, वीतराग स्वभाव भरा है उसमें एकाग्र होऊँ तो गुण प्रगट होते हैं।

भीतर गुण भरे हैं उनमें से प्रगट होते हैं, वे बाहर से नहीं आते, गुण स्वय प्रगट नहीं होता किन्तु गुण की अवस्था प्रगट होती है। गुणकी अवस्था में त्याग अत्याग के दो भेद हैं, गुण में वे भेद नहीं हैं। (गुणमें अवस्था का आरोप करके गुण प्रगट हुआ–ऐसा कहा जाता है।) मैं गुण-मूर्ति आत्मा अखण्ड हूँ, भीतर गुण भरे हुए हैं उनमें से गुणों की अवस्था आती है–ऐसा मान करके उसमें स्थिर हुआ वहाँ राग–द्वेष की अवस्था सहज ही दूर हो जाती है और प्रत्याख्यान की अवस्था प्रगट होती है। सम्यक् दर्शन होने के पश्चात् अणुव्रत और महाव्रत के शुभपरिणाम आते हैं। वह जानता है कि यह मेरे चेतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है, किन्तु आस्रव का स्वरूप है, मैं तो चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ;–इस प्रकार स्वभावदृष्टिके बलमें शुभाशुभ भाव की अवस्था का अभाव करने से ज्ञान की जो अवस्था स्थिर होती है उसका नाम प्रत्याख्यान है, त्याग है। द्रव्य और गुण त्रिकाल शुद्ध हैं, किन्तु वर्तमान अवस्थामें जो वासना होती है वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा स्वभाव नहीं है। ज्ञानी विचार करता है कि मैं ध्रुवस्वरूप हूँ, ऐसी स्वभाव दृष्टि के बलमें अवस्था निर्मल हुई, उस निर्मल अवस्था का उत्पाद हुआ और अव्रत अवस्थाका व्यय हुआ वह प्रत्याख्यान है।

ज्ञानीको भी पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण अल्प आसक्ति अर्थात् अल्प राग द्वेष होते हैं, लेकिन उसे तीव्र पुरुषार्थसे दूर करना चाहते हैं। ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्य पर जमी है, उस दृष्टि द्वारा वह आसक्तिको अपना स्वरूप नहीं मानता। मैं इसे छोड़ दूँ–यह भी नाममात्र है, उपाधिमात्र है, क्योंकि स्वभाव

में स्थिर होनेसे वह सहज ही छूट जाता है। ज्ञानस्वभावसे पृथक् नहीं है इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानकी निर्मल अवस्था ही प्रत्याख्यान है। 'ज्ञान' शब्दसे यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों समझना चाहिए।

वस्तु स्वभाव जैसा है वैसा है। जनता प्रत्याख्यानका कोई अन्य स्वरूप माने तो उससे वहीं स्वरूप नहीं बदल सकता। श्री कुंदकुंदाचार्यदेवने जगतके पास प्रत्याख्यानका स्पष्ट स्वरूप रखा है। ज्ञानमें वृद्धि हुई अर्थात् वह अपने स्वभावमें स्थिर-एकाग्र हुआ, वही सच्चा प्रत्याख्यान, वही सच्चा त्याग, वही सच्चा वैराग्य, वही सच्चा नियम, शेष सब इकाई रहित शून्यके समान हैं। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् आगे बढ़ने पर अणुव्रत और महाव्रत के शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते, किन्तु वह चारित्रका स्वरूप नहीं है। स्वभाव दृष्टिमें उस शुभभावकी स्वीकृति नहीं है। आत्मामें शुभाशुभ-भावसे रहित अमुक अंशमें स्वरूप स्थिरता हुई और अव्रत परिणामका त्याग हुआ वह पाँचवीं भूमिका है और स्वरूपमें विशेष रमणता सो मुनिपना है। इसीका नाम सच्चा त्याग और सच्चा चारित्र है।

जीवोंको वैराग्य नहीं आता। जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। पाँच हजार रुपये वेतन मिलता हो, स्त्री बच्चे मौजूद हों, उनमेंसे चले जाते हैं। कुत्ते-बिल्ली जैसे मरण करके चले जाते हैं, उसमें मानव जीवनका क्या फल? सच्चा फल नहीं है, किन्तु परिभ्रमणका फल तो है ही।

ऐसा प्रत्याख्यानका स्वरूप लोगोंने कहीं नहीं सुना होगा। बिलकुल अपरिचित अज्ञात बात है, उपदेशकसे भी अन्यरूपसे मानते हैं और मनवाते हैं। किन्तु—

भाई! वीतराग भगवान द्वारा कथित वस्तुका स्वरूप तो अपूर्व है। अपूर्व क्यों न हो! बिलकुल अनजाना मार्ग है। लोग सस्तेमें धर्म मान बैठे हैं।

> लह्यु स्वरूप न वृत्तिनु, ग्रह्यु व्रत अभिमान
> ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान।
>
> (श्रीमद् राजचंद्र)

वृत्तियाँ क्या कार्य करती हैं और स्वरूप क्या है–उसे नहीं जाना, और हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं—ऐसा अभिमान किया, किन्तु भाई ! अज्ञान रूपी भैंसा ऐसे तेरे अनेक व्रत-चारित्ररूपी पूलोंको खा गया। स्वभावको जाने बिना निर्मल त्यागकी अवस्था प्रगट नहीं होती। अज्ञानभावसे अनादि कालके कषायको मद करे तो पुण्य बंध हो, किन्तु उसमें बाह्य बड़प्पन और और आदर-मानकी इच्छा हो तो पाप बन्ध होता है, पुण्य बंध भी नहीं होता।

यदि पाँच हजार कंकड़ लेकर जाये तो हीरा नहीं मिल सकता, उसीप्रकार विपरीत मान्यताका विष इकट्ठा करके अपूर्व आत्माका अमृत लेने जाये तो नहीं मिलेगा। लाखों करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी यह अपूर्व बात सुननेको नहीं मिल सकती।

मैं आत्मा शांत पवित्र हूँ, उसमें नवीन वासना उत्पन्न न होने देना और अपने में स्थिर होना ही त्याग है। परके अवलम्बन से या आश्रय से त्याग हुआ—ऐसा नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें स्थिर हुआ वही सच्चा व्रत है, और व्रतका शुभभावरूप विकल्प उठे वह व्यवहार व्रत है। प्रथम सम्यक् दर्शन होता है, तत्पश्चात् पाँचवाँ गुणस्थान आता है और फिर छठवाँ चैतन्य आत्मा संयोगी-विकारी भावों से पृथक् है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान बिना स्वरूपोन्मुख होने का प्रयास कहाँ से हो ? और प्रयास हुए बिना अनित्य क्षणिक विकारी भावों का त्याग कहाँ से हो ? और विकारी भाव दूर हुए बिना चारित्र कहाँ से हो ? और चारित्र हुए बिना केवलज्ञान अर्थात् चैतन्यकी पूर्ण निर्मल स्वभाव दशा कैसे प्रगट हो ? इसलिये सम्यक् दर्शनके बिना सच्चे व्रत नहीं होते। संसार संसार के भावों से बना हुआ है। स्वभाव स्वभावमें है, उसे लूटने के लिये कोई समर्थ नहीं है। ३४।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो ! विकार मैं नहीं हूँ–ऐसा जाना हुआ ज्ञान स्थिर हुआ वही प्रत्याख्यान है, तो प्रभो ! उसका दृष्टान्त क्या है ? उसके उत्तर रूप गाथा कहते हैं —

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदु चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥ ३५ ॥

अर्थ —जिसप्रकार लोकमें कोइ पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है'— ऐसा जान ले, तब जानकर परवस्तु का त्यागकरता है, उसी प्रकार ज्ञानी सर्व परद्र‌्यों के भावों को 'यह परभाव हैं'—ऐसा जानकर उन्हें छोड़ता है ।

जैसे —किसी पुरुषने धोबीके यहाँ कपड़े धोनेको दिये, और वहाँ से अपने कपड़े लानेके बदले भ्रमसे किसी दूसरेके वस्त्र ले आया । चादर, धोती आदि वस्त्र दूसरेके थे और उसे लगा कि यह वस्त्र मेरे हैं,—ऐसे भ्रममें पड़कर दूसरेके कपड़े ले आया और ओढ़कर सो गया । यह चादर किसी दूसरे की है, इस बातकी खबर न होनेसे अपने आप अज्ञानी बन रहा है । दूसरा आदमी आकर उस चादर को पकड़कर खींचकर नग्न करता है खुल्ला करता है और बारम्बार कहता है कि—भाई ! शीघ्र जाग, सावधान हो, मेरा वस्त्र बदलेमें आगया है वह मुझे दे ! उस समय बारम्बार कहा हुआ वाक्य सुनकर, देखो, एकबार सुना-ऐसा नहीं, किंतु 'बारम्बार सुनकर' एसा कहा है । यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि पंचमकालके प्राणी एकबार कहनेसे जागृत नहीं होंगे, किंतु बारम्बार उपदेश देनेसे समझेंगे । इसमें दुसरी बात यह भी है कि— शिष्य सुननेका कामी है, रुचि है, अनादर नहीं करता । यहाँ लौकिकनीतिवाला शिष्य लिया है, बारम्बार कहा फिर भी अरुचि नहीं आती। तू ऐसा क्यों कह रहा है, बिना पूछे चादर क्यों खींच रहा है—एसी आकुलता नहीं करता, किंतु बारम्बार सुनता है, इसी प्रकार दृष्टान्त में भी लौकिकनीतिवाला लिया है । विचार करता है कि यह बारम्बार कह रहा है और जोरसे कहता है कि— मेरा वस्त्र दे ! इसलिये अवश्य यह वस्त्र उसीका मालूम होता है,-एसा निश्चित किया और जागृत होकर देखा, सब चिह्नोंसे परीक्षा की, और परीक्षा करके जान लिया कि अवश्य यह वस्त्र दूसरेका ही है । —एसा जानकर वस्त्रका ज्ञानी अर्थात् जानकार होकर वस्त्रको जल्दी छोड़ देता है । नीतिवाला मनुष्य है,

इसलिये जब उसने देखा कि ऐसे चिह्नोंवाला मेरा वस्त्र नहीं है यहाँ तुरंत उसे वापिस दे देता है। इतना भी नही कहता कि मै धोबीके यहाँसे अपने कपड़े ले आऊँगा, जब तेरे कपड़े दूँगा, किन्तु जल्दी छोड़ देता है। देखो, दृष्टान्त में भी कैसी नीति रखी है।

इसी प्रकार भगवान् आत्मा ज्ञाता है, किन्तु मिथ्यादृष्टिपनेके कारण भ्रमसे पर निमित्तसे होनेवाले विकारी भावोंको ग्रहण करके—अपना मानकर अपनेमें एकरूप किया कि—यह ज्ञाता चैतन्यज्योति और राग-द्वेष यह सब मैं ही हूँ, वे मेरे हैं,–इसप्रकार सो रहा है और अपने आप अज्ञानी होरहा है। 'अपने आप' अर्थात् किसीने बनाया नहीं है। अनादिका अज्ञानी है, उसकी जागृतिके समय गुरुकी उपस्थिति होती ही है। गुरुके निमित्त विना जागृति नहीं होती और स्वयं जागृत हो उस समय गुरु उपस्थित होते ही हैं—ऐसा यहाँ बतलाया है। अनादिका अज्ञानी होकर भ्रमसे सो रहा है उससे श्री गुरु कहते हैं कि–देख भाई! यह पर द्रव्य, शुभाशुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मात्र ज्ञातास्वरूप है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे पृथक बताकर कहते हैं कि तू शीघ्र जागृत हो, सावधान हो। यहाँ तो एक ही बात है कि जाग और सावधान हो! यह तेरा आत्मा जानता है–देखता है वह वास्तवमें ज्ञान मात्र है, उसका स्वभाव उपाधिमात्र नहीं है। जो उपाधिभाव ज्ञानमें भासित हों वे सब परभाव हैं, दूर करने योग्य हैं, नाशवान हैं, वह तेरा स्वभाव नहीं है। शिष्य पात्र है, इससे बारम्बार सुनकर भी अनादर नहीं करता किन्तु प्रसन्न होता है। श्री गुरु उसे भेदज्ञान कराते हैं–असंयोगी और संयोगीभाव–दोनोंका भेद करके विवेक कराते हैं कि जितना ज्ञाता उतना तू और जो यह विकारी खलबलाहट हो रही है उतना तू नहीं है।

गुरु कहते हैं कि तू देख! विकारी और अविकारीका मेल नहीं बैठ सकता। यह जो संयोगजनित विकारके भेद होते हैं वे परजन्य हैं, उपाधि हैं। जितने संयोगजनित विकार के भेद पड़ें यह तेरा स्वरूप नहीं है,

तू शीघ्र जाग, और सावधान हो ! यहाँ तो शास्त्रकारने शीघ्र जागनेकी ही बात की है कि—तू एकदम जाग और तैयार हो। चैतन्यज्योति आत्मा पर संयोगों से भिन्न है उसे तू भली भाँति देख ! अन्तरमें जानता है-देखता है वह ज्ञान मात्र आत्मा है। 'ज्ञानमात्र' कहनेसे अनंत गुण साथ ही आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो भासित हो वह संयोगजनित उपाधि है, वह दूर करने योग्य भाव है, रखने योग्य तो एक अपना स्वभाव ही है। देखो, शिष्य को ऐसा नहीं होना कि-एक ही बातको बारम्बार सुनाते हैं, उसमें शिष्यकी पात्रता है। गुरु बारबार कहते हैं उसमें दो प्रकार हुए। उसमें सुननेवाले जीवकी ओर से लिया जाये तो-आत्मा ऐसा है, ऐसा गुरुने कहा वहाँ सुननेको तत्पर रहता है और प्रेम से सुनता है, वहाँ गुरुको ऐसा लगा कि इसे यह बात रुचिकर लगती है, इसलिये बारम्बार सुनाते हैं।

बारम्बार कहना पड़ता है, इसमें दूसरी बात यह है कि पंचमकालके प्राणी हैं, इसलिये बारम्बार कहना पड़ता है, किन्तु बारम्बार सुनने पर भी शिष्यको अरुचि नहीं होती, अनादर नहीं करता, किन्तु जिज्ञासा बतलाता है, यह शिष्यकी पात्रता है। सीधी-सच्ची बात सुननेके लिये बारम्बार रुचि पूर्वक श्रवण करता है।

'आगमका वाक्य बारम्बार सुनता है'—ऐसा कहा है, अर्थात् आचार्य देव छद्मस्थ हैं, इसलिये सर्वज्ञ भगवान्के कहे हुए परमागमके वाक्य सुनते हैं, इसप्रकार आगमका आधार लेकर आचार्यदेव ने कहा है कि शिष्यने बारम्बार आगमके वाक्य सुने तब समस्त अपने और पर के लक्षणसे स्वयं परीक्षा करने लगा कि यह क्या है ? सुनते समय जिज्ञासाका भाव है और फिर उसका निर्णय करता है। विकारी और अविकारी दोनोंके लक्षणोंकी भलीभाँति परीक्षा करता है। भलीभाँति अर्थात् जो कभी बदल न सके इसप्रकार। परीक्षा किए बिना मान लेना वह ठीक नहीं है। जड़ और चेतन दोनोंके चिह्नको भली भाँति पहिचान कर निर्णय करता है। 'भलीभाँति' पर भार दिया है। शिष्यने

परीक्षा करके निर्णय किया है कि—यह जो आसक्ति और विकारीभाव दिखाई देते हैं वह अवश्य विकार ही है। पाप तो विकार है, किन्तु पुण्यके परिणाम भी विकार ही हैं। पाप तो मेरे नहीं हैं, किन्तु पुण्य भी मेरे होंगे या नहीं ?—ऐसी शका भी नहीं पड़ती,—निःशक है। यह अवश्य परभाव हैं और मै ज्ञानमात्र आत्मा हूँ—इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्माको जानकर ज्ञानी होता हुआ सब परभावोंको तत्काल छोड़ता है। जिसप्रकार दूसरे की वस्तुको अपना माना था, उसे पररूप जाना तब तत्काल छोड़ देता है, उसीप्रकार यथार्थ भान होनेसे परभावोंको तत्काल छोड़ देता है, फिर परभावोंको अपना नहीं मानता, यह प्रत्याख्यानका स्वरूप है। प्रत्याख्यान अरूपी आत्मा में होता है। स्वभाव के बलसे स्थिरताकी अवस्था प्रगट हुई वह अरूपी होती है। यह त्यागका स्वरूप बाह्यमें नहीं होता। ज्ञानी परभावोंको पर समझकर छोड़ता है उसका नाम सच्चा प्रत्याख्यान और सच्चा त्याग है।

पैंतीसवीं गाथामें ऐसा कहा कि आत्मा ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है। विकार और मलिनता ज्ञाताका स्वभाव नहीं है।—ऐसा जो ज्ञायक आत्मा है उसमें प्रत्याख्यान क्या वस्तु है, त्याग क्या वस्तु है, यह धोबीके दृष्टांत द्वारा कहा। जैसे, अज्ञानसे धोबीके यहाँ से अपने कपड़ोंके बदले दूसरेके कपड़े लाया हो, फिर जब कोई ऐसा बतलाये कि वे दूसरेके हैं, तब उन्हें परका समझकर छोड़ देता है।

इसप्रकार ज्ञानी गुरु द्वारा शास्त्रके वचन बारबार सुनकर, स्व परके लक्षणको जानकर, भली भाँति परीक्षा करके जाना कि शुभाशुभ भाव आकुलता स्वरूप हैं, यह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा ज्ञाताका स्वरूप तो निराकुल है, उसमें लीनता करना सो प्रत्याख्यानका स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना सच्चे व्रत प्रत्याख्यान हो ही नहीं सकते। आत्मा पर से निराला है—ऐसे भान बिना स्वरूपमें स्थिरता नहीं हो सकती। तत्त्वको जाने बिना कहाँ स्थिर हो ? अशुभ भावोंको दूर करके शुभ भाव करे वह सच्चे व्रत प्रत्याख्यानका स्वरूप नहीं है। ऐसे शुभ

भावोंसे अधिकांश पाप और किंचित् पुण्यका बंध होता है, क्योंकि उसे ऐसी श्रद्धा नहीं है कि मेरा यह आत्मा पुण्य पापके विकारसे पृथक् है। पुण्य पापका विकार मेरा है—ऐसा मानकर वह शुभभाव करता है। श्रद्धा विपरीत है इससे अधिकांश पाप और कुछ पुण्यका बंध होता है। शुभभाव है सो विकारी है, उस विकारी भावसे मुझ—अविकारी आत्माको गुण-लाभ होगा—ऐसा जिसने माना वह अपने आत्माकी हत्या करता है। इस देहमें विद्यमान आत्मा तो अनंत गुणोंकी मूर्ति है, ज्ञान-शांति आदि गुणोंका पिंड है, वह शुभाशुभ भावोंसे रहित है। ऐसा आत्माका माहात्म्य भूल गया, अर्थात् अपनेमें तो गुणोंको देखा नहीं, किन्तु अन्यत्र कहीं अपने अस्तित्वको मानकर ऐसा मानता है कि परमेंसे गुण आते हैं। किंतु भाई ! गुण तो गुणीमें होते हैं—बाहर नहीं होते। गुड़ और मिठास एक हैं, पृथक् नहीं हैं, उसीप्रकार आत्माके गुण आत्मामें हैं-बाहर नहीं हैं। आत्मा और आत्माके गुण दोनों एक हैं किन्तु पृथक् नहीं है। आत्मा भी एक नित्य वस्तु है, फिर उसमें गुण न हों—ऐसा कैसे हो सकता है ? आत्मामें तो अनंत गुण अनादिकालीन हैं, किन्तु स्वयं नहीं माना है। गुण तो भरे ही पड़े हैं किन्तु वर्तमान अवस्थामें भूल हुई है कि—राग-द्वेष हैं सो मैं हूँ और परमेंसे मेरे गुण आते हैं—यही अनादि कालीन भूल है। मैं निर्विकल्प ब्रह्मानन्द हूँ—ऐसा नहीं माना, इसलिये मानता है कि कहीं अन्यत्रसे गुण प्रगट होंगे, किंतु परसे गुण प्रगट नहीं होते। आत्म पदार्थ देहसे पृथक् सत्त्व क्या है, उसके माहात्म्यके बिना वह प्रगट नहीं होता। परका माहात्म्य करनेसे अपना स्वभाव प्रगट नहीं होता। पुण्यपरिणाम विकार है, विकारका माहात्म्य करनेसे निर्विकार स्वभाव प्रगट नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि शुभको छोड़कर अशुभ करना, दया, व्रत, पूजा, भक्ति आदिके शुभ परिणाम छोड़कर विषय, कषाय, काम, क्रोध आदिके अशुभ परिणाम करना, किन्तु शुभ करते २ आत्मधर्म प्रगट होगा, उसमेंसे मुक्तिका मार्ग मिलेगा, वह बात तीनकाल तीनलोकमें नहीं हो सकती।

प्रश्न —शुभ करते करते मार्ग सरल तो बनेगा न ?

उत्तर —शुभसे सरल नहीं होता। विष खानेसे अमृतकी डकार नहीं आती। सत् समागम द्वारा यथार्थ पहिचान करे तो मार्ग सरल होता है, बीचमें शुभ परिणाम आते अवश्य हैं, किंतु वे मार्गको सरल नहीं बना देते।

आजकल लोग जो शुभ परिणाम कर रहे हैं वे तो बहुत ही स्थूल शुभपरिणाम हैं, किंतु गत कालके प्रवाहमें अपने स्वभावकी अज्ञानतामें ऐसे शुभ परिणाम किये कि वैसे उच्च शुभ परिणाम करनेकी इस समय इस भरतक्षेत्रमें किसीकी शक्ति नहीं है। उसप्रकारके सूक्ष्म शुभ परिणाम पहले जीवने अनन्तबार किए हैं। नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको व्यवहारसे जाना, छहकायकी ऐसी दया पालन की कि एक हरियालीका पत्ता अथवा एक जुआरका दानाकी भी विराधना नहीं की, चमड़ी उतारकर नमक छिड़क दे, काँटे लगाकर जला दे तथापि क्रोध न करे—ऐसी क्षमा धारण की, स्वर्गसे इन्द्राणी डिगाने आयें तो भी न डिगे, ब्रह्मचर्यमें ऐसा अडिग हो कि मनसे विकल्प तक न आये, ऐसे उच्च शुभ परिणाम किए कि जिनसे नवमे ग्रैवेयकमें गया, किंतु जन्म-मरणका अंत नहीं आया, क्योंकि यह जो शुभ परिणाम कर रहा हूँ इनसे आत्मामें गुण प्रगट होंगे, लाभ होगा—ऐसा माना, किन्तु आत्मामें गुण भरे हैं उनकी श्रद्धा करूँ और उसमें एकाग्र होऊँ तो गुण प्रगट होंगे–ऐसा नहीं माना। शुभ भावका कर्ता होकर स्वभाव पर्याय विकसित होगी–ऐसा मानता है, किंतु उस भावसे मैं पृथक् हूँ, शुभके कर्तृत्वका नाश करनेसे मेरा निर्मल ज्ञान प्रगट होगा–ऐसा नहीं मानता। विपरीत भाव आत्माको सहायक होगा–इसी भावसे आत्मा अनादिसे फँसा है, विपरीत भाव सच्चे भावको (स्वभावको) सहायक होगा ऐसा मिथ्याभावसे संसार बना है। शुभभाव करके राजा हो, देव हो, किंतु संसारका भ्रमण दूर नहीं होता। यहाँ तो जन्म-मरणको दूर करनेकी बात है। विपरीत श्रद्धा अनन्त संसारका बीज है। शुभ परिणाम करके नवम ग्रैवेयक तक गया, किंतु अंतरमें ऐसा बना रहा कि–यह शरीर, मन, वाणी आदिका संयोग मुझे सहायक होगा,

शरीर, मन, वाणी आदिकी क्रिया मुझे सहायक होगी, और संयोगके ओरकी उन्मुखतारूप शुभभाव मेरे आत्माको सहायक होगा— ऐसी शल्य बनी रही इससे कोई लाभ नहीं हुआ, भव भ्रमण दूर नहीं हुआ। चैतन्य तत्त्व-सत्त्व पर से पृथक् है, ऐसी स्वावलवी श्रद्धाके बिना मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। यहाँ श्रद्धा करनेकी बात है। पुण्य भाव हो उसका अस्वीकार नहीं है, किन्तु मेरा स्वभाव स्वतंत्र है–ऐसा माने बिना मोक्षमार्ग नहीं खुलता। पुण्य और पाप दोनों बन्धन भाव हैं। विषपान करनेसे अमृतकी डकार नहीं आती।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देवके समवशरणमें अनेकबार गया, किन्तु अंतर में ऐसा बना रहा कि कुछ शुभ करूँ तो आत्माको लाभ हो, किन्तु ऐसा नहीं माना कि मैं शुभसे पृथक् निर्मल ज्ञान स्वरूप हूँ, मेरे गुणकी पर्याय मुझमेंसे आती है, इससे भव भ्रमण दूर नहीं हुआ। यहाँ तो मात्र जन्म मरणको दूर करनेकी ही बात है। जिसभावसे बन्धन न टूटे उसकी यहाँ बात नहीं है।

मैं आत्मा श्रद्धा-ज्ञानादि अनंत गुणोंका सागर हूँ, अनंत पुरुषार्थकी मूर्ति हूँ, मैं अपने आत्माकी प्रतीतिसे–विश्वासके बलसे प्रगट हो सकता हूँ। अपने आत्माकी प्रतीतिके साथ देव, गुरु, शास्त्रकी प्रतीति आ जाती है, किन्तु मैं देव, गुरु, शास्त्रकी प्रतीतिसे प्रगट होऊँ ऐसा नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति होते ही अनन्त संसार नाश होगया, फिर भलेही पुण्यके कारण चक्रवर्तीका राज्य हो, छियानवे हजार रानियाँ हों, किन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है, रागका या बाह्य संयोगोंका मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ, ऐसा भान होनेसे एक–दो भवमें अथवा उसी भवमें मोक्ष जाता है, और ऐसे भान बिना भले ही त्यागी होकर बैठा हो, तथापि भव कम नहीं होते, क्योंकि उसकी दृष्टि रागपर पड़ी है—वही संसार है और वही भवका कारण है, भव कम करने वाले भावकी खबर न होनेसे भव कम नहीं होते। बंधन भावसे अबन्धनभाव प्रगट नहीं होता। आत्मा तो राग द्वेष रहित मोक्ष स्वरूप है।

आत्मा ज्ञाता चैतन्यज्योति है, वह भ्राति द्वारा पुण्य-पापकी ओढ़नी

ओढ़कर सो रहा है। आत्माका भान न होनेसे पुण्य-पापके भावस्वरूपही मैं हूँ—ऐसी भ्रांति है, इससे विकारी ओढ़नीसे सम्पूर्ण आत्माको ढँककर सो रहा है। उससे श्री गुरु कहते हैं कि—शरीर, मन, वाणी तो तेरे नहीं हैं, किन्तु उनके ओर की जो वृत्तियां उठती हैं वे भी तेरी नहीं हैं। महिमावन्त चैतन्यतत्त्व को यह ओढ़नी नहीं है, अनंत गुणोंके पिंड आत्माको पुण्य पापके आवरणसे ढँक दिया है। गुरुने कौना पकड़कर खींचा कि- भाई! जागृत हो! इसलिये प्रेमसे उनकी बात सुनता है। अनेक जीव तो एकबार सुनकर ही भड़क उठते हैं, यह लेकिन यह तो पात्र जीव है, इसमें बारम्बार श्रवण करता है। गुरुने कहा कि—छोड़दे अपना ओढ़नी, त्याग दे अपनी मान्यता! परको अपना मानकर सो रहा है वह तेरा तत्त्व नहीं है। —इस प्रकार श्रीगुरु के कहे हुए वचन बारम्बार सुनता है। जिसे संसारकी रुचि हो उसे यह सुननेकी रुचि ही कहाँसे आसकती है? स्त्री बच्चे गुणगान करते हों, मोटर में बैठकर फिरता हो, तो फिर देखलो संसारका पागल! नशेमें मस्त हो जाता है, मानों इसीमें सबकुछ आगया! लेकिन ज्ञानी गुरु कहते हैं कि यह वस्तु त्रिकालमें तेरी नहीं है, पुण्यका एक कण भी तेरे आत्माको शान्ति देनेमें समर्थ नहीं है, पर पदार्थ आत्माको शान्ति नहीं दे सकते, तेरी शांति तुझमें ही भरी है, तू वीतराग चिदानंद है, दूसरोंकी ओढ़नीको छोड़दे। -इस प्रकार श्री गुरुने बारम्बार समझाया। बारम्बार सुनने समझनेसे अंतरसे जानलिया कि-यह जो पुण्य पापभाव होते हैं वे मेरे नहीं है, मैं तो उन भावोंसे रहित ब्रह्मानंद आत्मा हूँ। अहा! गुरु कहते हैं वह बात बिलकुल सत्य है—ऐसी ही है। ऐसा जानकर स्थिर हुआ वही प्रत्याख्यान है।

जब तक परवस्तुको भूलसे अपना मानता है वहाँ तक ममत्व रहता है, लेकिन यह पर वस्तु है,—ऐसा जानले तब तत्काल उसे छोड़ देता है। जैसे-विवाहके समय दूसरेके गहने माँगकर लाये और उन्हें अपना समझे वह महामूर्ख कहलाता है उसीप्रकार आत्मा ज्ञानमूर्ति निर्मल स्वरूप है, उसमें

जो पर शुभाशुभ भाव हैं उनको अपनी सम्पत्तिमें खतौनी करे वह मूर्ख है। आत्मा अनंत गुणोंकी खान है, उसमें जितने विकारी भाव हों उन्हें अपने गुणोंकी सम्पत्तिमें मिलाये तो वह मूर्ख है, फिर चाहे वह भले ही लोकमें बुद्धिमान कहलाता हो। जबतक स्थिर न हुआ हो तबतक पुण्यभाव होते अवश्य हैं, लेकिन उन्हें अपना माने तो वह अज्ञानी है। शरीर, वाणी, मन और शुभाशुभ वृत्तियाँ तो क्षणिक हैं—नाशवान हैं, आत्मा ज्ञानमूर्ति अविनाशी है, वह अनंत गुणोंका पिण्ड है, वह उसकी सम्पत्ति है, उसमें शुभाशुभ भावोंकी खतौनी करे और माने कि यह भाव मेरा आत्मस्वभाव प्रगट होनेमें सहायक होगा, तो उसे अपने स्वभावकी खबर नहीं है। अपनी सम्पत्तिकी खबर न हो तबतक दूसरेकी सम्पत्तिको अपना मानता है वह महान अज्ञानी है। जब आत्माको भान हुआ कि यह शुभाशुभ वृत्तियाँ परकी ही हैं, तब परका ममत्व नहीं रहता और ज्ञान पिण्ड आत्मा पृथक् अपनेमें स्थिर हो जाता है वह प्रत्याख्यान है।

साक्षात् तीर्थंकर भगवानके निकट गया, वे तीर्थंकर अपनेमें अनंत आनंदका उपभोग कर रहे हैं—उनके पास गया, लेकिन सच्चे तत्त्वको नहीं समझा। स्वयं जागृत न हो तो निमित्त क्या कर सकता है? यहाँ तो चौरासीका अंत लानेकी बात है, मोक्ष प्राप्त करनेकी बात है।

अब कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

अर्थ —यह परभावके त्यागके दृष्टांतकी दृष्टि, पुराना न हो इस प्रकार अत्यंत वेगसे जबतक प्रवृत्तिको प्राप्त न हो उसके पूर्व ही तत्काल सकल अन्य भावोंसे रहित स्वयं ही यह अनुभूति तो प्रगट हो गई।

यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि पुरानी न हो अर्थात् आसक्ति, क्रोध, मान विकार हैं, वे परके ही हैं ऐसा जाना और वह दृष्टि पुरानी नहीं हुई अर्थात् नवीनकी नवीन रही, पर प्रवृत्तिको प्राप्त न हो अर्थात् पर आचरणको प्राप्त न हो, राग-द्वेषमें युक्त न हो, उसके पूर्व स्व में स्थिर हुआ और परभावको छोड़ दिया वही प्रत्याख्यान है।

इस ज्ञानस्वभावमें कुछ परका करना है ही नहीं किन्तु वर्तमान समय जितनी क्षणिक अवस्थामें करने छोड़नेकी वृत्ति हो तब ज्ञान चलित-अस्थिर होता है, इसलिये उसमें युक्त न होनेसे ज्ञानका भाव पुराना नहीं हुआ, ज्ञान नयेका नया रहा, इतनेमें आत्माका अनुभव होगया। जान लिया था कि यह राग द्वेष, शुभाशुभ आकुलताके भाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है। जो जाना था उसे नया बनाये रखा और स्थिर हुआ वह प्रत्याख्यान है।

त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि पुरानी नहीं हुई और प्रवृत्तिको प्राप्त नहीं हुई अर्थात् विकारमें युक्त नहीं हुआ वहाँ तो स्वभावमें स्थिर होगया। विकार मेरा स्वरूप नहीं है—इसप्रकार ज्ञान नयेका नया रहा वहाँ स्वरूपमें स्थिर होगया।

परभाव विकारी वासना है यह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी दृष्टि पुरानी नहीं हुई नयीकी नयी रही और विकारमें युक्त नहीं हुआ उसके पहले तो अत्यन्त वेगसे स्वभावमें स्थिर हो गया—इसका नाम प्रत्याख्यान है। विकारी वासनामें युक्त न होना और आत्मस्वभावका प्रगट होना वे दोनों कार्य एक ही समयमें होते हैं, किन्तु यहाँ 'पहले—पश्चात्' बात की है वह जोर देनेके लिये कही है। दुनिया कहेगी कि यह प्रत्याख्यान कहाँ से निकाला? आत्माके स्वभावमें से निकाला है। भाई! इस आत्माका स्वरूप तो वीतरागता है और उस अरागदशामें स्थिर होनेका नाम ही त्याग है, किन्तु परका लेना-देना, ग्रहण—त्याग आत्माके हाथकी बात नहीं है।

कोई कहे कि-हम व्यापार धन्धा करते हों, तथापि हमारे अंतरमें

वीतरागता रहती है, तो वह बात बिलकुल मिथ्या है, ऐसा तीनकालमें नहीं हो सकता। जितने प्रमाणमें राग-द्वेष दूर हो उतने प्रमाणमें बाह्य सयोग भी छूट जाता है। सयोग छूटे वह अपने स्वतन्त्र कारणसे छूटता है, तथापि राग द्वेष छूटे और उसके प्रमाणमें बाहरका सयोग न छूटे-ऐसा नहीं हो सकता। दोनों स्वतत्र होनेपर भी भाव और सयोगका निमित्त-नैमित्तिक सबध है। सयोग के ग्रहणका और त्यागका कर्ता आत्मा नहीं है, किन्तु राग द्वेष छूटे उतने प्रमाणमें सयोग छूट ही जाता है—एसा निमित्त-नैमित्तिक सबध ह।

जैसे—कोई कहे कि हमें ब्रह्मचर्य भाव प्रगट हुआ है, फिर भी विषय कषायका सेवन कर रहे हैं, क्योंकि हमें अतरमें भाव प्रगट हुआ है, फिर बाह्यसयोग क्या हानि कर सकते हैं? लेकिन एसा कभी नहीं हो सकता। जितने अशमें ब्रह्मचर्यका निमल भाव प्रगट हुआ उतने अशम सयोग छूट ही जाते हैं—ऐसा नियम है, किन्तु अतरमें ब्रह्मचर्यका निर्मल भाव प्रगट हुआ हो और बाह्यमें विषय सेवन करता हो —ऐसा तीन कालमें नहीं हो सकता। हाँ, ऐसा हो सकता है कि कोइ चतुर्थ गुणस्थानवाला धर्मात्मा हो और स्त्री सबधी राग भी हो। प्रथम भान किया कि विषय कषाय मेरा स्वरूप नहीं है, मैं निर्मल चैतन्यमूर्ति हूँ-ऐसा यथार्थ भान होनेपर भी छियानवें हजार रानियोंमें विद्यमान हो, तथापि दृष्टि तो अखण्ड आत्मा पर पड़ी है। रागके कारण स्त्री वृन्दमें विद्यमान है, उस रागको विषके समान समझता है। उस चतुर्थ भूमिका में अनतानुबधी राग दूर हो गया है, इससे अनत ससार तो दूर होगया है, किन्तु अभी चारित्र मोहका राग शेष है इससे अस्थिरता बनी है, इस कारण राज्यमें और स्त्रियोंमें विद्यमान है। यह चतुर्थ भूमिकाकी बात है, किन्तु ब्रह्मचर्यकी बात तो पाँचवीं भूमिका की है। अतर आत्मश्रद्धा होनेके पश्चात् जितना ब्रह्मचर्यका भाव प्रगट हो अर्थात् जितनी स्वरूपस्थिरतारूप पर्याय प्रगट हो उतना राग नहीं होता, और जितना राग न हो उतना क्रियाका सयोग नहीं होता, निमित्त-नैमित्तिक सबधके कारण वह छूट ही जाता है। निमित्त उसके

अपने कारण छूटता है, तथापि वह छूटता तो अवश्य ही है,—ऐसा सम्बंध है।

यह परभावके त्यागका दृष्टांत कहा है। उसपर दृष्टि पड़े उसके पूर्व समस्त अन्य भावोंसे रहित अपने स्वरूपका अनुभवन तो तत्काल होगया, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तुको परका जान लेनेके बाद उसके प्रति ममत्व नहीं रहता। जैसे—कोई सुन्दर फूलोंकी माला हो, उसे हाथमें लेकर सूंघ रहा हो, फिर उसे दोनों हाथोंसे मसल डाले, तब उसे उस मालाकी तुच्छता भासित होती है और उसके प्रति ममत्व नहीं रहता। उसीप्रकार अज्ञान अवस्थामें अरे मेरा पुण्य! अरे मेरे पुण्यका फल!—इसप्रकार पुण्यकी महिमा करके उसे सूंघता था, उस महिमाको आत्म स्वभावकी महिमा द्वारा *मसल डाला, उसकी तुच्छता भासित हुई, फिर उसके प्रति ममत्व नहीं* रहता॥ ३५॥

इस अनुभूतिसे परभाव पृथक् किस प्रकार हुआ, उसकी आशंका करके पूछता है। आशंका अर्थात् शंका नहीं, किन्तु विशेष जाननेकी उत्कंठा से पूछता है।

मोह कर्मसे पृथक् करना कि—यह जो मोह है सो मैं नहीं हूँ—ऐसा जो भेदज्ञान, उसे अबकी गाथामें कहते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥ ३६॥

अर्थ—ऐसा जाने कि "मोह मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, एक उपयोग है वही मैं हूँ"—ऐसा जो जानना है उसे सिद्धांतके अथवा स्वपरके स्वरूपके ज्ञाता मोहसे निर्ममत्व जानते हैं, कहते हैं।

आचार्यदेव यहाँ मोहसे पृथक्त्व बतलाकर एक परमाणु मात्र भी तेरा *नहीं है, यहाँ तक ले जायेंगे।*

धर्मात्मा आत्माके स्वभावको जाननेके कारण ऐसा जानता है कि मोह मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, एक उपयोग है वही मैं हूँ। मोह अर्थात् पर

जो पुण्य-पापके शुभाशुभभाव हैं उनसे मुझे लाभ होगा—ऐसा मानना वह भाव मोह है और वह माननेमें निमित्त सो द्रव्यमोहकर्म है। वह मोह मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है, जिसके निमित्तसे स्वयं अपनी सावधानीसे च्युत होऊँ ऐसे मोहका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। उपयोगका अर्थ है जाननेकी दशा, निर्मल जानने देखनेकी अवस्था। उसमें जो विकारी भाव हैं वह मैं नहीं हूँ, मात्र जानने देखनेके स्वभाव जितना ही मैं हूँ। यहाँ निर्मल उपयोग अर्थात् निर्मल प्रगट अवस्थाकी बात है। द्रव्य, गुण, और कारणपर्याय त्रिकाल निर्मल अंतरमें हैं, उनपर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट करता जाता है उसकी यहाँ बात है। अंतरमें जानने-देखनेका जो उपयोग है वही मैं हूँ—ऐसा जिसने जाना उसे सिद्धांतके अथवा स्व-पर स्वरूपके जाननेवाले मोहसे निर्ममत्व कहते हैं। यहाँ तो आगे बढ़ता जाता है—स्थिर होता जाता है। इन ३६–३७-३८ तीनों गाथाओंमें विशेष २ निर्मल पर्यायकी बात है।

ममता और काम क्रोधके अंश हों, उनमें जो युक्त नहीं होता उसे भगवान निर्मोही कहते हैं, वह आगे बढ़ते बढ़ते स्थिर होगा और केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

निश्चयसे, फल देनेके सामर्थ्यसे प्रगट होकर भावकरूप होनेवाला जो पुद्गल द्रव्य उसके द्वारा रचा हुआ जो मोह उससे मेरा कुछ भी संबंध नहीं है। यहाँ कहते हैं कि वास्तवमें कर्मके निमित्तसे जो वृत्तियाँ हो जाती हैं, उस मोहका मेरे द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मेरा मोहसे कोई संबंध है। मोह पुद्गल द्रव्य द्वारा रचा हुआ अर्थात् उत्पन्न हुआ भाव है। यहाँ द्रव्यदृष्टिका विषय है और स्वभावका बल है। आत्माकी अवस्थामें जहाँ कर्मका फल देखा वहाँ स्वभावदृष्टिके बलसे अस्वीकार करते हैं कि यह मेरा स्वभाव नहीं है, यह जो विकारी भाव दिखाई देते हैं उनकी उत्पत्ति मेरे स्वभावमेंसे नहीं होती, वे मुझमेंसे नहीं आते, मेरा निर्मल ज्ञानस्वभाव उस विकारको उत्पन्न नहीं करता और विकार मेरे निर्मल उपयोगको उत्पन्न नहीं करता।

मोह पुद्गल द्रव्य द्वारा रचित है, मेरे चैतन्यस्वभाव द्वारा रचित नहीं है, उसकी रचना चैतन्यस्वभावमेंसे नहीं होती।

कोई कहेगा कि यह हमारी समझमें नहीं आता, लेकिन कमानेमें पचास वर्ष बिता दिये और यहाँ कुछ भी विचार, श्रवण, मनन न करे तो समझमें कैसे आये ? कोई कहे कि हमारा ध्यान आगे नहीं बढ़ता, लेकिन सच्ची समझके बिना ध्यान कहाँसे हो ? ध्यान के फलरूप सच्ची समझ नहीं है किन्तु सच्ची समझके फलरूप ध्यान है। प्रथम सच्ची समझ करे कि मेरा स्वभाव विकार और पुण्यादि को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, किन्तु मै तो निर्मल और निर्दोष स्वभावको उत्पन्न कनेवाला हूँ,—ऐसी यथार्थ समझके पश्चात् ही यथार्थ ध्यान होता है।

मै टकोत्कीर्ण ज्ञानमूर्ति हूँ—इसकी विकारभाव द्वारा भावना करना अर्थात् विकार द्वारा आत्मस्वभाव होना—बनाना वह हो ही नहीं सकता। आत्माका स्वभाव परको (विकारको) नाश करने वाला है। एक स्वभाव ध्रुवस्वभाव द्वारा विकारका होना अशक्य है। मैं एकस्वभावी हूँ इसलिये मेरे द्वारा परका होना अशक्य है, मे तो विकारका नाशक हूँ किन्तु उसका उत्पादक नहीं हूँ। धर्मात्मा ज्ञानी विचार करता है कि मोहकर्मके फलरूपसे भाव रूप होने वाले जो शुभाशुभ विकार हैं वे बदलते रहते हैं उनमें क्रम पड़ता रहता है, सक्रमण होता रहता है, उनमें मेरा ज्ञान स्थिर नहीं रहता इसलिये वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं आत्मा तो आनदका कद हूँ, ज्ञानका पिंड हूँ, उन भावोंसे पृथक् हूँ,—ऐसा जानने से अतरस्वरूपमें स्थिर होता है।

आत्माका स्वभाव और कर्मके निमित्तसे होनेवाला भाव—वे दोनों पृथक् हैं, उस स्वभावको पृथक् मानना, जानना और उसमें एकाग्र होना सो मोक्षका पथ है। आत्मा वस्तु है तो उसमें शांति, आनद आदि गुण भी हैं, और कर्मके निमित्तसे होने वाला जो विकारी भाव है उसे पृथक् करनेका प्रयास करना सो मोक्षका मार्ग है।

धर्मी जीव ऐसी भावना भाता है कि जो शुभाशुभ विकारी भाव दिखाई देते हैं वह मेरी उपज नहीं है, वह तो पुद्गलकी उपज है, इसलिये वह मेरा स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव अव गुणोंको दूर करता है या उत्पन्न ? यदि अवगुण उत्पन्न करे तो अवगुणों को कभी दूर ही नहीं किया जा सकता। विकार आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, किन्तु यदि आत्मा में विकार होता ही न हो तो निर्मल स्वभाव प्रगट होना चाहिये। आत्माका स्वभाव अरागी-वीतरागी है, किन्तु वर्तमान अवस्था में जो गुणों की विपरीतता हो रही वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरे स्वभाव को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि उसमें परका निमित्त है, इससे मेरा स्वभाव नहीं हो सकता, और न मेरे स्वभाव को वह उत्पन्न कर सकती है।

हित आत्माके आधीन होता है या पर के ? आत्माको लक्ष्य में लिये बिना हित नहीं होता। अनतानत काल से मानता आ रहा है कि सयोगी भावोंसे लाभ होता है, लेकिन अपना हित स्वय होता है परके आधीन अपना हित नहीं है। धर्मी जीव भावना भाता है कि जानना देखना मेरा स्वभाव है, उसमें प्रतीति और स्थिरता करनसे मेरा चैतन्य स्वभाव उत्पन्न हो सकता है। बाह्य सयोग लक्ष्मी, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा आदि और अतर सयोग—शुभाशुभ परिणाम, उनसे मेरा स्वभाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

मै चैतन्य जागृत स्वभाव हूँ, अनत गुण सामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ। अवगुण का उत्पाद करे ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है। दया, हिंसा, काम, क्रोधादि, शुभाशुभभाव—ऐसे अपवित्र भावों को नाश करे और पवित्र निर्मल भावों को उत्पन्न करे—ऐसा मेरा स्वभाव है।

मैं जागृत ज्योति हूँ। यह जो मलिन भाव होते हैं उनसे मै पृथक् हूँ, उनका मैं स्वामी नहीं हूँ। मै परका स्वामी नहीं हूँ तो फिर पुण्य-पाप अर्थात् विकार को रचने की शक्ति मुझमें कहाँ से हो सकती है ? मेरा स्वभाव

मोह पुद्गल द्रव्य द्वारा रचित है, मेरे चैतन्यस्वभाव द्वारा रचित नहीं है, उसकी रचना चैतन्यस्वभावमेंसे नहीं होती।

कोई कहेगा कि यह हमारी समझमें नहीं आता, लेकिन कमानेमें पचास वर्ष बिता दिये और यहाँ कुछ भी विचार, श्रवण, मनन न करे तो समझमें कैसे आये? कोई कहे कि हमारा ध्यान आगे नहीं बढ़ता, लेकिन सच्ची समझके बिना ध्यान कहाँसे हो? ध्यान के फलरूप सच्ची समझ नहीं है किन्तु सच्ची समझके फलरूप ध्यान है। प्रथम सच्ची समझ करे कि मेरा स्वभाव विकार और पुण्यादि को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, किन्तु मैं तो निर्मल और निर्दोष स्वभावको उत्पन्न करनेवाला हूँ,—ऐसी यथार्थ समझके पश्चात् ही यथार्थ ध्यान होता है।

मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञानमूर्ति हूँ—इसकी विकारभाव द्वारा भावना करना अर्थात् विकार द्वारा आत्मस्वभाव होना—बनाना वह हो ही नहीं सकता। आत्माका स्वभाव परको (विकारको) नाश करने वाला है। एक स्वभाव ध्रुवस्वभाव द्वारा विकारका होना अशक्य है। मै एकस्वभावी हूँ इसलिये मेरे द्वारा परका होना अशक्य है, मै तो विकारका नाशक हूँ किन्तु उसका उत्पादक नहीं हूँ। धर्मात्मा ज्ञानी विचार करता है कि मोहकर्मके फलरूपसे भाव्य रूप होने वाले जो शुभाशुभ विकार हैं वे बदलते रहते हैं उनमें क्रम पड़ता रहता है, सक्रमण होता रहता है, उनमें मेरा ज्ञान स्थिर नहीं रहता इसलिये वह मेरा स्वरूप नहीं है। मै आत्मा तो आनदका कद हूँ, ज्ञानका पिंड हूँ, उन भावोंसे पृथक् हूँ,—ऐसा जानने से अतरस्वरूपमें स्थिर होता है।

आत्माका स्वभाव और कर्मके निमित्तसे होनेवाला भाव—वे दोनों पृथक् हैं, उस स्वभावको पृथक् मानना, जानना और उसमें एकाग्र होना सो मोक्षका पथ है। आत्मा वस्तु है तो उसमें शाति, आनद आदि गुण भी हैं, और कर्मके निमित्तसे होने वाला जो विकारी भाव है उसे पृथक् करनेका प्रयास करना सो मोक्षका मार्ग है।

धर्मी जीव ऐसी भावना भाता है कि जो शुभाशुभ विकारी भाव दिखाइ देते हैं वह मेरी उपज नहीं है, वह तो पुद्गलकी उपज है, इसलिये वह मेरा स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव अव गुणोंको दूर करता है या उत्पन्न ? यदि अवगुण उत्पन्न करे तो अवगुणों को कभी दूर ही नहीं किया जा सकता। विकार आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, किन्तु यदि आत्मा में विकार होता ही न हो तो निर्मल स्वभाव प्रगट होना चाहिये। आत्माका स्वभाव अरागी-वीतरागी है, किन्तु वर्तमान अवस्था में जो गुणों की विपरीतता हो रही वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरे स्वभाव को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि उसमें परका निमित्त है, इससे मेरा स्वभाव नहीं हो सकता, और न मेरे स्वभाव को वह उत्पन्न कर सकती है।

हित आत्माके आधीन होता है या पर के ? आत्माको लक्ष्य में लिये बिना हित नहीं होना। अनतानत काल से मानता आ रहा है कि संयोगी भावोंसे लाभ होता है, लेकिन अपना हित स्वय होता है परके आधीन अपना हित नहीं है। धर्मी जीव भावना भाता है कि जानना देखना मेरा स्वभाव है, उसमें प्रतीति और स्थिरता करनसे मेरा चैतन्य स्वभाव उत्पन्न हो सकता है। बाह्य सयोग लक्ष्मी, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा आदि और अतर सयोग-शुभाशुभ परिणाम, उनसे मेरा स्वभाव उत्पन्न नहीं हो मकता।

मैं चैतन्य जागृत स्वभाव हूँ, अनत गुण सामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ। अवगुण का उत्पाद करे ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है। दया, हिंसा, काम, क्रोधादि, शुभाशुभभाव-एसे अपवित्र भावों को नाश करे और पवित्र निर्मल भावों को उत्पन्न करे-ऐसा मेरा स्वभाव है।

मैं जागृत ज्योति हूँ। यह जो मलिन भाव होते हैं उनसे मैं पृथक् हूँ, उनका मैं स्वामी नहीं हूँ। मैं परका स्वामी नहीं हूँ तो फिर पुण्य-पाप अर्थात् विकार को रचने की शक्ति मुझमें कहाँ से हो सकती है ? मेरा स्वभाव

तो निर्मल ज्ञायक स्वभाव को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है।

मेरे स्वभाव का सामर्थ्य परकी भावना करे ऐसा नहीं हो सकता। मेरा सामर्थ्य तो मेरे स्वभाव को प्रगट करे ऐसा होता है, परको प्रगट करे ऐसा नहीं हो सकता। मेरा स्वतत्रस्वभाव स्वतत्ररूपसे मेरे आधीन प्रगट होता है, पर के आधीन होकर प्रगट हो ही नहीं सकता—ऐसी वस्तुस्थिति है।

स्वयमेव विश्वको प्रकाशित करनेमें चतुर है। धर्मी विचार करता है कि मैं तो स्व पर सबके स्वभावको जाननेमें चतुर हूँ। यह जो राग-द्वेषादि होते हैं वह मै नहीं हूँ, लेकिन उन्हें जाननेवाला मैं हूँ, इसलिये मैं जाननेका कार्य कर सकता हूँ, लेकिन परका लेने देने आदिकी क्रियाएँ और उस ओरकी होनेवाली वृत्तियोंका मैं कर्ता नहीं हूँ। जो नहीं हो सकता उसका अभिमान छोड़कर मै अपनेमें ज्ञातारूपसे रहूँ—वह मेरा स्वभाव है। मै विकारका कर्ता नहीं हूँ, यदि आत्मा विकारका कर्ता हो तो विकार उसका कार्य हो जाये, और यदि विकार कार्य हो तो उसको नाश करनेका कार्य नहीं कर सकता। मैं तो अविकारी कार्य प्रगट कर सकता हूँ, अविकारीका कर्ता हो सकता हूँ। मैं परको जाननेमें चतुर—बुद्धिमान हूँ, लेकिन परका कर्ता होनेका मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी इस पर्यायमें जो जो दोष होते हैं वे मेरे ज्ञानसे बाहर नहीं जाते, जो जो वृत्तियाँ हों उन्ह मैं ज्ञाता रहकर जानता हूँ, लेकिन अपने ज्ञानके बाहर नहीं जाने देता—ऐसा मै जाननेमें चतुर-बुद्धिमान हूँ।

जो नवीन नवीन विकार होता है उसे जाननेमें मैं चतुर,प्रताप-संपदा स्वरूप हूँ। पुण्य पापादि विकारी भाव हों, तथापि वे मेरी चैतन्य जगमगाती ज्योतिको नहीं बुझा सकते,—ऐसा मैं प्रतापस्वरूप हूँ अर्थात् प्रतापी हूँ। मैं तो विकासरूप निरतर शाश्वत प्रताप सपदा स्वरूप हूँ। मेरा चैतन्य स्वभाव सदैव-निरतर प्रकाशमान है, उसे कोई भी विकारी वृत्ति ढँक नहीं सकती एसा मैं निरतर विकासरूप हूँ।

पुनश्च, नित्यस्थायी अर्थात् मैं शाश्वत प्रतापसम्पदास्वरूप हूँ। शरीर मन वाणी को तो कहीं अलग रख दिया, वे तो अनित्य हैं ही, किन्तु परोन्मुखता वाली जो वृत्तियाँ उठती हैं वे भी अनित्य हैं, प्रतिक्षण बदलती हैं, उनके समक्ष में ज्ञाता शाश्वत हूँ। क्रोध, मान, दया आदिके जो भाव होते हैं उन्हें जानने में चतुर—ऐसी नित्यस्थायी मेरी शाश्वत प्रतापसंपदा है।

यह पैसादिकी जो संपदा है सो सब आपदा है। वह संपदा स्वयं आपदा नहीं है, किन्तु आपदाका निमित्त है। लक्ष्मी वास्तवमें आपदाका कारण नहीं है, किंतु उसके प्रति जो मोह है वह आपदाका कारण है। मोह कर करके पैसेका रखवाला बनता है। तू पैसेका दास है या वह तेरा दास है? तू उसका रखवाला है इसलिये तू ही उसका दास हुआ। बाहरकी संपदा तो क्षणिक-नाशवान है, पैसेमें सुख नहीं है—सुख तेरे आत्मामें है।

धर्मी विचार करता है कि—मेरी संपदा और सुख मुझमें है। सच्ची संपदा तो चैतन्यकी है कि जो सदैव शाश्वत रहती है। मैं ज्ञाता ही हूँ। यह जो विकारी संपदा है सो मेरी नहीं है। मैं तो ज्ञान, शांति, आनंद आदि अनंत गुणोंकी खान हूँ, वह मेरी शाश्वत संपदा है। यह जो शुभाशुभ विकारी भाव हैं उनमें मैं स्वामित्व न होने दूँ और मात्र ज्ञाता ही रहूँ—ऐसी मेरी संपदा है। ऐसी धर्मकी प्रतीति और उसके द्वारा होनेवाली एकाग्रता सो धर्म है, यह मुक्तिका पथ है। सभी आत्मा भगवान् हैं, गुणोंसे परिपूर्ण हैं, किन्तु अज्ञानीको उसकी खबर नहीं है, इसलिए ऐसा मानता है कि—विकारभावोंका सेवन करके उनके द्वारा उन्नति करूँगा। ऐसी मान्यता महान मूढ़ता है। विकारी भावना करके आगे बढ़ूँगा,—ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, किन्तु मैं आत्मा भगवान हूँ, अपनी चैतन्य संपदा की भावना करके आगे बढ़ूँ—ऐसी ज्ञानी भावना करता है।

परमार्थसे मैं एक हूँ, अनेक प्रकारके जो भाव हैं उनमें मैं एकमेक नहीं होगया हूँ। शरीरादि जड़में और अनेक प्रकारके विकारी भावों में एक

मेरु नहीं हो गया हूँ इसलिये मैं एक हूँ।

धर्मी विचार करता है कि जहाँ मैं हूँ वहाँ (उस क्षेत्रमें) यह जो मनमें होनेवाली परोन्मुखता वाली राग द्वेष और हर्ष शोककी वृत्तियाँ दिखलाई देती हैं, और इस चौदह ब्रह्माण्डकी थैलीमें जहाँ मैं हूँ उस स्थान पर अन्य पर पदार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल आदि भी हैं। उन रागद्वेषादि सबको अपने भावमें से मैं पृथक् कर सकता हूँ, किन्तु क्षेत्रसे पृथक् करना अशक्य है। दूसरे पदार्थ एक क्षेत्रमें भले हों, किंतु उन्हें मैं अपने स्वभावलक्षण द्वारा भावसे भिन्न कर सकता हूँ। शाश्वत प्रतापसम्पदावाला आदि कह कर अस्तिकी बात कही है और यहाँ परसे भिन्न बतलाकर नास्तिकी बात कही है।

आत्मा और जड़ शीखंडकी भाँति एकमेक हो रहे हैं। शीखंडमें दही और शक्करके स्वादको एक स्थानसे पृथक्-पृथक् करना अशक्य है। जिस प्रकार शीखंडके खट्टे-मीठे स्वादको एक क्षेत्रमें पृथक् नहीं किया जा सकता, किंतु स्वादके भेदसे पृथक् किया जा सकता है, उसीप्रकार आत्मा और जड़ क्षेत्रकी अपेक्षासे एकमेक हो रहे हैं, तथापि स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले स्वादभेदके कारण पृथक् किया जा सकता है। अनुकूलता और प्रतिकूलताके संयोगमें होनेवाली जो सुख दुःखकी वृत्ति है वह आकुलित भाव है। उस आकुलताका स्वाद पृथक् और मेरा स्वाद पृथक् है—ऐसा स्पष्ट अनुभवमें आता है। क्षेत्रसे पृथक् नहीं कर सकता किंतु पृथक् २ लक्षणोंके ज्ञानके द्वारा पृथक् कर सकता हूँ। मोहके निमित्तसे अनेक प्रकारके भाव होते हैं, वह हर्ष शोकका स्वाद मलिन और कलुषित है, मेरे चैतन्यका स्वाद शांत और पवित्र है—इसप्रकार धर्मात्मा भावना भाते हैं कि—अंतरमें यह जो आकुलताकी खलबलाहट हो रही है उसमें मेरा स्वरूप पृथक् है। खलबलाहटका स्वाद पृथक् है और मेरा ज्ञाताका स्वाद पृथक् है। मेरा स्वाद निरुपाधिक और निराकुलतामय है, और रागका स्वाद उपाधिमय एवं कलुषित है। मेरे स्वादमें निर्म

लता और आनदके स्रोत बहते हैं और हर्ष शोकके स्वादमें दु ख एव मलिनता है।–इसप्रकार स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले स्वादके भेदके कारण मैं मोह के प्रति निमम व ही हूँ।

राजपाट और इन्द्रादिकी सपदाका स्वाद भी अ तुलनारूप, व्याकुलित और उपाधिरू प है। जगतके जीवोंने धर्मका परिचय नहीं किया है, इस लिए उन्हें पता नहीं है कि धर्म इसप्रकार होता है, इससे महँगा मालूम होता है। मार्ग पर चलते समय सच्चा मार्ग तो पहले समझ लेना चाहिये न! धर्म प्रगट होनेसे पूर्व उसकी रीत तो स्वीकार करना होगी न! जिस रीतिसे आत्मामें धर्म होता है उसे पकड़कर उस मार्ग पर चले तो धर्म होगा, किंतु यदि मार्गको न जाने तो धर्म कहाँसे होगा।

धर्मात्मा भावना भाता है कि राग मेरे आत्मस्वभावको रोधक है, किंतु मैं आत्मा सतोष, शान्ति, समाधान स्वरूप हूँ, रागको तोड़नेवाला हूँ। रागका भाव आये वह मेरा स्वभाव नहीं है, वह मुझमें प्राप्त नहीं है, प्राप्त नहीं है, क्योंकि आत्मा सदैव अपने एकत्वमें प्राप्त है, इसलिए क्षणिक अवस्थाका आदर छोड़ूँ तो सदैव निमल एकत्वमें प्राप्त एकरूप स्थित रहता है। मेरा स्वभाव त्रिकाल ध्रुव है और वर्तमान एक समयपर्यंत होनेवाली विकारी अवस्था सो क्षणिक है। मन गार्थीमें मैं प्राप्त नहीं हूँ इतना ही नहीं, किंतु परोन्मुखतामें भी मैं प्राप्त नहीं हूँ, मेरा तत्त्व चैतन्य अविनाशी एकत्वसे प्राप्त है, मेरी प्राप्ति स्वभावके एकत्वमें है। अनेकप्रकारकी वृत्तियाँ उठ आयें उसमें मेरे स्वभाव धर्मकी प्राप्ति नहीं है। आत्मा वस्तु त्रिकाल है या क्षणिक? जो हो उसका कभी नाश नहीं होता और न हो उसकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए आत्मा त्रिकाल है किंतु क्षणिक नहीं है। अनेकप्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं वे क्षणिक हैं, मैं अपने एकस्वभावमें रहूँ उसमें मेरी प्राप्ति है। लोगोंको बाहरसे धर्म लेना है, किंतु भाई! धर्म तो अन्दर आत्मामें है। अपूर्व बात यही है।

वस्तुमें तो विकार हो ही नहीं सकता। विकारका अर्थ है विकृति, विकृति अर्थात् कर्माधीन उपाधि, और जो उपाधि है सो वास्तविक स्वरूप नहीं है। किसी भी पदार्थके ओर की वृत्ति उठे वह सब विकार है, वह मै नहीं हूँ। पराश्रय करनेवाला विकार अनेक है, उसमें ज्ञातातत्त्व है नहीं इसलिये मैं एक हूँ, मै अपने स्वभावमें एकाग्र रहूँ और ज्ञान-दर्शनकी निर्मलतामें भंग न पड़ने दूँ—यही मेरे स्वभावकी प्राप्ति है, वही आत्माके स्वभावकी वृद्धिका कारण है। शरीरादिसे तो आत्मा पृथक् है ही, किन्तु मोहकर्मके निमित्तसे जो अनेक प्रकारके भाव होते हैं उनसे भी आत्मा पृथक् है। ज्ञाताका स्वभाव कहीं भी अटकने वाला नहीं है, विकारका नाश करनेवाला आत्मा निर्दोष स्वभावकी ओर उन्मुख रहे वही मोक्षकी नसैना-मोक्षका मार्ग है।

अपना ज्ञान सत्तामें पदार्थ दिखाइ देते हैं। ज्ञानमूर्तिमें यह सब जो विकार दिखाई देता है वह मै नहीं हूँ, मै तो विकार रहित एक हूँ। अपरस्यादृष्टिसे जो क्षयिक भग-भेदजनित भाव होते हैं वह मैं हूँ-ऐसी कल्पना अज्ञान भावसे होती थी, किन्तु वह म नहीं हूँ, मै तो नित्य एकरूप ही हूँ।

दही और शक्करको मिलानेसे शीखण्ड बनता है उसमें दही और शक्कर एकमेक मालूम होते हैं, तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वादके भेदसे पृथक् पृथक् ज्ञात होते हैं, उसीप्रकार द्रव्योंके लक्षण भेदसे जड़ चेतनका पृथक्-पृथक् स्वाद ज्ञान होता है कि मोहकमके उदयका स्वाद रागादिक है, वह चैतन्यके निज स्वभावके स्वादसे पृथक् ही है।

ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वाद तो निराकुल, अद्भुत रसस्वरूप है, राग द्वेषका स्वाद विकारी है, परका स्वाद मुझमे आ नहीं जाता। अज्ञानी समझता है कि परका स्वाद मुझमें आ जाता है। जैसे—चावलोंका स्पर्श जीभके साथ होनेसे अज्ञानी मान लेता है कि चावलोंका स्वाद मुझमें आ गया है। लेकिन भाई! विचार तो कर कि परका स्वाद तुझमें कैसे आ सकता है?

चावल एक स्वतन्त्र वस्तु है। विचार कर कि चावल कैसे पके? पानीसे या अपनेसे? यदि पानीसे पके हों तो पानीमें कंकर डालनेसे कंकर भी पक जाना चाहिये, लेकिन चावल तो अपने कारणसे ही पकते हैं—पानीसे नहीं। चावलोंका स्वाद चावलोंमें ही है। चावलोंका स्वाद आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाता। अज्ञानी चावलकी ओरका जो राग है उसके स्वादका वेदन करता है और मानता है कि मुझे चावलोंमेंसे स्वाद आता है। जिसप्रकार चावलोंका भात रूप अवस्था बदलकर होता है, उसीप्रकार जब कर्म पकता है उस समय आत्मामें हर्ष शोक करना, छोड़ना, लेना देना आदिके भाव दिखाई देते हैं, उस समय ज्ञानी समझते हैं कि यह सब कर्मका पाक है, मैं तो उसका ज्ञाता ही हूँ, वह मेरा स्वाद नहीं है।

अज्ञानी मिष्टान्न खानेका गृद्धि-लोलुपी है, वह जहाँ घृतपूर्ण मिठाईको देखता है कि मुँहमें पानी आ जाता है, लेकिन आत्मा अरूपी ज्ञानवान है, उस अरूपीकी अवस्थामें रूपी प्रविष्ट हो सकता है? ज्ञानी समझते हैं कि—मुझमें जो ज्ञान है उसे भी जानता हूँ और इस स्वादको भी जानता हूँ, किन्तु वह स्वादके साथ एकताका अनुभव नहीं करता। अनेक खानेके लोलुपियोंको मिठाईकी बात सुनकर मुँहमें पानी भर आता है, वे आत्माको कैसे समझ सकते हैं? भाई! विचार कर तो ज्ञात हो कि मोहज य रागके कारण उसमें रुका है इसलिये उसमें आनन्द मालूम होता है, किंतु स्वादके कारण आनन्द नहीं आता। स्वाद अर्थात् रस, उस रसकी खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कषायला आदि सब जड़की अवस्थाएँ हैं, किन्तु अज्ञानीको जड़के रसकी और आत्माके ज्ञानानन्द रसकी खबर नहीं है इसलिये मिष्टान्न खाते समय उसीमें एकमेक हो जाता है, परन्तु यदि आत्मामें स्वादकी अवस्था प्रविष्ट होगई हो तो जब वह मिष्टान्न विष्टारूपमें बाहर निकलता है उस समय उसके साथ आत्मा भी निकल जाना चाहिये। आत्मा ज्ञान मूर्ति है, अरूपी है, वह मिष्टान्नका स्वाद लेते समय यदि मिष्टान्नरूप ही हो जाता हो तो फिर पूड़ी साग दाल

भात इत्यादि दूसरी वस्तुओंके स्वादको लेनेवाला कहाँसे रहे ? क्योंकि स्वाद लेनेवाला तो मिष्टान्नरूप ही हो गया है, इसलिये ऐसा नहीं होता। वह स्वाद रूप नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञाता ही रहता है। ज्ञाता रहता है इसलिए क्रमश पूड़ी साग दाल भात आदि वस्तुओंके स्वादका ज्ञाता रहता है।

मै तीन लोकका ज्ञाता मिष्टान्नरूप नहीं हो जाता, और न उस मिष्टान्नका स्वाद मुझ ज्ञातारूप होता है। उसीप्रकार मोहकर्मके उदयका स्वाद—राग द्वेष, हर्ष शोक आदि होता है वह मुझमें नहीं आ जाता, म तो उसका ज्ञाता हूँ। जिस समय जो ज्ञेय आता है उसे म जानता हूँ, किंतु उसीरूप हो जानेवाला नहीं हूँ।

साठ वर्ष की उम्र म लड़का पदा हुआ इससे अ यत हर्ष हुआ, फिर तीसरे ही दिन वह मर गया इससे महान शोक हुआ। हर्ष-शोक तो कम ज य विकारी स्वाद है। जिसप्रकार मिष्टान्न का स्वाद जड़का है उसी प्रकार हर्ष शोक का स्वाद विकारी है, कम ज य है, वह आत्माका स्वाद नहीं है।

यहाँ आचार्य देव कहते हैं कि भाइ! यदि राग-द्वेष और हर्ष शोक आत्माकी खानमें से होते हों तो आत्मा कभी भी उनका नाश नहीं कर सकता, इसलिये वे कम की खान में से होते हैं—एसा कह दिया है। चैत य अकेला समाधानस्वरूप है, मेरे चैत यकी खानमें से चैत यका ज्ञान, शांति और समाधान स्वरूप प्रगट होता है। कर्म के पाक के समय आत्मा में कलुषितता का भास हो उसे ज्ञानी समझते ह कि यह सब कम ज य भाव है, इस विकारी स्वाद में मै कहाँ रुका हूँ ? यह मेरा स्वाद नहीं है। चैत य के नित्य स्वभाव में अटकना वह मेरा स्वाद है। देखो, स्वाद भेद कहा है परन्तु क्षेत्रभेद नहीं कहा। आकुलता और निराकुलता को स्वाद भेद से भिन्न कर दिया। भावकभाव अर्थात् कर्म के निमित्त से होनेवाला भाव—उसमे मेरा स्वरूप पृथक् है, इस प्रकार दोनों का भेद कर देने का नाम मोक्ष का पथ मोक्षकी नसैनी है, यही आत्मधर्म है।

मिठास के रज रूप अपने में हैं। उसी समय ज्ञाता की अवस्था में मैं, और मिठास की अवस्था में पुद्गल है। उसी प्रकार विकारी पर्याय को जानने की अवस्थामें मैं, और राग की अवस्थामें कर्म है। आत्मा तो निरंतर शाश्वत प्रताप सम्पदा वाला है, जब उसकी सँभाल करे तब उसे प्रगट कर सकता है। किसी को ऐसा लगे कि इस जीवन में अनेक प्रकार के माया और लोभ किये हैं, तो अब कैसे समझ में आ सकता है? किन्तु भाई! यदि पलटना चाहे तो एक क्षण में पलट सकता है, समझना चाहे तो तेरे घर की बात है। स्वयमेव अर्थात् अपने ही द्वारा जाना जा सकता है कि मैं ज्ञाता अन्तर की मिठास और मधुरता से परिपूर्ण हूँ। मेरा स्वाद पर से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है, कलुषितता तो जड़ का भाव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राग और आकुलता के भाव जड़ रज कणों में होते हैं। वे होते तो अपनी चैतन्य की अवस्था में ही हैं लेकिन वे विकारी हैं, क्षणिक हैं, एकसमय पर्यंत की विकारी अवस्था में होते हैं, आत्मा के स्वभाव में हैं ही नहीं। स्वभाव के भान द्वारा उन्हें दूर किया जा सकता है, इसलिये उन्हें जड़ का कहा है। आत्मा के पर से भिन्नत्व को समझना, श्रद्धा करना और उसमें स्थिर होना ही मोक्ष का पंथ है।

जो आत्मा अपने को परतंत्र मानता है उसमें एक मोह कर्म का निमित्त है। मोह कर्म है सो जड़ है, उसका उदय कलुषिततारूप है। आत्मा जिस स्थान पर है उसी स्थान में मोह कर्म है, उस कर्म का विपाक हो उस समय रुचि अरुचि हर्ष शोक के जो भाव होते हैं वे अपने स्वभाव को भूलकर होते हैं। वे चैतन्य के घर के नहीं हैं, किन्तु मोहकर्मकी रचनाका वह विपाक है। अनुकूलता प्रतिकूलता में हर्ष शोक रूप जो भाव होते हैं वह अपना स्वभाव नहीं है। स्वरसमुखतासे च्युत होनेवालेने अपना नित्य एकरूप द्रव्य स्वभाव को नहीं देखा है इसलिये वह अज्ञानी हर्ष शोकादि अज्ञान रूप भावोंमें रुक जाता है। जैसा अतीन्द्रिय रस सिद्ध भगवान का है वैसा ही इस आत्मा का

है। स्त्री, कुटुम्ब या आत्मा के विकारी भाव में सुख नहीं है किन्तु कल्पना से मान लिया है। विकारी मलिन भाव आत्मा का नहीं है। वह चैतन्य की अवस्था में होता है, वह दूर किया जा सकता है इसलिये अपना स्वभाव नहीं है। जिसे शान्ति और सुख का मार्ग चाहिये ही उसे यह मानना ही पड़ेगा।

पानी में अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई उष्णता को दूर किया जा सकता है इसलिये वह उष्णता अग्नि की है, किन्तु पानी की नहीं है। उसी प्रकार धर्मात्मा समझता है कि जो शुभ अशुभ विकारी भाव होते हैं वे अपने में होते हैं, जड़ में नहीं, किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ, वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अविकारी स्वरूप हूँ। स्वभाव के भान में वह भाव निकाला जा सकता है इसलिये मेरा स्वभाव नहीं है। मैं उसका एक अंश दूर कर सका तो वह सब दूर हो सकता है, इसलिये मेरा स्वभाव नहीं किन्तु जड़का है। मेरा स्वभाव, मेरा गुण, मेरी शान्ति मेरे घर की स्वतंत्र वस्तु है यह जो राग द्वेष होते हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं उसका, ज्ञाता हूँ, उनको दूर करनेवाला हूँ, उनसे भिन्न हूँ—ऐसी दृष्टि के बल में वे जड़ के कहे हैं।

थोड़ी सी अनुकूलता में राग हो जाता है, थोड़ी सी प्रतिकूलता में द्वेष हो जाता है,—इस प्रकार थोड़ी थोड़ी सी बात में राग द्वेष हो जाय और माने कि हम तो ज्ञाता हैं, पर भाव के कर्ता नहीं हैं, राग द्वेष होते हैं वे जड़ के हैं तो वह बात मिथ्या है। राग-द्वेष अपनी चैतन्य की अवस्था में ही होते हैं। जड़ में नहीं होते। ज्ञानी होजाय और राग-द्वेष जैसे के तैसे बने रहें ऐसा नहीं हो सकता, ज्ञानी हुआ इसलिये अनन्त कषाय दूर हो जाती है, स्वयं सहज उदासीन स्वभावरूप रहता है इसलिये राग द्वेष अमुक सीमा के ही रहते हैं, और पुरुषार्थ बढ़ने से समस्त राग द्वेष दूर हो जाता है।

निर्मलता में जाने से अपने को रोके और शान्ति की ओर न ढलने दे वह विकार है। मलिनता से उपयोग की निर्मलता ढँक जाती है। जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से निर्मल है, किन्तु लाल—पीले फूलों के संयोग से

वह निर्मलता ढँक जाती है, तथापि स्फटिक मूल स्वभाव से उस रंगरूप नहीं हो गया है वह स्वयं वर्तमान अवस्था में फूलों के संयोग में लाल-पीली अवस्था के रूप परिणमित हुआ है।

धर्मात्मा विचार करता है कि कर्मके निमित्तसे जो मलिनता दिखाई देती है वह मैं नहीं हूँ। जो परका आश्रय करे वह मेरा स्वभाव नहीं हो सकता, मैं तो ज्ञाता—दृष्टा निर्मल उपयोग स्वरूप हूँ। चैतन्यकी सम्पूर्ण शक्तिकी ओर देखूँ तो वर्तमानमें पूर्ण है वह मैं हूँ, और वर्तमान व्यक्तमें देखूँ तो जितना जानने-देखनेका व्यापार है वह सब मैं हूँ उसके अतिरिक्त जो कलुषित परिणाम है वह मैं नहीं हूँ—इसप्रकार ज्ञानी भेद करते हैं। मैं चैतन्य ज्ञाताशक्तिसे परिपूर्ण हूँ।

जिस प्रकार नमक की डली क्षाररससे परिपूर्ण है उसी प्रकार आत्मा ज्ञानरससे परिपूर्ण पिंड है। जितना जानने देखने का व्यापार है उतना मैं हूँ उसमें जो मलिनताके भाव होते हैं उतना मैं नहीं हूँ। अस्थिरताके कारण अपने स्वभावकी ओर उन्मुख नहीं हुआ जा सकता वह मेरे पुरुषार्थकी अशक्ति है। चैतन्य स्वयं समाधानस्वरूप है, वह समाधान करता है कि मैं पुरुषार्थ द्वारा स्थिर पर्याय प्रगट करके अस्थिर पर्यायको हटा दूँगा। जिस प्रकार लोकमें कहा जाता है कि "बाला तेने शा दुकाल" उसीप्रकार विभाव की ओर उन्मुख हुआ ज्ञान भी समाधान करता है, तीव्र दुःखों को दूर करनेके लिये विश्रामस्थल खोजता है। यह बालक आगे चलकर बड़ा हो जायगा, इस प्रकार बालक शब्दसे शुद्ध पर्यायका अंश प्रगट हुआ है और दृष्टि पूर्णस्वभाव पर है इससे ज्ञानी पूर्णता ही देखते हैं, और निर्मल पर्याय भी अल्प कालमें पूर्ण हो जायगी—ऐसा समाधान करते हैं।

लोकमें भी तीव्र दुःखको दूर करनेके लिये ज्ञान समाधान करता है अधिक दुःख न भोगना हो तो दूसरेका आश्रय लेकर दुःखको दूर करता है।

ज्ञान दु:खको दूर करता है इसलिये ज्ञान ही समाधानस्वरूप है। विभावकी ओर उन्मुख हुआ ज्ञान भी दूसरेका आश्रय लेकर थोड़ा दु:ख दूर करता है। तब फिर ज्ञानभावसे समस्त पुण्य पापकी वृत्तिको दूर करके ज्ञान समाधान स्वरूप रहे ऐसा चैतन्यका सामर्थ्य है।

आत्मामें जब हर्ष शोककी वृत्तियाँ उठें उस समय भी ज्ञान समाधान करता है कि मै तो उनसे भिन्न हूँ, यह जो वृत्तियाँ हैं सो मै नहीं हूँ, जितनी चैतन्य शक्ति है उतना मै हूँ—एसा समाधान करके स्वरूपकी ओर उन्मुख हो जाता है—ऐसा चैतन्यका स्वभाव है। धर्मी जीव विचार करता है कि— भीतर यह जो केवल ज्ञानव्यापार दिखाई देता है उसमें यह क्या? बाह्यमें अनुकूलता प्रतिकूलताके निमित्तोंके कारण हर्ष शोकके प्रसगोंका स्मरण होनेसे उसमें अटक जाता हूँ और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाता, यह क्या? मै समाधानस्वरूप हूँ, चाहे जैसे हर्ष शोकके प्रसगोंमें समाधानस्वरूप रहना यह मेरा स्वभाव है। अपने स्वरूपकी ओर उन्मुख होनेका मेरा स्वभाव है। मैं परसे उदासीनस्वरूप हूँ—एसा विचार करके धर्मी अपने स्वरूपमें स्थिर होता है। परके ओर की वृत्ति होती है उसकी उत्पत्ति मेरे घरसे नहीं है किन्तु पर घरमे है,—ऐसा विचार करके अपने शान्त उदासीन स्वरूपमें रहनेका नाम आत्माका अनुभव और उसीका नाम धर्म है।

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घन महोनिधिरस्मि।३०

अर्थ —इस लोकमें मै स्वत ही अपने एक आत्मस्वरूपका ही अनुभवन करता हूँ कि जो स्वरूप सर्वत अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है, इसलिये यह मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं है—मै तो शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजपुजका निधि हूँ।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रसर्सों भर्यौ आपनी टेक हौं॥
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है॥

(समयसार नाटक जीवद्वार ३३)

यह धर्मात्मा जीव चेतनामें एकाग्रतारूप भावना करता है कि अपने से ही अपने एक आत्मस्वरूपका अनुभवन करता हूँ, जो रूप मगन अर्थात् चारों ओरसे असंख्य प्रदेशमें चैतन्यके निजरससे परिपूर्ण है, चैतन्य धर्म भी चैतन्यरस है, वह ज्ञान आनंदरससे परिपूर्ण है उसका धर्मी अनुभवन करता है। जड़का रस चैतन्यमें नहीं है—जड़का खट्टा मीठा आदि रस जड़में ही है।

खानेका लोलुपी जड़का रस लेनेमें रागभावसे एकाग्र हुआ उसे लोग रसका आस्वादन कहते हैं। क्या रसकी व्याख्या इतना ही है? दूसरी कोई रसकी व्याख्या नहीं है? किस भूमिका मे, कौनसी सत्तामें, कौनसी अवस्थामें रसका आस्वादन है वह कभी देखा है?

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं कर सका इससे स्त्री, कुटुंब आदिमें, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में, खानेपीनेमें जहाँ एकाग्र होता है, जिसे लक्षमें लेता है उसीमें एकाग्र होकर दूसरी चिंता छोड़ देने को लोग रसका आस्वादन कहते हैं।

परवस्तु आत्मामें कहीं प्रविष्ट नहीं होगई है, किन्तु जिस ओर एकाग्र हुआ उसके अतिरिक्त दूसरा सब कुछ भूल गया इसलिये उसे ऐसा लगता है कि इस वस्तुमेंसे मुझे अच्छा रस मिला, किन्तु जड़का रस कहीं आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाता। स्वयं अपने रागके रसका ही वेदन करता है।

घरमें लड़केका विवाह हो, भाँति भाँतिके पक्वान्न मिष्टान्न तथा शाक, पापड़ आदि बने हों, खानेका लोलुपी उसमें एकाग्र होकर स्वाद ले रहा हो और माने कि अहा! आज कितना मजा आया! लेकिन मजा उन वस्तुओंमें

है या तूने रागसे कल्पना कर ली है? क्या परवस्तु आत्माको स्पर्श कर सकती है? भाई! विचार तो कर कि सुख काहेमें है? मरते समय कौन शरणरूप होगा? अरण्य रुदन कौन सुनेगा? कहाँ जाकर विश्राम लेगा?

जो स्वरूप अपने रससे सतत परिपूर्ण है उस अपने रसरूप विषयको लक्ष्यमें लेकर आकुलताके स्वादको पृथक् करके, अन्य चिंताओंसे च्युत होकर आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है उसके स्वभावरसमें लीन होनेका नाम निजरस है। परमें रस कब था? मात्र कल्पनाके घोड़े दौड़ाये हैं परमें जितना सुखका स्वाद लिया है, दूसरे क्षण उतना ही दुःखका स्वाद आयेगा। अनुकूल संयोगके समय सुखकी, और वियोगके समय दुःखकी कल्पना करता है। परका संयोग तो क्षणिक है—नित्यस्थायी नहीं है। नित्यस्थायी वस्तुका रस आत्मस्वभावोन्मुख परिणमित होनेसे ढलनेसे, पूर्ण भावसे भरा हुआ निजतत्त्व है, उसमेंसे निजरस आता है, वह रस नित्य स्थायी वस्तुमेंसे आता है, इससे धर्मी विचार करता है कि विकारका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो चैतन्य समूहरूप तेज पुंजका निधि हूँ, मेरी चैतन्य निधिमेंसे शांति और सुख कम नहीं हो सकते। अपने शांतरससे भावक भावको पृथक् करके एकाग्रताका अनुभव करे वही आत्माकी शांतिका उपाय है, मोक्षका पथ है।

किसीको प्रश्न उठे कि ऐसा भेद कैसे किया जाये? तो कहते हैं कि—जैसे किसी मनुष्यको बाहर गाँव जाना हो, किन्तु गाँवका मार्ग किसीसे पूछे बिना—अनजाने ही चलने लग जाये तो निश्चित ग्राममें नहीं पहुँचा जा सकता। मार्ग तो जानना नहीं है, तब फिर बिना जाने कैसे चले और बिना चले कैसे पहुँचे? उसीप्रकार जो आत्माका शांत निर्मल स्वभाव है उसे जाने बिना आगे कदम नहीं बढ़ाया जा सकता, मार्ग जाने बिना आत्माके अनुभव की एकाग्रताके कदम नहीं बढ़ाये जा सकते और कदम बढ़ाये बिना मोक्ष नगर नहीं पहुँचा जा सकता। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि स्वरूपमें असावधानी का निमित्त कारण जो मोह भाव है वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा

स्वरूप उससे भिन्न ज्ञाता-द्रष्टा है—ऐसा बराबर समझकर, प्रतीति करके स्वरूपमें एकाग्र हो अर्थात् ज्ञान लेनेके पश्चात् एकाग्रताके कदम बढ़ाये तो मोक्ष नगर पहुँचा जा सकता है।

धर्मात्मा जिस प्रकार अपनेसे मोहको पृथक् करता है उसीप्रकार क्रोध, मान, माया, लोभको भी पृथक् करता है। कोई कहे कि—अनादिके क्रोध, मान एकदम कैसे जा सकते हैं?

अरे! लेकिन तू कौन है? दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करे—ऐसा तेरा सामर्थ्य है। उस पर दृष्टि कर तो क्रोध, मान सहज ही दूर हो जाएँगे। महान सन्त—महात्माओंने अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया है।

गजसुकुमार जैसे महान संत मुनिके सिरपर अग्नि रखदी। आँख और कान जलते थे उस समय किंचित्मात्र क्रोध न होने दिया और अंतर्स्वरूपमें स्थिर होकर ४८ मिनिटमें केवलज्ञान प्रगट करके मुक्त हुए। अनेक कितने ही संत-मुनि परमात्मदशा पूर्ण करनेके लिये ध्यानमें स्थिर होगये थे उसी समय किसी पूर्व भवके वैरी देवने पूर्व प्रकृतिके योगसे आकर मुनिको मेरु पर्वतपर ले जाकर वहाँ (जिस प्रकार कपड़ोंको पछाड़ते हैं) पत्थरपर पछाड़ा, उस समय मुनियोंने स्वरूपमें स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त किया, देह छूट गई और मुक्त हुए।

कोई कहे कि—तेरे साथ ऐसा बदला लूँगा कि तुझे अंतरमें गुण प्रगट नहीं होने दूँगा! किन्तु मुझे मर करना ही नहीं है न! अवतार है ही नहीं! फिर तू बदला लेगा कैसे? तू मुझमें प्रविष्ट हो ही नहीं सकता, इस लिये ऐसा वैर-बदला लेनेके लिये कोई समर्थ नहीं है कि अंतरमें गुण प्रगट होनेमें बाधक बने। स्वयं अंतरमेंसे क्रोध दूर कर दिया, फिर सामनेवालेके वैर रखनेसे इसका गुण प्रगट होनेमें बाधा हो—ऐसा नहीं हो सकता। जगतमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि इसका गुण प्रगट होनेसे रोक सके। वैर रखने

वालेका बैर उसके पास रहता है और स्वय स्वाधीनरूपसे मोक्षपर्याय प्रगट करके मुक्त होता है।

बाह्यमें परीषह आयें, प्रतिकूलताएँ आयें वह सब पूर्व प्रकृतिके आधीन है, और गुण प्रगट करना अपने पुरुषार्थके आधीन है। अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि अतरमें गुण प्रगट हुए हों, धर्मात्मा हो तो दूसरे पर प्रभाव पड़ना चाहिए, अतरमें अहिंसा प्रगटी हो तो बाह्यमें दूसरोंपर उसका प्रभाव प्रभाव पड़ना चाहिए, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है। सत-मुनि,-केवलज्ञान प्राप्तिके सन्मुख हों—ऐसी अवस्थामें हों और सिंह बाघ आदि आकर फाड़ खाते हैं। पुण्यका उदय हो तो दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है और न हो तो नहीं भी पड़ता। अतरमें गुणोंका प्रगट होना अलग वस्तु है और प्रभाव पड़ना अलग वस्तु है।

जिसप्रकार क्रोधसे भेद करे उसीप्रकार मानसे भी भेद कर डाले कि मान मेरा स्वरूप नहीं है। कोई कहे कि हम तो ऐसे साधन सपन्न हैं इससे कोई हीन कैसे कह सकता है? किन्तु भाई! कोई हीन कहे या अच्छा कहे—वह सब पूर्व प्रकृतिके आधीन है, और गुण प्रगट करना अपने आधीन है। पहले अनतबार कौड़ीके मोल बिक गया और यहाँ थोड़ासा अनादर हो जाये तो कहता है कि हमें ऐसा क्यों? मानका पार नहीं है! किन्तु धर्मात्मा ऐसा समझते हैं कि यह मान मेरा स्वरूप नहीं है, मैं शात-निरभिमानस्वरूप हूँ।

उसीप्रकार माया दभ भी मेरा स्वरूप नहीं है। लोग माया करके अपनी चतुराई बतलाते हैं कि हमने उसे कैसा ठगा! किन्तु विचार तो कर कि मायासे कौन ठगा गया? सामनेवालेके पुण्यका योग नहीं था, इससे तेरे जैसे धोखेबाज प्रपचीसे उसका पाला पड़ा, किन्तु वास्तवमें तो तू ही ठगा गया है—सामनेवाला नहीं ठगा गया। तूने अपने ज्ञानको सीधा न रखकर उलटा किया इसलिये तू ही ठगा गया। धर्मात्मा जीव मायासे भेद करता है कि माया मेरा स्वरूप नहीं है—मैं तो सरल स्वभावी, चिन्मूर्ति आत्मा हूँ। उसीप्रकार लोभ

तृष्णासे भेद करे। तृष्णा मोह भाव है, मेरे चैतन्यका स्वरूप नहीं है। तथा कर्मसे भेद करे कि जो यह अपूर्ण अवस्था है इसमें कर्मका निमित्त है इसलिये इस अवस्थाको कर्ममें डाल दिया है। मैं तो पूर्ण स्वभावसे शुद्ध हूँ, वह कर्म मुझमें नहीं है— इसप्रकार कर्मसे भेद करना चाहिए।

नोकर्म अर्थात् जितने बाह्य निमित्त दिखाई देते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मतिज्ञान द्वारा जाननेसे सीधा ज्ञात न हो—बीचमें दीवार आदि आवरण आये वह आवरण नोकर्म है। श्रुतज्ञानमें यह पुस्तक निमित्त है इसलिये यह पुस्तक भी नोकर्म है।

भैंस का दूध और बादाम पिस्ता खानेसे मस्तिष्क ठण्डा रहता है— ऐसा अनेक लोग मानते हैं, किंतु यह बात बिलकुल मिथ्या है। यह सब परवस्तु हैं, नोकर्म है। उस वस्तुका संयोग होना—वह नोकर्म है। साताका उदय हो तो वैसे निमित्त मिलते हैं और यदि असाताका उदय हो तो असाता के अनुकूल निमित्त होते हैं, परवस्तु तो निमित्तमात्र है। इससे सात्विक आहार लेना और गृद्धिभाव करना—यह कहना नहीं है, किंतु यहाँ तो पर पदार्थके ऊपरसे दृष्टि उठा लेनेकी बात है, साता असाता होना हो तो उस प्रकार बाह्य वैसे निमित्त उसके कारणसे उपस्थित होते हैं। ज्ञानी समझता है कि निमित्त मुझे कुछ कर ही नहीं सकता।

निद्रा बराबर आये तो काम अच्छा होता है वह सब मान्यता भ्रम है। कोई कहे कि—लड़केने मुझे क्रोध कराया, किन्तु एक पदार्थ दूसरे पदार्थमें कुछ कर ही नहीं सकता। लड़का तो नोकर्म है, उसने क्रोध नहीं कराया है, किन्तु स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करके क्रोध किया और लड़केको निमित्त बनाया। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म—इन तीनोंका संबंध है। द्रव्यकर्म अर्थात् आठ कर्मोंके जड़ रजकण, भावकर्म अर्थात् चैतन्यके राग द्वेष मोहरूप परिणाम और नोकर्म अर्थात् बाह्य निमित्त। इन तीनोंका स्वरूप समझाया वहाँ अज्ञानीने समझा कि यह मेरे हैं, किन्तु ज्ञानी समझते हैं कि उन तीनों

धर्मोंसे मेरा स्वरूप पृथक् है । मन वचन-कायाकी ओर उन्मुख होना भी मेरा स्वरूप नहीं है । इन्द्रियाँ आत्मदशाको प्रगट करनेमें आधारभूत नहीं हैं—ऐसा इन्द्रियोंसे भी भेद ज्ञानी समझता है ॥ ३६ ॥

अब ज्ञेय भावके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं —

णत्थि मम धम्मआदि बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
त धम्मणिम्ममत्त समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७ ॥

अर्थ—ऐसा जाने कि-'इन धर्म आदि द्रव्योंसे मेरा कोई सबध नहीं है, एक उपयोग है वही मै हूँ'—ऐसा जो जानना है उसे सिद्धान्तके अथवा स्व-पर के स्वरूपरूप समयके ज्ञाता धर्मद्रव्यके प्रति निर्ममत्व कहते हैं ।

३६ वीं गाथामें आत्माको परसे निराला अर्थात् मोहकर्मके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे पृथक् बतलाया । ३७ वीं गाथामें उससे भी आगे बढ़ते हैं । भेद ज्ञान होनेके पश्चात जो ज्ञेयके विचार आते हैं उनसे भी पृथक् बतलाते हैं और अतर एकाग्रतामें बढ़ाते हैं । धर्मात्माको भेदज्ञान होनेके पश्चात् धर्मास्तिकाय आदिके विचार आते हैं, किन्तु वह ऐसा समझता है कि—इन धर्मास्ति आदि छह पदार्थोंका और मेरा कोई सम्बध नहीं है, लेन-देन नहीं है । एक उपयोग ही मै हूँ;—उसे सिद्धातका ज्ञाता, त्रिकाल स्वरूपका ज्ञाता, अथवा स्व-पर पदार्थका ज्ञाता निर्ममत्व कहते हैं ।

आत्माका ज्ञान कैसा है ? अपने निजरससे जो प्रगट हुआ है, निवारण न किया जा सके ऐसा जिसका विस्तार है । आत्माका ज्ञान इतना विकास-रूप है कि उसमें चाहे जितने पदार्थ ज्ञात किए जाएँ तथापि ज्ञानका विकास न थके । देखो भाई ! तुम्हे यह ज्ञात होता है उसमें तुम्हारा ज्ञान थकता है ? नहीं थकता, क्योंकि जिसका जाननेका स्वभाव है वह क्या नहीं जानेगा ? सब कुछ जान लेगा । जिसप्रकार थोड़ा जाननेमें ज्ञान नहीं थकता उसीप्रकार सब पदार्थोंको जाननेमें भी ज्ञान नहीं थकता, किन्तु ऐसे विशाल ज्ञानका विश्वास नहीं बैठता । जीवोंको ऐसी शका हो जाती है कि इतनेसे शरीरमें

इतना बड़ा ज्ञान हो सकता है ? प्रतीति नहीं होती। दूधमेंसे दही होनेकी प्रतीति, पानीसे प्यास बुझनेकी प्रतीति, जड़की शक्तिकी स्वीकृति किन्तु आत्माका बल-तेज उसमें सम्यक्प्रकार एकाग्र होनेसे एक समयमें केवलज्ञान प्राप्त होता है—ऐसे आत्माके स्वभावका विश्वास नहीं बैठता। अपने निज-रसकी एकाग्रतासे प्रगट—ऐसा जो ज्ञान है उसका निवारण नहीं किया जा सकता, अर्थात् चाहे जितने पदार्थोंका ज्ञान किया जाये तथापि न रुके-ऐसी शक्तिवाला वह ज्ञान है, उस ज्ञानका चाहे जितना विकास हो—विस्तार हो तथापि उसकी सीमा नहीं है—असीम है। धर्मात्मा जानता है कि मेरे ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि समस्त पदार्थोंको ज्ञात करूँ तथापि उसका अंत नहीं है। देखो भाई! इस विशाल ज्ञानमें कहीं राग-द्वेष नहीं आये किन्तु अकेला सुख ही आया।

समस्त पदार्थोंको ग्रसित करनेका जिसका स्वभाव है अर्थात् तीनकाल तीनलोकके पदार्थोंको जाननेरूप ग्रास कर लेनेका जिसका स्वभाव है, आत्माकी प्रचण्ड, उग्र चिन्मात्र शक्ति द्वारा ग्रासीभूत करनेका सामर्थ्य है, ग्रासीभूत अर्थात् तीनकाल तीनलोकके पदार्थ मानो ज्ञानमें ग्रास न हो गये हों! अन्तर्मग्न न हो रहे हों! ज्ञानमें तदाकार डूब न रहे हों! विश्वके समस्त पदार्थ अंदर प्रविष्ट न होगये हों!—इसप्रकार आत्मामें प्रकाशमान हैं। पर-पदार्थ आत्मामें प्रविष्ट नहीं होते, किन्तु इसप्रकार प्रकाशमान हैं मानो प्रविष्ट हो गये हों।

जिसप्रकार दर्पणमें वस्तुओंका प्रतिभास होता है, तब वे समस्त वस्तुएँ ऐसी दिखाई देती हैं मानो अन्तर्मग्न होगई हों! प्रविष्ट होगई हों! दर्पणमें एक ही साथ पाँच हजार वस्तुएँ दिखाई दें तथापि उसमें जगहकी कमी नहीं पड़ती। जब दर्पण जैसे पदार्थमें ऐसा होता फिर ज्ञानमें क्या ज्ञात नहीं होगा?

शरीरको लक्ष्यमेंसे निकाल दिया जाये तो आत्मा इस समय भी ज्ञान

की अरूपी मूर्ति है। उस अकेली ज्ञानमात्र मूर्तिमें क्या ज्ञात नहीं होगा? जड़-चैतन्य समस्त पदार्थ एक ही साथ प्रकाशमान हों एसा उसका सामर्थ्य है। जिसप्रकार अग्निकी एक चिनगारी सबको जला देती है उसीप्रकार ज्ञानका एक अंश सबको जान लेता है।

चौदह राजु लोकमें धर्मास्तिकाय नामका एक अरूपी पदार्थ है जो जड़-चैतन्यको गति करनेमें उदासीन निमित्त है। जैसे-मछलीसे पानी यह नहीं कहता कि तू चल! किन्तु जब मछली चलती है उस समय पानी उदासीनरूपसे निमित्त होता है, उसीप्रकार धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

उसीप्रकार चौदह ब्रह्माण्डमें एक अधर्मास्तिकाय नामका अरूपी पदार्थ है। जड़ चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं उन्हें स्थिर होनेमें वह उदासीन निमित्त है। जैसे—वृक्ष पथिकसे नहीं कहता कि तू इस छायामें बैठ जा! किन्तु जो स्थिर होता है उसे छाया उदासीन निमित्त है, उसीप्रकार अधर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

वैसे ही आकाशास्तिकाय नामका लोकालोकमें सर्व व्यापक एक अरूपी पदार्थ है, जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव-इन पाँचों द्रव्योंको अवगाह (स्थान) देनेमें उदासीन निमित्त है। यह समूहात्मक लोकके बाद क्या होगा? यह सब वस्तुएँ ऐसीकी ऐसी कहाँतक होंगी? उसके बाद क्या होगा? उसके बाद क्या होगा? एसा विचार किया जाये तो मात्र रिक्त स्थान लक्षमें आयेगा वह क्षेत्रसे अमर्यादित आकाश है।

लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु द्रव्य स्थित है, वह कालाणु द्रव्य असंख्य हैं। जिस सूर्य चन्द्रके निमित्तसे दिन-रात निश्चित होते हैं वह काल द्रव्य नहीं है, किन्तु कालद्रव्य नामका अरूपी स्वतन्त्रपदार्थ है जो सर्व द्रव्योंको परिणमनमें निमित्त है।

इन पदार्थोंको जिसने स्वीकार नहीं किया, उसने अपने ज्ञानके विस्तारको ही स्वीकार नहीं किया है। ज्ञानी समझता है कि यह सब पदार्थ

जगतमें हैं, सर्वज्ञ भगवानने देखे हैं, मेरे ज्ञानमें भी ज्ञात होते हैं तथापि उन पदार्थोंका और मेरा कोई सम्बंध नहीं है।

यह जो समस्त वस्तुएँ दिखाई देती हैं सो पुद्गलके स्कंध हैं। उस स्कंधमें एक एक परमाणु द्रव्य स्वतन्त्र पृथक् २ है। ऐसे परमाणु द्रव्य अनंत हैं। और इस जीव द्रव्यसे अन्य दूसरे जीव द्रव्य भी अनंत हैं। धर्मी जीव समझता है कि-धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ, पुद्गल और मुझसे अन्य जीव द्रव्य—वे छहों द्रव्य मुझसे भिन्न हैं, वह मेरे ज्ञानका ज्ञेय है, वह मेरे ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य है किंतु उसका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

घरके दरवाजे-खिड़कियाँ कितनी हैं, घरमें कितना रजाइयाँ हैं, एक एक खिड़कीमें कितने लोहेके सलिये हैं—उन सबकी खबर होती है, किन्तु आत्मामें कितना सामर्थ्य है उसकी खबर नहीं है। जगतके छह पदार्थ हैं—वह ज्ञानका विषय है, उस वस्तुकी जिसे खबर नहीं है उसे मेरा ज्ञान कितना है उसकी खबर नहीं है। थोड़ा २ जाननेमें अटक जाता है, अनुकूलता प्रतिकूलतामें अच्छा-बुरा मानकर अटक जाता है, किंतु धर्मात्मा समझता है कि थोड़ा २ जाननेमें रुक जाना—ऐसी अपूर्णता तथा अनुकूलता प्रतिकूलता में रुक जाना—ऐसी तुच्छता मेरे स्वभावमें नहीं है। वे ज्ञेय और वह मोह, उनका और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल और जीव द्रव्यकी विशेष बात आगे आयेगी।

जीव द्रव्यको अन्य किसी द्रव्यके साथ कुछ लेन देन नहीं है उसका अधिकार इसमें दिया है।

३६ वीं गाथामें आया कि—मोहकर्मके निमित्तसे आत्मामें जो भाव हो वह आत्माका भाव नहीं है, उससे आत्माको लाभ नहीं है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञायक है, उसे समझकर उसमें एकाग्रता हो वही लाभ है।

अब यहाँ कहते हैं कि—जीव और पुद्गल मेरे ज्ञानका ज्ञेय है।

, धर्मी विचार करता है कि मन, वाणी, देह, कर्म और नाहाका सयोग—व सब पुद्गल हैं, वे मेरे कोई सम्बन्धी नहीं हैं। वे कर्म और शरीरादि मेरे ज्ञाताके ज्ञेय है, वे ज्ञाता होने योग्य हैं और मैं ज्ञाता हूँ। लक्ष्मी, मकान आदि पुद्गल मुझे सुख या दु ख देनेमें समर्थ नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य के साथ मेरा किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है, उससे मुझे लाभ या धर्म हो—एसा भी नहा है, मेरा ज्ञानस्वभाव है उसे पहिचानकर उसमें एकाग्र होनेसे धर्म होता है।

अ य आत्माओंके साथ भी मेरा कोइ सबध नहीं है। दूसरे आत्मा मुझ लाभ हानि पहुँचा सकें—एसा भी सबध नहीं है। मात्र ज्ञेय ज्ञायक रूपसे सबध है। मेरा आत्मा तो परसे निराला है। सिद्ध हो उस समय निराला है—एसी बात नहीं है किंतु त्रिकाल निराला है, वर्तमानमें भी निराला है। मेरी वस्तुमें दूसरेका हाथ नहीं है, और न मेरा किसी दूसरी वस्तुमें हाथ है। दूसरे आत्मा मुझे सहायता नहीं दे सकते। देव गुरु शास्त्र भी मुझे सहायता नहीं दे सकते। स्वय समझे तब देव-गुरु शास्त्रको निमित्त कहा जाता है।

मेरा और इन शरीर मन-वाणीके किसी भी रजकणका कोइ सबध नहा है। यह जो परो मुखताके क्षणिक शुभाशुभभाव होते हैं—उनका और मेरा कोई सबध नहीं है। अ य जीव जो स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र पुत्री आदि तथा देव-गुरु शास्त्र हैं उनका और मेरा कोइ भी सबध नहा है। एसे अपने निराले आत्माकी श्रद्धा होनेसे ही देव गुरु शास्त्रकी यथार्थ पहिचान होती है। अकेले निमित्तपर लक्ष रहे वह राग है, देव गुरु-शास्त्र ही मुझे तार देंगे—एसी दृष्टि रहे तबतक ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

प्रश्न —देव-गुरु शास्त्र भी आत्माको कुछ लाभ या सहायता नहीं करते—एसा एकात दृष्टिसे कहते हो?

उत्तर —सम्यक् एकात दृष्टिसे एसा ही है। आत्मा जब स्वो मुख

होता है तमी स्व परको यथार्थ जानता है। जब स्वोन्मुख हो तभी देव-गुरु शास्त्र से मैं भिन्न हूँ, परमार्थ से कोई मुझे सहायक नहीं है—ऐसा भान होनेके पश्चात् ही स्व पर का यथार्थ ज्ञान होता है। देव गुरु-शास्त्रका निमित्त और अपना उपादान-दोनों का अर्थात् स्व-परका स्वरूप यथार्थ जानता है, निमित्त कौन है और मैं कौन हूँ वह बराबर जानता है, मैं पर से निराला जागृत चैतन्य ज्योति हूँ, मेरे गुणोंका विकास मुझसे होता है और मेरे गुणों का विकास हुआ उसमें उपस्थिति रूप निमित्त देव गुरु और शास्त्र है। इस प्रकार अपना स्वरूप और देव-गुरु शास्त्रका स्वरूप स्व का भान होनेके पश्चात् बराबर समझ लेता है। स्वसन्मुख होनेके पश्चात् स्व-परका ज्ञान हो वह यथार्थ ज्ञान है। अकेले निमित्त पर लक्ष होना सो राग है, अकेले पर पदार्थपर लक्ष है तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। पर से भिन्न पड़े हुए ज्ञान में जो स्व पर पदार्थ का स्वरूप ज्ञात हो वह यथार्थ ज्ञात होता है।

धर्मी विचार करता है कि—जो राग है सो मैं नहीं हूँ, शरीरादि तथा अन्य आत्मा भी मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक एक आत्मा हूँ, अन्य आत्मा मेरे ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य ज्ञेय हैं किन्तु वह मेरे सम्बन्धी नहीं हैं।

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावपने से परमार्थसे अंतरंगतत्त्व हूँ, अनंत ज्ञानादि गुणोंका पिण्ड हूँ। टंकोत्कीर्ण अर्थात् मैं निविड हूँ, परवस्तु आकर मेरे स्वभावमें विघ्न नहीं डाल सकती, वह मुझे लाभ हानि करने या छूने-स्पर्श करनेको भी समर्थ नहीं है। चाहे जितने अनुकूलता या प्रतिकूलता के संयोग आयें, तथापि वह मुझे स्पर्श करनेमें भी समर्थ नहीं हैं।

धर्म कपड़ोंमें नहीं है, आहार ग्रहण करने या त्यागदेनेमें भी धर्म नहीं है, मन वाणी देहमें भी धर्म नहीं है। "वत्थु सहावो धम्मो" वस्तुका स्वभाव ही धर्म है, धर्म आत्माका स्वभाव ही है, स्वभावमें अन्य किसी प्रकारकी औपाधिक संबन्ध न होने देना और स्वभावरूपसे रहना सो धर्म है।

मैं ज्ञायक स्वभावपनेसे परमार्थसे अंतरंग तत्त्व हूँ। स्त्री, कुटुंब,

शरीरादि और देव-गुरु-शास्त्र—वे सब मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं। प्रत्येक आत्माका स्वभाव तो एक प्रकारका है, किन्तु प्रत्येक आत्म द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न हैं। यहाँ पर देव, गुरु, और सिद्ध भगवान सबको ले लिया है, उन सबका स्वभाव मुझसे भिन्न है। भिन्न स्वभाव अर्थात् समस्त द्रव्य मुझसे स्वतन्त्र भिन्न हैं, मेरा स्वभाव मुझमें और उनका स्वभाव उनमें, किसीका स्वभाव किसी में प्रविष्ट नहीं हो गया है,—इस अपेक्षा से भिन्न स्वभाव कहे हैं, किन्तु जातिकी अपेक्षासे तो एक अर्थात् समान ही हैं।

स्त्री, कुटुम्ब, देव, गुरु, शास्त्र, शरीर, मन, वाणी आदि सब बाह्य तत्त्व हैं, मै तो अन्तरंग तत्त्व हूँ। इसमें अनेक सिद्धान्तोंका समावेश है, अस्ति नास्ति से बहुत दृढ़ किया है। कोई परतत्त्व आत्मतत्त्वको सहायता करने, लाभ करने या हानि करनेमें असमर्थ है। परद्रव्य परमार्थसे अपने बाह्य तत्त्वपनेको छोड़नेमें असमर्थ हैं, मै परद्रव्योंका बाह्य तत्त्वपना छुड़ानेमें असमर्थ हूँ। कोई पदार्थ मुझे लाभ हानि तबतक सकता है, कि जब वह अपने स्वभावका अभाव करके मुझमें प्रविष्ट हो जाये तब। किन्तु कोई पदार्थ किसी पदार्थमें प्रविष्ट नहीं हो सकता, इसलिये मुझे कोई पदार्थ लाभ-हानि नहीं कर सकता। एक रजकण या अन्य जीव अपने गुण या अवस्थाका अभाव करके मुझमें आनेको असमर्थ हैं इसलिये मुझे लाभ हानि करनेमें समर्थ नहीं हैं। मै चिदानन्द मूर्ति हूँ—ऐसा जानना और उसमें स्थिर होना ही मुझे लाभ दायक है, अर्थात् मेरा आत्मा ही मुझे लाभकारी है।

लोग स्त्री आदि बाह्य संयोगोंमें अनुकूलता-प्रतिकूलता मानते हैं किन्तु उनमें अनुकूलता प्रतिकूलता नहीं है, मात्र कल्पना करली है। जैसे कि—एक सुन्दर महल हो, मजबूत किवाड़ खिड़कियाँ हों, फिर अन्दर से लगी आग, स्वयं अन्दर बैठा हो, किवाड़ खिड़कियाँ मजबूत हैं इससे खुलते नहीं हैं। जिसे अनुकूलताका कारण माना था वही प्रतिकूलताका कारण हुआ। इस लिये जो मान्यता थी वह मिथ्या हुई। जो तत्त्व अपनेसे भिन्न है वह अपने

को अनुकूलताका कारण नहीं हो सकता। वे सब बाह्य तत्त्व हैं। आत्मा अपने रूपसे है और बाह्य तत्त्व रूपसे नहीं है अर्थात् आत्माकी अपने रूपसे अस्ति और बाह्य तत्त्वरूपसे नास्ति है। बाह्यतत्त्व बाह्यतत्त्वरूपसे है—आत्मारूपसे नहीं है। जो तत्त्व (पदार्थ) आत्मासे भिन्न हैं वे आत्माको अनुकूलता प्रतिकूलता या लाभ हानि करनेमें समर्थ हो ही नहीं सकते।

मैं स्वयमेव उपयुक्त (उपयुक्त अर्थात् जानने-देखनेके व्यापारवाला) हूँ, उसमें रहना ही मेरी वीतरागता प्रगट करनेकी रीति पथ है। मैं एक स्वयमेव नित्य उपयुक्त हूँ, स्वयमेव अर्थात् अपने आप, नित्य अर्थात् त्रिकाल और उपयुक्त अर्थात् ज्ञान दर्शनके व्यापारवाला हूँ। अपने आप त्रिकाल उपयुक्त हूँ, यही मेरा स्वभाव, धर्म और व्यापार है, सम्यग्दृष्टिका यह व्यापार है। संकल्प विकल्पका व्यापार तो परका है, जड़का है। सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मेरा व्यापार तो ज्ञान ही है, मेरा स्वभाव शुद्ध निर्मल है, उसीमें धर्म है। लोगोंको अन्तरंग तत्त्वका कोई विचार नहीं है और कहते हैं कि बाह्य तत्त्वका तो कुछ कहते ही नहीं, किन्तु जिसमें धर्म नहीं है उसमें ज्ञानी धर्म धर्म बतलाते ही नहीं है। तूने अपनी विपरीत मान्यतासे बाह्यमें धर्म मान लिया है, उस मान्यताको छोड़ दे।

मैं एक हूँ, संकल्प विकल्प जो अनेक प्रकार हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं उससे बिल्कुल भिन्न हूँ, संकल्प विकल्पकी किसी भी प्रकारकी उपाधि मुझमें नहीं है, उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है, परमार्थसे मैं एक अनाकुल, परसे भिन्न चिन्मात्रमूर्ति हूँ।

मैं आत्मा अनाकुलतास्वरूप हूँ, बाह्यकी दौड़ धूप और बाह्य तत्त्वका रक्षकपना, तथा मैं पर को रखता हूँ और पर मुझे रखता है-ऐसे जो भाव होते हैं वह सब आकुलता-व्याकुलता है, ज्ञानी समझते हैं कि यह आकुलता-व्याकुलता मेरा स्वरूप नहीं है। पर पदार्थ हैं सो मैं नहीं हूँ, तब फिर उनके निमित्तसे होनेवाले जो आकुलित भाव हैं वह मैं कहाँसे होऊँ? मैं तो अनाकुल स्वरूप हूँ—ऐसा भान हुआ तब आकुलताका अभाव

होता है और आकुलताका अभाव हो तब अन्य कुछ 'भाव स्वरूप' प्रगट होना चाहिए, आकुलताका अभाव हुआ इससे अपनेमें स्थिर हुआ वहाँ निराकुल आनंद स्वरूपका वेदन करता है।

परका कोई आदमी बीमार हो जाये तो आकुलता हो जाती है कि एकदम जाकर डॉक्टरको बुला लाऊँ, इसका रोग दूर कर दूँ। किन्तु भाई! परका रोग दूर करना तेरे हाथकी बात नहीं है, उसके साताका उदय हो तो तेरा निमित्त बनता है। तू मात्र परको साता देनेका भाव कर सकता है—परका रोग मिटा देना तेरे हाथकी बात नहीं है।

ज्ञानी समझता है कि मैं परका कुछ नहीं कर सकता। इसप्रकार परके कर्तृत्वका अहंकार छूट गया, इससे परकी ओरका बल छूट गया और अपनेमें बल आया, श्रद्धा हुई, वस्तुका स्वभाव जाना, परका बनना बिगड़ना मेरे हाथकी बात नहीं है—ऐसा समाधान किया, इसलिये अपनेमें स्थिर हुआ। मैं ऐसा करूँ तो ऐसा हो और वैसा करूँ तो वैसा हो—ऐसी दौड़ धूप छोड़ कर, आकुलताके स्वादसे भिन्न अपने अनाकुल-शांत समाधान स्वरूपका वेदन करता है। स्वयं अपने को भगवान आत्मा ही समझता है। अभी अल्पज्ञ है, केवली, भगवान नहीं हुआ है तथापि ज्ञानी अपनेको भगवान ही मानता है। परसे भिन्न हुआ इससे धर्मीको अपनी महिमा आती है कि मैं एक भगवान आत्मा हूँ। वस्तुस्वभावसे तो स्वयं भगवान ही है, इससे भी अपनेको भगवान मानता है। धर्मी जानता है कि मैं प्रगट निश्चयसे एक हूँ, मैं जगतके किसी भी पदार्थरूप नहीं हो जाता इसलिये मैं एक हूँ। शरीर, वाणी और मन को स्वयं अपनी खबर नहीं है और न मेरी खबर है। मुझे उनकी भी खबर है और अपनी भी खबर है—ऐसा मैं स्पष्ट प्रगट हूँ, इसप्रकार धर्मी अपनी महिमा गाता है। जबतक समझा नहीं था तबतक धनवालोंको बड़प्पन देता था, चाहे भले ही उनके कर्तव्य दुष्कृत हों, माँस-मदिराका सेवन करते हों, किन्तु अपना भान होनेपर परकी महिमा छूट गई और अपनी महिमा आयी कि मैं स्वयं स्पष्ट प्रगट भगवान आत्मा हूँ।

धर्मात्मा जानता है कि शरीर मन-वाणी आदिके साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। वे ज्ञात होने योग्य हैं और मैं ज्ञाता हूँ—इतना ही सम्बन्ध है। ज्ञेय ज्ञायक भाव मात्रके सम्बन्धसे पर द्रव्योंके साथ परस्पर मिलन होने पर भी प्रगट स्वादमें आनेवाले स्वभावके भेदके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल अन्य जीवोंके प्रति मैं निर्मम हूँ। पहले जब समझा नहीं था तब उन पर का आश्रित होकर दौड़ धूप करता था, राग-द्वेषमें रुकता था और उसका स्वाद लेता था, किन्तु जब ऐसा समझा कि राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, मेरा और उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा स्वाद भिन्न है,—ऐसा भेदज्ञान करने से अपने शांत आनन्द स्वरूपका वेदन करने लगा।

अज्ञानी रागको अपना मानता था इसलिये आत्मा और राग को एकमेक करता था, किन्तु ज्ञानीको भेदज्ञान द्वारा अपना स्वाद भिन्न है—ऐसा ज्ञात होनेपर, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवोंके प्रति मैं—निर्मम हूँ, वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ, मैं अपनेमें हूँ और वे भी स्वतंत्र अपनेमें हैं—ऐसा ज्ञानी जानता है, क्योंकि सदैव अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे प्रत्येक पदार्थ एसेका एसा ही स्थिर रहता है, अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता। इसप्रकार ज्ञेयभावोंसे ज्ञानीको भेदज्ञान हुआ।

प्रश्न—इसमें धर्म कहाँ आया? करना क्या आया?

उत्तर—इसमें अनंतधर्म आगया। धर्म कहीं कुदाली फावड़ेसे प्राप्त नहीं होता, किन्तु जो सदैव अपनेमें एकत्वसे प्राप्त है-ऐसे आत्माको माना, समझा और स्थिर हुआ वहाँ अनंत पुरुषार्थ आया और वही धर्म है।

कोइ कहे कि धर्म करनेके लिये अच्छा संहनन चाहिए, अच्छा क्षेत्र चाहिए, सुकाल चाहिए, और देव गुरु शास्त्र चाहिए, किंतु भाई! संहनन अर्थात् क्या? संहननका अर्थ है हड्डियोंकी मजबूती। तो क्या उससे अरूपी आत्माका धर्म होता होगा? ऐसे संहनन तो अनंतबार प्राप्त किये तथापि आत्माके स्वरूपको नहीं समझा इसलिये धर्म नहीं हुआ। जब आत्मा

केवलज्ञान प्राप्त करनेकी तैयारी करे तब उस जातिके शरीर संहननकी उपस्थिति होती है। किन्तु उसके द्वारा धर्म नहीं होता। धर्म तो अकेले अपने द्वारा ही होता है धर्म होनेमें उसकी सहायता भी नहीं है।

अनन्तबार मनुष्य भव प्राप्त किया, एक एक क्षणमें अरबों रुपयोंकी आमदनीवाला राजकुमार भी अनन्तबार हुआ, जहाँ तीर्थंकर और केवली विचरण करते हों ऐसा सुक्षेत्र भी अनन्तबार प्राप्त किया, और उत्तम चतुर्थकाल भी अनन्तबार प्राप्त किया, साक्षात् तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें भी अनन्त बार हो आया, साक्षात् देव गुरु शास्त्रका योग भी अनन्तबार मिला, किन्तु अपनी तैयारीके बिना आत्माकी पहिचान नहीं हुई, सत्य समझमें नहीं आया इसलिये धर्म नहीं हुआ।

सदैव अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे एसेका ऐसा स्थित रहता है—ऐसा कहकर बिलकुल ध्रुवत्व बतलाया है। इसमें आचार्यदेवने अत्यन्त गम्भीर रहस्य बतलाया है। बिलकुल अपना एक प्रकार लक्षमें लेना उसमें दो प्रकार कैसे? परका सम्बन्धवाली अवस्था बंध और परके सम्बन्धके अभावरूप अवस्था—मोक्ष पर लक्ष न किया जाय तो सदैव एकत्वमें ही प्राप्त है और ऐसेका ऐसा स्थित है। अवस्था अर्थात् एक समयकी दशा–स्थितिको लक्षमें से छोड़कर एकत्व से देखें तो ऐसेका एसा ही प्राप्त है, एकत्व छूटकर बंध-मोक्ष ऐसा द्वित्व त्रिकालमें हुआ ही नहीं है। इसमें अत्यन्त गूढ़ बात है। आत्मा तो नित्य ज्ञान आनन्दका रसकंद है,—इस दृष्टिसे देखें तो जो अवस्थामें पर निमित्तकी अपेक्षा है, उसे लक्षमें न लिया जाये तो वस्तु तो जो है सो है। राग द्वेष रूप संसार और उसके अभावरूप मोक्ष—यह सब अवस्थामें है, उस अवस्थामें निमित्तकी अपेक्षा आती है, किन्तु अकेले द्रव्यस्वभावसे देखा जाये तो छहों पदार्थ नित्य एसेके एसे स्थित हैं।

किसी एक वस्तुको छोटा बड़ा कहने परकी अपेक्षा आती है, किन्तु परकी अपेक्षा ही न हो तो किसकी अपेक्षासे उस वस्तुको छोटा-बड़ा कहा जायेगा?

किंतु जब वस्तुको अकेला कहना तो तब परकी अपेक्षा लक्षमें से निकाल देना चाहिए। इसप्रकार आत्मतत्त्वके साथ एक कर्म है, उसकी अपेक्षा लक्षमें न ली जाये तो वस्तु जैसी है वैसीकी वैसी निरपेक्ष है। स्वर्णकी कलाको लक्षमें न लिया जाये तो स्वर्ण जैसा है वैसा ही है, उसीप्रकार चैतन्य अनंत ज्ञानादि गुणोंका रसकन्द है, उसकी अवस्थाम निमित्तकी अपेक्षासे देखा जावे तो–राग द्वेषरूप संसार है, और राग-द्वेष मोहका अभाव करो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्षकी कलारूप अवस्था होती है, किंतु उस निमित्तकी सद्भाव अभावरूप अपेक्षा लक्षम न ली जाये तो आत्मद्रव्य, द्रव्य-गुण पर्यायसे जैसा है वैसा ही है।

परमाणु द्रव्यमें भी कर्मकी और अन्य वैभाविक अनेक प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें लक्षमें न लिया जाय तो परमाणु द्रव्य भी पृथक् पृथक् निरपेक्ष तत्त्व है।

कर्म मेरी राग-द्वेषकी अवस्था होनेमें निमित्त है और मेरी राग द्वेषकी अवस्था परमाणुकी कर्मरूप अवस्था होनेमें निमित्त है;-ऐसी परस्पर अपेक्षाको निकाल दिया जाये तो दोनों पदार्थ जैसे हैं वैसे ही निरपेक्ष स्थित हैं।

सब पदार्थ अपने अपनेमें एकरूप ही स्थित हैं। आत्मा स्वयं एक वस्तु है। वह किसीसे दबा होगा या स्वतंत्र? दबा हुआ तो मान लिया है, किंतु वस्तुतः तो वह स्वतंत्र ही है। ऐसे सच्चे तत्त्वकी श्रद्धामें परकी अपेक्षा भी छूट जाती है। बिलकुल स्वतंत्र पदार्थको एकत्वकी अपेक्षासे देखा जाये, अवस्थाकी अपेक्षा लक्षमें से छोड़ दी जाये तो, समस्त पदार्थ निरपेक्ष–जैसे हैं वैसे हैं।–ऐसी श्रद्धा की उसमें एकाग्र रहनेका नाम धर्म है। यहाँ तो परके संबंध रहित बात लेना है। मुझमें और परको तीनकाल तीन लोकमें संबंध है ही नहीं, था भी नहीं, तब फिर बंधन और मुक्ति किसे कहे जायें? अवस्था है अवश्य, यदि वह न हो तो वह संसार और मोक्ष किसके? वे अवस्थादृष्टिसे हैं अवश्य, किंतु उस दृष्टिको यहाँ गौण करके द्रव्यदृष्टिकी

अपेक्षासे कहा है। यह बात अत्यंत सूक्ष्म है। सूक्ष्म मोतियोंको पकड़नेके लिये बड़ी बड़ी सँडासी काममें नहीं आतीं, किंतु उन्हें पकड़नेके लिये तो छोटी सी चिमटी होना चाहिए। उसीप्रकार यह सूक्ष्म बात पकड़नेके लिये स्थूल दृष्टि काममें नहीं आयेगी—किंतु सूक्ष्म दृष्टि होना चाहिए।

मोह अर्थात् मूर्च्छा बुद्धि। जिसप्रकार मूर्च्छित प्राणी सच्चे झूठेका विवेक नहीं कर सकता, उसीप्रकार जिसकी बुद्धि मूर्च्छित है वह आत्माका और परका विवेक नहीं कर सकता, और पुण्य पाप किये उतना ही मैं हूँ ऐसा मानता है, वह मूर्च्छित मोही अज्ञानी है, उसे वस्तु क्या है उसकी कुछ भी खबर नहीं है। भले त्यागी हो या गृहस्थ हो, किन्तु पुण्यादिके परिणाम और शरीरादिकी क्रिया मेरी अपनी है और मैं उसका कर्ता हूँ–ऐसा मान रहा है, और शुद्ध चिदानंद मूर्ति हूँ उसका कुछ भान न होनेसे वे सब मूर्च्छित मोही प्राणी हैं। इतने विशेषण तो यहाँ अज्ञानीको दिये हैं। देखो, इस समयसारमें कितनी गाथाओंसे अप्रतिबुद्धको समझाते आ रहे हैं। कोई कहे कि यह सातवें गुणस्थानकी बात है किंतु ऐसा नहीं है, यहाँ तो अप्रतिबुद्ध पना छुड़ाकर आगे ले जाते हैं।

अत्यंत अप्रतिबुद्धको विरक्त गुरुसे निरंतर समझाये जानेसे किसी भी प्रकार समझ जाता है। विरक्त गुरु अर्थात् अंतरमें विपरीत मान्यता और अमुक अंशमें राग द्वेषसे भी निवृत्त हैं। आत्माके स्वभावके भानको प्राप्त, मुक्तिके सन्मुख हुए, संसारसे निवृत्त हुए–ऐसे गुरु द्वारा समझाये जाने पर–ऐसा कहा है। अज्ञानी गुरुको नहीं लिया है, क्योंकि अज्ञानी गुरु द्वारा समझाया जाये तो समझा नहीं जा सकता इसलिये ज्ञानी विरक्त गुरुको लिया है। जो स्वभावको प्राप्त हुए हों उन्हींके द्वारा स्वरूपको प्राप्त किया जा सकता है।

'निरंतर समझाये जाने पर'–ऐसा कहा है, किन्तु 'कुछ काल समझाये जाने पर'–ऐसा नहीं कहा है। इस पंचमकालके प्राणीओंको निरंतर

समझाया जाये तब वे समझते हैं, शिष्यको चारों पहलोंसे चारों ओरके योग से समझाया जाता है।

समय अर्थात् पदार्थ समस्त एकत्वसे स्थित है। इसप्रकार ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तुमें मेरा और परका सम्यग्ज्ञान द्वारा भेद हुआ, भान हुआ वही धर्म है। परका और अपना कहीं भी किसी भी जगह मेल नहीं है। आत्माको किसी शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेषके साथ किसी भी जगह किंचित् मेल नहीं है, किन्तु अज्ञानी बिना जाने समझे व्यर्थका झगड़ा करके परको अपना अपना करके, परको विपरीत श्रद्धासे पकड़ रखता है। किन्तु जहाँ स्वतन्त्रताका भान हुआ कि अरे! मेरा और परका कोई सम्बन्ध नहीं है, मैंने व्यर्थकी मिथ्या पकड़ की थी—वही धर्म है और परतन्त्रतामें रुका सो अधर्म है।

आचार्यदेवने स्वतन्त्रताकी घोषणा की है। तू प्रभु है! स्वतन्त्र है! तुझे अपने माहात्म्यकी खबर नहीं है इसमे तूने परको माहात्म्य दिया है, किन्तु वह परका माहात्म्य छोड़ दे और भगवान आत्माका माहात्म्य कर! द्रव्यदृष्टिसे सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं, उस दृष्टिसे पराश्रय दूर होता है और स्वाश्रय होता है—वही धर्म है। द्रव्यदृष्टिसे प्रत्येक रजकण पृथक् है, प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र पृथक् है। इसप्रकार ज्ञेयभावोंमें और भावकभावसे भेदज्ञान हुआ, पृथक्त्वका भान हुआ, उसमें उसे शंका है ही नहीं। जो शंका करता है वह अपना घात करता है, शंका ही संसार है।

अब कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

अर्थ —इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे भावकभाव और ज्ञेय भावोंसे भेद ज्ञान होने पर जब सब अन्य भावोंसे भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्माको ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे जिसने परिणति की है ऐसा, अपने आत्मारूपी उद्यान (क्रीड़ा वन) में प्रवृत्ति करता है—अन्यत्र नहीं जाता।

इस कलशमें ३६ वीं और ३७ वीं गाथाका स्पष्टीकरण करते हैं। भावकभाव और ज्ञेयभावसे भिन्नत्वका भान होने पर वे सब अपनेसे पृथक्रूप प्रतिभासित होते हैं। भावकभावका भेद अर्थात् कर्मके निमित्तसे होनेवाला विकार मेरा नहीं है—ऐसा जाना और ज्ञेयभावका भेद अर्थात् सब परद्रव्यसे भिन्नत्वका भान हुआ—इसप्रकार दोनोंसे भिन्नत्वका भान हुआ तब उपयोग, अतिशय सुन्दर स्वरूप को ही धारण करता हुआ—स्वयं अपने एक स्वरूपको ही धारण करता हुआ, परमार्थ स्वभाव था सो प्रगट हुआ।—ऐसे दर्शन-ज्ञान चारित्रसे जिसने परिणति की है अर्थात् स्वरूपकी प्रतीति-स्वरूप का ज्ञान और स्वरूपकी स्थिरता में जिसने रमणता की है, अपने आत्मारूपी उद्यानमें प्रवृत्ति की है वह अन्यत्र नहीं जाता।

परसे भिन्न और परके विकारसे भिन्न-ऐसे आत्मामें स्थित हुआ, ऐसे अपने स्वभाव की परिणति अर्थात् अवस्था की है—ऐसा आत्मा, आत्मारूपी विश्रामबागमें क्रीड़ा करता हुआ आत्मामें विचरने लगा—कहीं बाहर नहीं जाता।

मनुष्य फिरने जाते हैं तब मोटरों और हवाई जहाजों में बैठते हैं, चार चार मील तक फिरते हैं, और मानते हैं कि फिरनेसे शरीरमें स्फूर्ति आती है और बादमें काम अच्छी तरह होता है।—इसप्रकार संकल्प विकल्पके बाग में सदा फिरता हुआ अपनेको पराश्रित और अपूर्ण मानता है उसे परसे निराला तत्त्व कहाँ से जमे? दृष्टाको न जानता हो तो उसमें केलि कैसे करे? स्वयं अपनी ओर ढलता जाये, रुचि करे, जाने और श्रद्धा करे तो उसमें क्रीड़ा

किये विना नहीं रहेगा। सच्चा उद्यान तो आत्माका है और उसमें क्रीड़ा करने की यहाँ बात है।

जीव बाहरके बाग बगीचोंमें आनन्द मान रहे हैं। घरमें बाग हो, बागमें ठंडे पानीका छिड़काव हो, गुलाबके फूलोंकी सुगन्ध फैल रही हो, पानी के फव्वारे छूट रहे हों और भाईसाहब उसमें मित्रों सम्बन्धियोंके साथ क्रीड़ा करके आनन्द मान रहे हों, किन्तु वह क्रीड़ा और बाग सब होली है।

आत्मा परसे निराले स्वभावका मान करे तो आत्मारूपी उद्यानका आनन्द छोड़कर परमें कहीं नहीं जाता। स्वभावकी शांतिके अतिरिक्त बाह्यमें कहीं भी नहीं देखता? स्वोन्मुख रहकर आत्माकी शांतिमें क्रीड़ा करना ही धर्म है।

आत्मा जड़से पृथक् है,—ऐसा जाने, तो रागद्वेषादिको दूर कर सकता है, किन्तु यदि आत्माके स्वभावको न जाने तो अवगुणों को कैसे दूर किया जा सकता है?

सब परद्रव्योंसे, शरीरादिसे तथा कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब आत्माका भेद जाना तब उपयोगको क्रीड़ा करनेके लिये अन्य कोई स्थल नहीं रहा, किन्तु अपनेमें क्रीड़ा करने लगा। अन्य शरीरादि पदार्थोंका मैं कर सकता हूँ—ऐसी भ्रान्ति दूर हुई इसलिये उपयोग ज्ञानमें एकाग्रता करके स्व की ओर क्रीड़ा करने लगा, दर्शन ज्ञान चारित्रके साथ एकमेक हुआ अपने में ही रमणता करता है। दर्शन अर्थात् मैं परिपूर्ण हूँ—ऐसी श्रद्धा, ज्ञान अर्थात् परसे निराला अपना ज्ञान और चारित्र अर्थात् राग-द्वेष रहित अपनेमें स्थिरता—यह तीनों एक होकर अपने स्वरूपमें परिणमन करते हैं ॥ ३७ ॥

अब, इसप्रकार दर्शन-ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गी आत्माको संचेतन अर्थात् आत्माका अनुभव कैसा होता है यह कहते हैं।

अप्रतिबुद्ध अज्ञानीने अभीतक गाथाके निमित्त द्वारा अर्थात् शास्त्रके निमित्त द्वारा, अपने उपादानसे, एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा

जाना। अब, एक रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं है–ऐसा दर्शन ज्ञान चारित्र द्वारा जाना वह ३८ वीं गाथामें कहते हैं।

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥३८॥

अर्थ–दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमित हुआ आत्मा ऐसा जानता है कि निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है यह निश्चय है।

अब ३८ वीं गाथामें योगफल आता है। धर्मी जीव अपने आत्माको परसे भिन्न जान लेनेके पश्चात् आत्मामें किस प्रकार एकाग्रता करता है वह कहते हैं। दर्शन ज्ञान चारित्रमें परिणमित आत्माने अभी मोक्ष प्राप्त नहीं किया है, किन्तु मोक्षमार्गमें प्रवृत्त है वह क्या जानता है सो कहते हैं।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञाता दृष्टा हूँ,—ऐसे समस्त विकल्प चौथे से छठवें गुणस्थान तक आते हैं, सातवें गुणस्थानमें तथा श्रेणी चढ़नेके पश्चात् ऐसे विकल्प नहीं होते, इससे जो श्रेणी चढ़गया है उसकी यहाँ बात है, किन्तु यहाँ तो चतुर्थ गुणस्थानवालेकी बात है। धर्मात्मा ज्ञानी अपने आत्मा की भावना करता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है ये निश्चय है।

जो, अनादि मोहरूप अज्ञानसे उन्मत्तपनेके कारण अत्यंत अप्रतिबुद्ध था वह अज्ञानी अनादिसे मोहरूप अज्ञानसे मैं शांत निर्मल स्वभावरूप हूँ—यह भूलकर, रागादिकका कर्ता होता है और उन्मत्त होकर पागलपनके कारण, शरीरादि, स्त्री, कुटुम्बको अपना मानता हुआ मूढ़ हो रहा था। संसार के चतुर संसारमें उन्मत्त हुएको चतुर कहते हैं, किन्तु दुनिया तो पागल है, पागल पागलको चतुर कहता है, उसकी प्रशंसा करता है, किन्तु ज्ञानी उसे अच्छा नहीं कहते।

निरंतर समझाया जाता है—ऐसा आचार्यदेवने कहा है, किन्तु शिष्य सारे दिन गुरुके पास बैठा-बैठा सुनता रहे—ऐसा तो नहीं होता, और गुरु सारे दिन सुनाते रहें—ऐसा भी नहीं होता, क्योंकि मुनि कहीं सारे दिन उपदेश नहीं देते, वे तो अपने ज्ञान ध्यानमें लीन होते हैं, निरंतर नहीं समझाते हैं, और समझानेवाले गुरुका उपयोग भी सदैव इसे समझाता रहूँ ऐसा नहीं रहता है। समझानेवाले ज्ञानी गुरुके तो ऐसे भाव होते हैं कि दूसरेको समझाना होगा और उसकी पात्रता होगी तो समझमें आयेगा। पर पदार्थको समझाना मेरे हाथकी बात नहीं है।

गुरुका उपयोग तो निरंतर ज्ञान ध्यानमें होता है—दूसरेको समझाने की ओर निरंतर नहीं होता, तथापि ऐसे गुरुने (—श्री अमृतचन्द्राचार्यने) स्वयं ही निरंतर समझाना कहा है, स्वयं पंचमहाव्रतधारी मुनि हैं। उन्होंने स्वयं ही निरंतर समझाना कहा है उसका अर्थ दूसरा है।

समझनेवालेको समझनेकी निरंतर आतुरता है, निरन्तर समझनेका कामी रहता हुआ वर्तता है, समझनेवालेकी आतुरता निरंतर समझनेकी है इसलिये उसने गुरुको दूर नहीं रखा है निरंतर गुरुके पास बैठा नहीं जा सकता किंतु हृदयसे गुरुको दूर नहीं रखा है। समझनेवाला खाता है, पीता है, व्यापार करता है, किन्तु निरंतर आकांक्षा बनी रहती है कि कब अवकाश मिले और कब गुरुके पास जाऊँ और गुरु मुझे समझायें। इसलिये अन्य कार्य करने पर भी निरंतर समझनेमें शिष्यका समय जाता है—ऐसा कहा जाता है। व्यापारके, खाने-पीने आदिके अन्य जो अल्प भाव आते हैं उन्हें गौण कर दिया है।

समझनेके कामीको विचार आता है कि यदि इस भवमें समझमें नहीं आयेगा तो कहाँ आश्रय मिलेगा? इस भवमें जन्म-मरणके भाव न टले तो फिर कहाँ टालूँगा? जन्म-मरणको दूर करनेवाला सम्यग्दर्शन न हुआ तो ऐसा तारनेवाला अन्यत्र कहाँ मिलेगा? ऐसी भावना होनेसे समस्त गृहकार्य

करने पर भी, निरंतर श्रवणकी और समझनेकी जिज्ञासा रहती है, इससे निरंतर सुनता है ऐसा कहा है। किन्तु शास्त्रमें निमित्तकी भाषा ली है, पलट कर बात ली है कि गुरु निरंतर समझाते हैं। बात निमित्तसे ली है, किन्तु यथार्थ बात तो उपादानसे है। गुरुके निमित्तकी ओरसे बात ली है किन्तु यथार्थ बात तो शिष्यके उपादानके ओरकी है। इसमें अलौकिक मंत्र भरे हैं। समयसारके रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने और टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने अलौकिक मंत्र भरे हैं ? एक अद्भुत रचना होगई है।

समझनेवालेको निरंतर समझनेकी आतुरता और जिज्ञासा रहती है। किन्तु ज्ञानी गुरुका अर्थात् समझानेवालेका उपयोग नित्य ऐसा नहीं रहता कि इसे समझाऊँ, किन्तु शिष्यकी इतनी पात्रता है कि चाहे जितनी बार सुनायें तथापि प्रीतिपूर्वक उग्रतासे सुनता है—प्रमाद नहीं आता। यहाँ समझनेके भावकी मुख्यता है। संसारके अन्य कार्य करने पर भी समझनेकी जिज्ञासा रहती है, इसलिये अन्य राग द्वेषके भावको गौण करके कहा है कि निरंतर सुनता है। जब स्वयं समझता है तब गुरुका निमित्त होता है–ऐसाभी इसमें आ जाता है।

जिसे निरंतर सत्को समझनेकी जिज्ञासा रहा करती है कि 'मुझे समझना है, समझना है'—ऐसे पात्र जीवको समझानेसे वह महाभाग्यसे समझा है। शिष्य पुरुषार्थसे समझा है, उस पुरुषार्थको यहाँ महा भाग्य कहा है।

शिष्य पहले अप्रतिबुद्ध था तब गुरुसे कहता था कि—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है–ऐसा हम नहीं समझते हैं, किन्तु धर्मात्मा गुरुके समझानेसे किसीप्रकार समझमें आया। किसी प्रकार यानी कोई तुरन्त समझ जाता है और कोई अधिक विचारऔर मथन करनेसे समझता है। अब शिष्य समझकर सावधान हुआ कि मैं कौन हूँ ? यह किसके गीत गाये जा रहे हैं ? अहो ! मैं तो शुद्ध निर्मल ज्ञानज्योति हूँ,यह शरीरादि मेरे कुछ भी नहीं हैं। मोहका अभाव करके सावधान हुआ है। अहो ! परके लिये जो दौड़ धूप कररहा था उसमें मेरा कुछ भी

कर्तव्य नहीं था–उलटा मेरा बिगड़ जाता था। सावधान हुआ कि–अरे रे! परोन्मुखतासे मेरा अहित होता था! मेरा स्वरूप क्या है? पर मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो मेरे आगे है,—ऐसा विचार करके सावधान होकर, स्वरूपमें एकाग्रता–लीनता करता है। मोह था तब सावधान नहीं था–मोहका अभाव होनेसे सावधान हुआ, इसलिये 'सावधान' शब्द लिया है।

जैसे कोई मुट्ठी में रखे हुए स्वर्ण को भूल जाये उसी प्रकार आत्मा को भूल गया था। देखो, हाथमें सोनेको बतलाते हैं उसी प्रकार आत्माको हाथ में बतलाते हैं। जैसे—किसी मनुष्य की मुट्ठीमें सोना हो, वह किसी दूसरे मनुष्यके साथ बातोंमें इतना लीन हो जाये कि मुट्ठीमें पकड़े हुए सोनेको भूल जाये—अरे! मेरा सोना कहाँ है? इसप्रकार ढूँढने लग जाये, फिर चारों ओर देखे,कहीं भी दिखाई न दे इसलिये मेरे ही पास है–ऐसा स्मरण करके निश्चय करता है, पुन याद करके स्वर्ण को देखता है। स्वर्ण मेरे हाथमें है ऐसी खबर तो थी, किन्तु भूल गया था, वह स्मरण होनेसे पुन देखता है। दृष्टांतमें पहले खबर थी और फिर स्मरण होता है, किन्तु उस दृष्टांतके सिद्धांतमें— अनादिका अज्ञानी था और फिर ज्ञान होता है—इतना अन्तर है। सुवर्णके न्यायानुसार अपने परमेश्वरको भूल गया था।—अपने सर्व सामर्थ्यसे परिपूर्ण, अनंतज्ञानशक्ति, अनंतवीर्यशक्ति, अनंत आनंदका कंद आदि अनंत गुणोंका पिण्ड —ऐसे अपने परमेश्वर (आत्मा) को भूल गया था। आत्माको रंक–भिखारी नहीं किन्तु पहलेसे ही सर्व सामर्थ्यसे परिपूर्ण कहा है।

आचार्य देव कहते हैं कि आत्मा तेरे पास है किन्तु तू भूल गया है—जैसे स्वर्ण अपने हाथमें ही था किन्तु तू भूल गया था उसी प्रकार आत्मा शरीरमें होगा या शरीरसे बाहर! पुण्यसे लाभ होता होगा! पुण्यसे आत्मधर्म होता होगा!—ऐसा मानता था। अनादिसे आत्माको भूल गया था, किन्तु सर्वसामर्थ्यके धारक परमेश्वर आत्माका क्षणमें भान करके क्षणमें राग द्वेष दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है। –ऐसा आत्माका अलौकिक स्वभाव

है। आत्माको परमेश्वर–तीन लोकका नाथ कहा जाता है वह तीनलोकको जाननेकी अपेक्षासे कहा जाता है, किन्तु जगतका संहार, उत्पत्ति या रक्षण करता है ऐसा कोई ईश्वर नहीं है। मेरा स्वभाव ऐसा है कि तीनकाल तीन लोकके पदार्थ मुझे लुभाने या प्रतिकूलता करनेमें समर्थ नहीं हैं। अहो! मैं ऐसे अपने भगवान आत्माको भूल गया था। जिसप्रकार अंधकार प्रकाश से दूर होता है उसी प्रकार अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हुआ। जो अन्तरतत्त्व है सो मैं हूँ—बाह्य तत्त्व मैं नहीं हूँ,—ऐसा ज्ञान, श्रद्धा और आचरण किया अर्थात् उसीमें तन्मयता की–लीनता की। देखो, इसमें अंतरकी क्रिया आयी, अंतरका चारित्र आया। जैसा जाना था वैसी ही मान्यता करके, उसीमें आचरण करके, जैसा था वैसा एक आत्माराम हुआ। तत्पश्चात् कहता है कि यह जो मैंने जाना 'यही मैं हूँ' 'ऐसा ही मैं हूँ', ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्य मात्र ज्योति हूँ—जो कि मेरे अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

आत्मा स्व-परप्रकाशक है। अग्निको खबर नहीं है कि मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ, किन्तु इस जाननेवाले को खबर है कि मैं स्व-परप्रकाशक हूँ। आत्मा स्वयं अपनेको जानता है और दूसरोंको भी जानता है, इस प्रकार मैं अपने अंतरज्ञानसे जानता हूँ कि मैं स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान ज्योति हूँ।

चिन्मात्र आकारके कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता इसलिये मैं एक हूँ।

मैं ज्ञान मात्र विशेष आकार हूँ। क्रमरूप अर्थात् नर-नारकादि पर्याय, मनुष्य और नारकी आदिके भव–सब एक साथ नहीं होते इसलिये वे क्रमरूप हैं और लेश्या, योग आदि व्यावहारिक भाव सब एक साथ वर्तते हैं इसलिये वे अक्रमरूप हैं। बालक, युवा और वृद्ध—यह तीन अवस्थाएँ क्रम पूर्वक वर्तती हैं और अंतरमें होनेवाले तीव्र मंद राग द्वेष भी क्रमपूर्वक वर्तते हैं। क्रमरूप अर्थात् एकके पश्चात् एक अवस्था। जैसे कि–क्षणमें क्रोध हो, क्षणमें अभिमान हो, फिर लोभ हो आदि अवस्था क्रमपूर्वक होती है, और

योग, कषाय, लेश्या, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि समस्त भेद आत्मामें एकमात्र अक्रमरूप वर्तते हैं—वे समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप भेद प्रवर्तमान होने पर भी, और वे अनेक भेद, ज्ञानमें ज्ञान होने पर भी मैं उनसे खण्डरूप नहीं होता, इससे मेरे एकत्वका नाश नहीं होता, मैं तो अपनेमें एकरूप ही कार्य करता हूँ, मैं तो चिन्मात्र आकार के कारण एक हूँ।

पहले गुरुने समझाया कि 'तू ऐसा है तू एसा है।' अब, शिष्य कहता है कि—'मैं एसा हूँ, मैं एसा हूँ मैं शुद्ध हूँ।' नर नारक आदि प्रकृति के जो फल हैं उसरूप मैं नहीं हूँ, राग-द्वेष शुभाशुभ आदि विकार भी मैं नहीं हूँ। धर्मी हुआ इससे कहता है कि जिसप्रकार कोई मुट्ठीमें रखे हुए सुवर्णको भूल जाये उसीप्रकार मैं अपने परमेश्वर को भूल गया था। वास्तवमें मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं वणिक नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, किन्तु उन सबसे पृथक् ज्ञायक मात्र ज्योति हूँ।

मैं जीव हूँ,—ऐसा विकल्प आये वह मैं नहीं हूँ, जीवके विकल्पका भेद पड़ता है उससे मैं भिन्न हूँ। मैं शरीरादि जड़ पुद्गल आदि अजीव द्रव्योंसे भिन्न हूँ, दया, दानादिके जो शुभ परिणाम होते हैं उनसे भी मैं भिन्न हूँ, हिंसा, झूठ आदि पापके भाव होते हैं उनसे भी भिन्न हूँ, आस्रव अर्थात जिस अवस्थाके निमित्तसे कर्मके रजकण आयें उनसे भी मैं भिन्न हूँ, संवर अर्थात् कर्मोंको रोकनेकी अवस्थाका विकल्प भी मैं नहीं हूँ और संवरकी पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ—मैं तो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ, निर्जरा अर्थात् आत्मामें जो कर्मोंको दूर करनेकी अवस्था होती है उस निर्जराका विकल्प भी मैं नहीं हूँ, और निर्जरा अर्थात् आत्माकी विशेष स्थिरतारूप अवस्था जितना भी मैं नहीं हूँ। मैं तो परिपूर्ण स्वभावसे नित्य परिपूर्ण हूँ। बन्धका विकल्प भी मैं नहीं हूँ, मेरा मोक्ष होगा—एसा जो विकल्प है वह भी राग है, उस रागसे मेरा स्वरूप भिन्न है, और जो मोक्ष है सो अवस्था है,—पर्याय है, वह अवस्था प्रति समय बदलती है, इसलिये उस समयकी अवस्था जितना

भी मैं नहीं हूँ। मैं तो त्रिकाली शाश्वत हूँ, मोक्षकी अवस्था तो सादि अनंत है, क्योंकि पहले अनादिकालसे संसार अवस्था थी और फिर मोक्ष अवस्था होती है, और मैं तो अनादि अनंत शुद्ध एकरूप हूँ इसलिये उस मोक्ष पर्याय जितना भी नहीं हूँ।

यह नवतत्त्वोंके भेद हैं इसमें रागके विकल्प आते हैं, इसलिये मैं उन्हें तोड़कर अपने ज्ञायक स्वभावमें रहूँ —इसप्रकार शिष्य धर्मी होकर भावना करता है। सच्चा भान होनेसे नवोंतत्त्व भेदरूप भासित होते हैं। नवतत्त्वोंके जो विकल्प हैं सो अशुद्ध भाव है, एकरूप स्वभावका ज्ञान हुआ वहाँ नव तत्त्वके विकल्पसे पृथक् होकर अंशतः शुद्ध हुआ। मैं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-समस्त भेदोंके विकल्पकी अशुद्धतास्वरूप नहीं हूँ, नवतत्त्वोंके भेदोंमें अटकनेवाला मैं नहीं हूँ, संवर और निर्जराकी अपूर्ण अवस्थामें भी मैं रुकनेवाला नहीं हूँ। तो फिर मैं कैसा हूँ? मैं तो शुद्ध हूँ, नवतत्त्वके भेदोंका मात्र ज्ञाता हूँ।

प्रश्न — यह तो सातवें गुणस्थानवालेकी बात है न?

उत्तर —नहीं, यहाँ तो चतुर्थ गुणस्थानवालेकी बात है। सातवें गुणस्थानमें तो अप्रमत्त ध्यानमें स्थिर हो जाता है, वहाँ ऐसे विकल्प कहाँ होते हैं? इसलिये यह तो चतुर्थ गुणस्थानवाले की बात है।

नवतत्त्वके भाव भेदरूप हैं इसलिये उन्हें व्यावहारिक कहा है, उनपर लक्ष करनेसे राग आता है, इसलिये मैं तो शाश्वत टंकोत्कीर्ण हूँ, नवतत्त्वके रागके भेद पड़ते हैं उनसे मैं नहीं भेदा जा सकता, मैं तो टंकोत्कीर्ण हूँ।

नर, नारक, बालक, युवा, वृद्ध, रागद्वेषादिके भेद और लेश्या, योग आदि अनेक भेद होने पर भी मैं चिन्मात्र आकार हूँ, मेरा ज्ञान अनेकरूप नहीं हो जाता। क्रमरूप और अक्रमरूप होनेवाले अनेक भेदोंके सामने एकत्व ग्रहण किया और नवतत्त्वके भेदसे अशुद्धता आती थी इससे उस अशुद्धतासे

रहित शुद्ध कहा।

चैतन्यमात्र होनेसे सामान्य विशेष उपयोगपनेका उल्लंघन नहीं करता, सामान्य अर्थात् भेद किये बिना जानना सो दर्शन, और विशेष अर्थात् भिन्न भिन्न जानना सो ज्ञान,–ऐसे सामान्य-विशेषपनेका मै उल्लंघन नहीं करता इसलिये मैं दर्शन ज्ञानमय हूँ।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित हुआ होने पर भी स्पर्शादिरूप परिणमित नहीं हुआ हूँ, इसलिये परमार्थत मैं सदा अरूपी हूँ।

स्पर्श—ठंडा, गर्म, हलका, भारी, रूखा, चिकना, कठोर, नरम –यह मेरे ज्ञानमें बाह्य निमित्त है। उसीप्रकार **रस** —खट्टा, मीठा, चरपरा, कडवा, कषायला–वे सब रस मेरे ज्ञानमें बाह्य निमित्त हैं। और **गंध**—सुगंध, दुर्गंध भी मेरे ज्ञानमें बाह्य निमित्त हैं, **वर्ण**—काला, पीला, हरा, लाल, सफेद— यह सब वर्ण भी मेरे ज्ञानमें बाह्य निमित्त हैं। मेरे ज्ञानमें यह सब ज्ञात होते हैं।

यह स्पर्श है, गंध है, वर्ण है,—ऐसा मेरे जाननेमें आता है, ऐसा संवेदनरूप मैं परिणमित हुआ हूँ।

जिसप्रकार दर्पणमें सामनेवाले पदार्थ जैसे होते हैं वैसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं, तथापि दर्पण तो उस वस्तुरूप परिणमित नहीं हुआ है। उसीप्रकार यह रूप काला है, यह सफेद है,—ऐसा जाननेके संवेदनरूप मैं परिणमित हुआ होने पर भी उन वर्ण, गंध आदि रूप नहीं हुआ हूँ।

अज्ञानीको जब स्पर्श, रस, गंध आदिकी अवस्थाओंको जाननेका समय आता है तब वह ज्ञातारूप न रहकर–मैं पर पदार्थरूप हो जाता हूँ– ऐसा मानता है। खानेका लोलुपी जब खानेके पदार्थ दूध, दही आदिको देखता है तब तन्मय होकर कहता है कि कितना गाढ़ा दूध है। दही कितना

मयोगमें चाहे जो बने, किंतु मेरे अंतर स्वरूप पर उसका कोई प्रभाव नहीं है, क्योंकि मुझमें प्रभुत्वशक्ति है। इसप्रकार धर्मी जीव अपने आत्माको प्रभु मानता है कि जिसका प्रताप अखण्डित है,—इसप्रकार अपनी स्वतंत्र शोभा में लीन होनेका नाम योग है। धर्मी जीव संसारमें हो, तथापि वह योगी है, क्योंकि परभावके कर्तृत्वभोक्तृत्वका भाव छूट गया है, मेरा उपभोग मुझमें ही है-ऐसा भान हुआ है, परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे अलग रहता है इसलिये दृष्टिसे योगी है, किंतु अभी अस्थिरता बनी है। जब वह मुनि होगा तब दृष्टिसे और स्थिरतासे-दोनों प्रकारसे योगी होगा।

प्रश्न —शास्त्रमें कहा है कि-महावीर स्वामीने छह छह महीनेके उपवास किये तब कर्मोंका नाश हुआ। उपवास किये बिना कहीं धर्म सिरते होंगे ?-टूटते होंगे ? इसलिये उपवास करनेसे ही कर्मोंका नाश होता है ?

उत्तर —महावीर भगवानने कैसे उपवास किये थे ? तुम जिन्हें उपवास कहते हो ऐसे नहीं, किंतु वहाँ तो आत्माके अनुभवमें-अतीन्द्रिय आनंदरसमें स्थिर होनेसे लीन होनेसे सहज आहारकी इच्छा टूट गई थी, आहार लिया है या नहीं लिया-उसका भान भी नहीं था, उस ओर का विकल्प तक नहीं उठा, आत्माकी अमृत डकारमें बाह्य आहारको भूल गये हैं। सहज ही इच्छा टूट गई इसका नाम उपवास है। चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें श्रावकको और छट्ठे सातवें गुणस्थानमें मुनिको, सिद्ध भगवान जैसी अमृत की डकारें आती हैं।

मैं शुद्ध चिदानंदमूर्ति हूँ ऐसे भानमें क्रमश स्थिरताकी वृद्धि होनेसे आनंदकी धारा बढ़नेसे सहज इच्छा टूट गई और सहज ही महावीर स्वामी आहारको भूल गये थे-इसका नाम सच्चा उपवास है। यदि शुभ परिणाम हों तो पुण्यबंध करे और अभिमान आदिसे प्रसिद्धिमें आनेका हेतु हो तो पापबंध होता है। ज्ञानीको भी उपवासके शुभपरिणाम आयें उनसे पुण्यका ही बंध होता है, किंतु जितनी स्वरूपकी लीनता हो उसके द्वारा

कर्मका नाश होता है। महावीर भगवानको भी जो स्वरूपकी लीनता हुई और सहज आहारकी इच्छा टूट गई—उस स्वरूपकी लीनता द्वारा ही कर्मोंका नाश हुआ है-शुभ परिणामसे कर्मोंका नाश नहीं हुआ, शुभपरिणामका कर्तृत्व भी भगवानको नहीं था। शास्त्रमें जिस अपेक्षासे व्रत प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा है उसे समझे बिना बारबार उपवास करे, तथापि आत्माको उसका कोई फल नहीं है। हाँ स्वर्गका फल मिलेगा किंतु भव कम नहीं होंगे। जैसे उपवास करके जीव अनंतबार नवमें ग्रैवेयक तक हो आया किन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ।

धर्मात्मा ज्ञानी कहता है कि मैं तो प्रतापवंत हूँ, मेरा ही प्रताप चलता है। जिसप्रकार लौकिकमें राणा प्रताप होगये हैं। उन राणा प्रतापमें ऐसा बल था कि—मैं हिन्दू हूँ, मुझे कोई जीत नहीं सकता। ऐसी लौकिक श्रद्धा द्वारा अपने घोड़ेका पैर सरदारके हाथीके दाँत पर रखा और ऊपर बैठे हुए महावतको भाले द्वारा मार गिराया। उसीप्रकार यह आत्मा मात्र शौर्यप्रताप है, उस प्रतापी आत्माका भान होने पर चार गतियोंको नष्ट करनेका पुरुषार्थ जागृत होता है। चारगतियोंका मूल मेरे हिलानेसे हिलता है, टालनेसे टलता है, मेरा ही हुकम चलता है—सब मेरे ही हाथकी बात है—ऐसा मैं प्रतापवंत हूँ।

प्रश्न —जबतक यह समझमें न आये तबतक क्या करना ?

उत्तर —यह समझमें न आये तबतक सत् समागम करना चाहिये, अन्य सब स्वच्छन्द छोड़कर, मरणके अंतिम श्वास तक भी शास्त्राभ्यास तत्त्वचिंतन और सत्समागम करना चाहिए। मुनियोंको भी उपदेश दिया है कि हे मुनि! मरणके अंतिम श्वास तक शास्त्रका, विचित्र प्रकारके अध्यात्म शास्त्रका, सम्यक्प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान ध्यानमें लीन होने पर समाधि-मरणसे देह छूटे तो एक-दो भवमें मुक्ति होती है। यह बात निश्चित है—कभी बदल नहीं सकती।

सयोगमें चाहे जो बने, किन्तु मेरे अन्तर स्वरूप पर उसका कोई प्रभाव नहीं है, क्योंकि मुझमें प्रभुत्वशक्ति है। इसप्रकार धर्मी जीव अपने आत्माको प्रभु मानता है कि जिसका प्रताप अखण्डित है,—इसप्रकार अपना स्वतंत्र शोभा में लीन होनेका नाम योग है। धर्मी जीव संसारमें हो, तथापि वह योगी है, क्योंकि परभावके कर्तृत्वभोक्तृत्वका भाव छूट गया है, मेरा उपभोग मुझमें ही है-ऐसा भान हुआ है, परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे अलग रहता है इसलिये दृष्टिसे योगी है, किन्तु अभी अस्थिरता बनी है। जब वह मुनि होगा तब दृष्टिसे और स्थिरतासे-दोनों प्रकारसे योगी होगा।

प्रश्न —शास्त्रमें कहा है कि-महावीर स्वामीने छह छह महीनेके उपवास किये तब कर्मोंका नाश हुआ। उपवास किये बिना कहीं कर्म खिरते होंगे ?-टूटते होंगे ? इसलिये उपवास करनेसे ही कर्मोंका नाश होता है ?

उत्तर —महावीर भगवानने कैसे उपवास किये थे ? तुम जिन्हें उपवास कहते हो ऐसे नहीं, किन्तु वहाँ तो आत्माके अनुभवमें-अतीन्द्रिय आनंदरसमें स्थिर होनेसे लीन होनेसे सहज आहारकी इच्छा टूट गई थी, आहार लिया है या नहीं लिया-उसका भान भी नहीं था, उस ओर का विकल्प तक नहीं उठा, आत्माकी अमृत डकारमें बाह्य आहारको भूल गये हैं। सहज ही इच्छा टूट गई इसका नाम उपवास है। चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें श्रावकको और छट्ठे सातवें गुणस्थानमें मुनिको, सिद्ध भगवान जैसी अमृत की डकारें आती हैं।

मै शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ ऐसे भानमें क्रमश स्थिरताकी वृद्धि होनेसे आनंदकी धारा बढ़नेसे सहज इच्छा टूट गई और सहज ही महावीर स्वामी आहारको भूल गये थे-इसका नाम सच्चा उपवास है। यदि शुभ परिणाम हों तो पुण्यबध करे और अभिमान आदिसे प्रसिद्धिमें आनेका हेतु हो तो पापबध होता है। ज्ञानीको भी उपवासके शुभपरिणाम आयें उनसे पुण्यका ही बध होता है, किन्तु जितनी स्वरूपकी लीनता हो उसके द्वारा

कर्मका नाश होता है। महावीर भगवानको भी जो स्वरूपकी लीनता हुई और सहज आहारकी इच्छा टूट गई—उस स्वरूपकी लीनता द्वारा ही कर्मोंका नाश हुआ है—शुभ परिणाममें कर्मोंका नाश नहीं हुआ, शुभपरिणामका कर्तृत्व भी भगवानको नहीं था। शास्त्रमें जिस अपेक्षासे व्रत-प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा है उसे समझे बिना बारम्बार उपवास करे, तथापि आत्माको उसका कोई फल नहीं है। हाँ स्वर्गका फल मिलेगा किंतु भव कम नहीं होंगे। जैसे उपवास करके जीव अनंतवार नवमें ग्रैवेयक तक हो आया किन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ।

धर्मात्मा ज्ञानी कहता है कि मैं तो प्रतापवंत हूँ, मेरा ही प्रताप चलता है। जिसप्रकार लौकिकमें राणा प्रताप होगये हैं। उन राणा प्रतापमें ऐसा बल था कि—मैं हिन्दू हूँ, मुझे कोई जीत नहीं सकता। ऐसी लौकिक श्रद्धा द्वारा अपने घोड़का पैर सरदारके हाथीके दाँत पर रखा और ऊपर बैठे हुए महावतको भाले द्वारा मार गिराया। उसीप्रकार यह आत्मा भाव आर्यप्रताप है, उस प्रतापी आत्माका भान होने पर चार गतियोंको नष्ट करनेका पुरुषार्थ जागृत होता है। चारगतियोंका मूल मेरे हिलानेसे हिलता है, टालनेसे टलता है, मेरा ही हुक्म चलता है—सब मेरे ही हाथकी बात है—ऐसा मैं प्रतापवंत हूँ।

प्रश्न —जबतक यह समझमें न आये तबतक क्या करना?

उत्तर —यह समझमें न आये तबतक सत् समागम करना चाहिये, अन्य सब स्वच्छन्द छोड़कर, मरणके अंतिम श्वास तक भी शास्त्राभ्यास तत्त्वचिंतन और सत्समागम करना चाहिए। मुनियोंको भी उपदेश दिया है कि हे मुनि! मरणके अंतिम श्वास तक शास्त्रका, विचित्र प्रकारके अध्यात्म शास्त्रका, सम्यक्प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान ध्यानमें लीन होने पर समाधि—मरणसे देह छूटे तो एक-दो भवमें मुक्ति होती है। यह बात निश्चित है—कभी बदल नहीं सकती।

उपरोक्त कथनानुसार मुझ प्रतापवत वर्तनेवाले को, यद्यपि बाह्यमें अपनी अनेक प्रकारकी स्वरूप सपदा द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं, तथापि कोइ भी परद्रव्य–परमाणुमात्र भी–अपनेरूप भासित नहीं होता।

धर्मात्मा विचार करता है कि मुझसे बाहर अनेकों परपदार्थ उनकी ऋद्धि द्वारा स्फुरायमान हैं। उनकी सपदा उनसे है, आत्मामें उनके स्वरूपकी कोई सपदा नहीं है। शरीरादि और शुभाशुभवृत्ति दिखाई देती है वह मेरी सम्पदा नहीं है–जड़की सपदा है। जड़में उसकी अपनी अनेक प्रकारकी शक्ति तथा ऋद्धि स्फुरायमान होती है—ऐसा जहाँ भान हुआ वहाँ कोई भी परद्रव्य अपने रूपसे मुझको भासित नहीं होता। परद्रव्योंकी सपदा परद्रव्योंमें स्फुरायमान होती है और मेरी सपदा मुझमें स्फुरायमान होती है, इससे कोई परमाणुमात्र भी मुझे अपनेरूप भासित नहीं होता। दोनों वस्तुओंको स्वतन्त्र रखता हुआ स्वय प्रतापवत वर्तता है, इसलिये कहीं बाह्यसे परद्रव्योंका नाश नहीं होगया है—परद्रव्य कहीं उड़ नहीं गये हैं, किन्तु मैं अपनेमें और वे (परद्रव्य) अपनेमें,—इसप्रकार अस्ति नास्ति बतलाते हैं।

धर्मकी पहिचान क्या है? कि एक रजकण भी मेरे आधीन नहीं है, मैं किसी रजकणके आधीन नहीं हूँ। मैं एक भी रजकणका कर्ता नहीं हूँ, और वह मेरा कर्म है, मेरे शुद्ध स्वभावका मैं कर्ता हूँ और मेरी शुद्ध अवस्था मेरा कर्म है ऐसा भान वह सम्यक् दृष्टिकी पहिचान है।

अनत रजकणोंमें से एक रजकण–परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है,—ऐसा भार पूर्वक कहा है, तब फिर किसी स्थूल पदार्थकी तो बात ही कहाँ रही?

कोई कहे कि—इसमें पुरुषार्थ क्या आया? समाधान—एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है—ऐसी यथार्थ प्रतीति करना वह कर्मोंको नाश करनेका अनत पुरुषार्थ है। जिसके ज्ञानमें—एक रजकण भी मेरा नहीं है, मैं शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूँ—ऐसा अपूर्व भान होता है वह स्वप्नमें भी उत्तर देता है

कि–मै शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ, एक रजकण भी मेरा नहीं है, मेरे आधीन नहीं है।

> अेनु स्वप्ने जो दर्शन पामे रे,
> अेनु मन न चडे बीज भामे रे,
> मुक्तानदनो नाथ विहारी रे,
> शुद्ध जीवनदोरी हमारी रे।

त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान्ने आत्माको जैसा देखा और कहा है वैसे भगवान आत्माका जिसे अल्पकाल भी दर्शन हो जाये उसका मन अन्य विषय-कषायोंकी ओर नहीं जाता, परसे मुक्त–निराला चैतन्य पिण्डका जो आनद है, उस मुक्तानदका म विहारी हूँ अर्थात् उसमें रमण करनेवाला हूँ, स्वरूप में स्थिर होनेकी डोर मेरे हाथमें है, और वही मेरे जीवनकी डोरी है।

एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, एक परमाणुको हिलाने या गति कराने मे मैं समर्थ नहीं हूँ,–एसा मुझे भान हुआ है। अब भावकरूपसे और ज्ञेयरूपसे वह मेरे साथ एक होकर मोह उत्पन्न नहीं कर सकता, अब किसी कर्ममें ऐसी शक्ति नहीं रही है कि मुझे पुन मोह उत्पन्न कर सके, अब मुझे एसा स्वप्न भी नहीं आयेगा कि–राग द्वेषादि भावक और स्त्री, कुटुम्ब आदि ज्ञेय मेरे हैं। इस समयसार शास्त्रमें अलौकिक बात कही है।

महा विदेह क्षेत्रमें त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव श्री सीमधर भगवान परमात्मदशामें वर्तमानमें विराज रहे हैं। श्री कुदकुदाचार्य देव वहाँ गये थे और भगवानके श्री मुखसे खिरी हुई दिव्यध्वनिको उन्होंने हृदयमें धारण किया, वह उनके हृदयमें प्रविष्ट होगई, और पश्चात् वहाँसे आकर उन्होंने इस शास्त्र की रचना की। इस शास्त्रमें जो स्वरूप कहा गया है–एसी आत्मश्रेणी जिसके आत्मामें स्फुरायमान हुई उसे अप्रतिहतभाव हुए विना नहीं रहेगा।

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ उखड़ जानेके पश्चात् उसकी नवीन उत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार मिथ्याभ्रान्ति को आत्माके निजरसद्वारा मूलसे उखेड़ कर जिसने ज्ञान प्रकाश प्रगट किया उसके पुन उसका अकुर उत्पन्न नहीं

होगा ।-ऐसे अप्रतिहत भावका वर्णन किया है । शिष्य अपने पुरुषार्थसे तैयार होगया है कि मैं निजरससे परिपूर्ण अनंत गुणोंका पिण्ड हूँ ।——इस प्रकार अपने भानसे जिसके मोहकी जड़ उखड़ गई है वह धर्मात्मा भले ही संसारमें राजकाज करता हो, छियानवे हजार रानियोंमें खड़ा हो, युद्ध कर रहा हो, तथापि उसके एक भव भी नहीं बढ़ता और जो अल्प अस्थिरता शेष है वह दूर करनेके हेतुसे है--रखनेके हेतुसे नहीं है । आत्माके भान बिना चाहे जितनी क्रिया करता हो तथापि उसका एक भी भव कम नहीं होता ।

शिष्य कहता है कि--मुझे महान ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है । ऐसा अपनी साक्षीसे कहता है, किन्तु केवलज्ञानीसे पूछने नहीं जाना पड़ता। पहले कहा था कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे अपने ही अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है । मैं स्पष्ट प्रत्यक्षज्योति हूँ । मुझे ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है--इसप्रकार धर्मी स्वयं कहता है, किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता ।

जिसप्रकार धनवान पिताको यह बात लड़केसे नहीं पूछना पड़ती कि—मेरे पास कितनी संपत्ति है, मैं निर्धन हूँ या धनवान हूँ, उसी प्रकार शरीर, मन, वाणी, जड़ मैं नहीं हूँ, पुण्य पापके जो परिणाम हैं सो मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष आत्मा हूँ—इसप्रकार स्वयं निःसन्देह हुआ, इसलिये स्वयंको ही अपनी खबर पड़ती है, किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता ।

गुरुके उपदेशसे और स्वकाललब्धिसे शिष्यने वस्तुका स्वरूप समझ लिया । स्वकाल अर्थात् पुरुषार्थलब्धिसे ज्ञानी हुआ । मैं एक हूँ, मुझमें अनेक पदार्थ ज्ञात हों तथापि मैं अनेक रूप नहीं हो जाता, इसलिये मैं एक हूँ । जो नवतत्त्वके विकल्परूपसे भेद होते हैं वे अशुद्ध हैं, वह मैं नहीं हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ । परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है—ऐसा जाननेसे मोहका समूल नाश हो गया, मूलसे नाश हुआ इसलिये पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होगा । राग-द्वेषसे और परवस्तुसे भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूप-

सपदार्थको जानलिया, वह कैसे पिछड़ सकता है ? कैसे लौट सकता है ? नहीं लौट सकता।

समयसारका पूर्व रंग ३८ गाथाओंमें पूर्ण होता है। आचार्यदेवने ३८ गाथाओं में मोक्षका मार्ग खोलकर रखदिया है। और अब सबको आमंत्रित करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा शांत स्वरूप समझाया है, उसे समझकर समस्तलोक उसमें निमग्न होओ !—ऐसा आमंत्रण देते हैं। इस विषयमें अब कलश कहते हैं—

(वसंततिलका)

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥३२॥

अर्थ — यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूप आड़ी चादरको संपूर्ण डुबाकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है, इससे अब समस्त लोक उसके शांतरसमें एकही साथ अत्यंत मग्न होओ ! कैसा है शांत रस ? समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है।

इस देहरूपी घरमें भगवान आत्मा सो रहा है। शरीर और रागको अपना मानकर सो रहा है। लौकिक माता तो सुलानेके लिये लोरियाँ गाती है किंतु प्रवचन माता जागृत करनेकी लोरियाँ गा रही है। शरीरादिके रजकणों में गुप्त हुए, पुण्य-पापके भावोंमें छिपे हुए भगवान आत्माको प्रवचन माता लोरियाँ गाकर जागृत करती है।

जिसप्रकार बीनका नाद सुनकर सर्प विषको भूल जाता है और बीनके नादमें एकाग्र होता है, उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी इस समयसारकी वाणी रूपी बीन का नाद सुनकर कौन आत्मा नहीं डोल उठेगा ? कौन जागृत नहीं होगा ? सभी डोल उठेंगे, सभी जागृत होंगे,

होगा ।–ऐसे अप्रतिहत भावका वर्णन किया है । शिष्य अपने पुरुषार्थसे तैयार होगया है कि मैं निजरससे परिपूर्ण अनंत गुणोंका पिण्ड हूँ ।——इस प्रकार अपने भानसे जिसके मोहकी जड़ उखड़ गई है वह धर्मात्मा भले ही संसारमें राजकाज करता हो, छियानवे हजार रानियोंमें खड़ा हो, युद्ध कर रहा हो, तथापि उसके एक भव भी नहीं बढ़ता और जो अल्प अस्थिरता शेष है वह दूर करनेके हेतुसे है– रखनेके हेतुसे नहीं है । आत्माके भान बिना चाहे जितनी क्रिया करता हो तथापि उसका एक भी भव कम नहीं होता ।

शिष्य कहता है कि——मुझे महान ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है । ऐसा अपनी साक्षीसे कहता है, किन्तु केवलज्ञानीसे पूछने नहीं जाना पड़ता। पहले कहा था कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे अपने ही अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है । मैं स्पष्ट प्रत्यक्षज्योति हूँ । मुझे ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है——इसप्रकार धर्मी स्वयं कहता है, किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता ।

जिसप्रकार धनवान पिताको यह बात लड़केसे नहीं पूछना पड़ती कि——मेरे पास कितनी संपत्ति है, मैं निर्धन हूँ या धनवान हूँ, उसी प्रकार शरीर, मन, वाणी, जड़ मैं नहीं हूँ, पुण्य पापके जो परिणाम हैं सो मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष आत्मा हूँ—इसप्रकार स्वयं निःसंदेह हुआ, इसलिये स्वयंको ही अपनी खबर पड़ती है, किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता ।

गुरुके उपदेशसे और स्वकाललब्धिसे शिष्यने वस्तुका स्वरूप समझ लिया । स्वकाल अर्थात् पुरुषार्थलब्धिसे ज्ञानी हुआ । मैं एक हूँ, मुझमें अनेक पदार्थ ज्ञात हों तथापि मैं अनेक रूप नहीं हो जाता, इसलिये मैं एक हूँ । जो नवतत्त्वके विकल्परूपसे भेद होते हैं व अशुद्ध हैं, वह मैं नहीं हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ । परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है—ऐसा जाननेसे मोहका समूल नाश हो गया, मूलसे नाश हुआ इसलिये पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होगा । राग द्वेषसे और परवस्तुसे भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूप-

संपदाको जानलिया, वह कैसे पिछड़ सकता है ? कैसे लौट सकता है ? नहीं लौट सकता।

समयसारका पूर्व रंग ३८ गाथाओंमें पूर्ण होता है। आचार्यदेवने ३८ गाथाओं में मोक्षका मार्ग खोलकर रखदिया है। और अब सबको आमन्त्रित करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा ज्ञान स्वरूप समझाया है, उसे समझकर समस्तलोक उसमें निमग्न होओ '–ऐसा आमन्त्रण देते हैं। इस विषयमें अब कलश कहते हैं –

(वसन्ततिलका)

मज्जतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ता ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥३२॥

अर्थ — यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूप आड़ी चादरको सपूर्ण डुबाकर (दूर करके) स्वयं सर्वाग प्रगट हुआ है, इससे अब समस्त लोक उसके शांतरसमें एकही साथ अत्यन्त मग्न होओ ! कैसा है शांत रस ? समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है।

इस देहरूपी घरमें भगवान आत्मा सो रहा है। शरीर और रागको अपना मानकर सो रहा है। लौकिक माता तो सुलानेके लिये लोरियाँ गाती है किन्तु प्रवचन माता जागृत करनेकी लोरियाँ गा रही है। शरीरादिके रजकणों में गुप्त हुए, पुण्य-पापके भावोंमें छिपे हुए भगवान आत्माको प्रवचन माता लोरियाँ गाकर जागृत करती है।

जिसप्रकार बीनका नाद सुनकर सर्प विषको भूल जाता है और बीनके नादमें एकाग्र होता है, उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी इस समयसारकी वाणी रूपी बीन का नाद सुनकर कौन आत्मा नहीं डोल उठेगा ? कौन जागृत नहीं होगा ? सभी डोल उठेंगे, सभी जागृत होंगे,

जिसे न जमे, न बैठे वह अपने घर रहा। आचार्यदेवने तो अपने भावसे समस्त जगतको आमन्त्रण दिया है।

ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा कहा है अर्थात् समस्त आत्माओं को भगवान कहा है। ज्ञानसमुद्र भगवान, समुद्र की भाँति अपने ज्ञान में हिलोरें मारता है। ज्ञानसमुद्र आत्मा चाहे जितने जर्वो की बात जाने तथापि उसका भार नहीं होता--ऐसा ज्ञानसमुद्र से परिपूर्ण आत्मा है।

जिस प्रकार समुद्र पानी से छुलाछुल भरा हो, उसमें आड़ी भीत या अन्य कोई वस्तु आजाये तो पानी दिखाई नहीं देता, किन्तु यहाँ तो मात्र चादर अर्थात् चारों ओर मात्र वस्त्रका ही आवरण लिया है कि जिसे दूर करने में देर नहीं लगती। मात्र उस वस्त्र को पानी में डुबा देने से छुलाछुल पानी से भरा हुआ समुद्र दिखाई देता है, उसी प्रकार ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा भीतर छुलाछुल भरा हुआ है। विभ्रमरूप आड़ी चादर पड़ी थी उसे सम्पूर्ण पानी में डुबा दिया अर्थात् भ्रमण की मिथ्या पकड़ का व्यय किया और सराग रूपसे प्रगट होने रूप उत्पाद हुआ, सर्वांग अर्थात् असंख्य प्रदेश से प्रगट हुआ। ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा अपने ज्ञान आदि शांतरस में हिलोरें मारता है।

जिस प्रकार लोक व्यवहार में कहा जाता है कि-यह सरोवर मीठा स्वच्छ जलसे भरा हुआ है, इसमें स्नान करो। उसी प्रकार आचार्य देव कहते हैं कि यह स्वच्छ ज्ञानसमुद्र भरा हुआ है, इसमें समस्त जीव आकर स्नान करो। शीतल होओ! शांतरसमें निमग्न होओ। यहां समस्त जीव आओ ऐसा कहा है, वह भी एकसाथ आओ- ऐसा कहा है, किन्तु ऐसा नहीं कहा कि एक के बाद आओ। अहा! एसा भगवान आत्मा है। भगवान आत्माका अद्भुत स्वभाव देखकर आचार्य देवका भाव उछल गया है कि अहो! ऐसा आत्मा है और सब जीव एक ही साथ क्यों नहीं आते? सब आओ! एक साथ आओ! शान्तरस में एक ही साथ अत्यन्त निमग्न होओ!

मात्र निमग्न नहीं कहा है किन्तु अत्यन्त निमग्न होओ—ऐसा कहा है। फिर कहते हैं—कैसा है शांत रस ? समस्त लोकमें उछल रहा है, चौदह ब्रह्माण्डके जीवोंमें शांत रस हिलोरें ले रहा है, सभी जीव प्रभु है। अहो! सब जीव लीन होओ—ऐसा आचार्यदेव आमंत्रण देते हैं। और दूसरा अर्थ यह है कि—केवलज्ञान होनेसे समस्तलोकालोकको जानते हैं वहाँ समस्त लोकालोकपर्यंततक शांत रस उछल रहा है।

मात्र भ्रांतिका पट आड़े था इससे स्वभाव दिखाई नहीं देता था। भींत जैसी कठिन वस्तु आड़े हो तो तोड़नेमें समय लगता है, किन्तु यह तो पट जैसी भ्रांति क्षणभरमें दूर की जासकती है। विभ्रमसे अपना स्वरूप ज्ञात नहीं होता था। स्त्री, कुटुम्ब आदि तो एक ओर रहे किन्तु शरीर, मन, वाणी भी अलग रखे रहे। वे तो भिन्न ही हैं, किन्तु अंतरमें होनेवाली शुभाशुभ वृत्तियाँ भी भिन्न हैं, उन सबमें एकत्वबुद्धि थी उसे दूर करके, समूल डुबाकर इस ज्ञान समुद्रमें—वीतरागी विज्ञानमें सब एक साथ निमग्न होओ! —इसप्रकार आचार्यदेवने घोषणा की है। आबालवृद्धको निमंत्रण दिया है। फिर कौन नहीं पहुँचेगा ? सब पहुँचेंगे। जिसे विरोध हो, द्वेष हो वह नहीं पहुँचेगा, कोई बीमार हो वह नहीं जायेगा। बीमार कहेंगे कि हम नहीं पहुँच सकते तो क्या करें ? अरे रोगी! अपनी पुरुषार्थहीनताकी बात एक ओर रख दे! इस निमंत्रणमें एक बार चल तो! दाल भात ही खा लेना, किन्तु चल तो!

अनेक श्रावक साधर्मियोंको भोजन कराते हैं, उनमें बहुतोंके ऐसे भाव होते हैं कि कोई भी साधर्मी छूट न जाये, क्योंकि इन सबमें कोई जीव ऐसा श्रेष्ठ होता है कि भविष्यमें तीर्थंकर होनेवाला होता है, कोई केवली होने वाला होता है, कोई अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करनेवाले भी होते हैं,—ऐसे साधर्मी जीवोंके पेटमें मेरा अन्न पहुँचे तो मेरे अवतारको धन्य है! कौन भविष्यमें तीर्थंकर होनेवाला है, कौन अल्पकालमें मोक्षमें जाने वाला है—इसकी भले कोई खबर न हो, किन्तु आमन्त्रण देनेवाले का भाव ऐसा है कि-

अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करनेवाला कोई जीव रह न जाये। इसका अर्थ ऐस होता है कि यदि भोजन करानेवालेका भाव आम भावना पूर्वक यथार्थ है तो स्वयको अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करनेकी भाव-रुचि है।

इसप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि मेरा निमत्रण आबाल वृद्ध सबको है। सबको निमत्रण दिया है कि—इस शातरसका स्वाद चखे बिना कोई जीव रह न जाये, एसा आमत्रण देने हुए वास्तवमें आचार्य देवको स्वयको ही भगवान आत्माके शातरसमें निमग्न हो जानेकी तीव्र भावना जागृत हुई है समयसारकी प्रत्येक गाथामें आचार्यदेवने अद्भुत रहस्य भर दिया है, अपू भाव भरे हैं, क्या कहा जाये! जिसकी समझमें आजाये वही जान सकता है

केवलज्ञान प्रगट हो उस समय समस्त ज्ञेय एकही साथ ज्ञानमें आकर झलकते हैं, उसने सर्वलोकको देख लिया—ऐसी भी यहाँ प्रेरणा की है। अहो! आचार्यदेवने पूर्णस्वभावकी बात पूर्णरूपसे ही की है, एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है—ऐसा कहकर पूरी बात कह दी। 'एक परमाणुमात्रकी स्पर्शता नहीं है'—ऐसे भानके बलमें पूर्णता हो जाती है।

जैसे—किसी मनुष्य राजा आदि किसी उच्च पदाधिकारी व्यक्तिसे मिलने जाना हो तो वह श्रीफल आदि कोइ अच्छी भेट लेकर जाता है, उसी प्रकार यदि त्रिलोकीनाथ भगवान आत्मासे मिलने जाना हो तो पहले उसकी भेट प्राप्त करना पड़ेगी, समयप्राभृतकी भेट धरना पड़ेगी। उसके बिना भगवान आत्माके दर्शन नहीं हो सकेंगे, यह समयप्राभृत अर्थात् सम्यक् दर्शन-ज्ञान चारित्रकी परिणतरूप भेटके बिना आत्मारूपी राजा किसी भी प्रकार प्रसन्न नहीं होता।

इसप्रकार ससारकी रगभूमिमें आत्मा अनेक वेष धारण करता है उन्हें ज्ञानी पहिचान लेते हैं। इस भावका वर्णन टीकाकार श्री अमृतचद्राचार्य देवने अलकारसे नाटकरूपमें किया है। जैसे आनदघनजीने कहा है कि—

अवधु नट नागरकी बाजी क्या जाने ब्राह्मण काजी,
स्थिरता एक समयमें ठाने, उपजे विणसे तब ही
उलट-पलट ध्रुव सत्ता राखे, या हम सुनी न कबही। अवधु

क्षणमें मनुष्य हो, क्षणमें नारकी हो, क्षणमें देव हो, पहले समय की अवस्था बदलकर दूसरे समयकी नवीन अवस्थारूप उत्पन्न हो, ध्रुवसत्ता को बनाये रखे,—ऐसी बात तो कभी भी सुननेमें नहीं आयी।—ऐसे आत्मा रूप नटनागरकी बाजीको अजान लोग क्या जानें?

३८ गाथाएँ पूर्ण हुईं। उनमें आत्माके अधिकारका वर्णन किया। समयसारका नाटकरूपसे वर्णन किया जा रहा है। प्रथम रंगभूमि होती है, उसमें दर्शक तथा पात्र होते हैं। नाटक करनेवाले अनेक प्रकारके स्वांग धारण करते हैं, भिन्न भिन्न रस दर्शकोंको बतलाते हैं।

ज्ञानमें जो वस्तु लक्ष्यमें आती है उसमें एकाग्र होना, और दूसरी चिंता न होने देना उसे लोग रस कहते हैं। दूसरी वस्तु ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं हो जाती किन्तु रागसे ज्ञानका लक्ष्य उस ओर जाने पर रागमें रुक जाता है और उस ओर एकाग्र होता है उसे रस कहते हैं।

स्वाद मिठाईमेंसे नहीं आता, मिठाईका स्वाद अपनेमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, जड़ वस्तुका रस आत्मामें नहीं आजाता। अज्ञानीको स्वभावके अनी[न्द्र]िय रसका भी स्वाद नहीं आता, किन्तु रागके रसका स्वाद आता है। -

मैं निर्दोष ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा भान करके स्वको ज्ञेय करना और दूसरेको-विकारको भूल जाना अर्थात् उसमें युक्त न होना, किन्तु अपने स्वभाव रसमें लीन रहना सो अतीन्द्रियरस है—ऐसा यह समयसार शास्त्र कहता है। रागका रस है सो विकारका रस है, रागके वेदनमें अज्ञानी आनंद मानता है इससे उसे आनन्द मालूम होता है। फूलोंकी सुगन्धमेंसे सुख नहीं आता किन्तु अज्ञानी दूसरा सब कुछ भूलकर फूलोंमें से सुख आता है-ऐसा मानकर एकाग्र होता है इससे उनमें सुखका आभास होता है, किन्तु उनमें

सुख है ही नहीं, मात्र उसने कल्पना कर रखी है।

नाटकमें दर्शकोंके हृदयमें श्रृङ्गाररस उत्पन्न करनेके लिये नाटकके पात्र सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर–शृंगार करके आते हैं, किन्तु वह शृंगाररस आत्माका स्वभाव नहीं है। परसे अपना शृंगार मानना वह अपनेको कलक रूप है। और जिस प्रकार नाटकमें भिन्न भिन्न वेष धारण करके आते हैं,–क्षणमें भर्तृहरिका वेष और क्षणमें किसी अन्य राजाका वेष धारण करके आता है, किन्तु मनुष्य तो एक ही होता है। उसी प्रकार आत्मा तो वही का वही चिदानन्दपरमात्मा है, किन्तु उसके क्षणमें एक शरीर क्षणमें दूसरा शरीर, क्षणमें राग, घड़ीमें द्वेष–इसप्रकार भिन्न भिन्न वेष दिखलाई देते हैं। क्षणमें सुन्दर, क्षणमें कुरूप, क्षणमें रंक, क्षणमें राजा,–इसप्रकार अनेक स्वांग धारण करके नाच रहा है। उसे ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई! यह स्वांग अजीव के घरकी वस्तु है, तेरी अपनी वस्तु नहीं है, तू उससे पृथक् निर्दोष परमात्मा है, तू तो वही का वही है। इन पृथक् पृथक् स्वांगरूप तू नहीं है और यह *परका शृंगार भी तेरा नहीं है—तेरा शृंगार तो तुझीसे है।*

अज्ञानी जीव कपड़े–गहने पहिनकर शोभा मानते हैं, किन्तु अरे मूर्ख! आत्मा तो तीन लोकका नाथ है, तुझे परकी शोभासे कलक नहीं लगता? तू तो भगवान चिदानन्द आत्मा है, तुझे शरम नहीं आती? अरे आत्मा! परसे तेरी शोभा नहीं है, तेरी शोभा तो तुझसे है। कपड़े–गहने पहिनकर–श्रृंगार सजकर दर्पणमें मुँहको ऊँचा-नीचा,इधर उधर करके देखता हो उस समय पागल जैसा मालूम होता है, किन्तु भाई! श्रृंगार रस तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है वह पाप रस है, संसार परिभ्रमणका कारण है।

हास्यरस आत्माका स्वभाव नहीं है।—हँसना और खिलखिलाना उसमें तुझे रसका अनुभव होता है, किंतु अरे तीन लोकके नाथ! यह कुतूहलता करना, खिलखिलाना तुझे शोभा देता है? अपना स्वभाव भूलकर परमें–जड़में तुझे क्या नवीनता मालूम होती है? काहेका कुतूहल होता है! परमें

नवीनता नहीं है। भाई! यह तेरा स्वभाव नहीं है, तेरे आत्माका स्वभाव तो अपूर्व शांतरससे परिपूर्ण है, उसे देख!

रौद्ररस अर्थात् क्रूररस। दूसरोंको मारनेके परिणाम, शत्रुको मारनेके परिणाम सो क्रूर रस है। जब वह क्रूररस चढ़ता है उस समय किसीको मारते समय बीच कोई भी आजाये तो उसे भी मार डालता है, अरे चैतन्य! अपने स्वभावको भूलकर इस क्रूर रसमें कहाँ फँस गया! ऐसे रस तो संसार परिभ्रमणके कारण हैं।

करुणरस—एक साठ वर्षकी बुड्ढी हो, उसका इकलौता लड़का हो, वही जीवनका आधार हो, दूसरा कोइ आधार न हो। यह लड़का जगल में जाकर लकड़ी काटकर बेचता हो, और आजीविका चलाता हो। जगलमें लकड़ी काटते समय उसे साँपने डस लिया और वह मर गया। किसीने आकर बुड्ढी को समाचार सुनाया कि तेरे लड़के को साँपने डस लिया, वह जगलमें मरा पड़ा है। उस समय बुढ़ीका रुदन कितना करुणापूर्ण और हृदयको भेदने वाला होता है। उस रुदनसे जो करुणा उत्पन्न हो वह करुण रस है। ऐसे-ऐसे करुणाके प्रसंग देखकर दयाके भाव हों वह करुण रस है वह एक पुण्यका भाव है।

वीररस—शत्रुका सहार करनेमें जो रस चढ़ जाता है वह वीर रस है। राजकुमार पुष्पों की शय्या पर सो रहा हो और कोइ राज्यपर चढ़ाई करदे उस समय राजकुमार को शत्रुसहारका कैसा रस चढ़ आता है? वह वीररस है, वह पापरस है, दुर्गतिमें भ्रमण करनेका कारण है। अरे भाई! अपने ज्ञान स्वरूप भगवान आत्माको भूलकर यहाँ कहाँ अटक रहा है! यह तेरा स्वभाव नहीं है।

भयानक रस—आषाढ़की अमावस्याकी अँधेरी रात्रिमें जब बादल गरजते हैं और पानीकी झड़ियाँ लगती हैं उस समय जगलमें अकेला हो, सिंह, चीते चिंघाड़ रहे हों, बिजली चमक रही हो, वहाँ जो भय उत्पन्न होता

है वह भयानक रस है। अरे भाई! भीतर देख लो तेरा निर्भय स्वरूप है, तेरे स्वरूपको कोई काट डाले या छुड़ाले ऐसा नहीं है,—ऐसा जानकर निर्भय हो। भय तेरा स्वरूप नहीं है।

वीभत्स रस—सुदर शरीरमें चेचक निकले और उसके दाने-दानेमें कीड़े पड़ जायें, शरीरसे दुर्गंध छूटने लगे—उसे देखकर शरीरके रोंगटे खड़े हो जायें वह वीभत्स रस है। शरीरके रजकण कब, किस रूपमें परिणमित हो जायें वह आत्माके हाथकी बात नहीं है, इसलिये आत्माको पहिचानकर उसकी श्रद्धा कर।

अद्भुतरस अर्थात् विस्मयरस। पुद्गलकी रचनामें कोई नवीनता—विशेषता दिखाई दे वहाँ बड़ा आश्चर्य हो जाता है, वहा पर ज्ञान परमें एकाग्र होकर रागका रस लेता है। पुद्गलके फेरफार देखकर आश्चर्य हो जाये वह अद्भुतरस है। यह सब लौकिक रस है।

नवमाँ शातरस है वह अलौकिक है, उसका लौकिक नाटकोंमें अधिकार नहीं है। पुण्य-पापकी उपाधिके भाव रहित अशत भी आत्मामें एकाग्र हो तब शांतरस आता है, वह आत्माका रस है, वह रस आत्माके स्वभावकी पहिचान करके उसमें एकाग्र होनेसे ही प्रगट होता है। आत्माका रस परमें कहीं भी नहीं है, परमें उसकी गध तक नहीं है, आत्माका रस तो अलौकिक है।

ज्ञानमें जो ज्ञेय आया उसमें ज्ञानका तदाकार होना और दूसरे ज्ञेयकी इच्छा न रहना—उसे रस कहते हैं। पैसेसे, स्त्री से, अथवा किसी बाह्य वस्तुमें तीनकाल-तीनलोक में भी रस या सुख नहीं आता, किंतु स्वय आत्मा ने अन्य सब कुछ भूलकर जिस किसी ज्ञेयमें रागभावसे लीनता की—उसका नाम रस-आनन्द है, अन्य कोई रसकी व्याख्या नहीं है। रस बाहरसे नहीं आता, किन्तु जहाँ स्वय लीनता करे उसे रस कहते हैं। यह रसकी सर्वव्यापक व्याख्या है।

दस हजार की हीरे की अंगूठी पहिनकर कहीं जा रहा हो और मार्ग में लुटेरे मिल गये। लुटेरे कहने लगे, 'अंगूठी लाओ, नहीं तो मार डालेंगे।' मन में सोचने लगा—इससे अच्छा तो यही था कि मैं अंगूठी न पहिनता, जिससे शोभा मानी थी वही दुःख का कारण हुआ। पहले रागभाव से शोभा मानी थी किन्तु जहाँ लक्ष बदला वहाँ दुःख हो गया। उस समय यदि मैं चिदानंद आत्मा हूँ—ऐसा जानकर, मानकर उसमें स्थिर हो तो आत्मा के ज्ञान और आनंद का रस आये, किन्तु उसमें लीन न होकर भयमें लीन हो तो भय का रस आता है। यह रस की सब व्यापक व्याख्या है।

राग की एकाग्रता से रस आता है, किन्तु बाह्यवस्तु पर आरोप करता है कि मुझे अमुक वस्तुमें से, व्यापार-धंधा में से, खाने पीने में से, सोने बैठने में से रस आता है किन्तु वास्तवमें तो राग की एकाग्रता में से रस आता है।

रस का स्वरूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं। अन्य रसको अन्य रस के समान करके वर्णन करते हैं। जैसे—श्रृंगार रसमें हास्य रस मिलाते हैं और हास्य रस में श्रृंगार रस मिलाते हैं।

उसी प्रकार आत्मसत्ता रंगभूमि है और देखनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। यथार्थतया ज्ञायक भाव से देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि हैं, अन्य सब विपरीत मान्यतावालों की सभा है, उन्हें बतलाते हैं। नृत्य करनेवाले जीव अजीव पदार्थ हैं, उन दोनों का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि अनेक स्वांग हैं, कर्ता कर्म आदिके स्वाँधारण करके नाच रहे हैं। उसमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं और आठ-रसरूप परिणमन करते हैं—यह नृत्य है। वहाँ जो सम्यग्दृष्टि देखनेवाले हैं वे जीव अजीवके भिन्न स्वरूपको जानते हैं, वे तो इन सब स्वाँगों को कर्मकृत जानकर शांतरस में ही मग्न हैं और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव का भेद नहीं जानते इससे इन स्वांगों को ही सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते हैं। *उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, शांतरसमें लीन*

करके उन्हें सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।

सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि से कहते हैं कि—देख भाई ! जब तू माता के शरीर में आया उस समय यह स्थूल शरीर लेकर नहीं आया था, किन्तु कार्मण और तैजस लेकर आया था, माताके उदर में आने के पश्चात् इस स्थूल शरीर की रचना हुई, जब जन्म लिया तब एक बालिश्त जितना शरीर था, उसके बाद रोटी-दाल चावल खाते खाते उसमें से इतना बड़ा शरीर हुआ, इसलिये इस शरीरका स्वांग तेरे आत्माका स्वांग नहीं है, तेरे आत्मा का स्वांग तो इससे पृथक् है। सम्यक्त्वी ज्ञानी स्वयं जानते हैं और दूसरे मिथ्यादृष्टियों को बतलाते हैं—यह स्वांग तेरा नहीं है। देख, आत्मा और शरीर एक ही स्थान पर हैं, किन्तु भाव से भिन्न हैं। शरीर, मन, वाणी और क्रोधादि का मैं कर्ता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, उनसे कहते हैं कि तू ज्ञानका कर्ता है और ज्ञान तेरा कर्म है।

संसारमें अज्ञानी आठरसरूप होकर परिणमित होता है, किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि यह राग-द्वेष मेरे पुरुषार्थकी अशक्ति से होता है, किन्तु यह मेरा स्वांग नहीं है, बाह्यकी अनुकूलता प्रतिकूलता, शरीर सुन्दर-कुरूप होना वह मेरा स्वांग नहीं है। शरीर-वाणी आदिका मैं कर्ता नहीं हूँ और वह मेरा कर्म नहीं है, इसलिये वह मेरा स्वांग नहीं है।—इसप्रकार धर्मात्मा परका अभिमान छोड़कर शांतरसमें मग्न रहता है। आठ रसोंमें आकुलताका रस रहता था उसे छोड़कर नवमें शांत रसका स्वाद लेने लगा।

एक गरीब आदमीको कहींसे सौ-दो-सौ रुपयेके नोट मिले। ठंडका मौसम था, इसलिये घरके सब लोग मिलकर अगीठी पर ताप रहे थे और गप्पें लगा रहे थे। इसी समय लड़केने नोटोंका बंडल अग्निमें, डाल दिया और जल गया। लड़केकी माँ को बहुत दुःख हुआ और क्रोध आया कि बड़ी मुसीबतसे तो पैसे आये थे और इसने जला दिये! क्रोधमें आकर उसने लड़केको इतना मारा कि बेचारा बेहोश होगया और मर गया। लड़केके पिताको खबर पड़ी तो उसे बड़ा क्रोध आया कि रुपयोंके लिये लड़केको मार डाला!

उसने घरवालीको इतना मारा कि वह मर गई। फिर सोचने लगा कि अब मैं जीवित रहकर क्या करूंगा? ऐसा विचार करके स्वयं आत्महत्या करली। देखो! जीव क्रोधवश होकर क्या नहीं करते? जीवोंको कैसा उलटा रस चढ़ जाता है? माताके भाव लड़केको मारनेके नहीं थे, किन्तु आकुलताके रसमें भान खो बैठी, क्रोधकी तीव्रतासे भान भूल गई। विपरीत दृष्टिवाले जड़ चैतन्यके भिन्न स्वांगोंको नहीं जानते और परमें एकाकार हो जाते हैं। वह स्त्री समाधान न कर सकी कि—होगा! बालक है पैसे तो जाना थे इसलिये चले गये। आत्मा तो समाधान स्वरूप है। अरे भाई! बाहरमें जो नोट कागज हैं वह तू नहीं है, उससे तुझे सुख नहीं है, वह तेरा स्वांग नहीं है। अपने अनाकुल स्वरूपको भूलकर आकुलताके रसमें एकाग्र होना वह तेरा स्वरूप नहीं है, तेरा सुख तुझमें ही है उसकी पहिचान करके उसमें स्थिर हो, वह तुझे–सुख शरणरूप है।

मिथ्यादृष्टि बाह्य स्वांगको अपना मानकर उसमें लीन होता है। दो चार अच्छे लड़के हों और 'पिताजी, पिताजी' कहें वहाँ प्रफुल्लित हो जाता है, सुन्दर–सुशील स्त्री मिली हो, कुछ चाँदीके टुकड़े इकट्ठे होगये हों, सिर पर पखा फिरता हो, सब मिलकर झूले पर झूलते हों तो मानों चक्रवर्तीका राज्य मिल गया हो—ऐसा फूल जाता है। मान बैठता है कि यह सब सदैव ऐसेका ऐसा ही रहेगा किन्तु भाई! यह स्वांग तेरे घरका नहीं है कि अधिककाल तक बना रहेगा, यह सब तो जड़के स्वांग हैं, जब तेरा पुण्य फिरेगा कि सब क्षणभरमें पलट जायेंगे, किन्तु अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा शाश्वत है।

शरीरमें चार-पाँच डिग्री बुखार आ जाये तो बिलकुल ढीला हो जाता है, चार पाँच तो क्या दो डिग्रीमें ही बेचैन हो जाता है, किन्तु यदि शरीरमें नहीं तो क्या दीवारको बुखार आना होगा? यह सब जड़की अवस्थाएँ बदलती हैं इनमें तेरा क्या जाता है? तू तो भगवान चिदानंद है। उसे

कभी बुखार--रोग नहीं आ सकता, वह तो अव्याबाध शात शीतलताका कद-मूर्ति है। अज्ञानीको बुखारके साथ उलटी (वमन) हो जाये तो उसे ऐसा हो जाता है कि--अरे ! मानों मै इस उलटीमें निकला जारहा हूँ, मेरा आत्मा मानो इस उलटीमें निकला जारहा है। किन्तु अरे चैतन्य ! तू तो ध्रुवस्वरूप है, उलटी (-वमन) तो जड़की—पुद्गलकी अवस्था है, तू उलटीके साथ नहीं निकल सकता, तू तो उससे भिन्न टकोत्कीर्ण शाश्वतमूर्ति है। मरते समय अज्ञानीको एसा लगता है कि मैं मर रहा हूँ, मेरा नाश होता है, किंतु देह और आत्मा पृथक् हों उसे मरण कहते हैं। वास्तवमें जगतमें मरण है ही नहीं, क्योंकि किसी वस्तुका नाश नहीं होता, मात्र अवस्थान्तर होना है। आत्मा भी है, है, और है और पुद्गल भी है, है और है। उसमें मरण किसे कहना ? किन्तु इस स्थूल शरीर और आत्मा--दोनों पृथक् हों उसे लोग मरण कहते हैं। अज्ञानी अपनी भिन्नताको भूलकर परको अपना मान कर उसमें एकाग्र होजाता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि परके स्वांगको अपनेसे पृथक् जानकर शातरसमें मग्न रहता है।

देखो, इसमें ऐसा नहीं आया कि यह सातवें गुणस्थानवाले को बतला रहे हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि को बतलाता है कि भाई ! यह मान प्रतिष्ठा तेरी नहीं है, और तूने मान रखा है कि यह आँख--कान--नाक मेरे हैं, किन्तु यह तेरे नहीं हैं, जो तुझसे पृथक् होजाता है वह तेरा नहीं हो सकता। अरे भाई ! तू आनद कन्द है, अपनी पहिचान कर, श्रद्धा कर, स्थिर हो !

भाइ ! धुएँको गले नहीं लगाया जाता, बालूके गढ़ नहीं बनते, सनके बोरोंमें हवा नहीं भरी जा सकती। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिसे कहता है कि भाई ! भूल मत ! अपनी चिदानन्द वस्तुको मत भूल ! परको अपना मत मान ! वह तेरी वस्तु नहीं है, तू अपने में शात हो,—इसप्रकार धर्मात्मा मिथ्यादृष्टि को अपने शातरसमें लीन कराते हैं।

सम्यक्दृष्टि भ्रम मिटाकर स्वरूपमें—शांतरसमें मग्न कराते हैं। 'मज्जतु' कलश पहले आचुका है उसका यथार्थ भाव ऐसा है कि मेरे असंख्य प्रदेशमें शांतरस भरा है, वह प्रस्फुटित हो जाओ, प्रगट हो जाओ। और बाहरसे लोगोंको आमंत्रण देते हैं कि—सब इस शांतरसमें मग्न होओ! कोई कहेगा कि—अभव्य को कहाँ शांतरस प्रगट होना है कि आचार्यदेवने सबको आमंत्रण दिया? किन्तु आचार्यदेव तो अपनी दृष्टिसे ऐसा ही देखते हैं कि सभीको शांतरस प्रगट हो। अभव्य भले अपने घरके लिये होगा, आचार्यदेव तो अपनी भावनाके बलमें भव्य-अभव्य सभीको आमंत्रण देते हैं कि—सब आओ! मुझे ऐसा शांतरस प्रगट हुआ है और जगतका कोई जीव इससे वंचित न रह जाए—ऐसी भावना तो अपनी है न!

अब जीव-अजीवके स्वांगका वर्णन करेंगे।

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय;
निजानंद रसमें छको आन सबै छिटकाय।

यह तत्त्व क्या है इसका एक बार तो कुतूहल कर! यह जो इज्जत, कीर्ति, पैसा, कुटुंबमें अपनापन मानकर उनमें लीन होरहा है उसे भूलकर भीतर आत्मामें उतर कर उसकी थाँह ले! जिसप्रकार कुएँमें डुबकी मारकर थाँह लाते हैं एसी थाँह ले। दुनिया को भूलकर, मरकर भी एकबार अंतर तत्त्व क्या है उसे देखनेके लिये गिर तो! मरकर अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता सहन करके भी कुतूहल कर! अनंतबार देहके अर्थ आत्माको लगा दिया, किन्तु अब एकबार आत्माके अर्थ देहको लगादे तो भव न रहे। दुनियाको भूल! दुनियाकी चिंता छोड़कर आत्माके रसमें मस्त हो जा! पुरुषार्थ करके अंतर-पटको तोड़ दे।

इसप्रकार जीव-अजीव अधिकारमें पूर्व रंग समाप्त हुआ।

❁ ❁ ❁

अब जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य दोनों एक होकर रग भूमिमें प्रवेश करते हैं। अब चिदानन्द मूर्ति आत्मा और शरीरादिक, पुण्य पाप इत्यादि सब एक ही वेश धारण करके आते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि–तुझे पहले यह बताया जा चुका है कि जीवका स्वभाव ऐसा होता है, अब तू इससे यह समझ ले कि जो जो अजीव आते हैं वह तू नहीं है। अब आचार्यदेव इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए मगलाचरण करते हैं, माणिकस्तम्भको स्थापित करते हैं, ज्ञानकी महिमा प्रगट करते हैं, यह ज्ञान समस्त वस्तुओंको जाननेवाला है, यह जीव अजीवके समस्त वेषोंको भली भाँति पहचानता है, ऐसा सब स्वागोंको पहिचाननेवाला सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है।

यहाँ 'सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है', यह कहकर सम्यक्ज्ञानीकी बात कही है। अर्थात् यहाँ चतुर्थ गुणस्थानवालोंकी बात है सातवें गुणस्थान वालोंकी नहीं। रामचन्द्रजी, पाडव और राजा श्रेणिक इत्यादि गृहस्थ आश्रममें थे तथापि उन्हें यह दृढ़ प्रतीति थी कि आत्मा परसे भिन्न है, राग द्वेष मेरे नहीं हैं, इसप्रकार भ्रान्तिका त्याग करके वे सब, स्वरूपमें स्थित रहते थे। ससारमें रहकर भी ऐसी प्रतीति हो सकती है। ऐसी प्रतीतिके बिनाका त्याग वास्तविक त्याग नहीं है।

पुण्य पाप इत्यादि परकी वृत्तियोंका अभिमान दूर हो जाये और सम्यक्ज्ञान प्रगट हो, वह ज्ञान ही सच्चा मगल है। 'मग' अर्थात् पवित्रता, 'ल' अर्थात् लाति,—पवित्रताकी प्राप्ति। वही सच्चा मगल है। पवित्र आत्म स्वभाव को प्राप्त करानेवाला आत्म भाव ही सच्चा मगल है। मगलका दूसरा अर्थ यह भी है कि—'म' अर्थात् अपवित्रता और 'गल' अर्थात् गला दे–नष्ट करदे, अर्थात् शरीर मन वाणी और शुभाशुभ भावको अपना मानने रूप जो अपवित्रता है उसे सम्यक्ज्ञानके द्वारा गला दे सो यही सच्चा मगल है। यही मगल सच्चे सुखकी प्राप्ति कराता है।

अब सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है इस अर्थका सूचक कलश कहते हैं —

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा—
नासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्मारामनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥ ३३ ॥

अर्थ —जो ज्ञान है सो मनको आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव अजीवके स्वांगको देखने वाले महा पुरुषोंको जीव अजीव के भेदको देखने वाली अति उज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा भिन्न द्रव्यकी प्रतीति उत्पन्न कराते हैं। अनादि संसारसे जिनका बंधन दृढ बँधा हुआ है, ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, अर्थात् जैसे फलकी कली खिलती है उसी प्रकार विकासरूप है। और वह ऐसा है कि जिसका क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् जिसमें अनंत ज्ञेयोंके आकार झलकते हैं तथापि स्वयं अपने स्वरूपमें ही रमण करता है, जिसका प्रकाश अनन्त है, और जो प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदय रूप है। और जो धीर है, उदात्त है, इसी लिये अनाकुल है-सब इच्छाओंसे रहित निराकुल है। (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल—यह तीन विशेषण शांतरूप नृत्यके आभूषण समझना चाहिये। ऐसा ज्ञान विलास करता है।

ज्ञान मनको आनन्द देता हुआ प्रगट होता है, जीव अजीव साथ नच रहा है, उसे सम्यग्दृष्टि पहिचान लेता है कि यह मैं नहीं हूँ, मेरा स्वरूप परसे भिन्न ज्ञायकस्वरूप है। यह बरफ ठंडा है, अग्नि गर्म है, गुड़ मीठा है, इत्यादिका विवेक कौन करता है? यह सब विवेक ज्ञान ही करता है। आश्चर्य तो यह है कि यह जीव पराङ्मुख हो रहा है और अपनी ओर नहीं देखता। तू परको जानता है और उसी ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु स्वयं अपनेको न जाने तो यह कितना भारी अविवेक है? पर पदार्थोंके तो भेद

करता है कि यह हलुआ पूरी है जो खाने योग्य है, और यह मिट्टी है, विष्टा है, जो कि खाने योग्य नहीं है, इसप्रकार पर पदार्थोंमें विवेक करके भेद करता है किन्तु यह मलिनता है सो मैं नहीं हूँ, राग द्वेष आकुलता है सो मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञान मूर्ति आत्मा हूँ, ऐसा विवेक करके यदि अपने और विकारके बीच भेद न करे तो यह तेरे लिये घोर कलङ्की बात है।

सम्यक्ज्ञान मनको आनन्द देता हुआ प्रगट होता है, और संसारके परिभ्रमणका ज्ञान खेद खिन्न करता हुआ प्रगट होता है। समझ समझसे ही प्रगट होती है यदि बारम्बार सत् समागम करके और विचार करके समझे तो आत्मामें ज्ञान और शांति हुए बिना न रहे।

जीव और मन वाणी देह, पुण्य पापके भाव-सबका एकत्रित वेष है, उन्हें जो भिन्न जानता है सो वह महा पुरुष है, दूसरा कोई महापुरुष नहीं है। सम्यक्ज्ञान अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थोंकी प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। जो भिन्न भिन्न पदार्थोंका विवेक करता है सो ज्ञान है। वह ज्ञान मनको आनन्द देता है सो सम्यक् ज्ञान है।

आत्मा पर कर्मके कारण जो वेष है उसमें एक तो शरीरादिक और दूसरे भीतर होने वाली वृत्तियाँ और परको अपना माननेरूप वेष है सो वह सब कर्मका वेष है, वह अपना वेष नहीं है। मैं ज्ञानज्योति आत्मा उन वेषों से भिन्न हूँ इसप्रकार सच्चा ज्ञान विवेक करता है।

आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है। जो वस्तु होती है उसमें गुण और स्वभाव होना है। जैसे गुड़ एक वस्तु है, और मिठास उसका गुण है। गुड़ हो और मिठास न हो यह नहीं हो सकता। इसीप्रकार मैं आत्मा एक वस्तु हूँ और उसमें ज्ञान आदि अनन्त गुण न हों यह नहीं हो सकता, अत आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है।

शरीरादिक या पुण्य पाप में से सुख और शांति आती है ऐसा मानकर पराधीनता में न रुककर यह मेरे गुण हैं जिनसे सुख और शांति

प्राप्त होती है, ऐसा परिचय प्राप्त करके श्रद्धा करके अपने स्वरूप में रहूँ तो पराधीनता मिट जाये, इस प्रकार की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता मोक्ष मार्ग है। और उसकी पूर्णता होना सो मोक्ष है।

पराश्रय दुःख है और स्वाश्रय सुख है, शरीर का प्रत्येक रजकण पृथक् पृथक् है, इसलिये शरीर से आत्मा को लाभ नहीं हो सकता, एक स्वाधीन तत्व पर का आश्रय ले सो पराधीनता है, और पराधीनता स्वप्न में भी सुख नहीं है। पराधीनता की व्यापक परिभाषा भली भाँति जान लेनी चाहिये। दूसरे की नौकरी करना इतनी मात्र ही पराधीनता की व्याख्या नहीं है किन्तु स्त्री पुत्रादि से सुख मिलता है, रुपया पैसे से सुख मिलता है, बड़प्पन प्रतिष्ठादि से सुख मिलता है, इस प्रकार पर पदार्थ पर सुख का लक्ष करना सो पराधीनता है, इतना ही नहीं किन्तु यह मानना कि शुभाशुभ परिणामों से सुख मिलता है सो यह भी पराधीनता है। "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"। एक तत्व को सुख के लिये दूसरे तत्व पर दृष्टि रखनी पड़े सो पराधीनता है। जब तक पर पदार्थों पर दृष्टि है तबतक पराधीनता दूर नहीं हो सकती। और जब तक पराधीनता दूर नहीं होती तबतक स्वाधीनता प्रगट नहीं होगी।

गुण के बिना गुणी नहीं होता ऐसे अनन्त शक्ति से परिपूर्ण स्वाधीन तत्व को जिसने नहीं माना और दूसरे तत्वोंसे सुख मुझे सुख होगा मान रखा है, उसे चौरासी के अवतार अवश्य लेना पड़ेंगे। उस की पराधीनता और दुःख दूर नहीं हो सकते।

सम्यग् ज्ञान के द्वारा सम्यग्ज्ञानी अज्ञान और उसके फल को भिन्न माने कि—यह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानानंदघन है, ऐसी प्रतीति हुई कि स्वाश्रय प्राप्त हुये बिना नहीं रहता, और सुख शांति प्राप्त हुये बिना नहीं रहती।

जब घर में विवाहादि का उत्सव होता है तब किसी के यहाँ से मंडप इत्यादि की वस्तुऐं लाकर अपने यहाँ की शोभा बना ली हो किन्तु—

समझदार मनुष्य यह जानता है कि अपना काम पूरा हो जाने पर दूसरे की यह वस्तुऐं वापिस कर देनी होंगी इसी प्रकार ज्ञानवान पुरुष जानता है अथवा अज्ञानी पुरुषसे ज्ञानी पुरुष कहता है कि हे भाई! यह इन्द्रिय, शरीर, पुण्य पाप के भाव इत्यादि, सब कर्म कृत मडप हैं यह दूसरे का मडप है, तेरा चैतन्य घर तो अलग ही है, जड़ की पूँजी अपनी न मान, परकी शोभासे अपनी शोभा मत मान, तू शुद्ध चिदानन्द मूर्ति है, तेरी अपनी पूँजी अलग है, तेरा वेष अलग है, और शरीर इन्द्रिय एवं शुभाशुभ परिणामों का वेष अलग है यह सब कर्म कृत वेश है, यह तेरा वेष नहीं है। कर्मकी शोभासे अपनी शोभा नहीं मानी जा सकती, यह सब परकी शोभाका मडप है। यहाँ तो मोक्ष का मडप तन चुका है, यह अब नहीं उखड़ सकता।

शरीर के सुख साधनको छोड़कर, और स्त्री पुत्रादिका त्याग करके त्यागी हो जानेसे कोई सच्चा त्यागी नहीं कहलाता, उससे धर्म नहीं होता। जब तक यह दृष्टि है कि जो पर है सो मैं हूँ, तबतक धर्म प्राप्त नहीं होता, और पराधीनता नहीं मिटती। कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुभपरिणाम हो और उससे अपनेको लाभ होना माने तो तब तक वह पराश्रयी ही है, इसलिये उसकी पराधीनता दूर नहीं हो सकती। जड़ और चेतन इन दोनों पदार्थों की भिन्नता की प्रतीति के बिना पराश्रयता दूर नहीं होती और स्वाश्रयता प्रगट नहीं होती।

चैतन्य मूर्ति आत्मा अलग है, उसमें जो अनेक प्रकारके वेष दिखाई देते हैं सो अज्ञानी मानता है कि यह मेरा वेष है। संसारमें विविध प्रकारके नाटक कर्ता पात्र भर्तृहरी हरिश्चन्द्र या राम लक्ष्मण इत्यादि का अत्यंत सुन्दर वेष धारण करके और उनका ज्यों का त्यों अभिनय करके भी यह जानते हैं कि हम सच्चे भर्तृहरि हरिश्चन्द्र राम या लक्ष्मण नहीं हैं किन्तु हम तो वेतन भोगी सामान्य व्यक्ति हैं, किन्तु अनादि कालका अज्ञानी जीव

अपनेको भूलकर पर सबधी जो जो वेष दिखाई देता है उसे अपना ही मान लेता है किन्तु सम्यक्ज्ञानी समझता है कि मैं चैतन्य अनन्त गुणमूर्ति पृथक ही हूँ और जो पुण्य पापके भाव अथवा अनुकूलता प्रतिकूलताका कोई बाह्य वेष आये तो मैं चैतन्य सम्राट उसे अपना पूजीमें नहीं मिला सकता, हाँ, मैं उसका ज्ञातामात्र रहूँगा। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान होनेके बाद अल्प रागद्वेष हो किन्तु उसे दूर करके वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेगा। धर्मात्माने अति उज्ज्वल पवित्र दृष्टिसे भिन्न द्रव्यकी जो प्रतीति उत्पन्न की है, और उस प्रतीतिके होनेसे भिन्न द्रव्यका जो विवेक जागृत हो गया है, उससे अब पराश्रय ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रह सकती। यद्यपि पुरुषार्थकी अशक्तिको लेकर अल्प रागद्वेषकी ओर कभी कभी लचक खा जाता है, किन्तु आंतरिक विवेक किंचित् मात्र भी नहीं हटता। जो अल्प रागद्वेष शेष रह गया है वह दूर होनेके लिये ही है, बने रहनेके लिये नहीं।

जैसे मकानमें काँचका बहुत ही सुन्दर झूमर लटक रहा हो और उससे घरकी शोभा हो रही हो किन्तु यदि वह ऊपरसे गिरे और उसके टुकड़े टुकड़े हो जायें तो उसपर पहले जो राग था वह मिट जाता है और उसके प्रति उपेक्षा हो जाती है वह तुच्छ प्रतीत होने लगता है। उस तुच्छताकी प्रतीतिका कारण यह है कि–ज्ञानमें यह निश्चय होगया है कि–यह वस्तु मेरे कामकी नहीं रही, इसलिये इन काँचके टुकड़ोंको उठाकर बाहर फेंकदो। यद्यपि उन काँचके टुकड़ोंको बाहर फेंकनेका निश्चय होचुका है यदि वे कुछ समय तक घरमें ही पड़े रहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि अब उन्हें सग्रह करके रख छोड़नेका भाव है, इसीप्रकार अनन्त गुणस्वरूप प्रभु-परमात्माकी भाँति ही मेरा आत्मा है, मैं परस्वरूप नहीं हूँ, ऐसी सम्यक् प्रतीति हो जानेपर विभावकी तुच्छता मालूम होने लगती है। मैं चैतन्यघन स्वभावसे पूर्ण पवित्र हूँ ऐसी प्रतीति होने पर आत्मामें नये नये क्षणिक पुण्य पापके जो भाव होते हैं वे तुच्छ मालूम होनेलगते हैं। जबकि उन पुण्य पापके भावोंमें तुच्छता मालूम होने लगी तो फिर पुण्य

पापके फलमें अर्थात् बाह्य संयोग शरीर मकान लक्ष्मी प्रतिष्ठा इत्यादिमें तुच्छता मालूम होने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

पुण्य पापके भाव और पुण्य पापके फल सब उस गुमरके टूटे हुये टुकड़ों जैसे ही भासित होते हैं । उन शुभाशुभ परिणामोंको निकाल फेंकने में कुछ विलम्ब हो जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे प्रिय हैं अथवा उन्हें रखनेका भाव है । अपनेसे पर पदार्थोंको भिन्न मानता है । और उन्हें भिन्न मानते ही परमें तुच्छता भासित होने लगती है और महत्ता नहीं भासती है उन शुभाशुभ भावोंको संग्रह कर रखनेका भाव नहीं है किन्तु उन्हें दूर करनेका ही भाव है । ऐसा भिन्नत्व विवेक होने पर अल्प कालमें मुक्ति हुए बिना नहीं रहती । पुरुषार्थमें कुछ कमजोरी है इसलिये अल्प रागद्वेष पाया जाता है, उसे दूर करनेमें कुछ विलम्ब होता है, किन्तु क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा । यह भिन्नत्वके विवेकका माहात्म्य है ।

वह ज्ञान अनादि संसारसे जिसका बन्धन दृढ़ता पूर्वक बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादिक कर्मोंका नाश होकर विशुद्ध हो गया है, स्फुट हो गया है । ज्ञानावरणीयका नाश किया अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि जो अष्ट कर्म हैं सो मै नहीं हूँ, इसप्रकार उससे भिन्नत्वका विवेक किया, और इससे श्रद्धा और ज्ञानसे कर्मोंका नाश किया है, तथा क्रमशः स्थिरता करके सपूर्ण नाश करेगा । इसप्रकार विवेकसे ज्ञानमें विशुद्धता हुई, स्पष्टता हुई और जब ज्ञान यह मानता था कि—जो कर्म हैं सो मै हूँ, तब वह सम्पुटित-बन्द रहता था, वह पर के साथ एक मेक रहता था इसलिये ज्ञानकी कलियाँ सकुचित होगईं थी । अब पृथक् विवेक किया है इसलिये ज्ञानकी कलियाँ भीतरसे विकसित होकर खिल उठी हैं । शरीरादिक तथा पुण्य पापको अपना मान रखा था इसलिये ज्ञान सकुचित था, किन्तु जब यह मान लिया कि जो शरीरादिक हैं सो मैं नहीं हूँ, तो ज्ञान अलग हो गया और वह विकसित होगया । पराश्रयभावका त्याग किया कि ज्ञान खिल उठा । विवेक जागृत हुआ कि

ज्ञानकी संकुचित कली पुन विकसित होगई। चाहे चक्रवर्तीका राज्य मिले या तीर्थंकर पद प्राप्त हो, किन्तु यह सब कमकृत है वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा चैतन्य ज्ञानशुद्ध स्वरूप परसे भिन्न है, इसप्रकार ज्ञानकी कली खिलना ही आत्मधर्म है। शरीरादि को अपना मानकर ज्ञान उसमें रम रहा किन्तु जहाँ विवेक जागृत हुआ कि यह मैं नहीं हूँ वहाँ ज्ञान अपनेमें रमण करने लगा। इसप्रकार स्वपरके पृथक्त्वका विवेक जागृत होने पर ज्ञान अपनेमें रमण करने लगा, अर्थात् ज्ञानकी कली खिल उठी—स्फुट होगई।

यद्यपि ज्ञानमें अनन्त ज्ञेयोंके आकार आकर झलकते हैं, तथापि ज्ञान अपने स्वरूपमें ही रमण करता है। ज्ञानमें सब कुछ ज्ञात होता है, किन्तु इससे वह पररूप नहीं हो जाता। पराश्रयमें स्थिर होने वाला ज्ञान, यह पुण्य मेरा है, यह इन्द्रपद मेरा है इत्यादि मानकर पर पदार्थमें रमण कर रहा था, उसका जहाँ विवेक जागृत हुआ कि यह पर पदार्थ मेरे नहीं हैं, किन्तु मेरा तो ज्ञान स्वभाव है, शान्ति-स्वभाव है और मेरा स्वभाव मुझमें ही है, ऐसा स्वाश्रय होनेसे वहाँ ज्ञान अपनेमें रमण करने लगा। मेरा आत्मा असंयोगी है, मेरा मूलधन मुझमें ही है ऐसा माना कि पराश्रयता छूट गई, और अपना क्रीडावन आत्मा ही एकमात्र रह गया, दूसरा कोई स्थान नहीं रहा।

शरीर, वस्त्र और किसी वेषमें धर्म नहीं है, किन्तु वह आत्म स्वरूप के विवेकमें है। जैसे अपने हाथसे परिश्रम पूर्वक बनाई गई रसोई मीठी लगती है, इसीप्रकार अपने घरका स्वभाव अपने ही हाथसे अर्थात् पुरुषार्थसे प्रगट करके जो आनंदयुक्त धर्म होता है सो वही मीठा लगता है, और वही सुखरूप मालूम होता है, वही सच्चा धर्म है, शेष सब अधर्म है। अपने स्वभावको न पहिचाने और परको अपना माने सो अधर्म है।

मेरा गुण निर्दोष और निरुपाधिक है मेरे गुणकी पर्याय मुझमें ही रहती है, ऐसा विवेक होने पर ज्ञानका क्रीडास्थल आत्मा ही रह जाता है।

ज्ञानका प्रकाश अनन्त है, इसलिये ज्ञानमें बहुत कुछ ज्ञात होने पर ज्ञानको ऐसा नहीं लगता कि अब मैं न जानूँ। जहाँ जहाँ भव धारण किये वहाँ वहाँ उस उस भवका ज्ञान तो था ही, और जो जो भव हुए वे अपने अस्तित्वरूपमें प्रवर्तमान ही हुए थे, और उस उस भवमें परको अपना मानकर अटका रहा, इसलिये ज्ञान विकासको प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु अनन्त भवोंको जानने वाला मेरा ज्ञानतत्व भवसे शरीरसे और परसे भिन्न है, मैं समस्त भवोंका ज्ञान करने वाला हूँ, मैं चाहे जितने पदार्थोंको जानू, या चाहे जितनी भूत या भविष्य कालकी बातोंको जानूँ तो भी मेरे ज्ञानमें ऐसा अनन्त प्रकाश है कि वह कभी कम नहीं हो सकता।

चैतन्य तेज प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान मन या इन्द्रियोंके आधीन नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वयं स्वतः ही जानता है, इसलिये प्रत्यक्ष है इन्द्रियों और मनका निमित्त अपूर्ण दशामें बीचमें आ जाता है, किन्तु ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा जानता है, इसलिये ज्ञान प्रत्यक्ष है (सूर्य सवेरे उदय होता है और शामको अस्त हो जाता है, किन्तु यह ज्ञान सूर्य तो नित्य प्रत्यक्ष उदय रूप ही रहता है, वह कभी भी अस्त नहीं होता। सम्यक् ज्ञानका उदय हुआ सो हुआ अब वह कभी अस्त नहीं होगा। इसप्रकार ज्ञानमें अपने एश्वर्यकी प्रतीति हुई सो उसे पराश्रयकी आवश्यकता नहीं रहती, इसप्रकार ज्ञान नित्य प्रत्यक्ष उदयरूप है। यहाँ आचार्य देवने सम्यक् ज्ञानका मंगलाचरण किया है।

जैसे पुत्र विवाहके समय स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं कि–"मोतियन थाल भराये हो लाल" भले ही घरमें मोतीका एक दाना भी न हो किन्तु ममतावश ऐसा मंगल गीत गाया जाता है। इसी प्रकार आत्मामें अनन्त संतोष-गुण है किन्तु जब विपरीत चलता है तब ममता भी अनन्ती हो जाती है, और जब यथार्थ प्रतीति होती है तब मानता है कि यह ममता भी मैं नहीं हूँ और यह मोती भी मैं नहीं हूँ। जैसे घरमें मोतीका एक दाना न होने पर

भी किसी आशा, स्नेह या मोहके वश "मोतैयन थाल भराय" का गीत गाया जाता है, इसी प्रकार सम्यक् ज्ञानी जीव भविष्यमें सिद्ध होने वाला है, अभी वह सिद्ध नहीं है, फिर भी भावनाकी प्रबलतासे अभी भी वह यह कहता है कि मैं सिद्ध हूँ। द्रव्यपक्षसे ही तो सिद्ध हूँ ही किन्तु मैं पर्यायसे भी सिद्ध हूँ। द्रव्य दृष्टि द्रव्य और पर्यायके भेद को नहीं देखती। वह भावनाकी प्रबलतामे कालके अन्तर को बीचमेंसे निकाल देती है।

वह ज्ञानधीर है, सबको जानता है, वह अपने भावोंको जानता है और परके भावोंको भी जानता है, अनुकूलता, प्रतिकूलता, निंदा, प्रशंसा इत्यादि सब कुछ जानता है। ज्ञान ऐसा विचक्षण है कि वह पदार्थको चहुँ ओरसे जानता है फिर भी वहीं राग द्वेष या क्रोध मान इत्यादि नहीं होने देता। किन्तु सब ओरसे जानकर ज्ञान भीतर ही समा जाता है। वह ऐसा धीर है। ज्ञान सबकुछ जानता है तथापि वहीं राग द्वेषकी आकुलता नहीं होने देता जैसे आमका पेड़ ज्यों ज्यों फलता है त्यों त्यों नीचेको नमता जाता है, इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान ज्यों ज्यों विकासको प्राप्त होता है त्यों त्यों भीतर समाता जाता है। सच्चा ज्ञान भीतर समाता है और अज्ञान बाहर फैलता है। अज्ञानसे विकार होता है और विकारसे बाहर पुण्य पाप फलित होते हैं, वे पुण्यपाप के फल बाहरकी ओर फैलते जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञान ही बाहर फैलता है, और ज्ञान स्वाश्रित होने पर पराश्रयसे हटकर भीतर समा जाता है, इसलिये वह धीर है।

ज्ञान उदात्त है, उच्च है, और उदार है, अर्थात् भीतरसे चाहे जितना ज्ञान निकाला जाये तो भी वह कम नहीं होता। जहाँ सम्यग्ज्ञानका विवेक प्रगट हुआ वहाँ शांति आये बिना नहीं रहती, इसलिये ज्ञान अनाकुल है। इस प्रकार धीर, उदात्त, और अनाकुल विशेषणोंसे युक्त ज्ञान विलास करता है।

जीव और अजीवका ज्ञान होने पर अज्ञान छूट जाता है। जैसे कोई

बहुरूपिया विविध स्वांग रखकर आता है उसे जो यथार्थ जान लेता है उसको वह नमस्कार करके अपना यथार्थ रूप प्रगट कर लेता है, इसी प्रकार यथार्थ ज्ञानी कर्मके विविध स्वागको जान लेता है, इसलिये कर्म अपना स्पष्ट रूप प्रगट कर देते हैं। यह पर है और म उसमे भिन्न हूँ, इस प्रकार भिन्नताका ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। एसा ज्ञान सम्यक् दृष्टि को होता है। मिथ्या दृष्टि एसी भिन्नताको नहीं जानता।

अब जीव अजीवका एक रूप वर्णन करते हैं —

अप्पाणमयाणता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवमज्झवसाण कम्म च तहा परूविंति ॥ ३९ ॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमदाणु भागग जीव।
मण्णति तहा अवरे णोकम्म चावि जीवोत्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदय जीव अवरे कम्माणुभायमिच्छति।
तिव्वत्तणमदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥
जीवो कम्म उहय दोण्णिवि खलु केइ जीव मिच्छति।
अवरे सजोगेण दु कम्माण जीव मिच्छति ॥४२॥
एवं विहा वहुविहा परमप्पाण वदति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाडहिं णिद्दिट्ठा ॥ ४३ ॥

अर्थ —आत्माको नहीं जानते हुये, परको आत्मा कहने वाले कोई मूढ, मोही अज्ञानी तो अध्यवसानको, और कोई कर्मको जीव कहते हैं। कोई अध्यवसानोंमें तीव्र मन्द अनुभागगतको जीव मानते हैं, और कोई नोकर्मको जीव मानते हैं। कोइ कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोइ कर्मके अनुभाग को—'जो अनुभाग तीव्र मन्दपनेरूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है वह जीव

है' ऐसा मानते हैं कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुयेको भी जीव मानते हैं, और कोई कर्मके संयोगसे ही जीव मानते हैं। इसप्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि—मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा कहते हैं, वे परमार्थवादी अर्थात् सत्यार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चय (सत्यार्थ) वादियोंने कहा है।

अब यहाँ जीव अजीव का एकत्रित नाटक है।

आत्म पदार्थ क्या है, उसके गुण क्या हैं और उसकी अवस्था क्या है, इसे न जानते हुये पर के आश्रयसे अपना गुण माननेवाले कोई मूढ़ आत्माकी ओरसे असावधान अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि जो अध्यवसान है सो जीव है। कर्मके निमित्तके आधीन होनेसे जो भाव होता है सो अध्यवसान कहलाता है। आत्मा मात्र ज्ञाता है, उसे भूलकर कर्म निमित्तक पुण्य पाप के भाव होते हैं, उसमें एकत्व बुद्धिसे मानता है कि जो यह अध्यवसान है सो ही मैं हूँ। इस प्रकार कर्म निमित्ताधीन होने से जो अध्यवसान होता है, उसे आत्मा माननेवाले, और उस अध्यवसान को अपने लिये सहायक माननेवाले मूढ़—अज्ञानी हैं।

कोई कर्मको जीव मानते हैं, वे कहते हैं कि यदि कर्म करें तो भगवान के पास जा सकते हैं और इस प्रकार कर्म से गुण—लाभ मानते हैं किंतु यह बात मिथ्या है। कर्म से भगवान के पास नहीं पहुँचते, किंतु कर्म और आत्मा क्या है इसकी भिन्न प्रतीति करने पर भगवान अर्थात् स्वयं अपने आत्म भगवान के पास पहुँचा जाता है। जब तक अपूर्ण है तब तक निमित्त आये बिना नहीं रहेंगे, किंतु यदि स्वयं न जागे तो निमित्त क्या लाभ कर सकते हैं? पुण्य बंध से अनेक बार भगवान मिले किंतु अपने आत्म भगवान की प्रतीति नहीं की इसलिये लाभ प्राप्त नहीं हुआ। जड़कर्म को आत्मा माननेवाले अर्थात् कर्मसे लाभ माननेवाले, कर्मको आत्मा माननेवाले, कर्ममें आत्मा माननेवाले और ऐसा माननेवाले कि कर्म मुझे मार्ग दे दें तो धर्म लाभ हो,—सब अज्ञानी मूढ़ हैं।

कोइ तीव्र–मन्द पुण्य–पाप के भाव को जीव मानते हैं। शुभाशुभ भाव में से शुभभाव को अच्छा और अशुभभाव को बुरा मानते हैं, किन्तु शुभ अशुभ और तीव्र मन्द भाव सब परभाव हैं, पुण्य–पाप भावके रसके परिवर्तन को आत्मा मानने वाले तथा उससे लाभ मानने वाले भी मूढ हैं।

कोइ नो कर्मको अर्थात् शरीरको ही आत्मा मानते हैं। और वे शरीर स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एव धन सम्पत्ति में ही सुख मानते हैं किन्तु वह वास्तव में सुख नहीं है। शरीर और आत्मा दोनो पृथक् पदार्थ हैं। पर पदार्थ आत्माको सुख नहीं दे सकते। आत्मा का सुख आत्मा में है, वह बाहर से नहीं आता, किन्तु वह कल्पना मात्र है।

अज्ञानी मानते हैं कि—शरीर पुष्ट करने से आत्मा को लाभ होगा और शरीर के सुखाने से आत्मा को हानि होगी, इस प्रकार अपने को जड़ का रखवाला मानता है और समझता है कि उन्हें जैसा रखेंगे वैसे रहगे किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है शरीरके पुष्ट होने या सुखनेसे आत्माको कोइ लाभ हानि त्रिकालमें और तीनलोकमें नहीं हो सकती। पर पदार्थसे आत्माको हानि लाभ हो ही नहीं सकता। शरीर से आत्मा को हानि लाभ मानने वाला शरीर और आत्मा के कार्यों को एक मानता है,—किन्तु वह मिथ्या है, क्यों कि दोनों के कार्य एक नही किन्तु सर्वथा भिन्न हैं।

अज्ञानी मानता है कि माल टाल खाने से शरीर में शांति आती है और सशक्त होने से आत्मा को स्फूर्ति मिलती है। ऐसा मानने वाले को यह प्रतीति नहीं है कि आत्मा की शक्ति आत्मा पर ही अवलम्बित है, वह अज्ञानी तो शरीर और आत्मा को एक ही साथ ढकेल रहा है। उसे यह पता नहीं है कि आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति आत्मा में और जड़ की जड़ में है, किसीकी शक्ति किसी में नहीं आती। शरीर को आत्मा मानने वाला मूढ है। शरीर तो अनन्त रजकणों का पिंड है, वह रजकणों का पिंड आत्मा के साथ रहता है ऐसा मानने वाला यह नहीं समझता कि आत्मा ऐसे शरीर से रहित-

अशरीरी, चैतन्य मूर्ति तत्व है इसलिये वह मूढ़ है अज्ञानी है।

कोई पुण्य पापके उदयको जीव मानता है, कोइ साता असाता रूप होनेवाले कर्मके भेदको जीव मानता है, और कोई आत्मा तथा कर्म को मिलनेको जीव मानता है।

कोई कर्म के संयोग को ही जीव मानता है, किन्तु मेरा स्वभाव कर्म को लेकर नहीं और कर्म का स्वभाव मेरे कारण नहीं है। दोनों सर्वथा पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। कोइ कहता है कि मस्तिष्क में विचार शक्ति है, इसलिये कर्म के संयोग से जीव है, यह सिद्ध होता है। किन्तु आत्मा को नहीं मानने वाले ही ऐसा मानते हैं। उन्हें यह तो विचार करना चाहिये कि जड़के मस्तिष्क में विचार होते हैं, या विचारोंके जाननेवालेके व्यापारमें? विचार ज्ञानकी पर्याय है, इसलिये वह आत्मामें ही होती है, जड़को लेकर ज्ञानका व्यापार नहीं होता, इसलिये ज्ञानका व्यापार आत्मासे होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मके संयोगसे जीव नहीं है, किन्तु जीव स्वयं अपने आप ही स्वतः है।

अज्ञानी जीव आत्माको किसप्रकार मानते हैं, सो यह आगे आठ बोलसे कहा जायेगा। इस जगतमें आत्माके असाधारण लक्षणको न जाननेके कारण नपुंसकत्वसे अत्यंत विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक-परमार्थभूत आत्माको नहीं जाननेवाले अनेक अज्ञानीजन विविध प्रकारसे परको भी आत्मा कहते (बकते) हैं।

आत्माका ज्ञान लक्षण असाधारण है, अर्थात् उसका किसीके साथ मेल नहीं खाता। ज्ञान लक्षण किसी जड़में या परमें नहीं पाया जाता कुछ भाग आँखका, कुछ भाग अन्य अंगोंका और कुछ भाग चैतन्यका लेकर जड़के साथ सहयोग करके ज्ञान लक्षण नहीं बनता, किंतु जड़से भिन्न चैतन्यका ज्ञान लक्षण सुस्पष्ट है, उस चैतन्यका असाधारण लक्षण ज्ञान है। आत्मा लक्ष है और ज्ञान उसका लक्षण है। यह उसका अविनाभावी लक्षण

है, गुण और गुणी अलग अलग नहीं हो सकते। जैसे गुड़ और मिठास अभेद है, इसीप्रकार गुण और गुणी अभेद हैं। क्रोध विभाव है, और विभाव दु'ख है, और ज्ञानगुण–सुखरूप है, इसलिये क्रोधादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान लक्षण निर्दोष है। विभाव भी आत्माका लक्षण नहीं है तो फिर शरीर मन वाणी इत्यादि आत्माका लक्षण हो ही कहाँसे सकता है? इसलिये उन सबसे भिन्न आत्माका ज्ञान लक्षण सर्वांगपूर्ण–निर्दोष है। ऐसे आत्माके असाधारण लक्षणको न जानते हुए नपुसकपनसे अन्यत विमूढ़ हो रहे हैं। आचार्यदेव कहते ह कि तू भीतरसे जागनेका पुरुषार्थ न करे और परको अपना मानकर उसमें सुख माने तो तू नपुसक है पुरुषार्थहीन है। आचार्यदेवने नपुसक कहकर कुछ कठोर विशेषणका प्रयोग किया है तथापि उनके इस कथनमें करुणा विद्यमान है। जिसे धर्मकी प्रतीति नहीं है और जिसे यह खबर नहीं है कि आत्महित क्या है, स्वतन्त्रता क्या है और आत्मबल क्या है, वह अपने ज्ञान स्वरूपको भूलकर परको अपना मानकर, अपने आत्मवीर्यको न मानता हुआ नपुसक हो रहा है।

मेरा आत्मबल पुण्य पापके विकारको क्षणभरमें नष्ट करनेवाला और केवलज्ञान प्रगट करनेवाला है। ऐसे अपने स्वभावको न जानता हुआ अत्यत विमूढ़ होता हुआ नपुसक है।

आत्माके स्वरूपको न जाने और अज्ञानी बना रहे तो उसके फल स्वरूप नपुसक और निगोदमें जाना होगा। उसे कोई भान नहीं है, इसलिये इन्द्रियोंसे हारकर एकेन्द्रियमें जायेगा, निगोदका फल प्राप्त करेगा। वहाँ मात्र नपुसक वेद है, वहाँसे अनन्त कालमें भी निकलना कठिन हो जायेगा। इसलिये यहाँ तत्वको पहिचाननेका उपदेश है।

यह सबसे पहले जानना चाहिये कि आत्मा क्या है, और उसका लक्षण क्या है। शरीरका प्रत्येक रजकण आत्मासे भिन्न है और वह रूपी है। पुण्य पापकी वृत्ति आत्मस्वभावमें नहीं है इसलिये उस अपेक्षासे वह रूपी है,

और जड़ है। उन सबके बीचमें आत्मा एक अरूपी चेतन्य पदार्थ है, उसका परिचय प्राप्त किये बिना एकाग्र कहाँ होगा ? पदार्थका परिचय प्राप्त किये बिना पदार्थमें एकाग्रता नहीं होगी, और एकाग्रता हुये बिना धर्म कहाँसे होगा ? हित कहाँसे होगा ? और सुख कहाँसे होगा ? यदि आत्मस्वभावका परिचय करके, श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो तो धर्म हो।

भीतर भगवान आत्मा कौन है, उसका असाधारण लक्षण जाने बिना उसकी पहिचान नहीं हो सकती। आत्माका ज्ञान स्वभाव है, इसका अर्थ यह नहीं है कि शास्त्रके पन्ने ज्ञान देते हैं, किंतु ज्ञान अपने आत्माके ज्ञान स्वभावमें से ही आता है। ज्ञान आत्माका असाधारण लक्षण है, अर्थात् वह विभक्त नहीं है। थोड़ा ज्ञान गुरुसे प्राप्त हो, थोड़ा शास्त्रसे प्राप्त हो, और थोड़ा आत्मासे प्राप्त हो, इसप्रकार ज्ञान स्वभाव पराश्रित होता हो सो बात नहीं है। किन्तु आत्माका ज्ञान स्वभाव अनादि अनन्त स्वत है, वह किसी परसे प्राप्त नहीं होता, उसे कोई पर दे नहीं देता, मैं मात्र अपने स्वत ज्ञानके द्वारा ज्ञानमें जानता हूँ। ज्ञान कहीं शरीरादिमें, या आन्तरिक वृत्तियोंमें विभक्त नहीं है। हे प्रभु ! यह शरीर, इसके अंग प्रत्यंग और प्रतिष्ठादि तू नहीं है। तू तो असाधारण ज्ञान गुणरूप है। असाधारणका अर्थ यह है कि वह आत्मामें ही है, अन्यत्र नहीं। जो आत्मासे अलग नहीं हो सकता वह असाधारण है। शरीरादि तथा रागादि आत्मासे अलग हो सकते इसलिये वे आत्माका लक्षण नहीं हैं।

असाधारण आत्म स्वभावको न जाननेवाले, उसकी श्रद्धा न करने वाले, तथा उसमें स्थिर न होनेवाले नपुंसक हैं। पुण्य-पाप जो क्षणिक विकार हैं सो मैं नहीं हूँ। मैं तो नित्य चिदानन्द स्वभाव हूँ। जिसे यह खबर नहीं है, वह परमें आत्मबलको लगानेवाला बलहीन नपुंसक है, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

आत्माका जो आन्तरिक अरूपी बल है वह आत्मामें है, अर्थात्

अपनेमें है। मेरा स्वरूप निर्विकार निर्दोष है–विकार रहित है, ऐसा न माननेवाले, पर पदार्थोंको अपना मानते हैं, उनने आत्मवीर्यको नहीं पहिचाना–आत्मबलको नहीं जाना, क्योंकि वे शरीर और मन इत्यादिको अपना मानकर उसीमें अटककर वीर्यहीन हो रहे हैं, उसमें आत्माके अनन्त अरूपी बलको रोककर वीर्यहीन हो गये हैं, आत्मा परसे भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है, पुण्य पाप आत्मा नहीं है, आत्माका सुख आत्मामें है। किन्तु आत्माका हित क्या है? आत्माका सुख क्या है? और आत्माकी स्वतन्त्रता क्या है? इसे न जाननेवाले नपुंसक हैं।

आचार्यदेव करुणा करके कहते हैं कि तू अनादि अनन्त है, और तेरे गुण भी अविनाशी हैं। तू भीतर अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है, निर्दोष वीतराग स्वरूप है, और क्षणभरमें केवलज्ञान तथा परमात्मा दशा प्रगट कर सके, ऐसा है, उसे भूलकर तू इन पर पदार्थोंमें कहाँ रुक गया है? यह सदोषरूप तेरा स्वरूप नहीं है, उसमें वीर्यहीन होकर क्यों अटक रहा है? तू अपने स्वरूपकी प्रतीति कर।

बहुतसे विमूढ़ जीव परमार्थभूत आत्माको न पहिचाननेवाले, तत्त्व दृष्टिको न समझनेवाले नपुंसक होते हैं, अर्थात् वे निगोदमें जाते हैं। वे वर्तमान तत्त्वदृष्टिको नहीं समझते इसलिये नपुंसक हैं, और भविष्यमें भी नपुंसक होंगे। वे आलू सकरकन्द इत्यादि निगोदमें जायेंगे। स्मरण रहे कि आलू सकरकन्द इत्यादिमें भी आत्मा है,—चैतन्य है, उसे निगोदिया जीव कहते हैं, जो कि मात्र नपुंसक ही होते हैं।

देवोंमें स्त्री और पुरुष दोनों होते हैं, नपुंसक नहीं होते। नरकमें मात्र नपुंसक ही होते हैं। जो जीव मनुष्यभव प्राप्त करके महा हिंसा करते हैं, गर्भपात करते हैं, मदिरा मांसका सेवन करते हैं, और कोडलिवर तेल इत्यादि पीते हैं वे सब यहाँसे मरकर नरकमें जाते हैं, और जो तत्त्वदृष्टिके प्रति विरोध भाव करते हैं, वे निगोदमें जाते हैं। मनुष्यभव प्राप्त करके आत्म स्व-

भावको पहिचाने, और आत्मदशाका साधन करे तो वह मोक्षमें जाता है। निगोदका काल अनन्त है। त्रसका काल दो हजार सागर ही है। आत्मतत्व परसे निराला है, उसे नहीं जाना और आत्म स्वभावसे विरोधभाव किया सो वह निगोदमें जाता है। बीचमें दो हजार सागर ही त्रसमें रह सकता है, इसप्रकार त्रसका काल अल्प है। एक तो मोक्ष अवस्था दूसरी निगोद अवस्था दोनों परस्पर एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत हैं। मोक्ष दशा सादि अनन्त है और निगोदमेंसे अनन्तानन्तकालमें निकलना कठिन होता है, इसलिये यदि तत्व परिचय न किया तो निगोदमेंसे निकलकर अनन्तकालमें भी लट आदि दो इन्द्रियका भव पाना भी कठिन हो जायेगा। यदि तत्वको समझ ले तो मोक्ष और तत्वको न समझे तो निगोद है। बीचमेंसे त्रसका काल निकाल दिया जाये तो सीधा निगोद ही है और तत्वको समझनेके बाद जो एक दो भव होते हैं उन्हें निकाल दिया जाये तो सीधा सिद्ध ही है।

नरककी अपेक्षा निगोदमें अनन्तगुणा दुःख है। बाह्य संयोग दुःख का कारण नहीं है, किन्तु ज्ञानकी मूढ़ता ही दुःख है। अग्निमें झुलस जाना दुःख नहीं है किन्तु यह प्रतिकूलता मुझे होती है इसप्रकार मोह करना सो दुःख है। इसीप्रकार अनुकूलतामें बाह्य सुविधाओंके साधन मिलनेसे सुख नहीं होता, किन्तु उसमेंसे मुझे सुख होता है, इसप्रकार मोहसे कल्पना करता है, किन्तु वह सुख नहीं, दुःख ही है।

बहुत बड़ा सम्पत्तिशाली हो, सभीप्रकारकी बाह्य सुविधायें हों और सिरपर पखा घूम रहा हो, उसमें सुख मान रहा है, मानों सारा सुख इसी वैभवमें आगया हो। किन्तु भाई जैसे पखेमें चार पाँखें होती हैं उसी प्रकार चार गतियोंकी चार पाँखोंवाला पखा तेरे सिर पर घूम रहा है, इसलिये उसमें सुख मानना छोड़ दे और अपने आत्माकी पहिचान कर, अन्यथा सीधा निगोद में जायेगा कि जहाँसे फिर तेरा ठिकाने लगना कठिन हो जायेगा।

आचार्यदेवने यहाँ कहा है कि बहुतसे अज्ञानीजन परको आत्मा

मानते हैं, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि जगतके सभी जीव ऐसा मानते हैं, इसका कारण यह है कि जगतमें आत्माके स्वरूपको जाननेवाले जीव भी हैं, इसलिये सभीको अज्ञानी जन नहीं कहा है, किन्तु बहुतसे अज्ञानीजनका शब्द प्रयोग किया है। जगतमें बहुभाग अज्ञानी जीव आत्माको न जानने वाले होते हैं, वे जीव आत्माकी स्वतन्त्रताको भूलकर परतन्त्रतामें रुके हुए हैं। वे पर और आत्माको भिन्न न समझनेसे परको ही आत्मा कहते हैं और बकते हैं। जैसे सन्निपातसे आविष्ट मानव कोई भान न होनेसे यद्वा तद्वा बकता है, इसीप्रकार आत्म स्वभावके भानके बिना अज्ञानी जीव परको अपना मानकर यद्वा तद्वा बकते हैं। भानवगरका है इसलिये बकता है, ऐसा आचार्यदेवने कहा है।

अज्ञानीजीव परको ही आत्मा मानते हैं, किन्तु मैं परसे भिन्न, शुद्ध स्वरूप अनादि अनन्त, स्वत स्वभावी आत्मा हूँ, ऐसा स्वीकार नहीं करते आत्माके वास्तविक स्वरूपको माने बिना, जबतक अपना अस्तित्व न जाना जाये तब तक अन्यत्र अपना अस्तित्व माने बिना नहीं रहते।

परसे पृथक करनेरूप ज्ञान, प्रतीति और अतरगमें स्थिर होनेका चारित्र स्वरूप जबतक ज्ञात न हो, तब तक कहीं न कहीं तो अपने अस्तित्व को मानेगा ही। उस ज्ञान दर्शन और चारित्रको स्वाश्रय कहो, सुख कहो, हित कहो, या अलग होनेका मार्ग कहो, एसे मार्गको जाने बिना परको अपने रूपमें तो मानेगा ही।

कोई तो यह कहते हैं कि–स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुआ राग द्वेषके द्वारा जो मलिन अध्यवसान है सो वही जीव है।

जब व्यापारमें लाभ होता है तब प्रसन्न हो जाता है, और जब हानि हो जाती है तब दुःखी होता है, यह सब अतरगमें होनेवाला राग द्वेषका विकारी भाव है, उसीको कुछ लोग जीव मानते हैं वे अपना पृथक स्वत आत्मा नहीं पहिचानते इसलिये क्षणिक विकारी पर्यायको आत्मा मानते हैं।

आत्मा निर्विकार चैतन्य ज्योति है, उसे नहीं माना और क्षणिक विकारी काम क्रोध को अपना माना सो भ्रांति है, विपरीत अभिप्राय है, विपरीत अभिप्राय अर्थात् उल्टा आशय है अर्थात् चौरासी के अवतारका कारण है। जो विपरीत है सो मिथ्या है।

अज्ञानी तर्क करता है कि जैसे कालेपन से भिन्न अन्य कोई कोयला दिखाई नहीं देता उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा देखने में नहीं आता। वह कहता है कि कोयला कहीं कालेपन से अलग होता है? कोयला और कालापन एक ही होता है। कर्म और आत्मा की एकत्व बुद्धि के अभिप्राय से अज्ञानी कहता है कि जैसे कोयला और कालापन भिन्न नहीं है इसी प्रकार मै राग करनेवाला हूँ और राग द्वेष मेरा गुण है, इसप्रकार हम गुण और गुणी दोनों एक हैं। पर पदार्थके अवलम्बनसे जो विपरीत भाव होता है सो गुण है और मैं गुणी हूँ, इस प्रकार हम गुण–गुणी दोनों एक हैं। जैसे गुड़ पदार्थ गुणी है और उसकी मिठास गुण है। जैसे गुण गुणी दोनों एक हैं उसी प्रकार अध्यवसान और आत्मा एक है।

राग द्वेष को दूर करने का मेरा स्वभाव है, उसे दूर करने का आत्मा में बल है, और आत्मा में वीतराग स्वभाव भरा हुआ है, उसका श्रद्धा ज्ञान करना कुछ जमता नहीं है, हम तो विकार को ही आत्मा मानते हैं ऐसा अज्ञानी कहता है।

राग द्वेष विकार और दोष है, आत्मा निर्विकल्प विज्ञानघन स्वरूप है। तब क्या निर्दोष आत्मा का स्वभाव दोष स्वभाव हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि राग द्वेष रूप मलिन परिणाम–आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अज्ञानी जीव राग द्वेपको अपना स्वभाव मानता है, इसलिये राग द्वेष में मत्त होकर जिसके साथ नहीं बनता उस पर क्रोध करके कहता है कि इस गांव से तेरी जड़ें उखाड़ कर फेंक दूँगा, तुझे इस गाँव में नहीं रहने दूँगा?

किन्तु भाई ! किसीका बिगाड़ करना या सुधार करना तेरे हाथकी बात नहीं है, हारना जीतना पूर्व कृत पाप पुण्यके अनुसार होता है, राजाओंमें जो लड़ाई होती है उसमें वे जीतते हैं या हारते हैं सो यह पूर्व कृत पुण्य पापके योगानुसार होता है, वर्तमान प्रयत्नसे जीतना हारना नहीं होता, किन्तु आत्म धर्मको प्रगट करना आत्माके वर्तमान प्रयत्न के हाथकी बात है।

अज्ञानी कहता है कि राग द्वेष रूप मलिन परिणाम ही आत्मा है। मलिन भाव से भिन्न आत्मा दिखाई नहीं देता, जैसे कालेपनसे भिन्न कोई कोयला दिखाई नहीं देता।

पुस्तक, दवात, कलम इत्यादिमें रागद्वेष नहीं होता, क्योंकि जिसमें ज्ञानगुण, शांतगुण, निर्मलगुण नहीं है, उसमें विकार भी कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि जिसमें गुण होता है उसीमें उससे विपरीत रूप अवगुण होता है। गुणका विपर्यास ही तो अवगुण है राग द्वेष आत्माके गुणकी विपरीतता है। जिसमें शात गुण क्षमा गुण ज्ञान गुण न हो, उसमें राग द्वेष और क्रोधरूप विपरीतता भी नहीं होती, इसलिये अवगुण आत्माकी पर्यायमें होते हैं किन्तु वे आत्माका स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वह गुणकी विपरीतता है, इसलिये जो अवगुण हैं सो आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मा, अवगुणसे अलग है। उस अवगुणरूप विपरीततासे भवका अभाव नहीं हो सकता और मुक्ति नहीं मिल सकती।

कोई अज्ञानी कहता है कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है, और अनन्त भविष्यका अवयव है, ऐसी जो एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) क्रिया है सो उसरूपमें क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्मसे भिन्न कोई जीव देखनेमें नहीं आता, इसलिये कर्म ही जीव है।

जैसे रागद्वेषके भाव किये हों उसी प्रकार कौआ कुत्ता बिल्ली इत्यादिके भव मिलते हैं, इसका कारण पूर्व अवयव अर्थात् पूर्वकृत कर्मका फल है। अज्ञानीको कर्मसे भिन्न आत्मा नहीं जमता। उसकी समझमें कर्मसे

भिन्न अक्रिय ज्ञान स्वरूप आत्मा है वह नहीं बैठता, किंतु आत्मासे भिन्न जो कर्म है सो वही अज्ञानीको दिखाई देता है।

एक अभिप्राय ऐसा है कि जो पूर्व अनन्त अर्थात् अनादिकालके कर्म बाँध हैं वे अब कैसे छूट सकते हैं? किंतु भाई! वे कर्म तेरी भूलके कारण बँधे हैं तेरी भूलको लेकर ही तू परिभ्रमण कर रहा है, यह चौरासीका चक्कर भी तेरी भूलके कारण लग रहा है, इसलिये तू अपनी भूलको दूर कर तो कर्म छूट जायेंगे। परिभ्रमण करनेमें कर्म तो निमित्त मात्र हैं। तूने अपनी अनादिकालीन भूलको नहीं छोड़ा इसलिये तुझे परिभ्रमण करना पड़ रहा है, किंतु जिसे अपनी भूलकी खबर नहीं है वह यह मानता है कि—यह कर्म ही मुझे परिभ्रमण करा रहे हैं और कर्म ही पराधीनतामें डाले हुए हैं।

जैसे एक मनुष्य किसी धर्मशालामें गया और वहाँ अँधेरे कमरेमें चला गया, कमरेके बीचोंबीच पत्थरका एक खम्भा था, उसे देखकर वह समझा कि यह कोई मनुष्य है—चोर है, वह उसे पकड़ गया और उस मनुष्यरूप माने हुए पत्थरसे चिपड़ छिपड़ करने लगा थोड़ी ही देरमें वह पत्थर उस मनुष्य पर आ गिरा, फिर क्या था? वह मनुष्य नीचे और पत्थर उसकी छाती पर? तब वह मनुष्य बोला कि भाई! तू जीता और मैं हारा, अब तो उठ और मुझे छोड़? किंतु वहाँ कौन उठता और कौन छोड़ता? उस मूर्खने तो पत्थरको आदमी मान रखा था और पत्थरको स्वयं ही पकड़ रखा था इसीप्रकार स्वयं कर्मरूपी पत्थरको पकड़ बैठा है, और कहता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। वह अज्ञानी जीव कर्मोंसे कहता है कि अब तुम मेरा पिंड छोड़ो, किंतु वह यह नहीं समझता कि स्वयं ही कर्मोंको लपेटे हुए है, यदि वह उनसे अलग होना चाहे तो कर्म तो अलग हुए ही पड़े हैं। हे! अज्ञानी जीव तू अपनी विपरीत मान्यताको छोड़! कर्म तुझे बाधा नहीं दे सकते, क्योंकि एक तत्व दूसरे तत्वको त्रिकालमें भी बाधा देनेको समर्थ नहीं है।

अब भविष्यके अनन्तकी बात कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि

मुझे कर्म क्या तक चक्कर खिलायेंगे किंतु ऐसा कहनेवाले पुरुषार्थहीन नपुंसक हैं। कर्म मुझे दुखी करेंगे अथवा कर्मोंने मुझे परेशान कर डाला इसप्रकार तू क्या कह रहा है? कुछ विचार तो करो! क्या जड़ कर्म तुझे हैरान कर सकते हैं? क्या तेरी सत्तामें पर सत्ता कभी प्रवेश कर सकती है कि जो तुझे हैरान करे या दुखी कर सके। जैसे कोइ महिला अपने लड़केसे कहकर बाहर जाये कि घरको देखना मैं अभी आती हूँ। उधर माँके जाने पर लड़का खेलनेमें लग गया और बिल्ली दूध पी गइ। जब माँ आकर देखती है तो लड़केसे नाराज होती है और कहती है कि तू घरमें मरता था कि नहीं? इसप्रकार माताके कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि तू घरमें मर गया था या नहीं किंतु वह यह व्यक्त करना चाहती है कि तू घरमें था या नहीं। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि अकेले कर्म ही हैं या तेरा भी कोई अस्तित्व है? तू कहाँ चला गया? तुझमें कुछ दम है या नहीं? वहाँ तू है या मात्र कर्म ही है? तू विपरीततासे अलग हो जा कि कर्म अलग ही हुए पड़े हैं। इस शरीरके कारणभूत जो कर्मके रजकण थे उनके हटने पर यह शरीर भी हट जाता है। जो अलग होने योग्य होता है वह सब अलग हो जाता है। मात्र चिदानन्द ज्ञान स्वरूप आत्मा है, उसके अतिरिक्त शरीरादिक तथा क्रोधादिक सब पर पदार्थ हटने योग्य हैं और वे हट जाते हैं।

शरीरमें जो रोग होता है सो किसी कर्मका कार्य है, और जब रोग हट जाता है तब उसका कारणभूत कर्म भी हट चुका होता है। स्वय राग द्वेष काम क्रोध न करे तो उसका कारण कर्म भी हट जाता है, और मात्र अलग आत्मा रह जाता है।

कर्मका नाम शास्त्रमेंसे सुना और कहने लगा कि कर्मोंके कारण गति मिलती है, और जैसी गति होती है, वैसी मति होती है, इत्यादि। किन्तु ऐसी उल्टी बात न कहकर यह कहना चाहिये कि जैसी मति होती है वैसी गति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें इन अवतारोंसे अलग नहीं होना है, हम तो यह चाहते हैं कि अच्छे अवतार मिला करें और भव धारण करते रहें। कुछ लोग यह चाहते हैं कि हमें तो निरन्तर मनुष्यभव मिलता रहे और हमारी सोने चांदीकी दुकानें चलती रहें, बस हमें फिर मुक्ति नहीं चाहिए। किन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि उन्हें मुक्ति तो मिल ही नहीं सकती किन्तु निरंतर मनुष्यभव धारण करते रहनेके योग्य पुण्य बँध भी निरंतर नहीं हो सकता। क्योंकि जब आत्म प्रतीति नहीं करेगा तो पुण्यभावके बाद पापभावका आना अवश्यम्भावी है।

अज्ञानी जीव दया और दानके उच्च शुभ भाव करे तो उससे उसे उत्कृष्ट पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागरकी स्थितिवाला पुण्य बन्ध हो, किन्तु शुभ परिणाम विकार है और विकार मेरा स्वभाव नहीं है। विकारको नाश करने की मेरी शक्ति है जिसे यह खबर नहीं है, उस अज्ञानीके पुण्यकी बड़ी स्थिति बँधती है, किन्तु ज्ञानीके पुण्यकी बड़ी स्थिति नहीं बँधती, क्योंकि उसकी दृष्टि पुण्य पर नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव पर है। उसने विकारको अपना स्वभाव नहीं माना इसलिये उसे पुण्यका रस अधिक और स्थिति कम पड़ती है, वह उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ा सागरकी बाँधता है, किन्तु अज्ञानी पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागरकी स्थिति बाँधता है, किन्तु पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागरोपमका पुण्य भोगनेका इस जगतमें कोई स्थान है ही नहीं, क्योंकि यदि त्रसमें गया तो वहाँ दो हजार सागरसे अधिककी स्थिति नहीं है। अज्ञानीकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिये शुभभाव को बदलकर अशुभमें जाकर पुण्यकी लम्बी स्थिति तोड़कर निगोदमें चला जायेगा।

जिसकी दृष्टि पुण्य पर है, जो पुण्यसे धर्म मानता है, और जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा पुण्य पापका नाशक है, वह पाप करके पुण्यकी स्थिति तोड़कर निगोदमें चला जायेगा। ज्ञानीकी दृष्टि शुद्ध पर पड़ी है, इस लिये वह पुण्यकी बाँधी हुई स्थितिको तोड़कर शुद्धमें चला जायेगा, शुभ-

परिणाम को तोड़कर शुद्धमें चला जायेगा, और अज्ञानी शुभ परिणामको तोड़कर अशुभम चला जायेगा।

सर्वज्ञ भगवानने जैसा देखा है वैसा कहा है। सर्वज्ञ भगवान किसी के कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ह। इससमय वर्तमानमें महाविदेह क्षेत्रमें त्रिलोकी नाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमधर भगवान विराजमान हैं वे जगतके ज्ञाता हैं कर्ता नहीं। उन सर्वज्ञ भगवानने अज्ञानियोंके अभिप्रायोंको जैसा जाना है, वैसा ही कहा है।

अज्ञानी मनुष्य बालतप, अज्ञानकष्ट करता है, उससे कदाचित् पुण्य बांधले किन्तु उसकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिये शुभको बदलकर अशुभ हो जायेगा। क्योंकि पुण्य परिणाम करते समय ऐसा विपरीत अभिप्राय था कि जो पुण्य है सो म हूँ, इसलिये पुण्यके साथ ही दर्शन मोहका भी बन्ध हुआ था। विपरीत मान्यताके बलसे पुण्यकी स्थितिको तोड़कर अशुभभाव करके नरक निगोदमें चला जायेगा।

ज्ञानी समझता है कि मै इस रागद्वेषका उत्पादक नहीं हूँ। अल्प शुभ राग होता है किन्तु म उसका उत्पादक नहीं हूँ, मै तो अपने स्वभावका उत्पादक हूँ। इस प्रकार ज्ञानीकी दृष्टि शुद्धपर होती है, इसलिये वह पुण्यकी स्थितिको तोड़कर शुद्धमें चला जायेगा।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव कर्मको ही आत्मा मानते हैं उन्हे यह खबर नहीं है कि कर्मोंका नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाले हम ही ह, वे जीव संसारमें ही परिभ्रमण करते रहेंगे।

श्रेणिक राजा जैसे एकावतारी हुए हैं सो वह सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञानका प्रताप है आत्माका निर्मलस्वभाव परसे भिन्न है ऐसी प्रतीति करके और उस प्रतीतिके बलसे वे एकावतारी होगये हैं। श्रेणिकराजाके भवमें उन्होंने तीर्थंकर गोत्रका बन्ध किया है। अभी वह प्रथम नरकमें ह,

वहाँसे निकलकर वह तीर्थंकर होंगे। जैसे यहाँ भगवान महावीर थे उसी प्रकार वे आगामी चौवीसीमें तीर्थंकर होंगे।

आत्मा और दूसरे जड़पदार्थके स्वागको यदि अपना माने तो उससे भिन्न श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रका पुरुषार्थ नहीं किया जा सकेगा। आत्माका हितरूप और सुखरूप स्वभाव अनादिकालसे विद्यमान है, उसपर जो कर्मका लेप चढ़ा हुआ है उसे जबतक पृथक् जानने और माननेमें न आये तब तक उसे अलग करनेका अन्तरंग पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ज्ञान मूर्ति भगवान आत्मा जिस स्थान पर है, उसी स्थानपर अन्य कर्मकी उपाधिरूप विकार दिखाई देता है, उसे अपना माननेसे भी पृथक्त्वका पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता। चैतन्य सत्ता कर्म और कर्मके विकारसे भिन्न है, ऐसा सुनने समझने और मनन करनेका पुरुषार्थ जिसके नहीं है, वह कहीं न कहीं, अपने अस्तित्व को स्वीकार तो करेगा ही, इसलिये शुभाशुभभावको अपना मानकर वहीं अड़ जाता है।

कोई अज्ञानी यह कहता है कि कोयला कालेपनसे अलग कोई वस्तु नहीं है, इसी प्रकार राग-द्वेषरूप अध्यवसान और जीव अलग नहीं हैं। अध्यवसान अर्थात् कर्म और आत्माका एकत्व बुद्धिरूप अभिप्राय। अज्ञानी कहता है कि हम तो विकारी भावमें ही बने रहेंगे उससे अलग कोई जीव हमें दिखाई ही नहीं देता।

और अज्ञानी कहता है कि हमने कभी भी आत्माकी निर्मलता अलग नहीं देखी है, इसलिये हम तो कर्मको ही आत्मा मानते हैं। अनादि संसारमें परिभ्रमण करनेरूप जो क्रिया और उस रूपसे क्रीड़ा करता हुआ जो कर्म है, वही हमारे मनसे आत्मा है। इसप्रकार वह कर्मके आधारसे ही आत्मा को मानता है। कई लोग यह कहते हैं कि कर्मोंके बल हो तो हमारा बल कैसे चल सकता है? वे सब कर्म और आत्माको एक ही मानते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है, और कर्मकी शक्ति पर विश्वास है,

इसलिये वे कर्मको ही आत्मा मानते हैं।

कोई अज्ञानी कहता है कि तीव्र मंद अनुभवसे भेदरूप होनेवाले। दुरंत (जिसका अंत दूर है ऐसे) रागरूप रससे परिपूर्ण अध्यवसानोंकी संतति (परिपाटी) ही जीव है, उससे अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।

कुछ लोग कहते हैं कि आप भले ही आत्मा—आत्माकी रट लगाते रहें किन्तु हम तो कभी तीव्र राग और कभी मंद रागकी चलनेवाली परंपराके अतिरिक्त किसी अन्य आत्माको देखते ही नहीं हैं। हमें तो कपट और लोभके तीव्र और मंद प्रवाहका अंत करना अति कठिन और अति दूर मालूम होता है, इसलिये आप जैसे आत्माका वर्णन करते हैं वह हमारी बुद्धिमें नहीं बैठता। अज्ञानीको रागका अनुभव है, किंतु उससे परे आत्माके स्वाश्रय तत्व की उसे खबर नहीं है, इसलिये उसके चौरासीके भ्रमणकी परंपरा चल रही है। यहाँ पहले अध्यवसान और फिर कर्म तथा उसके बाद अध्यवसानकी संतति पर भार दिया गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि पुण्य करते करते धर्म होता है, अर्थात् राग करते करते धर्म होता है, किंतु रागको तोड़कर रागसे परे जो धर्म होता है वह बात उसको नहीं बैठती।

आचार्यदेव कहते हैं कि एक तो यह मनुष्य देह मिलना ही दुर्लभ है, और फिर उसमें ऐसी यथार्थ बात कानमें पड़ना और भी कठिन है। यदि यह ज्ञात न हो कि मैं स्वाश्रयी तत्व क्या हूँ और मेरा शरणभूत कौन है तथा सत्यको श्रवण करनेकी रुचि भी न हो, तो फिर कहाँसे जाकर उसका उद्धार होगा? स्वयं अपूर्व तत्वको न समझे तो समझाने वाले भी वैसे ही मिल जाते हैं। जब कि अपना उपादान ही वैसा होता है वैसा ही निमित्त भी मिल जाता है।

अज्ञानी कहता है कि मंद—तीव्र रागसे पार पहुँचने की बात हमें नहीं बैठती। तीव्र राग और मंदरागकी संतति अर्थात् एकके बाद एक प्रवाह

चलता रहता है। एक समय आहार संज्ञा होती है तो दूसरे समय मैथुन संज्ञा होती है और फिर तीसरे समय भक्ति पूजाके परिणाम हो जाते हैं, इसप्रकार एकके बाद एक सन्तति चलती रहती है, किन्तु अज्ञानीके मनमें यह बात नहीं जमती कि इस संततिको तोड़कर आत्माका निर्मल चैतन्य स्वभाव प्रगट किया जा सकता है। अज्ञानी मानता है कि संततिको तोड़ा ही नहीं जा सकता। वह यह नहीं समझ पाता कि सन्ततिको तोड़नेवाला मैं उससे भिन्न, नित्य, शुद्ध आत्मा हूँ।

अज्ञानीको यह स्थूल शरीर तो दिखाई देता है, किन्तु भीतर होने वाले सूक्ष्म राग द्वेष दिखाई नहीं देते, और वे राग द्वेष आत्माको बाधा पहुँचाते हैं यह नहीं देखता, इसलिये रागद्वेषको ही आत्मा मानता है, यदि कोई उससे पूछे कि क्या तुझे कोई भीतर बाधा देते हैं ? तो साफ इन्कार कर देता है कि नहीं, कोई बाधा नहीं देता। इसका कारण यह है कि उसे जो तीव्र और मंद राग बाधा दे रहे हैं, वे दिखाई नहीं देते। यदि कोई मार दे, काट दे तो वह दिखाई देता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं ज्ञानघन आत्मा सूक्ष्म रागद्वेषसे भिन्न हूँ, इसलिये उसे वे रागद्वेष बाधक नहीं मालूम होते।

कोई अज्ञानी कहता है कि नवीन और पुराना अवस्थादिभावसे प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीरसे अन्य कोई भिन्न जीव दिखाई नहीं देता।

अज्ञानी कहता है कि हमारी हिलने-डुलने और चलने फिरने आदिकी अवस्थाके अतिरिक्त अन्य कोई पृथक आत्मा हमें भासित नहीं होता। नई पुरानी अवस्थादिके भावसे प्रवर्तमान, अर्थात् बाल युवक और वृद्धावस्था रूपसे परिणमित होता हुआ जो कर्म ही जीव है, इससे अतिरिक्त अन्य कोई जीव हमारे देखनेमें नहीं आता।

शरीर और वाणीकी हलन चलन और बोलनेकी जो अवस्था होती

है उस समय इनकी अवस्था अलग हो और मेरी अवस्था अलग हो ऐसा हमें भासित नहीं होता। बालक होना, युवक होना और वृद्ध होना, इस प्रकार नई पुरानी अवस्था और हलन चलन तथा बोलने इत्यादिकी सारी अवस्था उसके भावसे होती है, किंतु अज्ञानीको यह भासित नहीं होता कि इसकी अवस्था और मेरी अवस्था अलग अलग है। शरीरकी अवस्था अपने आप ही परिणमित होती है, यदि ऐसा न हो तो किसीको बुखार चढ़ानेकी इच्छा नहीं होती तथापि बुखार आ जाता है, शरीरमें कम्पवायु हो ऐसा कोई नहीं चाहता, फिर भी कम्पवायु हो जाती है, शरीरको बहुत अच्छा रखने की इच्छा होनेपर भी सूखकर लकड़ी हो जाता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीरकी समस्त अवस्थाऐं अपने आप ही परिणमित होती हैं, इसमें आत्माका कोई हाथ नहीं है।

अज्ञानी कहते हैं कि शरीरकी होनेवाली समस्त अवस्थाओंसे आत्मा, आत्माके गुण, और अवस्थाऐं तीनों भिन्न हैं, ऐसा हमें भासित नहीं होता, इसलिये हम मानते हैं कि शरीर और आत्मा एक है।

जो यह मानते हैं कि शरीरकी अवस्थाओंको हम कर सकते हैं या वे हमारे ही आधीन हैं, वे सब शरीरको ही आत्मा मानते हैं।

शरीर तो माताके पेटमें बनता है, और फिर बाहर आकर खान पान करनेसे क्रमश बढ़ता है, और फिर जब उसकी स्थिति पूरी हो जाती है, तब वह छूट जाता है, तथा आत्मा दूसरी गतिमें जाकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इसप्रकार आत्मा सतत, नित्य, भिन्न है और शरीर भी सर्वथा भिन्न है, तथापि ऐसे भिन्न स्वभावको न मानकर अज्ञानी जीव मूढ़ होता हुआ शरीरको ही आत्मा मानता है।

कोई अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि समस्त लोकको पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्मका विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभ भावसे पृथक् अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।

अज्ञानी कहते हैं कि—यह बात तो हमारी समझमें आती है कि पुण्य पापके रसको हम करते हैं, किन्तु उससे भिन्न आत्माका जो शान्तरस है उसे आत्मा कर सकता है, यह बात हमारी समझमें नहीं आती। शुभाशुभका जो विपाक भीतर उदयमें आता है, यहाँ उसके कर्तृत्वका आशय लिया गया है। अज्ञानी कहता है कि ऐसे शुभाशुभ विपाकसे भिन्न आत्माका गुण मानना और उस गुणकी अवस्था भी शुभाशुभविपाकसे भिन्न प्रगट करना सो यह बात हमें नहीं जमती। किंतु पुण्य पाप आत्माका स्वभाव नहीं है और आत्मा उन भावोंका कर्ता भी नहीं है, मगर स्थिरचिद्घनस्वरूप आत्माके शान्तरसका आत्मा कर्ता है। अज्ञानीको यह बात नहीं जमती।

जगतको यदि उसके अनुकूल कहनेवाले, चापलूस लोग मिल जायें तो उनकी बात जम जाती है। आज पैसे वालोंकी हाँ में हाँ मिलानेवाले बहुतसे लोग पाये जाते हैं। यदि कोई अच्छी रकम कमा लेता है, और कोई दो चार हजार मासिक वेतन पाने लगता है तो वह उसकी वर्तमान चतुराई या बुद्धिका फल नहीं है, किन्तु पूर्व कृत पुण्यका उदय है। वर्तमानमें अनेक काले कृत्य करनेवाले भी अच्छी सम्पत्ति प्राप्त कर रहे हैं, और बड़ी बड़ी पदवियाँ भी पा लेते हैं, किन्तु यह सब पूर्वकृत पुण्यका परिणाम है। अभी जो कुकृत्य कर रहे हैं सो उनका फल आगामी भवमें बुरा मिलेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! यदि ऐसे सुअवसरमें भी धर्म नहीं करोगे तो कब करोगे? तुझे अपना तो खबर है नहीं और परके द्वारा अपना हित और धर्म करना चाहता है, सो यह कैसे होगा? यह तो अपने आत्मबलको हीन करनेकी, उसे नपुंसक बनानेकी बात है। संसारके तथाकथित सयाने और समझदार लोग भी आत्माको बलहीन करनेकी बातें करते हैं। उसको आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा क्या है समझो, और धर्म क्या है तथा हित क्या है सो उसे अज्ञानी कहता है कि—कर्तामानसे शुभाशुभ भावका जो रस उदयमें आता है, उसमें युक्त होना सो आत्मा है, उससे भिन्न गुणोंको

प्रगट करनेकी बात हमें नहीं जमती। इसमें कर्तृत्वकी बात ली गई है।

कोई कहता है कि साता--असाता रूपसे व्याप्त जो समस्त तीव्र-मन्दतारूप गुण हैं उनके द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख दुःखसे अन्य पृथक् कोई जीव देखनेमें नहीं आता।

अज्ञानी कहता है कि हमारी बुद्धिमें यह बात ही नहीं जमती कि आत्माको पुण्य पापके फलके अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव होता है, अथवा अन्य कुछ निर्विकल्प सुख भोगना होता है। और वह (अज्ञानी) कहता है कि जब एक ओर सुख भोगते हैं तब दूसरी ओर कभी दुःख भी भोगते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त कोई तीसरी वस्तु हो ही नहीं सकती। आत्म प्रतीति होकर आत्माका स्वाद आये और आत्माके आनन्दका भोग करते हुए अनुभव का रस मिले यह बात भी नहीं जमती। हाँ, यह बात अवश्य जमती है कि अनुकूलताका सुख और प्रतिकूलताका दुःख-दोनों भोगना पड़ते हैं। जो सुख भोगता है, उसे दुःख भी भोगना पड़ता है, किन्तु आपकी यह विचित्र बात कुछ जँचती नहीं है कि--साता--असाताके रसको नाश करके चैतन्य कोई अलग तत्त्व है। ऐसे अज्ञानीसे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि--कितने ही जीव पुण्य पापके फलके अतिरिक्त आत्मवेदनका स्वाद लेते हैं, इसलिये आत्माके स्वभावका उपभोग हो सकता है। किन्तु जिसे आत्माके सुखका विश्वास नहीं जमता और जो यह कहता है, कि जो सुख भोगता है वह दुःख भी भोगता है, वह मूढ़--अज्ञानी है। उसे विकारकी रुचि है, किन्तु आत्माके सुखकी रुचि नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि श्रीखंडकी भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म-दोनोंका संयोग ही जीव है, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे मुक्त कोई जीव दिखाई नहीं देता।

कोई कहता है कि श्रीखंड की भाँति आत्मा और कर्म दोनों एक होकर काम करते हैं। आत्माका गुण प्रगट होता है, उसमें कुछ तो आत्मा

और कुछ कमका गुण मिला हुआ होता है।

जगतमें कुछ लोग यह कहते हैं कि आप आत्मा ही आत्मा की करते हैं सो ठीक, किन्तु क्या यह सच नहीं है कि–अधिकांश भाग आ ा और कुछ भाग कर्मका होता है? ज्ञानी कहते हैं कि नहीं, एसा कुल नहीं है। कमका शत प्रतिशत भाग कर्ममें और आत्माका शत शत भाग आत्मामें है, आत्माका कर्ममें और कर्मका आत्मामें किंचितमात्र भाग नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि केवलज्ञानको प्रगट करनेमें मानवशरीर र उसमें भी हड्डियोंकी सुदृढ़ता (वज्रवृषभनाराच संहनन) आवश्यक है। तु एसा कहनेवाले उपरोक्त अज्ञानियों जैसे ही हैं, क्योंकि उन्होंने मानव ीर और हड्डियोंकी सुदृढ़ता (जड़ पदार्थ) तथा आत्माको मिलाकर केवल न होना माना है। उन्हें यह खबर नहीं है कि हड्डियोंकी दृढ़ता उनके नेके कारणसे है और आत्माको केवलज्ञान होना आत्माके कारण है, दोनोंके तत्र कारण सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। आत्मा आकाशादि द्रव्यकी भाँति स्व-, अखंड और पूर्ण वस्तु है, उसका गुण किसीकी सहायतासे किंचित मात्र भी ट नहीं हो सकता।

इस मानव शरीरमें पहले बाल्यावस्था होती है, फिर युवावस्था और र वृद्धावस्था होती है, और उसके बाद दूसरे भवमें गमन हो जाता है। नेक तो वृद्धावस्था होनेके पहले ही चल बसते हैं। यदि इस मनुष्यभवमें धर्म ार आत्म हितको नहीं समझा तो फिर समझना और हित करना कहाँ होगा? ात्मा गुणोंकी मूर्ति अलग वस्तु है उसे जीव अनादिकालसे नहीं समझ पाया ौर विपरीत मान्यता जड़ जमाये बैठी है, इसलिये अज्ञानी जीवने सम्पूर्णतया मको ही आत्मा मान रखा है और वह कर्मसे भिन्न आत्माको नहीं हेचानता।

कोई अज्ञानी यह कहता है कि अर्थ क्रियामें (प्रयोजनभूत क्रियामें)

समर्थ कमका सयोग ही जीव है, क्योंकि जैसे लकड़ी आठ टुकड़ोंके सयोग से भिन्न अन्य पृथक् कोइ पलग नही होता, इसी प्रकार कर्मसयोगसे पृथक् अन्य कोइ जीव देखनेमें नहीं आता।

जैसे लकड़ीके आठ टुकड़ोंके सयोगसे पलग बनता है, और उन आठ टुकड़ोंसे अलग कोइ पृथक् पलग नहीं होता इसी प्रकार अष्टकर्मोंके रजकण एकत्रित होकर-कर्म सयोग मिलकर आत्मा उत्पन्न होता है, इसप्रकार कई अज्ञानी जीव मानते ह।

कुछ अज्ञानी जीव कुतर्कसे यह भी सिद्ध करना चाहते ह कि जैसे महुआ, खजूर और अगूर इत्यादिको एकत्रित करके-उन्हे सड़ाकर शराब उत्पन्न होती ह, उसी प्रकार अष्टकर्मके सयोगसे आत्मा उत्पन्न होता है, इसप्रकार मानने वाले तथा आठ लकड़ियोंके पलगकी भाँति आत्म स्वरूपको अष्टकर्मका पुतला माननेवाले चैतन्य भगवानको अलग नहीं मानते। वे अष्टकर्मोंके एकत्रित होनसे चैतन्यकी क्रियाका होना मानते हैं, किन्तु उनको यह बात नहीं जमती कि चैतन्यकी क्रिया अलग है। जैसे पलग और पलगमें सोनेवाला अलग है वैसेही अष्ट कर्मका सयोग भी अलग और उसी स्थानमें रहनेवाला आत्मा भी अलग है।

ऐसा उत्तम मानव शरीर प्राप्त करके परमात्म स्वरूप आत्माका परिचय प्राप्त नहीं किया और श्रद्धा नहीं की तो फिर अब कहाँ जाकर पार लगेगा? किसकी शरणमें जायेगा? कहाँ जायेगा? तेरे अरण्य रोदनको कौन सुनेगा? जब घोर वनमें अकेले हिरन पर कोइ सिंह आक्रमण कर देता है तब वहाँ कौन उस बेचारेकी पुकारको सुनता है, इसीप्रकार जब काल तुझे अपना ग्रास बनायेगा तब कौन तेरी पुकार सुनेगा? उस समय कुटुम्ब कबीला और मित्र मडल क्या कर सकता है? बड़े बड़े राजा महाराजा भी इसी प्रकार कालके ग्रास हो जाते हैं, उस समय उनके सब ठाठ पड़े रह जाते हैं। इसलिये यह तो विचार कर कि तू मरकर कहाँ जानेवाला है?

सत् समागमके द्वारा श्रवण-मनन करके परसे आत्माको भिन्न करने का विवेक न करे तो इससे क्या लाभ है ? कोई पुण्यमें लग जाता है और कोई पापमें, कोई आशीर्वादमें अपना अच्छा होना मानता है तो कोई श्रापसे बुरा होना मानता है। किन्तु भाई तूने तो किसी पर करुणा आदिके शुभ भाव किये या किसीको दुःखी करनेके अशुभ भाव किये सो उनका फल तुझे मिलनेवाला है, इसके अतिरिक्त किसीके आशीर्वाद या श्रापसे लेशमात्र भी अच्छा बुरा नहीं हो सकता। तीनलोक और तीनकालमें भी किसीके आशीर्वाद या श्रापसे आत्माका हिताहित नहीं हो सकता। जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा स्वतन्त्र, पृथक् पदार्थ है वह ऐसे विविध प्रकारके मिथ्यात्वोंमेंसे कहीं न कहीं शरण लेकर जा खड़ा होता है।

इसप्रकार आठ ही तरहके नहीं किन्तु अन्य भी अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि जीव परको आत्मा मान रहे हैं। उन्हें परमार्थवादी कभी भी सत्यार्थ वादी नहीं मानते। सत्यार्थवादी तो वही है जो उपरोक्त आठ प्रकारोंसे भिन्न आत्मा को माने, जाने और उसमें स्थिर हो, वही सत्यार्थवादी है, शेष कोई भी सत्यार्थवादी नहीं कहा जा सकता।

भगवान आत्मा अनन्त शक्तिवाला है। यह आत्मा और कर्म दोनों एक क्षेत्रमें अवगाहन प्राप्त करके रह रहे हैं, और अनादिकालसे पुद्गलके संयोगसे जीवकी अनेक विकारी अवस्थायें हो रही हैं। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाये तो भगवान आत्मा स्वयं चैतन्य जानना, देखना और निरुपाधि कर्ताको कभी भी नहीं छोड़ता, और पुद्गल अपनी जड़ताको कभी नहीं छोड़ता। जड़ पुद्गल अजीव है, धूल है, मिट्टी है। वह भी एक वस्तु है। वस्तु कभी अपना वस्तुत्व नहीं छोड़ती।

जड़ चेतनका भिन्न है केवल प्रगट स्वभाव।
एकपना पावे नहीं तीनकाल द्वय भाव॥
(श्रीमद् राजचन्द्र)

जड और चतन त्रिकाल भिन्न हैं। आत्मा कभी आतमतत्त्वसे और अजीव–जड़ अजीवतत्त्वसे कभी नहीं छूटता। यदि वस्तु वस्तुत्वको छोड़दे तो वह वस्तु ही नहीं कहलायेगी। इसलिये वस्तु अपने वस्तुत्वको त्रिकालमें कभी नहीं छोड़ती। किन्तु परमार्थको न जानने वाले पर सयोगसे होनेवाले भावों को जीव कहते हैं। और वे पूजा, भक्ति, दया, दान इत्यादिके शुभ भावोंको तथा हिंसा, झूठ चोरी इत्यादिके अशुभ भावोंको ही अपना आत्मा मानते हैं। किंतु सर्वज्ञ भगवानने अपने पूर्ण ज्ञानके द्वारा शरीर मन वाणी और पुण्य पापके भावोंसे सवथा भिन्न परम पवित्रतत्व (आत्मा) देखा है। सवज्ञकी परम्पराके आगम द्वारा और स्वानुभवसे भी उस तत्त्वको जाना जा सकता है।

जिसके मतमें सवज्ञ नहीं है वह अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पनायें किया करता है। कोई कहता है कि कहा भी कभी कोई सवज्ञ न तो था, न है, और न हो सकता है, किन्तु एसा कहनेवाला तीनलोक और तीनकाल को जाने बिना एसा कैसे कह सकता है? यदि वह तीनकाल और तीनलोक की बात जानता है तो वह स्वय ही सवज्ञ होगया, इसप्रकार सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जाता है। तीनकाल और तीन लोकको एकही समयमें हस्तामलकवत् जाननेका प्रत्येक आत्माका स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जिस आत्माके प्रगट हो गया वही सर्वज्ञ है। जो सर्वज्ञको नहा मानते, और जिन्ह परम्परासे सर्वज्ञका कथन नहीं मिला वे अपनी कल्पनासे अनेक मिथ्या मनगढ़न्त बातें खड़ी करते ह। तीन काल और तीन लोककी पर्यायें, अनन्त द्रव्य, एक एक द्रव्यके अनन्त गुण और एक एक गुणकी अनन्त पर्यायें उस ज्ञान गुणकी एक समयकी पर्यायमें ज्ञात होती हैं। आत्माकी एसी सामर्थ्य है। जिसको एसी सामर्थ्य प्रगट होती है वह सवज्ञ है। वैसे सर्वज्ञ यहाँ इस क्षेत्रमें भगवान महावीर स्वामी थे, और दूसरे भी अनेक सवज्ञ हो गये हैं। वतमान में विदेह क्षेत्रमें श्री सीमधर भगवान सर्वज्ञरूपमें विराजमान हैं, और दूसरे भी अनेक सर्वज्ञ विराज रहे हैं। जो सर्वज्ञको यथार्थतया स्वीकार करता है वह

सर्वज्ञता प्रगट करेगा और जो सर्वज्ञको स्वीकार नहीं करते वे बिना धनीके ढोर समान हैं। उनके भव भ्रमणका कहीं अन्त नहीं आता।

'जानना' आत्माका स्वभाव है। उस जाननेके स्वभावमें 'न जानना' नहीं आ सकता। उस जाननेके स्वभावकी मर्यादा नहीं होती। जब कि जानना ही स्वभाव है तब उसमें कौनसी वस्तु ज्ञात न होगी। जो सभी द्रव्य क्षेत्र, काल और भावोंको जानता है, ऐसा ज्ञान स्वभाव अमर्यादित है। जीव एक अखड द्रव्य है, इसलिये उसकी ज्ञान शक्ति भी सम्पूर्ण है जो सम्पूर्ण वीतराग होता है वह सर्वज्ञ होता है। प्रत्येक आत्मामें ऐसी शक्ति विद्यमान है।

आत्मा परको जानने नहीं जाता, किन्तु जगतके अनन्त द्रव्य, क्षेत्र काल भाव आत्माके ज्ञानमें सहज रूपसे ही ज्ञात होते हैं, ज्ञानका ऐसा स्वपर प्रकाशक स्वभाव है। आत्मा में पर ज्ञेय नहीं आते, पर ज्ञेयोंकी आत्मामें नास्ति है, किन्तु ज्ञान परको जानता है, अपनेको जानता है, ज्ञान ज्ञानको जानता है, ज्ञान आत्मामें रहनेवाले अन्य अनन्त गुणोंको जानता है, और ज्ञान लोकालोक भी जानता है, ज्ञानका ऐसा स्वपर प्रकाशक स्वभाव है।

यदि जगत अपनी कल्पनासे विविध प्रकारसे माने तो वह अपनी ऐसी मान्यताके लिये स्वतंत्र है।

आत्माका स्वभाव स्वपर प्रकाशक है इसलिये पर ज्ञेय उसमें सहज ही ज्ञात हो जाते हैं, परको जानता हुआ आत्मा पर क्षेत्रमें व्याप्त नहीं होता परको जानता हुआ आत्माका ज्ञान अन्य पदार्थोंमें व्याप्त नहीं होता, अर्थात् सर्व व्यापक नहीं होता, इसी प्रकार पर ज्ञेय भी आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाते आत्मा अपने स्वक्षेत्रमें रहकर पर ज्ञेयोंको सहज ही जानता है।

भावका विकाश होनेमें क्षेत्रकी चौड़ाईकी आवश्यकता नहीं होती छोटे शरीरमें भी भावकी उग्रता की जा सकती है। शरीरतो साढ़े तीन हाथ होता है किन्तु स्वरूपकी प्रतीति करके उसमें अमुक प्रकारसे एकाग्र हो सकता है। क्षेत्र छोटा होने पर भी भावकी उग्रता कर सकता है इसलिये केवलज्ञान

में जो लोकालोक ज्ञात होता है सो आत्मा अपने क्षेत्रमें रहकर जानता है। अपने क्षेत्रकी परमें और परके क्षेत्रकी अपनेमें नास्ति है। आत्मा जगत के सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको अपने क्षेत्र में रहकर सहज जानता है, ऐसा वस्तुका स्वभाव है। जगतके अनादि अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनादि अनन्त रूपसे जैसा वस्तुका स्वभाव है, उसी प्रकार ज्ञानमें ज्ञात होते हैं। ज्ञानकी ऐसी अनंत शक्ति है।

आत्माका जैसा स्वभाव है वैसा न मानकर कर्मके निमित्तसे आत्मामें होने वाले भावोंको अपना माननेवाले और उससे आत्माको पहिचाननेवाले अज्ञानी हैं। यद्यपि बहुतसे लोग आत्मा आत्मा पुकारते रहते हैं, किंतु वे कर्म के निमित्तसे आत्माको पहिचानते रहते हैं और यह मानते हैं कि कर्मसे हमें लाभ होता है वे सब जड़को ही आत्मा मानते हैं। अध्यवसायको आत्मा मानने वाले और संसरणरूप क्रियाको आत्मा माननेवाले इत्यादि आठ प्रकार की मान्यताओं वाले नपुंसक हैं, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

त्यागी हो, बाबा हो या गृहस्थ हो किंतु यदि वह शुभाशुभ वृत्तियों के भावोंका कर्ता बने, हर्ष शोक इत्यादि वृत्तियोंके भावोंका भोक्ता बने और उनमें आत्मधर्म होना माने तो ऐसी मान्यतावाला नपुंसक है। कर्म और आत्मा दोनों एकत्रित होकर आत्माके स्वभावधर्मको करते हैं ऐसा माननेवाला भी नपुंसक है।

श्रीमद् राजचन्द्रने आत्म सिद्धि नामक ग्रन्थके मंगलाचरणमें कहा है कि—

❀ जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनंत।
समझाया वह पद नमूं श्री सद्गुरु भगवंत॥

श्रीमद्ने इस ग्रन्थमें कहा है कि आत्मा नित्य है, आत्मा अज्ञान

❀ आश्विन कृ० १ को श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि की थी इसलिये आजका (आ० कृ० १ होनेसे) यह प्रवचन आत्मसिद्धि को लक्ष्यमें लेकर ही हुआ है।

भावसे स्वयं कर्ता भोक्ता है, और ज्ञानभावसे स्वभावका कर्ता भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्षका उपाय भी है। इस विषयको लेकर सम्पूर्ण आत्म सिद्धि की सुन्दर रचना हुई है।

उसके उपरोक्त पदमें यह कहा है कि—स्वरूपको समझे विना अनन्त दुःख प्राप्त किया है, वहाँ कहीं यह नहीं कहा कि—कोई क्रिया कर्म किये विना अनन्त दुःख प्राप्त किया है, क्योंकि जीवने अनन्त कालमें मात्र यथार्थ ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, दूसरा सब कुछ किया है समवशरणमें विराजमान साक्षात् तीर्थंकरदेवकी रत्नोंसे भरेहुये थालोंसे अनन्तवार पूजा की किन्तु परसे भिन्न चैतन्य स्वभावको स्वयं नहीं जान सका, और जब स्वयं जागृत नहीं हुआ तब फिर दूसरा कौन जगायगा? कहीं भगवान कुछ दे नहीं देते क्योंकि अपना स्वरूप अपने पर ही निर्भर है, वह दूसरे पर अवलम्बित नहीं है, इसलिये दूसरा कोई कुछ दे ही नहीं सकता, और न दूसरेके आधार पर वस्तु स्वभाव प्रगट ही हो सक्ता है जो वस्तु दूसरेपर अवलम्बित हो वह वस्तु ही नहीं कहला सकती। वस्तु अर्थात् पदार्थ—जड़ चैतन्य सभी अपने अपने आधारसे रहते हुये स्वतन्त्र हैं। जगतमें दो वस्तु स्वरूप हैं, एक जड़स्वरूप और दूसरा आत्मस्वरूप। यहाँ यह कहा है कि जीव आत्म स्वरूपको समझे विना अनन्तकालसे परिभ्रमण कर रहा है अनादिकालसे उसने आत्मस्वभावको नहीं जान पाया और उसे जाने विना दूसरी बहुत कुछ धूम धाम की है।

आत्म सिद्धिके उपरोक्त मंगलाचरणमें इसपर अधिक भार दिया है, कि—'स्वरूपको समझे विना' अनंत दुःख प्राप्त किया है। और यह शब्द शिष्यके मुँहमें रखकर बुलवाये हैं। मैं अनंतकालमें अपने स्वरूपको नहीं समझा और यथार्थ समझानेवाले भी नहीं मिले। कदाचित् समझानेवाले मिल भी गये तो स्वयं आत्माको नहीं पहिचाना, इसलिये यहाँ यह कह दिया है कि वे मिले ही नहीं। शिष्य कहता है कि हे प्रभो! मैं स्वयं ही स्वयंको समझे

बिना अनतकालसे परिभ्रमण कर रहा हूँ। यहाँ यह नहीं कहा कि कोई कर्म या ईश्वर परिभ्रमण करा रहा है।

उपरोक्त पदमें जो 'समझे बिना' पद है उसमें सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, और चारित्र तीनोंका समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक्‌दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग अर्थात् सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षका मार्ग है, उसे समझे बिना मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान, और मिथ्या चारित्रका सेवन करके परिभ्रमण किया है।

उपरोक्त पदमें 'पाया दु ख' कहकर शिष्यने कहा है कि हे प्रभो! मैंने दु ख पाया है। कुछ लोग कहते हैं कि दु ख जड़में है, किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है, स्वय अपना स्वभाव भूला हुआ है, अर्थात् अपनी चैतन्य भूमिकामें ही दु ख होता है। आत्मामें जहाँ आनद है वहीं उसकी विपरीत अवस्था दु खकी होती है, जड़में दु ख नहीं होता।

उपरोक्त पदमें 'अनत' पद कहकर अनंत दु खका विचार किया है, इसमें अनत भव भ्रमणका दु ख बताया है, और कहा है कि अनत दु खका वेदन करनेवाला—भोगनेवाला मैं था, दूसरा कोई द्रव्य नहीं था। अनत दु ख आत्माके गुणोंकी विपरीतता है। यहाँ यह बताया है कि आत्माके आनद गुणकी पयाय उल्टी हुई सो अनत दु ख पाया, और ऐसा कहकर इस ओर लक्ष कराया है कि मुझमें अनत आनद भरा हुआ है। अनत दु ख प्राप्त किया ऐसा कहकर दो बातें कह दी हैं।

१—आनदगुणसे विपरीतता की सो यही दु ख है।

२—स्वरूप को समझे बिना मैंने दु ख पाया है।

मैंने दु ख पाया है, यह कहकर बताया है कि सभी आत्मा एक नहीं है किन्तु प्रत्येक आत्मा स्वतत्र निराला तत्व है। मैं भूला, और मैं नहीं समझा इसलिये दु ख प्राप्त किया है यह कहकर स्वय अपनेको स्वतत्र रखा है।

समझनेके बाद कहता है कि—'आया हुआ ज्ञान'। अज्ञानदशामें ज्ञान और अज्ञानकी कुछ खबर नहीं थी, और ज्ञान होनेके बाद ज्ञान और अज्ञान दोनोंकी खबर है।

मेरी पात्रता थी इसलिये समझा हूँ, यों 'समझा' शब्द न कहकर 'समझाया' कहा है। इसका अर्थ यह है कि उस समय समझानेवाला और समझनेवाला दोनों विद्यमान थे। यहाँ समझाया पद कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि निमित्तके बिना नहीं समझा जा सकता। ज्ञानीके बिना यह अनादिकालसे नहीं समझा हुआ स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। किन्तु जो पात्र होता है उसे निमित्त मिले बिना नहीं रहता। सत् उपादान और सत् निमित्तका मेल है। सद्उपादान तैयार हो तो समझानेवाला सत् निमित्त भी विद्यमान होता है। उपादान निमित्तका ऐसा ही मेल है। शिष्य कहता है कि अभी तक मैं समझा नहीं था, किन्तु अब गुरुके प्रतापसे समझ गया हूँ श्री गुरुने मुझपर कृपा करके मुझे समझाया इसलिये मैं समझा हूँ। उसे यह आन्तरिक प्रतीति है कि मेरी पात्रता थी इसलिये मैं समझा हूँ, किन्तु सत्को समझनेवाला यह नहीं कहता कि मैं अपने आप समझा हूँ। यथार्थ समझ होनेपर विनय और नम्रता भी बढ़ जाती है, इसलिये यहाँ गुरुके प्रति बहु विनय बताते हुए 'समझाया' पद कहा है।

यहाँ 'मैं समझा' से यह सिद्ध किया है कि अभी तक मुझे भ्रांति थी और अब मुझे जागृति प्राप्त हुई है। हे प्रभो! मैं समझा हूँ किन्तु आपने मुझपर कृपा की इसलिये समझा हूँ। यद्यपि स्वयं समझा है किन्तु गुरुके प्रति बहुमान होनेसे कहता है कि 'समझाया यह पद कहा'। जबतक वह पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तबतक उसके विनयता बढ़ती जाती है और नम्रताका भाव बना रहता है। बहुमान होनेसे विनय पूर्वक गुरुसे कहता है कि—आपको मेरा नमस्कार हो। यहाँ नमस्कारका भाव किसका है? परिचय किसका हुआ? निमित्तका या अपना? निमित्तसे कहा जाता है कि गुरुको नमस्कार करता हूँ,

किन्तु वास्तवमें अपने स्वभावकी जो महिमा जम गई है सो उसकी ओर उन्मुख होता है—नमस्कार करता है।

'श्री सद्गुरु भगवंत' कहकर गुरुके प्रति बहुमान होनेसे गुरुको भगवान कह दिया है। सर्वज्ञ, वीतराग देव तो भगवान कहलाते ही हैं, किन्तु बहुमान होनेसे गुरुको भी भगवान कहा जा सकता है। शिष्य समझ गया अर्थात् सच्चे देव गुरुको भी समझ लिया और अपने स्वरूपको भी पहिचान लिया। इस प्रकार निमित्तकी ओर लक्ष जाने पर गुरुके प्रति बहुमान होनेसे गुरुको नमस्कार करता है, और अपने गुणके प्रति बहुमान होनेसे गुणको भी नमस्कार करता है।

विनयका बहुत वर्णन होनेसे विपरीत दृष्टिवाले ऐसा विचित्र अर्थ कर लेते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्रको विनय चाहिये थी, इसलिये विनयका बहुत वर्णन किया है। इस प्रकार स्वच्छंदी जीवोंको स्वयं तो समझना नहीं है और स्वच्छंदता की पुष्टि करना है, इसलिये समझानेवालेका दोष निकालते हैं।

आत्मसिद्धिमें अनेक स्थलों पर गुरुकी महिमा और शिष्यकी विचार क्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। १४२ वें दोहेमें कहा है कि—

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
कितना कहिये दूसरा? कर विचार तो पाम॥

यदि तू स्वयं विचार करे तो ही सच्चा ज्ञान प्राप्त (पाम) कर सकेगा। तेरी समझ और पात्रताके बिना गुरु कहीं कुछ दे नहीं देंगे। किसी की कृपा या आशीर्वादसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। और किसीके श्रापसे मुक्ति रुक नहीं जाती। तू ही स्वयं सुखरूप है, सुखका धाम है, यदि तू स्वयं विचार करे तो उसे प्राप्त कर लेगा, अन्यथा तेरी पात्रताके बिना त्रिकालमें कोई कुछ नहीं दे सकेगा। यदि विचार करे तो पायेगा। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों प्राप्त करेगा, यह बताया है। अन्य कोई शरीरकी क्रिया करनेसे दर्शन ज्ञान चारित्रको प्राप्त करनेकी बात नहीं कही है, किन्तु यह कहा है

कि—'कर विचार तो पाम', अर्थात् विचार किया करेगा तो प्राप्त कर लेगा।

कितने ही अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि—बाह्य प्रतिकूलताको दूसरे लोग मिटा सकते हैं, कोई रोग मिटा सकता है, किसी महात्माकी कृपासे पुत्र मिल सकता है, रुपया पैसा मिल सकता है। किन्तु त्रिकालमें भी ऐसा नहीं हो सकता। अपने पुण्य या साताके उदयके बिना ही किसीकी कृपा या आशीर्वादसे कुछ मिल जायेगा ऐसा मानने और मनवानेवाले महामूढ अज्ञानी हैं। सब अपने अपने पुण्य पापके उदयानुसार होता है। कोई मन्त्र तन्त्र डोरा तावीज इत्यादिसे पुत्र और पैसेकी प्राप्ति मानते हैं, किन्तु सांसारिक मधुरतामें फँसे हुए घोर अज्ञानी हैं, और ऐसे मन्त्र तन्त्र करनेवाले भी घोर अज्ञानी हैं, जो सांसारिक कल्पित मिठासमें फँसे हुए हैं।

कोई कहता है कि अमुक महाराजके भक्त बहुत पैसेवाले हैं, इसका कारण यह है कि महाराज सबको चमत्कारपूर्ण आशीर्वाद देते हैं। किन्तु यह सब मिथ्या है। क्योंकि आत्माके अतिरिक्त पैसे और पुण्यकी महिमा है ही कहाँ? यह सब तो शून्यवत् हैं—व्यर्थ हैं। क्या पर वस्तु किसीके आधीन हो सकती है, या किसीको दी जा सकती है? संसारकी किसी वस्तु को देने और लेने की वृत्तिवाले दोनों अनन्त सांसारिक मिठासमें लुब्ध महा मिथ्यात्वी हैं।

आत्म सिद्धिमें जो स्वरूप बताया गया है, वैसा ही वीतरागका जो स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है। शिष्य कहता है कि मैंने ही अपनेसे उल्टे भाव किये और स्वतः ही परिभ्रमण करता रहा हूँ कोई किसीकी अवस्थाके करनेमें समर्थ नहीं है। अपनी सत् पात्रताके द्वारा जब सत्यको समझना है तब सत् समागमका निमित्त अवश्य होता है, किंतु सद्गुरु अपने प्रगट स्वरूपमें से रजमात्र भी किसीको दे दें यह नहीं हो सकता। तीनकाल और तीनलोकके केवलियों—तीर्थंकरोंने स्वतन्त्रताकी घोषणा की है कि कोई किसीके गुणकी एक भी अवस्था करनेको त्रिकाल भी समर्थ नहीं है।

"जो स्वरूप समझे बिना पाया दु ख अनन्त"

जैसे सिद्ध भगवान परमात्मा हैं, वैसा ही मै हूँ । मुझमें कर्म प्रविष्ट नहीं हैं, ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्माका स्वरूप समझे बिना अनत दु ख प्राप्त किया । जब तक यह मानता है कि मै पुण्य दया आदिके भावोंका कर्ता हूँ, तबतक वह अज्ञानी है, आत्मा निराला है, जिसे उसकी प्रतीति नहीं है वह अनत ससारमें परिभ्रमण करेगा । स्वरूपको समझे बिना सब कुछ किया, किन्तु किंचितमात्र भी धर्म नहीं हुआ । श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि—

यम नियम सयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लियो ।

व्रत किये, तप किये, करोड़ोंका दान दिया, किन्तु यदि उसमें कषाय मद हो तो पुण्य बध होता है, किंतु स्वतत्र आत्मा क्या वस्तु है इसकी प्रतीतिके बिना एक भी भव कम नहीं हो सकता ।

अपने आत्माकी सिद्धि स्वय ही की जा सकती है । आत्मसिद्धि करने में कोई सहायक नहीं होता, उसमें किसीका हाथ नहीं होता, देव गुरु का भी हाथ नहीं होता । किंतु यथार्थ समझके समय सच्चे गुरुका निमित्त अवश्य होता है, विचारकी क्रिया और गुरुका निमित्त—दोनों होते हैं ।

* बुझी चहत जो प्यास को है बूझनकी रीति ।
पावे नहि गुरुगम बिना, येही अनादि स्थित ॥

यदि तू अपनी प्यासको बुझाना चाहता है तो उसके बुझानेकी रीि यह है कि—गुरु ज्ञान प्राप्त किया जाये । जो पात्र होता है उसे सच्चे गुरु मि जाते हैं । डोरा तावीज देकर रोग मिटानेका दावा करनेवाले गुरु वास्तवमें गु नहीं हैं । उनसे यथार्थ ज्ञान तो क्या मिलेगा पुण्य बध तक नहीं होता । क रोग किसीके मिटाये मिटता है ? सनत्कुमार चक्रवर्ति जैसे संत मुनि धर्मात्माव

* भाषाकी दृष्टिसे यह दोहा ठीक नहीं है; तथापि इसका भाव ग्रहण करना चाहि जो अत्युत्तम है ।

भी सात सौ बरस तक रोग रहा था तथापि उन्हें आत्मप्रतीति थी इसलिये वे बारम्बार स्वरूपके निर्विकल्प ध्यानमें रमण करते थे। यद्यपि उन्ह उसी भव से मोक्ष जाना था तथापि उनके गलित कोढ जैसे भयकर रोगका उदय था। रोग तो प्रकृतिका फल है, उससे आत्माको क्या शरीरमें रोग होनेसे कहीं आत्मा में रोग नहीं पहुँच जाता। जब कि मोक्षगामी लोगोंको भी ऐसा रोग हो सकता है तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? रोग किसीका मिटाया नहीं मिटता। शरीरका प्रत्येक रजकरण स्वतत्रतया परिवर्तन कर रहा है जड और चेतनकी क्रिया अलग अलग स्वाधीनतया होती है। एक तत्व दूसरेको कुछ नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जो लोग विविध प्रकारसे मानते हैं सो वह उनके घरकी मन गढ़त बात है।

तीन काल में एक है परमारथका पन्थ।
प्रेरे वह परमार्थको सो व्यवहार समन्त॥

परमार्थ अर्थात् मुक्तिका मार्ग एक ही होता है। परमार्थ स्वरूप आत्माको प्राप्त करनेका पन्थ एक ही होता है। अभेद आत्मापर जो दृष्टि है सो व्यवहार है, उस दृष्टिका जो विषय है सो परमार्थ है, तथा दृष्टि स्वय अवस्था है इसलिये व्यवहार है। उस दृष्टिके विषयके बलसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी पर्याय वृद्धिंगत होती हुइ साधी जाती है, सो व्यवहार समन्त है।

'निश्चयज्ञानी सबका, आकर यहाँ समाय'।

सभी ज्ञानियोंका एक ही निश्चय है, सभीका एक ही मार्ग है। और कहा है कि —

पहले ज्ञानी हो गये, वर्तमान में होय।
होंगे काल भविष्यमें मार्ग भेद नहिं कोय॥

भूतकालमें अनन्त ज्ञानी हो गये हैं, वर्तमान कालमें हैं और भविष्य कालमें अनन्त ज्ञानी होंगे किन्तु उन सबका एक ही मार्ग है, एक ही रीति

है, और एक ही पन्थ है। यहाँ यह भाव पूर्वक कहा गया है कि—सबका एक ही मार्ग है, सभीका एक ही मत है।

यदि चाहो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
भव स्थितिका नाम ले, मत छेदो आत्मार्थ॥

कई लोग कहा करते हैं कि – यदि अभी हमारे बहुतसे भव शेष होंगे, या कर्म बाकी होंगे, अथवा अभी भवस्थिति नहीं पकी होगी तो क्या होगा? उनसे श्रीमद् राजचन्द्रजी तथा अन्य ज्ञानी कहते हैं कि—ऐसा भव स्थिति आदिका बहाना लेकर पुरुषार्थको मत रोको। त्रिकालमें भी ज्ञानीका वाक्य पुरुषार्थहीन नहीं होता। श्रीमद् राजचन्द्रने एक जगह लिखा है कि ज्ञानी के हीन पुरुषार्थके वचन नहीं होते। यहाँ 'करो सत्य पुरुषार्थ' कहकर यह बताया है कि पुरुषार्थ करनेसे भवस्थिति पक जाती है, वह अपने आप नहीं पकती।

यहाँ पहले ३९ से ४३ वीं गाथामें आठ प्रकारसे परको आत्मा कहनेवालोंके सम्बन्धमें कहा गया है। वे लोग सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं? यह बात यहाँ ४४ वीं गाथामें कही गई है—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पएणा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वच्चंति ॥४४॥

अर्थ —यह पूर्व कथित अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुये हैं, एसा केवली सर्वज्ञ जिनदेवने कहा है, उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है।

यह पूर्व कथित अध्यवसान–शुभाशुभभावके विकल्प, पुद्गल द्रव्य के परिणामसे रचित हैं, ऐसा भगवान सर्वज्ञ देवोंने कहा है। भगवानकी पूजा–भक्ति करनेके भाव या व्रत–अव्रतके भाव होते हैं सो वे सब जड़ द्रव्य से उत्पन्न हुए हैं।

प्रश्न —यह सब सुनकर या जानकर भी पूजा-भक्ति व्रत इत्यादि क्यों करते हैं ?

उत्तर —वे अशुभभावको दूर करने के लिये ऐसे भाव करते हैं। जबतक वीतराग नहीं हो जाते तबतक अशुभभावको दूर करके शुभभाव करते हैं, किन्तु यहाँ तो वस्तु स्वरूप बताया जा रहा है। उस शुभभावको अपना स्वरूप माने या उससे धर्म होना माने तो वह अज्ञान है। जितने शुभ या अशुभके, अथवा दया या हिंसाके विकल्प आते हैं उनमें ज्ञान अस्थिर हो जाता है, इसलिये कहा है कि वे पुद्गल द्रव्यसे उत्पन्न हुए हैं आत्मासे नहीं। यद्यपि वे भाव आत्मामें होते हैं, कहीं कर्ममें-जड़में नहीं होते, किन्तु उन भावों की अवस्था जड़के आधीन होती है। वे भाव आत्मामें से उत्पन्न नहीं होते इसलिये उन्हें जड़का कहा है। शुभभाव विकार भाव हैं। उन विकार भावोंसे सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता, ऐसा सर्वज्ञ वीतराग देवने कहा है। वे शुभाशुभ परिणाम बाह्य निमित्तकी ओर जानेवाले भाव हैं। आत्मा मात्र वीतराग स्वरूप प्रभु है, जिन्हें उसकी खबर नहीं है, उन सबके भाव बाह्य निमित्तकी ओर होते हैं। इन अध्यवसान आदिक समस्त भावोंको सर्वज्ञ वीतराग अरहंत देवोंने पुद्गल द्रव्यका परिणाम कहा है। जिनके ज्ञानमें समस्त जगतकी कोई भी वस्तु अज्ञातरूप नहीं है ऐसे सर्व वस्तुओंसे प्रत्यक्षरूप जाननेवाले भगवान वीतराग अरहंत देवोंके द्वारा शुभाशुभ अध्यवसान आदि भाव पुद्गल द्रव्यके परिणाममय भाव कहे हैं।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है। जब उसमें यह शुभभाव होते हैं, कि-देवभक्ति करूं, गुरुभक्ति करूं, अथवा विषय कषाय आदिके अशुभ भाव होते हैं तब ज्ञान अस्थिर होता है, उसमें संक्रमण होता है। जब ज्ञान एक कार्यसे दूसरे पर जाता है तब वह बदलता है—हिलता है, यही विकार है। जितनी करने धरनेकी वृत्ति होती है सो यह सब विकार है और विकार आत्माका स्वभाव नहीं है। ऐसा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देवने जैसा देखा है, वैसा कहा है।

विकारभाव चैतन्य स्वभावमय जीवद्रव्य होनेमें समर्थ नहीं है, कि—जो जीवद्रव्य चैतन्य भावसे शून्य पुद्गल भावसे अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है, इसलिये जो इन अध्यवसानादिको जीव कहते हैं वे वास्तवमें परमार्थ वादी नहीं हैं।

आत्मामें जो शुभाशुभभाव होते हैं वे चैतन्य स्वभाव होनेके लिये समर्थ नहीं हैं। शरीरकी क्रिया मुझसे होती है ऐसा कर्तृत्वका भाव इत्यादि कुछ भी आत्मामें नहीं है। किसी भी प्रकारका विकारभाव आत्मामें नहीं है, ऐसा तीर्थंकर भगवानने कहा है। इसलिए जो अध्यवसान आदिको जीव कहते हैं वे वास्तवमें आत्माको नहीं मानते।

शुभाशुभ परिणामसे जो पुण्य पापका बन्ध होता है उससे धूल मिट्टीके ढेरके अतिरिक्त और क्या मिलता है? उससे आत्मा नहीं मिल सकता। जो परपदार्थसे आत्माको लाभ होना मानते हैं वे इन उपरोक्त आठ मतवालोंकी भाँति ही परको आत्मा माननेवाले हैं। जो यह मानते हैं कि—यदि शरीर अच्छा हो तो धर्म करें अथवा शरीरके द्वारा धर्म होता है तो वे सब जड़को ही आत्मा माननेवाले हैं और वे आत्माकी हत्या करनेवाले हैं। इसलिये जो ऐसा मानते हैं वे वास्तवमें सत्यार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि उनका पक्ष आगम युक्ति और स्वानुभवसे बाधित है।

जो भी विकारभाव होता है वह जड़से उत्पन्न होनेवाला है, ऐसा शास्त्र भी कहते हैं, युक्ति न्यायसे भी वह जड़ सिद्ध है और अनुभवसे भी वह जड़ है, इसलिये इन तीनोंसे उनका पक्ष बाधित है।

जो यह कहते हैं कि प्रवृत्तिके जितने भाव होते हैं वे हमें लाभ दायक हैं वे झूठे हैं। सुख दुःखकी वृत्ति हो, हर्ष शोकका भाव हो सो वह जीव नहीं है, यह सर्वज्ञ भगवानका कथन है।

आत्मा शरीरादिसे ही नहीं किन्तु पुण्य पापकी वृत्तिसे भी परे है, क्योंकि वे पुण्य पापके भाव जड़ हैं, ऐसा आगममें कथन है।

किसीका यह मत है कि जैसे कोयले की कालिमा कोयलेसे अलग

नहीं है, इसीप्रकार अध्यवसानसे आत्मा अलग नहीं है, उसे आचार्यदेव स्वानुभव गर्भित युक्तिसे कहते हैं कि स्वयमेव उत्पन्न हुए राग द्वेषसे मलिन अध्यवसान जीव नहीं है।

यहाँ स्वयमेव पदसे यह कहा है कि तुझे भान नहीं है, इसलिये ऐसा लगता है कि सहज रागद्वेष होता है। चैतन्यमूर्ति आनन्दानन्द है इसकी खबर नहीं है इसलिये तुझे ऐसा लगता है कि मानों यह रागद्वेषके भाव सहज आत्माके घरके हों। इसे विशेष स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं।

अज्ञानी ने अभी यहाँ कोयलेका उदाहरण दिया था किन्तु यहाँ आचार्यदेव सोनेका उदाहरण देते हैं। जैसे सोना पीला है, किन्तु यदि उस सोनेको अग्निमें तपाया जाये तो उस समय जो कालिमा निकलती है, वह सोनेकी नहीं, किन्तु धुएँ की है। इसीप्रकार अध्यवसान चित्स्वरूप जीवके नहीं है। आत्मा चिदानन्द स्वरूप है। उसमें जो वृत्तियाँ होती हैं वह कालिमा हैं, वह आत्माके घरकी नहीं किन्तु पुद्गलके घरकी वस्तु है। जैसे धुएँसे सोना आच्छादित हो जाता है, अर्थात् दिखाई नहीं देता इसीप्रकार मलिन पुण्य पापके भाव मेरे हैं ऐसे अभिप्रायके धुएँमें आत्मा आच्छादित हो जाता है।

पुण्य पापके मलिन भाव मेरे हैं, ऐसे अभिप्रायसे भी चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है। वह चित्स्वरूप आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा भेदज्ञानियोंके द्वारा अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त जीवोंके द्वारा अध्यवसान से अलग अनुभवमें आता है। धर्मी होनेके बाद अध्यवसानसे भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है।

कितने ही अन्ध और विपरीत दृष्टिवाले कहते हैं कि धर्म प्रगट होता है सो हम उसे कैसे जान सकते हैं, उसे तो केवली ही जानते हैं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ सो वहाँ स्वयं यह आत्मा अलग ही प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। भेदज्ञानी अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्था

भी जीव पुण्य पापसे भिन्न आत्माका अनुभव करते हैं। उसका वेदन करते हैं। जब केवलज्ञान होता है तब भिन्न अनुभव करते हैं सो बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो सम्यक्दर्शनके होनेपर अपनेको पृथक् अनुभव करनेकी बात है। इसप्रकार आगम युक्ति और अनुभवको लेकर तीन प्रकारसे कहा है।

आत्मा देह से भिन्न है। उस आत्माका जैसा स्वभाव है उसे जाने उसकी श्रद्धा करे और उसमें एकाग्र हो तो स्वतन्त्रता रूप मोक्ष मिले बिना न रहे।

पर वस्तु में सुख दुःख नहीं है किन्तु सुख दुःख मात्र भासित होता है। यह मात्र कल्पना कर रखी है कि अनुकूलतामें सुख और प्रतिकूलतामें दुःख है। न तो राजपाटका मिलना सुख है और न निर्धनता दुःख है, किन्तु अपनी कल्पनाके द्वारा पर पदार्थमें सुख दुःख मानकर चौरासीका भ्रमण बना रखा है। पर पदार्थमें सुख नहीं है इसलिये मात्र 'भासित होना' कहा है, अर्थात् सुख है नहीं किन्तु सुख भासित होता है।

आत्मा सदा ध्रुव अविचल ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण है, उसे भूलकर ऐसा विपरीत अध्यवसान करता है कि—स्त्री, पुत्र, रुपया, पैसा इत्यादि सुख रूप हैं, अच्छे हैं, लाभरूप हैं, और इस प्रकार विपरीत अध्यवसानको आत्मा मानकर वहाँ अटक रहा है। उस अध्यवसानको अलग नहीं करना चाहता किन्तु उसे रखना चाहता है, जिस वस्तुको अपने घरका मान रखा है उसे तो रखना ही चाहेगा, निकालना क्यों चाहेगा? किन्तु उस अध्यवसानसे भिन्न आत्मा धर्मात्माके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् धर्मात्मा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनंत जिसके भविष्य का अवयव है ऐसी जो एक संसरण रूप क्रिया है उस रूप क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभाव रूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका

प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जो यह मानता है कि—कर्मोंसे संसारमें परिभ्रमण किया है और कर्मोंसे ही संसारमें परिभ्रमण करेंगे वह अपने कर्म रहित स्वभावको नहीं जानता, और कर्मको ही आत्मा मानता है। इस प्रकार वह ऐसी मान्यतारूप संसरण—भ्रमणरूप क्रिया को अर्थात् राग द्वेषकी क्रियाको अपनी क्रिया मानता है। मैं रागद्वेषसे अलग हूँ, वह मेरी क्रिया नहीं है, मेरी क्रिया मुझमें है ऐसी प्रतीति नहीं है, और शास्त्र में जो कर्म की बात आयी है उसे पकड़े बैठा है कि कर्म ने मुझसे भूल करायी है, किन्तु कर्म भूल नहीं कराता, भूल करते समय कर्म मात्र निमित्त रूप से उपस्थित है। अपनी भूल से स्वयं परिभ्रमण करता है। कहीं कर्म परिभ्रमण नहीं कराते और कर्म मोक्ष भी नहीं देते, इसलिये कर्म आत्मा से पृथक् वस्तु है।

प्रश्न —पुण्य के कारण यह सब अनुकूलता तो मिलती ही है, या नहीं?

उत्तर —पुण्य कहां उसके घर की वस्तु है? वह तो क्षणिक है—विनाशक है, धूल है। कभी क्षणभर में बदलकर राजा से रंक हो जाता है तो कभी धनवान से निर्धन हो जाता है। कभी क्षणिक पुण्य के भाव करता है तो अच्छे संयोग मिल जाते हैं, और पाप के भाव करता है तो नरक में जाता है, क्योंकि वे विकारी भाव क्षणक्षण में बदलते हैं, इसलिये पुण्य में से पाप करके कीड़े मकोड़े का भव धारण करके नरक-निगोद में चला जायगा। पुण्य की मिठास धूल की मिठास के समान है।

शंका —कर्म तो अनादिकालसे चले आरहे हैं, इसलिये वे कैसे छूट सकते हैं? जैसे चनेमें से पुनः उत्पन्न चना उत्पन्न होता है, उसीप्रकार अनादिकालसे कर्मसे कर्म बँधता चला आ रहा है, उसकी परंपरा नहीं टूटती, इसलिये कर्म कैसे छूट सकते हैं?

समाधान —अज्ञान द्वारा बांधे गये कर्म ज्ञान द्वारा टूट सकते हैं।

कर्म कहीं अनादिकालके नहीं होते, किन्तु अनादिका अर्थ यहाँ ऐसा है कि कर्म प्रवाह—परपरासे अनादिके हैं, जैसे एक रुईकी पौनीसे दूसरी जुड जाती है और इसप्रकार उनकी परपरा चलती रहती है, (यद्यपि पौनी अलग अलग दूसरी होती है) इसीप्रकार कर्म नये नये—दूसरे दूसरे बँधते रहते हैं ? पुराने दूर होते हैं और नये बँध जाते हैं, इसलिये वे कर्म अनादिके नहीं हैं, किन्तु वे प्रवाहरूपसे अनादि हैं, यहीं एकके एक ही कर्म अनादिकालके नहीं होते। राजासे लेकर रक तक और हाथीसे लेकर चींटी तक किसीके पास भी अनत कालीन कर्म नहीं होते, किन्तु अधिकसे अधिक असंख्य वर्षोंके कर्म वर्तमानमें होते हैं। अभव्यके पास भी सत्तर कोडाकोडी सागरसे अधिक स्थितिके कर्म नहीं होते। लाखों गायोंको काटनेवाले कसाइके पास भी असंख्य अरब स्थितिवाले कर्म होते हैं, चाहे जैसे पानीके पास भी असंख्य अरब वर्षकी स्थिति वाले कर्म होते हैं, किसीके पास भी अनन्त अरब वर्षकी स्थितिवाले कर्म नहीं होते, कोई भी आत्मा कभी भी अनन्त अरब वर्षके कर्म न तो बाध सका है न बाधता है, न बाध सकेगा।

आत्माकी प्रतीतिको और आत्माकी निर्मल मोक्ष पर्यायको प्रगट करे तो उसकी अनन्त कालकी स्थिति होती है, क्योंकि मोक्षकी स्थिति अनन्त कालकी होती है, आत्माकी मोक्षरूप निर्मल अवस्थामें ऐसा होता है, किन्तु तीनलोक और तीनकालमें भी अनन्तकालके कर्म बन्ध नहीं होते। कर्मोंके नाश करनेका आत्माका स्वभाव है। कर्मोंसे भिन्न आत्माका स्वभाव सम्यग्दृष्टि जीवोंको प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है।

कुछ अज्ञानीजन यह कहते हैं कि यदि कर्म मार्ग दे दें तो अपनी मुक्ति हो जाये, किन्तु ऐसा माननेवाले सर्वथा मूढ मिथ्यादृष्टि हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म हैरान करते हैं, वे जैसा करें वैसा होता है, अपने हाथकी बात ही क्या ? किन्तु विचार तो करो कि कहीं कर्म हैरान कर सकते हैं ? वे बेचारे तो जड़-धूल हैं। उन्हें तो यह भी खबर नहीं है कि हम कौन हैं, और हम कर्मरूपमें परिणमित हुए हैं या क्या हैं ? किन्तु कर्मका बहाना निकालनेवाले

अज्ञानीको कर्मसे मुक्त नहीं होना है, इसलिये कहता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं, और यदि कर्म मार्ग दें तो मोक्ष प्राप्त हो।

जैसे व्यवहारमें 'घीका घड़ा' कहा जाता है किन्तु वास्तवमें घड़ा घीका नहीं मिट्टीका होता है, मात्र घीके निमित्तसे मिट्टीके घड़े को घीका घड़ा कह दिया करते हैं, इसीप्रकार यह कह दिया जाता है कि आत्माके साथ कर्म लगे हुए हैं ऐसा कहा जाता है किन्तु कर्म आत्मा नहीं है और आत्मा कर्म नहीं है, कर्म कर्ममें और आत्मा आत्मामें। किन्तु शास्त्रोंमें कर्म निमित्तक कथन हों, तो उसका वैसा अर्थ समझे लेकिन यहाँ तो निमित्तकी अपेक्षा कथन है उसे न समझे और कर्मको अपना माने एवं उससे प्रथक्त्वकी प्रतीति न करे तो उसे यथार्थ समझमें नहीं आ सकता।

कोई कहता है कि—इकट्ठे हुए कर्मोंकी क्या खबर पड़ सकती है? किन्तु हे भाई! कर्म तूने किये हैं या दूसरे ने? विपरीत पुरुषार्थसे जो कर्म किये हैं वे सम्यक् पुरुषार्थसे एक क्षणमात्रमें छूट सकते हैं, और अल्पकालमें मुक्ति हो सकती है, यदि स्वयं सम्यक् पुरुषार्थ करे तो यह सब कुछ हो सकता है, उस-में कर्म आड़े नहीं आ सकते। किसी कर्ममें ऐसी शक्ति नहीं है कि पुरुषार्थ करने वालेको पुरुषार्थ करनेसे रोक सके।

अपनी स्वतंत्रता को न पहिचाननेवाले और अपने वीर्यको परा-धीन माननेवाले मरण समय असाध्य हो जाते हैं, वह बाल मरण है। सच्चा मरण तो ज्ञानियोंका कहलाता है, कि जो आत्मानन्दमें झूलते हुए देहत्याग करते हैं। आत्मा परसे निराला चैतन्यघन है, उसमें झूलते हुए ज्ञानीका मरण होता है। मरण आनेसे पूर्व ज्ञानीको प्रसन्नता होती है, अंतरंगमें आत्मामें से प्रसन्नता ही प्रसन्नता प्रगट होती है, तब वह ज्ञानी विचार करता है कि इतनी सारी प्रसन्नता की विशेषता कैसे स्फुरित हो आती है? और इसलिये वह मरणको निकट आया जान लेता है।

आत्माके परिचयके साथ आत्माका उपयोग घातको प्राप्त न हो इस

प्रकार स्वरूप रमणतामें ज्ञानी मरण करता है। ज्ञानी कहता है कि जगतमें ऐसा कोइ कर्म नहीं है अथवा कर्ममें ऐसा कोइ रस नहीं है कि जो मेरे मरण के समय आड़े आये अथवा मेरे उपयोगका घात कर सके। ज्ञानीका मरण ऐसी स्वरूप लीनतामें होता है कि चैतन्यके उपयोगका घात नहीं होता।

अज्ञानी सदा मरणके भयसे घबराता रहता है,–अज्ञानीका मरण बाल मरण, अज्ञान मरण, जड़ मरण है। और ज्ञानी आनंदोल्लासके झूलेमें झूलता हुआ देह त्याग करता है।

श्रीमद् राजचन्द्रने अन्तिम समय कहा था कि—मुझे कोइ बुलाना मत, मैं अपने स्वरूपमें लीन होता हूँ।

ऐसे वचन कौन कह सकता है? यदि सच पूछा जाये तो इसका नाम मरण है। पूर्वबद्ध धारणासे यदि ऐसा कहा जाये तो उसका कोइ मूल्य नहीं, किन्तु यदि श्रीमद्की भाँति सहज वाणी निकले तो उसका सच्चा मूल्य है।

भले ही चौथे या पाँचवें गुणस्थानमें हो किन्तु चैतन्यकी प्रतीति सहित स्थिरता पूर्वक समाधिमरण हो तो वह मरण एक विशिष्ट प्रकारका–प्रशस्त मरण है।

जिसका समाधिमरण होता है, और जिसका अखण्ड उपयोग पूर्वक मरण हुआ है, तथा जिसने सन्धिको नहीं तोड़ा है वह जिस दूसरे भवमें जाता जाता है, वहाँ भी उसकी जागृतिकी सन्धि नहीं टूटती। क्योंकि वह मरण समय अखण्ड सन्धि लेकर गया है इसलिये सन्धि नहीं टूटती किन्तु अखण्ड रहता है।

जिसे धर्मके प्रारम्भकी खबर नहीं है उसे धर्मके अन्त और मध्यकी खबर कहाँसे हो सकती है? जिसे धर्मके प्रारम्भका ज्ञान है उसे उसके अन्त का अर्थात् केवलज्ञानका भी ज्ञान है, और उसे यह भी ज्ञान होता है कि बीचमें समाधिमरण किसप्रकार होता है। सम्यक्त्वी जीव चैतन्य स्वभावको

परसे भिन्न अनुभव करता है, उसमें उसे शंका या संदेह नहीं होता, किसीसे कुछ पूछने नहीं जाना पड़ता। यह सब चतुर्थ गुणस्थानमें होता है, जहाँ धर्मका प्रारम्भ है, और उसकी पूर्णतारूप जो केवलज्ञान है उसकी भी सम्यक्त्वीको खबर होती है। पूर्णता किस प्रकारकी होती है इसे ज्ञानी भलीभाँति जानता है, और पूर्णताको सिद्ध करनेका बीचका साधक मार्ग भी अच्छी तरह जानता है। साधक दशामें बीचमें कौन कौनसे निमित्त आते हैं, और किस प्रकारके शुभराग होते हैं, इसे भी भलीभाँति जानता है। समाधिमरण कैसे हो यह भी ज्ञानी भलीभाँति जानता है।

जब नारियलके भीतर गोला उसकी छालसे चिपका होता है तब छालके तोड़ने पर वह गोला भी टूट जाता है, किन्तु जब नारियलमें पानी नहीं रहता और वह सूख जाता है तब भीतरका गोला छालसे अलग हो जाता है। ऐसी नारियलकी छालके तोड़ने पर भीतरका गोला ज्यों का त्यों बना रहता है, और वह टूटता नहीं है। इसीप्रकार शरीररूपी नारियलमें ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा गोलेकी भाँति विद्यमान है, किन्तु शरीरके साथ एकत्वबुद्धि और रागद्वेषके कारण मरण समय शरीर पर कष्ट होनेसे अज्ञानी जीव आकुलित हो उठता है, और ज्ञानीने विपरीत मान्यता तथा अज्ञान पूर्वक होनेवाले रागद्वेषको सुखा डाला है, इसलिये ज्ञानी आत्माको सूखे हुए नारियलके गोलेकी भाँति शरीरसे भिन्न समझता है, इसलिये मरण समय उसका आत्मा आकुलित नहीं होता किन्तु उसका चैतन्य-गोला भलीभाँति पृथक होकर शरीरको छोड़ता है। ज्ञानीका मरण असाध्य नहीं होता, आनन्द पूर्वक होता है।

कर्मसे भिन्न चैतन्य स्वभावरूप जीव धर्मात्माके द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है, सम्यक्त्वीको अपने चैतन्य स्वभावकी स्वयं ही खबर होती है, उसे उसमें कोई शंका नहीं होती, और न किसीसे पूछने ही जाना पड़ता है।

तीव्र-मन्द अनुभवसे भेदरूप होनेसे दुरन्त राग रससे परिपूर्ण अध्यव

सानोंकी सनति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस सन्तनिसे अन्य-पृथक चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अज्ञानी कहता है कि तीव्र-मन्द रागसे पृथक कोई जीव नहीं है। देव, गुरु, शास्त्र पर जो राग होता है सो मन्दराग है, और मकान, स्त्री, पुत्र इत्यादि पर जो राग होता है सो तीव्रराग है। ऐसा तीव्र मन्द राग ही जीव है, इत्यादि। किन्तु दया भक्ति व्रतादिका जो राग है सो मन्द राग है और हिंसा झूठ चोरी विषयादिका जो राग है सो पाप राग है। अज्ञानी कहता है कि ऐसा तीव्र-मन्दराग दुरन्त है, अर्थात् उससे पार उतरने की हमें जमती नहीं है।

सनति अर्थात् एकके बाद एक प्रवाहरूप रागके रससे मेरा चैतन्य रस अलग है। उस राग-द्वेषके रसकी संततिको तोड़कर सम्यक्त्वीको आत्माके निजरसका अनुभव होता है।

जैसे ससारमें कमाई करे तो रुपया पैसा नकद दिखाई देता है, इसीप्रकार धर्म नकद है। रुपया पैसा तो पर पदार्थ है किन्तु धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिये वह सुखरूप है। यदि पुरुषार्थ करे तो वह नगद अनुभवमें आता है। वीतराग होनेसे पूर्व भी रागके रसकी तीव्रता और मन्दता से आत्माका रस सर्वथा भिन्न है, इसप्रकार सम्यग्ज्ञानियोंको प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है इसलिये धर्म नकदी है।

नई पुरानी अवस्थादिके भेदसे प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियोंके स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

शरीरकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थाको अज्ञानी अपना मानता है, जब कि वह जड़की है। आत्मा उसका तीनलोक और त्रिकालमें भी कर्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव अनादिकालसे परका कर्तृत्व मान रहे हैं। जगत

को यह बात समझमें नहीं आयी, और जब समझमें ही नहीं आयी तब श्रद्धा करना तो कहाँसे हो सकता है? इतना ही क्यों, जगतके जीवोंके कानमें आजतक यह बात नहीं पड़ी।

शरीरके हलन चलन और बोलचाल की नई पुरानी अनेक प्रकारकी अवस्था होती है वह सब तुझसे भिन्न है उसका तू कर्ता नहीं है,—ऐसा संदेश देने यहां है। लोग यह समझते हैं कि हमारे द्वारा उंगली ऊंची करने पर ऊंची होती है, किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि तू एक तिनकेके दो टुकड़े भी नहीं कर सकता।

शरीरका मोटा होना दुबला होना, खुराक मिलना या न मिलना इत्यादि सब पुद्गलकी अवस्था है, वह जीवका स्वरूप नहीं है अर्थात् उसकी सत्ता जीवकी सत्तासे भिन्न है। वह पुद्गलकी स्वतंत्र सत्ता है। आत्मा शरीरसे भिन्न है। शरीरकी अवस्था शरीरमें और आत्माकी आत्मामें होती है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसलिये वह ज्ञानस्वरूप आत्मा शरीरकी अवस्थाको कैसे कर सकता है? हिलना डुलना इत्यादि सब शरीरकी अवस्था है। शरीरादिकी अवस्था सब भेदरूप है, वह एकरूप नहीं रह सकती, तब ऐसे भेदको तू कैसे कर सकता है?

प्रश्न —यह कहा जाता है कि कायाके दोष आत्मा करता है, क्या यह ठीक नहीं है?

उत्तर —नहीं, कायाके दोष आत्मा नहीं कर सकता। अपने भावों में जो दोष होते हैं उन्हें उपचारसे शरीरके दोष कह देते हैं।

प्रश्न —तब योगके जो पन्द्रह भेद हैं, उनका क्या अर्थ होगा?

उत्तर —शरीर मन वचनके जो भग हैं सो सब निमित्तके भग हैं, वह रागके निमित्तका कर्ता स्वयं नहीं है। रागको दूर करनेके लिये निमित्तसे बात कही है। जिस निमित्तकी ओर रागका झुकाव होता है, वह निमित्तके भग कहलाते हैं। उस रागमें मनका निमित्त हो तो [illegible], वचनका हो

तो वचन योग, और कायका हो तो काययोग कहलाता है। योगके जो पन्द्रह भग कहे हैं उनमें रागसे अस्थिरता होती है तब योगका जो निमित्त होता है वह निमित्तके भग कहलाते हैं, वे आत्माके भग नहीं हैं। आत्मा तो अरूपी ज्ञानघन है, उसमें पन्द्रह भेद नहीं हो सकते। आत्मामें जो विकारी भाव होते हैं उसमें जो निमित्तकी ओरमें रहकर राग करता है, उस निमित्त पर आरोप करके सत्य असत्य योग इत्यादि उस ओरके भग कर दिये गये हैं, तथापि उन योगोंका कर्ता आत्मा नहीं है।

राग द्वेषादि जो भाव होते हैं, उनमें बीचमें जो निमित्त आता है, उसे रागका निमित्त कहा जाता है, और निर्मल अवस्था प्रगट करनेमें बीच में जो देव गुरु शास्त्रका निमित्त आता है, उसे निर्मलताका निमित्त कहते हैं।

आत्मा चिदानन्द ज्ञानमूर्ति है। भीतर उस निमित्तके भगकी ओरका होनेवाला भाव न करे और मैं चिदानन्द शुद्ध आत्मा हूँ ऐसा भाव करे, यह समझनेके लिये योगके निमित्तकी बात कही है, किन्तु निमित्तक कर्तृत्वकी बात नहीं कही। मन वचन और काय जड़ हैं, इसलिये योगके दोषोंको दूर करने की बात कहकर उस ओरका राग दूर करनेको कहा है, और आत्मप्रतीति करके वीतराग भाव प्रगट करनेको कहा है। वैसे तो अज्ञानी भी एक परमाणु मात्र की पर्याय बदलनेको समर्थ नहीं है। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सके तो दो द्रव्य एक हो जायें।

ज्ञानी-सम्यक्त्वी जीव शरीरादिक पर पदार्थोंसे भिन्न चैतन्य-स्वभाव रूप आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

समस्त जगतको पुण्य पापरूपसे व्याप्त करता हुआ कर्मका विपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभभावसे भिन्न चैतन्य स्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियोंके द्वारा स्वय उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वय उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

चार गतियाँ पुण्य पापका फल हैं। जगतमें वे पुण्य और पाप

व्याप्त हो रहे हैं, वे भी जीव नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शनमें प्रतीति होने पर शुभाशुभ भावसे भिन्न आत्माका अनुभव होता है। ज्ञानीके शुभाशुभ भाव होते तो हैं, तथापि उन शुभाशुभ भावोंसे भिन्न होकर आत्माका अनुभव करता है, क्यों कि अभी वह वीतराग नहीं हुआ है। वीतरागको राग अलग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह तो अलग हो ही चुका है। चतुर्थ-पचम गुणस्थान वर्ती गृहस्थको भी ऐसा अनुभव होता है उनकी यह बात है, नाना दशापरसे भिन्न चैतन्य स्वभाव ज्योंका त्यों अनुभव करता है।

जिस भावसे भगवानकी भक्ति की जाती है वह भी राग है इसलिये यह बात नहीं है कि शुभ परिणाम छोड़ दिये जायें और अशुभ किये जायें, किन्तु उन शुभ भावोंसे न तो धर्म होता है न मोक्षमार्ग ही खुलता है। तीन लोक और तीन कालमें भी शुभाशुभ करते करते क्रमशः धर्म प्रगट होनेवाला नहीं है, किन्तु निराले स्वभावकी प्रतीति करने पर ही निराला स्वभाव प्रगट होगा।

शंका —जैसे बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, रेलगाड़ी और हवाई जहाज इत्यादि क्रमशः तीव्र गतिके लिये आवश्यक होते हैं, और उनके द्वारा जल्दी से जल्दी यथास्थान पहुँचा जाता है, उसी प्रकार शुभ करते करते शुद्धता तक क्यों न पहुँचा जायेगा ?

समाधान —विकार करनेसे अविकार कहाँसे होगा ? अविकार स्वरूपकी श्रद्धा करने पर ही अविकार भाव प्रगट होता है। ज्ञानिसे ही ज्ञानि आती है, कुज्ञानिसे नहीं। बम्बई जानेका मार्ग मालूम न हो फिर चाहे गाड़ी में बैठे चाहे हवाई जहाजमें किन्तु बम्बई कैसे पहुँचेगा ? इसी प्रकार आत्म स्वभाव कैसे प्रगट होता है इसे पहले समझे, श्रद्धा करे और फिर उसमें स्थिरताके प्रयत्नमें धीमें चले या जल्दी चले, किन्तु मोक्षमार्गका भान है, इसलिये अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेगा। पुण्य पापके भाव मेरे आत्मामें नहीं हैं, मैं ज्ञानमूर्ति आत्मा उन भावोंसे सर्वथा भिन्न निराला हूँ, ऐसी श्रद्धा करने

से धर्म मात्र प्रगट होता है। किन्तु पुण्यभाव स्वयं धर्म है, वही धर्मका मार्ग है और उसी मार्गसे धीरे धीरे मोक्ष पर्याय प्रगट होगी एसी मान्यता सर्वथा मिथ्यात्व और पाखंड है। शुभभाव अशुभभावोंको दूर करनेके लिये हैं, किन्तु शुभभावको धर्म मान बैठना मिथ्यात्व है।

मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है ऐसी प्रतीति होने पर आंशिक शुद्ध पर्याय प्रगट होती है, किन्तु अभी अशुभ भाव विद्यमान हैं, पूर्णतया शुद्धमें स्थिर नहीं हो सकता, इसलिये अशुभ भावको दूर करनेके लिये शुभमें प्रवृत्ति करता है, किन्तु पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट होने पर शुभभाव भी छूट जाते हैं। सम्यक्त्वीके उसकी भूमिकानुसार शुभाशुभ भाव होते हैं किन्तु उसमें उसे विवेक होता है। अशुभभावों को छोड़नेके लिये पुरुषार्थ पूर्वक शुभ भावोंमें प्रवृत्त होता किन्तु उन्हें आदरणीय नहीं मानता, किन्तु वह जानता है कि यह शुभभाव आस्रव हैं, राग है, बन्धन हैं, और इसप्रकार वह उनका कर्ता नहीं होता। ज्ञानीका झुकाव पूर्णतया स्वरूपमें स्थिर हो जानेकी ओर ही रहता है, किन्तु वह पुरुषार्थकी मन्दता को लेकर शुभभावमें प्रवृत्त होता है।

साता असाता रूपसे व्याप्त समस्त तीव्रता मन्दतारूप गुणोंके द्वारा भेद रूप होता हुआ कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखसे भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अनेक प्रकारकी अनुकूलताओंसे युक्त साताके वेदन और अनेक प्रकारकी प्रतिकूलताओंसे युक्त असाताके वेदनसे भिन्न आत्माका स्वरूप हमें नहीं जैंचता। जो साताका भोग करता है वह असाता भी भोगता है। साता और असाता दोनोंसे भिन्न आत्मा कैसे हो सकता है? इसप्रकार अज्ञानी जीव कहता है, और वह जीव को साता असातारूप ही मानता है।

जिसे पुण्य पापके परिणामसे भिन्न आत्माकी खबर नहींहै, और जो यह नहीं जानता कि आत्मा पुण्य पाप के सूक्ष्म रससे भी सर्वथा भिन्न

है, पुण्यके सूक्ष्म रससे भी सर्वथा भिन्न है, और आत्माका चैतन्य रस जड़ रससे सर्वथा भिन्न है, यह आत्माकी सर्वथा भिन्नताकी प्रतीति न करके साता के रसको आत्माका रस मान लेता है। कभी कभी मनमें साताके रसका ऐसा वेदन होता है कि अज्ञानी उसे आत्माकी शांति मान लेता है। किन्तु आत्मा में साताके रसका एक सूक्ष्म अंश भी अनुभवमें आये तो वह आत्माका रस नहीं है, वह परका रस है, जड़का रस है। परका एक अंश भी आत्मामें नहीं है, आत्मा चैतन्य रससे परिपूर्ण है। जिसे यह खबर नहीं है, और जो जड़के रसको आत्माका रस मान रहा है वह मोक्ष मार्गमें नहीं, किन्तु बंधन मार्गमें प्रवृत्त है।

कई लोग कहा करते हैं कि–हमें ध्यानमें शांतिका वेदन होता है, प्रकाश दिखाई देता है, और कई जोगी बावा कहा करते हैं कि हमें ध्यान में आत्माका आनन्द आता है। किन्तु वे सब जड़के प्रकाशको आत्माका प्रकाश और जड़के आनन्दको आत्माका मान रहे हैं। क्योंकि आत्माका *अरूपी ज्ञानप्रकाश वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त रूपी प्रकाशसे भिन्न प्रकार* का है। अज्ञानी उसकी महिमाको नहीं जानता और जड़की महिमाके गीत गाता है। अरे! प्रकाशके देख लेने से क्या कल्याण हो गया? उससे आत्माको क्या लाभ हुआ? जिन्हें आत्मस्वभावकी यथार्थ प्रतीति नहीं है, और जिन्हें परकी महिमा जमी हुई है, वे सब बंधके मार्ग पर हैं, मोक्ष मार्ग पर नहीं।

भीतर 'मणसुहया' नामक प्रकृतिका उदय होने पर मनमें ऐसी शांति मालूम होती है और ऐसा आनन्द लगता है कि अज्ञानी उसे आत्माका आनन्द मान लेता है। चिदानन्द आत्मा परिपूर्ण और स्वतन्त्र है, ऐसे परसे भिन्न आत्माकी जिसे खबर नहीं है, वह परसे आनन्द मानता है जिसे यही खबर नहीं है कि यह किस प्रकारका आनन्द है, और जो यह नहीं समझता कि यह आनन्द अलग है और मेरे चैतन्यका आनन्द अलग है, वह साताके रस

में फँसा हुआ है। वह भलेही ध्यान करता रहता हो तथापि वह मोक्षमार्ग पर नहीं है, किन्तु बंधके मार्गपर है। आत्माके यथार्थ परिचयके बिना यथार्थ ध्यान नहीं हो सकता। यदि पहले यथार्थ ज्ञान करे तो फिर यथार्थ ध्यान है। तत्वकी प्रतीतिके बिना कहाँ स्थिर होगा। परमें स्थिर होगा।

भीतर ऐसे शुक्ल लेश्याके परिणाम होते हैं कि जिनसे मनमें रति का वेदन होता है, किन्तु वह रतिका भाग है। उसका वेदन होने पर उसे आत्माका रस माने किन्तु उस रससे भिन्न आत्मरस को अलग करना न जाने तो वह भी असावधान–अज्ञानी है। संसारकी अनुकूलताकी साताके वेदनमें आत्मा मानने वाले और मणसुहया' नामक प्रकृतिकी सातामें आत्मा मानने वाले–दोनों एक ही प्रकारके हैं।

आज कल बहुतसे लोग यह कहा करते हैं कि हम नित्य ध्यान करते हैं किन्तु आत्माको जाने बिना ध्यान कहाँ से होगा? कषाय कुछ मंद हो, साता प्रकृतिका उदय हो, अर्थात् मनमें कुछ शान्तिसी प्रतीत हो तो वह मानने लगता है कि मुझे आत्माका आनन्द आ रहा है, किन्तु यदि उससे आत्माकी बात पूछेतो एकभी सच न निकले। आत्मा अनन्तगुणका पिंड है, आत्मा वस्तु उसके गुण और उसकी पर्यायसे परिपूर्ण है। एक रजकणका भी कर्ता नहीं है, रजकण अपने गुण और पर्याय से परिपूर्ण है, आत्माका कार्य आत्मामें, और रजकणका कार्य रजकणमें होता है, दोनोंके कार्य भिन्न हैं, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, किन्तु ध्यान कर रहा है, तो समझना चाहिये कि वह वहाँ अटक रहा है, और मार्ग पर नहीं आया।

जैसे समझदार मनुष्य शक्कर और मिश्रीके लड्डुओंकी अलग अलग परख कर लेता है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी साता और आत्माके रसका अलग अलग भेद कर लेता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य–पापके रससे भिन्न आत्मा भेद ज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् सम्यग्ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

वास्तविक अनेकांत तत्त्वको माने बिना यथार्थ अनुभव नहीं हो सकता उसे आत्माका वेदन नहीं किन्तु विकल्पका वेदन होता है। आत्मा अपनी अपेक्षासे भी है और पर अपेक्षासे भी है, ऐसी दृष्टि एकान्तदृष्टि है। उसने दो द्रव्योंको एक माना इसलिये यही सच्ची एकान्तदृष्टि है। आत्माकी अपनी अपेक्षासे अस्ति है, और परकी अपेक्षासे नास्ति है, ऐसी दृष्टि ही सच्ची अनेकान्त दृष्टि है। इस अनेकान्त दृष्टिको माने बिना सच्चा अनुभव नहीं हो सकता।

श्रीखंड की भाँति उभयात्मक रूपसे मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

यहाँ अज्ञानी कहता है कि हम आत्मा और कर्म दोनोंको मानते हैं किन्तु दोनों मिलकर काम करते हैं ऐसा मानते हैं।

प्रश्न —जब जीव सिद्ध हो जाता है तब दो द्रव्य अलग काम करते हैं या नहीं?

उत्तर —अरे! त्रिकालमें अलग काम करते हैं।

> एक परिनामके न करता दरब दोय।
> दोय परिनाम एक दर्व न धरतु है॥ (नाटक समयसार)

अर्थात् एक अवस्थाको दो पदार्थ एक साथ नहीं करते, और दो अवस्थाओंको एक द्रव्य नहीं करता, यह तीर्थंकरदेवका निश्चित सिद्धान्त है।

कर्मकी अवस्थाको आत्मा करे और कर्म करे अर्थात् एक अवस्थाको दो द्रव्य मिलकर करे यह नहीं हो सकता, इसीप्रकार आत्मा ज्ञान करे और शरीरादिकी अवस्था भी करे, इसप्रकार एक पदार्थ दो अवस्थाओंको धारण नहीं करता। यदि इस सामान्य सिद्धांतको भलीभाँति समझ ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे।

वस्तुकी भिन्नताकी प्रतीतिके बिना अज्ञानी जीव श्रीखंडकी भाँति जीवको जीव और कर्म दोनोंसे मिला हुआ एकरूप मानता है। किन्तु जीव

तो सपूर्णतया कर्मोंसे भिन्न है, और कर्मोंकी अवस्थासे भी त्रिकाल भिन्न है।

सम्यक्ज्ञानी, जीवको कर्मकी अवस्थासे भिन्न चैतन्य स्वभावमय प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसलिये अनुभवसे भी सिद्ध होता है कि आत्मा कर्मसे भिन्न है।

अर्थक्रियामें समर्थ ऐसा कर्मका सयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि लकड़ीके आठ टुकड़ोंके सयोगसे निर्मित पलगसे भिन्न, उस पलग पर सोनेवाले पुरुषकी भाँति कर्म सयोगसे भिन्न, अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेद ज्ञानियोंके द्वारा स्वय उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

कर्मका सयोग कर्मकी क्रिया करनेमें समर्थ है, किन्तु वह आत्माकी क्रिया करनेमें समर्थ नहीं है, इसलिये वह जीवसे भिन्न है, जीव स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव आठ कर्मकी क्रियाको ही जीव मानता है, और कर्मके संयोगसे होनेवाली अवस्थाको अपने आधीन मानता है। किन्तु वह कर्म और उसके निमित्तसे होनेवाली अवस्था—दोनोंसे तू अलग है, वह तेरे आत्माका स्वरूप नहीं है।

ज्ञानावरणीयकर्मने ज्ञान गुणको, दर्शनावरणीयने दर्शन गुणको, मोहनीयने प्रतीति और स्थिरता गुणको, तथा अतराय कर्मने वीर्य गुणको रोक रखा है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु सच बात तो यह है कि जब स्वय राग द्वेषमें फँसकर अपनी ज्ञान अवस्थाको हीन करता है, तब ऐसा आरोप कथन होता है कि ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोक रखा है, इसीप्रकार दर्शन, चारित्र और वीर्य इत्यादिके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। स्वय ही अपने स्वभावमें परिणमित न होकर, उल्टा होकर रागद्वेष और आकुलतारूप परिणमित होता है, अर्थात् अपने गुणकी अवस्थाको स्वय ही हीन करता है। उसमें कर्म तो मात्रनिमित्त अर्थात् उपस्थित मात्र हैं। स्वय हीन अवस्थाको परिणमित होता है, किन्तु कर्म पर आरोप करके कहा जाता है कि इस कर्मने आवरण डाला है। अरे! यह कहते तुझे लज्जा नहीं आती कि तेरी प्रभुताको चुरानेवाला (भुलानेवाला) कोई अन्य कर्म है?

कुछ लोग कहते हैं कि कर्म अवगुण कराते हैं, किंतु यह तो विचार कर कि कर्म अवगुण कराते हैं या तू अवगुण करता है, तब अवगुण होते हैं ? अपने पुरुषार्थको तो प्रगट नहीं करता, तब तेरी इस भूलके लिये कर्म क्या करें ? वे तो बेचारे जड़ हैं। वे जड़कर्म तेरे चैतन्यको कैसे अवगुण करा सकते हैं ? तू जब भूल करता है तब वे मात्र उसमें निमित्तरूप होते हैं निमित्त तो मात्र बारदानके समान है। बारदान बारदानमें और माल मालमें है। बारदानकी क्या कीमत ? बारदान वह माल नहीं है। जैसे पलंग और उसपर सोने वाला जीव दोनों भिन्न हैं, इसीप्रकार आठ कर्मोंसे आत्मा बिलकुल भिन्न है। भेदज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

आत्मामें कर्म अवगुण कराते हैं, और जब कर्म दूर हो जाते हैं, तब आत्मामें गुण प्रगट होते हैं, यह घोर अज्ञानीके घरकी बात है, वीतरागके घरकी नहीं।

यद्यपि यहाँ यह आठ प्रकार कहे गये हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी कोई विपरीत कथन करते हों तो उन्हें भी इसीप्रकार समझना चाहिये इस प्रकार भगवानका उपदेश है।

चैतन्य स्वभावरूप जीव सब पर भावोंसे भिन्न है, जो कि भेदज्ञानियोंको अनुभव गोचर है। इसलिये यदि अज्ञानी पूर्वोक्त आठ प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे जीवको माने तो उस प्रकार जीवका स्वरूप है ही नहीं।

कर्म और आत्माकी एकत्वबुद्धिरूप जो अध्यवसान होता है, अज्ञानी उसीको जीव मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि—जैसे अनेक कल पुर्जे और लट्टू इत्यादि मिलकर घड़ी बनती है, उसी प्रकार शरीर और पुण्य पाप के भाव इत्यादि मिलकर आत्मा होता है, किंतु यह निरा भ्रम है, यह बात उपरोक्त आठ बोलोंके आठ उत्तरोंमें भली भाँति कह दी गई है।

प्रश्न —क्या इस समय संसार दशामें कर्म और आत्मा अलग हैं ? वे तो सिद्ध होने पर अलग होते हैं ?

उत्तर —ज्ञानी जन अपने अनुभवसे स्पष्ट जानते हैं कि—इस समय भी आत्मा और कर्म सर्वथा भिन्न हैं। जो इस समय कर्मसे आत्माको

धर्म-लाभ नहीं होगा।

तिलोंमें रहने वाला तेल वर्तमानमें ही अलग है। जब वह वर्तमान में अलग होता है, तभी तो अलग हो सकता है, इसी प्रकार वर्तमानमें कर्म और आत्मा अलग हैं अतः जब आत्मा सिद्ध होता है, तब अलग हो सकता है। भेदज्ञानियोंको पृथक् आत्माकी प्रतीति केवलज्ञान होनेसे पूर्व, इसी समय हो रही है। शुभाशुभ भाव होने पर भी भेद ज्ञानियोंको इसी समय आत्माकी पृथक् प्रतीति हो रही है।

यदि इसी समय जड़से भिन्न आत्माकी प्रतीति न हो तो वह जड़से अलग नहीं हो सकता, और उसे पृथक् जाने बिना सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं होता, वीतरागता नहीं होती, केवलज्ञान नहीं होता, और मुक्ति नहीं होती।

यहाँ आठ कर्म और पुण्य पापके परिणाम इत्यादि को जड़में ही गिन लिया है, उन सबको मिट्टी मान लिया है। शरीरादिक बाहरकी मिट्टी और कार्माण शरीरसे उत्पन्न होनेवाले मलिन भाव अन्दरकी मिट्टी हैं, भगवान आत्मा इन मिट्टियोंसे अलग है।

अब यहाँ पुद्गलसे भिन्न आत्माकी प्राप्तिके प्रति विरोध करनेवालोंसे, अर्थात् पुद्गलको ही आत्मा माननेवालोंसे, उनके आत्महितकी बात कहकर मधुरता और सम्भावसे उपदेश देते हुए कहते हैं कि–प्रभो ! तुम्हारे द्वारा जड़ चेतनकी खिचड़ीमें आत्मा कैसे मान लिया गया। आचार्यदेव इसी प्रकार प्रेम पूर्वक उपदेश देते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं कि —

विरम किमपरेणाकार्यं कोलाहलेन
स्वयमपि निभृत सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंस पुद्गलाद्भिन्न धाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धि ॥३४॥

अर्थ —हे भव्य ! व्यर्थका कोलाहल करनेसे तुझे क्या लाभ है ? तू इस कोलाहलसे विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल–लीन

होकर देख, ऐसा छह माह तक अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे तेरे हृदय सरोवरमें उस आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं, कि–जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है।

हे भव्य आत्मा! ठहर! तू इस पुण्य पापके भावको अपना मानकर उसमें क्यों अटक रहा है? इस प्रकार तो तू कभी भी पार नहीं पा सकेगा। ऐसा उत्तम अवसर और सत् समागम प्राप्त हुआ, सर्वज्ञकी वाणी कानोंमें पड़ी फिर भी तू व्यर्थका कोलाहल क्यों कर रहा है? भला, यह कैसी बात है कि–तुझे अपना स्वरूप समझमें नहीं आता और पर स्वरूप तू समझ लेता है? यह मानव शरीर मिला और आत्म स्वरूपमें स्थित होने का सुयोग मिला फिर भी तू कोलाहल कर रहा है कि हमारी समझ में नहीं आता यह तो कठिन मालुम होता है। अब यह व्यर्थ का कोलाहल करना छोड़ दे।

हे भव्य जीव! इस वृथा के कोलाहल से क्या लाभ है? इस शरीर मंदिर में काम क्रोधादि विकारों से रहित चैतन्य प्रभु विराजमान है, उसे देख, उसे ढूंढ और उसमें स्थिर होजा। मैं ऐसा करूँ तो धर्म होगा और वैसा कर डालूं तो धर्म होगा तथा पर से धर्म हो सकता है, इत्यादि व्यर्थ का कोलाहल छोड़ दे और अब कुछ स्थिर हो, निवृत्त हो।

तेतीस गाथाऐं पूर्ण करते हुए आचार्यदेव ने कहा था कि यह सुनकर किसे भेद ज्ञान न होगा? कोई दीर्घ संसारी हो तो उसकी यहाँ बात नहीं है। वहाँ तीन के दो अंकों पर (३३) जो कुछ कहा था वह यहाँ चार के दो अंकों (४४ वीं गाथा) में कहते हैं कि हम इतना इतना बातों से लेकर कहते आ रहे हैं, तब फिर यह सुनकर किसे आत्म प्रतीति न होगी?

प्रभो! पंचेन्द्रिय के विषयों को बन्द करके भीतर देख कि कैसी निर्मल चैतन्य धारा बह रही है, उसका शरीर वाणी पुण्य पाप के परिणामों के साथ कोई सम्बंध नहीं है।

पंचेन्द्रियों का लक्ष्य बन्द करके आँखें बन्द कर ले तो भी भीतर अनेक वर्षों की स्मृति को रख सकने लायक एक वस्तु विद्यमान है, जो अनेक वर्षों

पैसा तो जड़ पदार्थ है। तब यह तो विचार कर कि जड़का स्वामी जड़ होता है या चेतन ? जड़का स्वामी जड़ ही होता है, जो जड़ शरीर और रुपया पैसा इत्यादिको अपना मानता है, वह जड़ ही है, उसे आत्माकी प्रतीति नहीं है। हे मूर्ख ! तुझे तारनेवाला रुपया पैसा नहीं है, यदि तेरे लाखों करोड़ों रुपयोंको गलाकर तुझे पिला दें तो भी तेरी दुर्गति नहीं रुक सकती, और यदि अपने माने हुए लाखों करोड़ों रुपये किसीको दान दे दें तो भी धर्म नहीं हो सकता।

धर्म आत्माका स्वभाव है, उस स्वभावको कुछ कोलाहल बंद करके देख। भगवान चैतन्य आत्मा जो कि निजधनसे भरपूर है, और जो धन कभी घट नहीं सकता, उसकी बात तुझसे कर रहे हैं, उसे एक बार अभ्यास करके देख ऐसा करनेमें अपने हृदय सरोवरमें जिसका तेज और प्रताप पुद्गल से भिन्न है उस आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं ?

जो लोग कहते हैं कि यह सूक्ष्म बात हमारी समझमें नहीं आती, उनसे आचार्यदेव कहते हैं कि अपने हृदय सरोवरमें कुछ खोज करके देख तो सही !

ऐसा समझे बिना अनन्तबार कुत्ता बिल्ली और गिजाई इत्यादि की भाँति जन्म मरण किये किन्तु ऐसे जन्म मरणका क्या मूल्य है। जब मरने वाला मरता है तब घरके लोग एकत्रित होकर रोते हैं, और मरनेवाले के गुणगान कर चलते हैं कि वह बड़े पुण्यशाली थे ? दुनियाके लोग ऐसे ही पागल होते हैं। कहीं पागलोंके सींग थोड़े ही उगते हैं ? मेरी स्त्री मेरे पुत्र मेरा पैसा और सब कुछ मेरा मेरा कहते हुए अज्ञानी जीव मूढ़ता पूर्वक मर गया, और मरकर न जाने कहाँ गया होगा, फिर भी लोग कहते हैं कि वह बड़ा पुण्यशाली था, भला वह पुण्यशाली कैसा ? पुण्यशाली तो वह है, जो स्वरूपको पहिचान कर उसमें लीन होकर देहको छोड़ता है। यहाँ स्वरूपकी पहिचान करनेवाले को पुण्यशाली कहा है, उसमें पुण्यका अर्थ आत्माकी पवित्रता समझना चाहिये।

तू अपने तत्वकी पहिचानके बिना कहाँ जायेगा ? तू तत्वकी पहि

ध्यानके बिना ही मानना हो कि मुझे लाभ होगा और धर्म होगा, तो यह बात वृथा है। अपने आत्मस्वभावकी खबरके बिना तू कहाँ जाकर टिकेगा? लोग जीवनकी बाजी लगाकर भी मोती निकालनेके लिये समुद्रके नीचे जाते हैं, और इतना घोर परिश्रम करते हैं, किन्तु जब आत्माका अभ्यास करनेकी बात आती है तो उसके लिये परिश्रम करनेको जी नहीं करता।

लोग बड़े बड़े वेतन पाते हैं और मानते हैं कि यह हमारे परिश्रम और चतुराईका फल है, किन्तु यह मिथ्या है, यह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है। इसीप्रकार उच्च पदारूढ़ करके बड़ी बड़ी पदवियाँ पा लेना भी वर्तमान पुरुषार्थका फल नहीं है। पहले ज्ञानावरणीयकर्मका अल्प बंध किया होगा इसलिये ज्ञानका विकास बना रहा इसीसे वर्तमानमें बुद्धि और कला दिखाई देती है, और पहले कुछ कषाय मन्द की होगी, इसलिये वर्तमानमें पुण्य का उदय दिखाई देता है। तथापि यदि आत्माका परिचय करे तो यह वर्तमान पुरुषार्थका फल है, धर्म पूर्वकृत पुण्यसे नहीं होता किन्तु वह वर्तमान पुरुषार्थसे ही होता है, इसलिये उसके लिये परिश्रम करना कठिन मालूम होता है। जो पुरुषार्थसे नहीं होता उसमें परिश्रम करता है और जो पुरुषार्थ से होता है उसके लिये परिश्रम नहीं करता। बड़ेसे बड़े अधिकारीका पद पा लेना वर्तमान पुरुषार्थका फल नहीं है। रुपया पैसा प्राप्त करनेका राग है, तब तक जिस किसी व्यापार या नौकरी इत्यादिसे पैसा मिलना हो उस प्रकार का विकल्प आये बिना नहीं रहता। बुद्धिका विकास होने पर भी यदि आत्म प्रतीतिके लिये पुरुषार्थ नहीं किया, तो सारे प्रयत्न व्यर्थ है। इसलिये कहते हैं कि यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो आत्म स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य हो।

एक भंगीका बालक भी बुद्धिशाली हो सकता है, और एक वणिक पुत्र भी वज्र मूर्ख हो सकता है। ऐसा भी देखा जाता है कि—कोई वणिक पुत्र दस वर्षमें भी जो कुछ नहीं लिख पाता उससे कई गुना अधिक, और अल्प समयमें कोई भंगीका पुत्र पढ़ लेता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि का विकास होना वर्तमान पुरुषार्थका फल नहीं है। यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो तत्काल ही आत्माका लाभ पुरुषार्थसे हो जाता है, यदि पर

वस्तु हो तो तत्काल प्राप्ति नहीं हो सकती।

अपना स्वरूप तो विद्यमान है किन्तु उसे भूल रहा है। यदि साव धान होकर देखे तो वह अपने पास ही है, अथवा यह कहना चाहिये कि वह तू ही है। चैतन्य भगवान ज्ञान-आनन्दसे भरपूर है। शरीर मन वाणी इत्यादि सब धूल समान हैं। मै करूं धरूं यह भाव और हिंसा अहिंसाका भाव सब विकार है। और भीतर जो चैतन्यमूर्ति भगवान है सो निराला निर्विकार है, उसे तू देख तो सही। उसकी प्राप्तिके लिये एकबार छह महीने तक उसीके पीछे लगकर अभ्यास कर और फिर देख कि आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं। धर्म आत्माका स्वभाव है, उस स्वभावको निश्चल होकर एक बार तो देख। जिसका तेज-प्रताप अखंड है, उसका एकबार छह महीना अभ्यास कर और देख कि आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं। अवश्य प्राप्ति होगी।

यदि सावधान होकर देखे तो राग द्वेष और शरीर रहित जैसा सिद्ध भगवान का स्वरूप है वैसा ही आत्मा भीतर विराजमान है, वैसा ही तुझे अनुभव होगा।

यहाँ जो छह महीनेके अभ्यासकी बात कही है, इसका यह अर्थ नहीं है कि इतना ही समय लगेगा, क्योंकि उसके लिये तो मुहूर्त मात्र ही पर्याप्त है। तू यदि आत्म स्वरूपको प्रगट करनेके लिये अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनटमें ही हो सकती है, किन्तु शिष्यको यह बहुत कठिन प्रतीत होता है, इसलिये यहाँ छह महीनेका समय कह दिया है। यहाँ कोई यह कह सकता है कि यदि छह महिनेमें आत्म स्वरूप प्रगट हो सकता हो तब तो यह बहुत सरल है, आचार्य देव कहते हैं कि-यह सरल तो है ही, अपने स्वभावको जान ले तो वह तुझमें ही है, जो कि सरल ही है। कोई यह भी कह सकता है कि यह अभ्यास तो बहुत कठिन मालूम होता है। हम तो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दानमें दे सकते हैं, और उससे यदि धर्मलाभ होता हो तो ऐसा करनेको तैयार हैं। किन्तु यह तो विचार कर कि-यह रुपया पैसा तेरी वस्तु कहाँ है? वह तो पर वस्तु है, इसलिये उससे धर्म कैसे हो सकता है? धर्म तो तुझे अपना करना है, तब यह तेरा धर्म तेरी वस्तुसे प्रगट होगा या परवस्तु से? तेरी वस्तु तेरे पास है, उसीसे धर्म

होगा। आत्माने अपने स्वभावको भूलकर पर लक्ष किया है, इसलिये उसे यह सब दुर्लभ प्रतीत होता है।

'अनुभव प्रकाश' में चाँपा नामक एक ग्वालेकी कहानी है, कि—एक चाँपा नामक ग्वाला था जो सबकी गायें चराने जाता था। लोग उसके यहाँ पूछने आया करते कि चाँपा ! मेरी गाय आ गई ? एक बार चाँपा शराब पीकर घर आया, और जिस प्रकार दूसरे लोग पूछा करते थे उसी प्रकार वह भी (अपनेको भूलकर) अपने द्वारपर खड़ा होकर पूछने लगा कि भाई चाँपा ! क्या मेरी गाय आ गई ? उसकी स्त्रीने आकर देखा कि यह तो चाँपा ही बोल रहा है, तो उसने कहा कि तुम ही तो चाँपा हो, जरा होश सम्हालो, यह क्या कह रहे हो ? तब उसे होश आया और वह समझ गया कि मैं ही चाँपा हूँ।

इसी प्रकार आत्मारूपी चाँपा ज्ञानानन्द स्वरूप है, वह अज्ञानके कारण अपनेको भूला हुआ है, शरीरादिक और रागादि को अपना मानने से उसे यह हो गया है कि वही मैं हूँ, क्यों कि उसे अनादि काल से यही अभ्यास है। जब उसे समझाने वाले श्री गुरु मिले तो उन्होंने कहा कि तेरा स्वरूप तो परम निर्मल सिद्ध समान है, तूने जो मान रखा है सो वह तेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जब वह गुरु वचन सुनकर सावधान हो जाता है, तो उसे मालूम होता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अपने को भूला हुआ था।

जीवों को इस काल में यथार्थ को समझना दुर्लभ हो गया है। इस पंचमकाल में अनेक स्थलों पर उल्टी प्ररूपणा हो रही है, और स्वयं समझ नहीं पाते, इसलिये लोगों को यथार्थ का समझना कठिन हो गया है। जब आत्मा की बात होती है तब कहते हैं कि सुबह-शाम आत्मा की ही बात क्यों होती है ? किन्तु यह तो विचार करो कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कौनसी बात करनी है ?

सत् समागम के द्वारा आत्म स्वरूप का श्रवण करके समझने का प्रयत्न करे तो समझ में आये, किन्तु चैतन्य मूर्ति को भूलकर राग द्वेष, पुण्य

पाप में फँसा है इसलिये वह कठिन मालूम होता है। किन्तु यह अनभ्यास के कारण और विपरीत मानने के कारण कठिन मालूम होता है। शास्त्रों में बोधिबीजदुर्लभ की बात आती है, किन्तु अपने स्वभाव की अपेक्षा वह सुलभ ही है। यदि उसके लिये एक बार परिपूर्ण अभ्यास करे तो छह महीने से अधिक समय नहीं लगेगा।

आजकल तो लोगों ने बाह्य अभ्यास को ही सब कुछ मान रखा है।

श्री देवचन्द्र जी ने कहा है कि —

द्रव्य क्रिया रुची जीव को रे
भाव धरम रुचि हीन,
उपदेशक वैसे मिले, तो—
क्या करे जीव नवीन रे।

आजकल जीवों की भावधर्म की रुचि कम हो गई है। आत्मा क्या है? धर्म क्या है? मोक्ष क्या है? और मोक्षमार्ग क्या है? इसके यथार्थ स्वरूप को समझने की रुचि कम हो गई है, और बाह्यजड़ की क्रिया में ही जीव रचपच रहे हैं, किन्तु क्या जड़ की क्रिया से चैतन्य का धर्म हो सकता है? इतना भी विचारने का अवकाश नहीं है। क्या किया जावे उपदेश देने वाले भी ऐसे ही मिलते हैं, इसलिये बिचारे जीव क्या नवीन कर सकते हैं?

आजकल जीव जड़ क्रिया में ही धर्म मान बैठे हैं। धर्म क्या है, इसकी उन्हें कोई खबर नहीं है। वे तो जिस तरफ का उपदेश सुनते हैं उसी ओर हाँ जी हाँ कहने लगते हैं। जैसे ध्वजपुच्छ जिधर की हवा होती है, उधर ही हिलता है इसी प्रकार स्वयं कुछ निर्णय न करके जहाँ का उपदेश सुनता है वहीं कहने लगता है कि—'सत्य वचन महाराज'? इस प्रकार सत्य असत्य की परीक्षा न करके जो सरल होता है उसी को मान लेता है और जहां आत्मा की बात होती है वहाँ कहता है कि—यह तो सारे दिन आत्मा ही आत्मा की बात करते रहते हैं, इस प्रकार उस बात में अरुचि प्रगट करता है। किन्तु यदि कोई रुपया पैसा क्रिया काड या शुभ परिणाम से

धम होना बताये तो वह रुचिकर मालूम होता है और कहता है कि आप जो कहते हैं सो बड़ी ठीक है, इससे शीघ्र ही मनुष्य भव से छुटकारा हो जायेगा ? किन्तु वह भी मिथ्या नहीं है, इससे भव का छुटकारा नहीं तो मनुष्य भव का छुटकारा अवश्य हो जायेगा, अर्थात् मनुष्य भव को हारकर दुर्गतिमें जायेगा, और अनन्त कालमें भी पुन यह मनुष्य भव मिलना कठिन हो जायेगा।

जिस भाव से बध होता है, उस भाव से मोक्ष नहीं होता, जिस भाव से मोक्ष होता है उस भाव से बध नहीं होता, जिस भाव से मनुष्यत्व मिलता है उस भाव से मोक्ष नहीं होता जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है उस भाव से मोक्ष नहीं होता, और जिस भाव से मोक्ष मिलता है उस भाव से तीर्थंकर प्रकृति या मनुष्यत्व इत्यादि कुछ नहीं मिलता। आचार्य देव कहते हैं कि जिस विधि और पद्धति से कहा जा रहा है उसे भलीभांति समझ ले तो जन्म मरण न रहे अवतार न रहे, बधन न रहे।

आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई! जिसमें तेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उसमें व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहा है, किन्तु जो हम कहते हैं उसमें एक बार तू छह मास तो अभ्यास कर, चैतन्य स्वरूप को समझकर उसमें लीन होने का एक बार सतत रूप से उसके पीछे लगकर छह मास अभ्यास कर यदि सचमुच ही एक बार छह महीने अभ्यास कर लेगा तो आत्मा की प्राप्ति हुये बिना न रहेगी।

यहाँ शिष्य पूछता है कि भगवन्? आत्मामें जो पुण्य पाप, दया, हिंसा और भक्ति, पूजा या व्रतादिके भाव होते हैं उन्हें आपने जीव नहीं कहा, किन्तु उनसे भिन्न आत्माका जो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है उसे जीव कहा है, किन्तु यह पुण्यपापादिके भाव तो कथंचित् चैतन्यके साथ सम्बन्ध रखते हैं, किसी प्रकारसे चैतन्यकी अवस्थामें प्रतिभासित होते हैं, व चैतन्यके अतिरिक्त लकड़ी आदि जड़ पदार्थोंमें होते हुए दिखाई नहीं देते। यहाँ शिष्यको जिज्ञासा हुई इसलिये अपने परिणामको देखना सीखा है। उसके कहनेका तात्पर्य यह है कि—हर्ष, शोक, सुख दुःख और उसका वेदन आत्माके साथ

सम्बद्ध प्रतिभासित होता है, किन्तु वे भाव कहीं जड़में दिखाई नहीं देते, तब उन्हें जड़का क्यों कहा है? शिष्यको भीतर जो रागद्वेषकी आकुलताका वेदन हो रहा है उसे देखकर प्रश्न किया है। आचार्य देवने ४५ वीं गाथामें आकुलता और अनाकुलताका स्वरूप समझाया है।

आचार्यदेवने पुण्य पापके मलिन भावोंको जड़का कहा है। शरीरादिके रजकण तो जड़ हैं ही, किन्तु भीतर जो काम क्रोधके विकारी भाव होते हैं उन्हें भी जड़ कहा है।

जितनी पुण्य पापकी वृत्ति होती है, वह सब बाह्य लक्षसे होती है। वह सब उपाधि है। जो उस उपाधि जितना ही आत्मा मानता है, वह अपने निर्मल स्वभावको अलग नहीं मानता, इसलिये उनसे अलग होना, धर्म करना और मुक्ति प्राप्त करना इत्यादि कुछ भी नहीं रहा। जिसे परके प्रति अपनेपन की बुद्धि है, उसे अपनी श्रद्धा नहीं है, अपने पृथक निर्मल स्वभावकी प्रतीति नहीं है। जिसने विकारको अपना मान रखा है, वह उसे दूर करनेका और स्वरूपमें स्थिर होनेका प्रयत्न क्यों करेगा? आचार्यदेव कहते हैं कि विकार भावोंको अपना न मान और स्वरूपकी श्रद्धा ज्ञान और चारित्र करके स्थिर हो तो व विकार दूर हो जायेंगे।

हिंसादिके अशुभ परिणाम और दया, दान, पूजादिके शुभ परिणाम—सब विकारी परिणाम हैं, उनसे रहित मात्र चैतन्य स्वभावकी निराली प्रतीति, ज्ञान और स्थिरता ही मोक्षका मार्ग है, इसके अतिरिक्त तीन काल, तीन लोकमें कोई दूसरा मार्ग मुक्तिका नहीं हो सकता।

जीव बन्धनभावका नाश करना चाहते ह, इससे सिद्ध होता है कि बधन भाव और बन्धनसे मुक्ति दोनो आत्मामें हैं, परमें कहीं नहीं है, और बन्धनभावसे पृथक् जीव स्वभाव भी है, इसीलिये बन्धन भावको नाश करनेका भाव होता है।

यहाँ शिष्य कहता है कि प्रभो! आपने तो मात्र स्वभाव, जागृत स्वभाव नाना स्वभावको जीव कहा है, जो जो भाव होते ह उन्हें जान लेना, किन्तु उन भावोंमें एक मेक न होना अर्थात् उन्हें दूर कर देना, इस प्रकार मात्र चेतन

होने के स्वभाव को ही जीव कहा है, किन्तु भीतर जो क्रोधादि भाव होते हैं वे कहीं लकड़ी इत्यादि में नहीं होते, किंतु चैतन्य में दिखाई देते हैं, वे किसी अपेक्षा से चैतन्य में होते हों ऐसा मालूम होता है, वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखते हुए दिखाई देते हैं। लकड़ी आदि में काम क्रोध होता हो ऐसा कभी न तो सुना है, और न देखा है, वह तो पुद्गल है, जड़ है उसमें कहीं भी आत्मा नहीं है।

जड़ में कहीं क्रोध दिखाई नहीं देता। कहीं मुर्दा भी क्रोध करता है ? दया, सत्य आदि के पुण्य परिणाम और हिंसा असत्य आदि के पाप परिणाम सब आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हों ऐसा मालूम होता है। किंतु प्रभो! आपने तो उन्हें निरा जड़ कहा है। इन समस्त विकारी परिणामों को तो जड़ कहा ही है, किन्तु यदि उन्हें अपना मानूं तो मुझे भी जड़ कहा है, किन्तु प्रभो! वे सब विकारी भाव मुझमें होते हुए प्रतीत होते हैं, सत्य बोलूँ या असत्य बोलूँ यह सब मेरे परिणाम में होता हुआ मालूम होता है। इसलिये मेरा समाधान करने की कृपा कीजिये।

उसके समाधानार्थ गाथा कहते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अर्थ - आठ तरह के कर्म हैं, वे सब पुद्गल स्वरूप हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञ देवने कहा है, और कहा है कि-पक्व होकर उदयमें आनेवाले उन कर्मोंका फल प्रसिद्ध दुःख है।

यहाँ शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि-भाई धैर्य रख! आत्मा तो निराला तत्व है वह अनन्त ज्ञान, सुख इत्यादि से परिपूर्ण है, और जो विकार है सो दुःख स्वरूप है, तथा दुःख अपना स्वभाव नहीं है, इसलिये वह पुद्गलमय है। अनादिकालीन भूल के कारण विकारी परिणामको अपना मान रखा है, विकारी परिणाम में अटक रहा है और यह मान बैठा है कि—मैं शुभाशुभ परिणाम जितना ही हूँ। इसलिये तेरी भूल के कारण तेरा हित नहीं होता, अब तू

अपनी भूल को छोड़ और आत्मा में स्थिर हो जा। धर्म कहाँ होता है वह आचार्य देव बतलाते हैं। 'वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। आत्मा एक वस्तु है, इसलिये आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। वह धर्म कहीं बाहर नहीं किन्तु आत्मा में ही है। पुण्य पाप आदि अपना मूल स्वरूप नहीं है इसलिये वह पुद्गलमय है, वह आकुल स्वरूप है, आत्मा अनाकुल स्वरूप है, इसलिये विकारी भाव पुद्गल कर्म का फल है, अतः वह पुद्गल मय है।

अध्यवसान आदि समस्त भावों को उत्पन्न करने वाले आठों प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म—सब पुद्गलमय है, ऐसा सर्वज्ञ देव का वचन है।

यद्यपि सभी आत्मा समान हैं, किन्तु उनमेंसे किसीके ज्ञानका विकास कम और किसीका अधिक दिखाई देता है, सो इसका कारण स्वयं की गई अनादिकालीन भूल है। अपने ज्ञानके विकासमें न रहकर स्वयं ही ज्ञान की हीन अवस्था कर डाली है। स्वयं ज्ञानके विकास में नहीं रहा तब ज्ञानावरणीय कर्म को निमित्त कहा जाता है कि, ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोक रखा है।

स्वयं अपनी दर्शनशक्ति के विकास में न रहकर पर में दृष्टि करके स्वयं अटक रहा है, तब दर्शनावरणीयकर्म को निमित्त कहा जाता है कि, दर्शनावरणीय ने दर्शनगुण को रोक रखा है।

मोहनीय अर्थात् स्वयं अपनी आनन्दशक्ति को भूलकर अपने को राग द्वेषरूप माने और विकारी भावों में अटक जाये तब मोहनीयकर्म की उपस्थिति होती है।

अन्तराय अर्थात् मैं अनन्तवीर्यवान हूँ, ऐसा न मानकर मैं शक्तिहीन हूँ, यों अपने बल को हीन मानता है इसलिये उसका वीर्य रुक जाता है। और जब इस प्रकार रुक जाता है तब वीर्यान्तरायकर्म को निमित्त कहा जाता है कि वीर्यान्तराय कर्म ने वीर्य—बल को रोक रखा है, किन्तु पर द्रव्य आत्मा को नहीं रोक सकता, किन्तु जब स्वयं अटक जाता है तब ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को निमित्त कहा जाता है।

यदि दो पवित्रात्मा एक ही साथ हों तो भूल नहीं हो सकती। एक ही जातिके स्वभाववाले चेतन्य आत्मा एक दूसरेके सन्मुख हों तो भी भूल नहीं हो सकती। भूलमें निमित्त तो विलक्षण जातिका कर्म है। जो विलक्षण जातिका होता है वही भूलमें निमित्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्म ही भूल में निमित्त है।

जब कर्मफलमें युक्त होता है, तब राग द्वेष होता है, किन्तु भीतर आत्माके गुणोंमें युक्त हो तो राग द्वेष नहीं हो सकते। यदि आत्मगुणोंमें युक्त होनेसे भी राग द्वेष होने लगें तो वे दूर कैसे होंगे? तात्पर्य यह है कि कर्मके फल में युक्त होनेसे राग द्वेष होता है, अतः वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

जितना विकारी भाव होता है वह आत्माके आनन्दको रोकनेवाला है, इसलिये जो आत्मानन्दको रोकता है, वह आत्माकी जातिका कहाँसे हो सकता है? कर्म का स्वरूप आत्मासे विलक्षण जातिका दुःख स्वरूप है। कर्म कहो या राग-द्वेष रूप विकारी भाव कहो—दोनों एक ही हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मके निमित्तसे होने वाले राग द्वेष पुद्गलमय ही हैं, इसलिये दोनों को एक कहा है।

निमित्त पर दृष्टि करनेसे पुण्य पापके भाव होते हैं, और आत्मा पर दृष्टि रखनेसे पुण्य पापके भाव नहीं होते। राग द्वेष पर संयोगसे होते हैं इसलिये वे परके हैं। अशुद्ध अवस्था अपने में होती है, किन्तु वह अपने स्वभाव में नहीं है इस अपेक्षा से उसे परका कहा है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह बात बहुत सूक्ष्म है इसलिये हमारी समझ में नहीं आती। किन्तु व्यापार रोजगार में सूक्ष्म से सूक्ष्म बात कैसे समझ में आ जाती है? वहाँ तो सारी बुद्धि और चतुराई लगा कर पूरा प्रयत्न किया जाता है। किन्तु वहाँ [illegible] कला आनी चाहिये। उसमें भी यदि पुण्य होगा तो रुपया मि[illegible] नहीं होगा [illegible] जितने पढ़ि[illegible] चतुराई [illegible]।

अपना सारा ध्यान लगाता है, और परिश्रम करता है, किन्तु जो अपने हाथकी बात है, जिसे स्वयं कर सकता है, ऐसे आत्माके हितकी बात होती हो तो कहता है कि यह हमारी समझ में नहीं आता ! इस प्रकार जीवोंने अनन्त कालसे अपनेको समझनेकी चिंता ही नहीं की।

यह आत्मा एक वस्तु है, पदार्थ है, ध्रुव अविनाशी वस्तु है, ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है, ऐसे आत्मा में अच्छे बुरे का विकल्प नहीं हो सकता। किन्तु जो अच्छे-बुरेके भाव होते हुए दिखाई देते हैं वह कर्मजनित उपाधि है। उस कर्मजनित उपाधिको अपना मानना ही विपरीत अध्यवसान है। विपरीत अध्यवसान—विपरीत रुचि—विपरीत मान्यता, यह सब कर्मजनित उपाधि है इसलिये पुद्गल है, ऐसा सर्वज्ञ भगवानका वचन है।

अनाकुलता है लक्षण जिसका—ऐसे सुख नामक आत्म स्वभावसे सर्वथा विलक्षण होनेसे विपाककी पराकाष्ठा को प्राप्त वे कर्मफल दुःखरूप हैं।

विपाककी पराकाष्ठा को पहुँचे हुए कर्मफलका अर्थ यह है कि जैसे कच्चे चावल पक जाते हैं तब वह उनका पाक कहलाता है, अथवा चिरायते को उबालनेसे जो कड़वा अर्क उतर आता है वह चिरायतेका पाक कहलाता है, इसी प्रकार कर्मोंने जो शुभाशुभ रूप फल दिया सो वह कर्मोंका पाक है, वह आत्म स्वभावसे विपरीत लक्षणवाला होनेसे दुःखरूप है। आत्मा आनन्द मूर्ति सुखका सागर है उसमें जो राग द्वेष और पुण्य पापके भावका स्वाद आता है वह कर्मका स्वाद है।

लोग कहते हैं कि आम खानेसे हम आमके रसका स्वाद आ गया, किन्तु यह तो विचार करो कि आम जड़ है या चेतन ? सभी कहेंगे कि वह जड़ रज कणोंका समूह है, किन्तु क्या जड़ रजकणोंको चेतन खा सकता है ? वास्तव में बात तो यह है कि यह आम मीठा है, इसे आत्मा मात्र जानता है, किन्तु अनादिकालसे मूढ़ आत्माने कभी विचार नहीं किया कि यह रसास्वाद कहाँसे आता है, वह तो यही मानता है कि—मुझे पर पदार्थसे रस आता है—स्वाद मिलता है।

इसी प्रकार पुण्य—पापके रसका स्वाद कर्म में से आता है, किन्तु आत्मा अपने निराकुल आनन्दको भूल कर शुभाशुभ भावके रस को अपना

स्वाद मानता है।

यद्यपि आमका रस आम में है, किन्तु उसे अपना मान कर विपरीत मान्यतासे अज्ञानी राग करता है। कोई आम या खीर किसी बर्तनमें रखा हो तो वह अपनेमें है, और यदि मुँह में आ गया हो तो भी वह अपनेमें है, मुँह में आ जानेसे क्या वह आत्मा में नहीं आ जाता। इसी प्रकार कर्मका रस कर्म में होता है किन्तु कर्मका है, और विपाक में आकर भी कर्मका ही है।

मैं शुद्ध चैतन्य पवित्र हूँ, इस पर दृष्टि न देकर आत्माके अनाकुल सुख स्वभावको भूलकर उससे विलक्षण विपरीत लक्षणवाले आकुलतारूप शुभाशुभ वृत्तियोंके जो भाव हैं वे कर्मका विपाक हैं और दुःखरूप हैं, उन्हें अपना मान रखा है, वह दुःख है।

विकारी अवस्थाके पाक पर दृष्टि करता है इसलिये उसे आकुलता होती है। जहाँ शरीर में बुखार आया कि हाय तोबा करने लगता है। किन्तु यह विचार नहीं करता कि बुखार कहाँ आया है? शरीरके रजकण गरम हो जाते हैं और उनपर तेरी दृष्टि जाती है, इसलिये दुःख करने लगता है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसपर यदि दृष्टिपात करे तो हर्ष शोक न हो। यह स्पर्श भले ही उष्ण हो जाये किन्तु आत्मा उष्ण नहीं होता, किन्तु जहाँ स्पर्श उष्ण होता है वहाँ उसे आत्मापर आरोपित करके अपनेको उष्ण मान लेता है, और कहता है कि मुझे बुखार आगया? किन्तु कुछ यह तो विचार कर कि शीत और उष्ण जड़ शरीर होता है कि तू? जब शरीर शीत उष्ण होता है तब अज्ञानी आत्मा यह मानता है कि मैं शीत उष्ण हुआ हूँ, और इस प्रकार उस कर्मके विपाक पर दृष्टि की इसलिये दुःख है।

आत्मा स्फटिक जैसा शुद्ध है उसमें कर्मका फल ज्ञात होता है। वह जहाँ ज्ञात हुआ कि उसे अपना मान लिया सो यही दुःख है। पुण्य पाप का संयोग मिलने पर उसमें जो अपने अनुकूल होता है उसे सुख मान लेता है और जो प्रतिकूल होता है उसे दुःख मान लेता है। वह मूढ़ है।

दुःख में ही आकुलता लक्षण अध्यवसान आदि भावोंका समावेश होता है, इसलिये यद्यपि चैतन्यके साथ होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं, किन्तु वे

आत्म स्वभाव नहीं है, पुद्गल स्वभाव हैं।

कर्म का फल दुःख है और दुःखका लक्षण आकुलता है, उस आकुलता में सभी शुभाशुभ भाव आजाते हैं, शुभ और अशुभ दोनों भाव आकुलता स्वरूप हैं वह आत्म स्वभाव नहीं किन्तु कर्मका फल है। आत्मा ज्ञाता न रहकर कर्मके निकट जा खड़ा हुआ सो वह दुःख और आकुलता स्वरूप ही है। जो जिसके निकट जा पहुँचता है वह उसी जैसा हो जाता है। जैसे कोई ब्रह्मचारी या सती किसी कुलटा या कुलिंगका संग करे तो समझना चाहिये कि उसे कुलटा या कुलिंगके भावकी प्रीति है, इसलिये वह सच्चा ब्रह्मचारी या सती नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवानने कर्मको कुशील स्वभाव कहा है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है। जो उस स्वभावको अपना माने और आत्म स्वभावको भूले उसे भगवान कुशील कहते हैं। जो आत्माका संग छोड़कर परका संग करता है, वह कुशील है। आत्माका अन्तर विषय भूल कर जितना बाह्य पुण्य पापके विषय पर लक्ष जाता है वह कुशील है, वह दुःख ही है।

प्रश्न —पाप तो खराब है ही, किन्तु क्या पुण्य भी बुरा है?

उत्तर —पापके भाव छोड़नेके लिये पुण्यके भाव करना ठीक है। किन्तु पुण्य पापको अपना मानना आत्महत्या करनेके समान है। पुण्यसे आत्मधर्म होता है यह माननेवाला भी आत्मा की हिंसा ही कर रहा है। धर्म तो आत्म स्वभावको पहिचाननेसे ही होता है। जो आत्म स्वभाव है, उसकी यथार्थ प्रतीति हुए बिना, यथार्थ प्रवृत्ति (चारित्र) नहीं हो सकती।

आत्मा सुखस्वरूप है, उस ओर दृष्टि न करके अपनेको हीन मानकर लक्ष्मी आदिकी ओर राग करे सो दुःख है, और जो दुःख है सो अपना स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गल-कर्मका फल होनेसे वह पुद्गलका स्वभाव है। वह दुःख चैतन्य की पर्यायमें होता हुआ दिखाई देता है, इसलिये ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है कि मानों वह चैतन्यका स्वभाव ही है, किन्तु वास्तवमें वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है।

पुराने पुण्य-पापका भोक्ता हुआ इसलिये नवीन कर्मोंका कर्ता

हुआ, और वह कमका कर्तृत्व भोक्तृत्व ही दु ख है। यदि स्वभावमें ही कर्ता–भोक्ता रहे तो आकुलता न हो, और जो अल्प रागादि हो उसे अपना न माने।

पुराने पुण्य फलित होना भी दु ख है और नवीन पुण्यका बन्ध होना भी दु ख है, क्योंकि पुण्य आत्माका स्वभाव नहीं कि तु विकार है, उसे अपना मानना अन त जन्म–मरणका कारण है।

आत्मा शुभाशुभ भाव कर सकता है, दूसरे का कुछ भी कर सकने की बात तीनकाल और तीन लोकमें मिथ्या है। शुभाशुभभाव आत्माका स्व भाव नहीं है, शुभाशुभभाव और हर्ष–शोकके भाव आत्मा की निर्मल ज्योतिसे विलक्षण हैं इसलिये वे सब दु ख ही ह। इसीलिये रागादि भावोंका भी दु ख में ही समावेश होता है। आत्माके गुणोंसे भिन्न कोई भी भाव हों तो वह सब खेद स्वरूप ही हैं, वे कोइ भाव स्वभावमें स्थिर नहीं होते इसलिये सब दु खरूप ही हैं।

ऐसी बात समझनेमें कठिन मालूम होती है, किन्तु यदि मसालेका कोई काम उलझ गया हो तो उसे झट सुलझा लेना है। यदि सूतकी लच्छी उलझ गइ हो तो उसे बड़े धीरजके साथ धीरे धीरे सुलझा लेना है, इसी प्रकार आत्मामे अनादि कालसे जो विपरीत भाव उलझ रहे हैं, और जो उसकी गाँठ पड़ गइ है उसे दूर करनेका प्रय न धैर्य धारकर कर, एसा न करेगा तो वह गाठ कैसे खुलेगी? अन त जीव आत्मा की गाठको खोलकर एक अन्तर्मुहूर्तमें ही पुरुषार्थ करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए ह। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है, इसलिये इसे समझ, और यदि समझमें न आये तो धैर्य रख और शान्तिपूर्वक सुन तथा आत्माको पकड़! यह सब भाव स्व भावके नहीं हैं इसलिये दु खरूप हैं, उन सबका दु खमें ही समावेश होता है।

दु खरूप भावमें चेतनताका भ्रम उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् उसका उदय होने पर–विपाक होने पर–फल होने पर अज्ञानीको एसा लगता है कि मानों यह राग द्वेष और पुण्य पाप मुझमें से ही होते हों अथवा वे मानों मेरे स्वभाव ही हैं। वह अपनी अशुद्ध अवस्थामें होते हैं इसलिये ऐसा लगता

है कि—यह मेरे आत्मामें ही हो रहे हैं और यह मानों मेरे स्वभाव ही हैं। यद्यपि ऐसा भ्रम होता है किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, वह तो पुद्गलका स्वभाव है। हे भव्य जीव! तू तत्वका मनन कर, विचार कर और चाहे जैसे इसे समझ।

तत्वको समझे बिना जन्म मरण की परम्परा सदा बनी रहेगी। यदि स्वभावको मान लेगा—समझ लेगा तो मुक्ति प्राप्त होगी, अन्यथा संसारमें परिभ्रमण करना होगा। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई मार्ग नहीं है। मेरा स्वभाव शुद्ध ज्ञायक है, ऐसी श्रद्धा करने से अल्पकालमें मुक्ति मिल जायेगी और यदि यह माने कि पुण्य-पाप मेरे हैं तो संसारमें परिभ्रमण करना होगा।

विकारके स्वामित्वका त्याग कर। आत्म स्वरूप समझे बिना सुखका कोई दूसरा उपाय नहीं है, आत्माके परिपूर्ण स्वभावको भूलकर पर पदार्थ को अपना माने तो चौरासी की खाई में ही पड़ा रहेगा।

आत्मा स्वतन्त्र चैतन्यमूर्ति है, उसे त्रिकालमें भी कोई दुःख देने को समर्थ नहीं है। दुनियांमें कहा जाता है कि—विधवा हो जाने पर हीनता आ जाती है और पराधीनता हो जाती है, किन्तु इसमें हीनता और पराधीनता क्या है? आत्मका स्वतन्त्र स्वभाव है, यदि उसकी बाह्य अनुकूलता कुछ कम हो गई तो इससे आत्माका क्या कम होगया? जो बाह्य अनुकूलताओं में सुख मानता है उसे आत्म स्वभाव की खबर नहीं, वह पुण्य पापके दुःखमें फँस जाता है। आत्मा ज्ञाता-सुख स्वरूप है, परमें कहीं किंचित्मात्र भी सुख नहीं है।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि आकुलताका दुःख भी मेरी ही जातिका है, किन्तु यह तो विचार कर कि सुखजातिमें भी कहीं जाति होती है? बात तो यह है कि—अज्ञानी को पापमें दुःख मालूम होता है, किन्तु पुण्यमें नहीं होता,—उसे तो पुण्यमें मिठास मालूम होती है। बड़े बड़े बँगलोंमें और उसके वैभवमें अज्ञानी जीव मधुरताका स्वाद लेता है, किन्तु सुख परमें नहीं वह तो आत्मामें है। किन्तु अज्ञानी ने परमें सुख कल्पित कर रखा है।

यदि धीरज धर कर शान्ति पूर्वक विचार करे तो उसमें मात्र आकुलता ही प्रतीत होगी।

यथार्थ स्वरूप समझे बिना सच्चे व्रत तप इत्यादि नहीं हो सकते। पहले यथार्थ स्वरूपको समझे बिना और उसे माने बिना कहाँ जाकर स्थिर होगा?

आत्मस्वभावकी प्रतीति के बिना मात्र अज्ञान भावसे किये गये व्रत, तपादिको अज्ञान रूपी दैत्य यों ही खा जाता है। इसलिये आत्मस्वभावका यथार्थ परिचय प्राप्त कर। ॥ ४५ ॥

यहाँ शिष्य पूछता है कि – यदि अध्यवसान आदि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो उन्हें सर्वज्ञके आगममें जीवरूप क्यों कहा गया है?

व्यवहार शास्त्रोंमें व्यवहारकी बात होती है। व्यवहार अर्थात् जिसमें निमित्तकी ओर की अपेक्षासे कहा जाये। उस बातको लेकर शिष्य प्रश्न करता है।

जहाँ व्यवहारनयका कथन प्रधान होता है उस बातको सम्मुख रखकर शिष्य निमित्तकी ओरसे प्रश्न करता है कि भगवानके आगममें जहाँ परनिमित्तकी अपेक्षासे बात आती है वहाँ उन अध्यवसानादि भावों को जीव भी कहा है, तो हे प्रभु! आप क्यों जीव नहीं कहते?

४४ वीं गाथा में यह कहा गया है कि आत्मा में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं वे सब जड़ हैं। व्रत, अव्रत और दान पूजादि के भाव भी जड़ हैं। जो भाव पर के आश्रय से होते हैं वे आत्मा के नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्य की अवस्था में होते हैं किन्तु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। जड़ के निमित्त से होने वाला यह भाव भी जड़ है। इसलिये निर्विकारी स्वभाव का परिचय करके प्रतीति करने से विकार का नाश होता है।

शिष्य ने कहा था कि दया-दान करूँ, तृष्णा को कम करूँ, ऐसे सब भाव आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हों ऐसा लगता है।

उसके उत्तर में आचार्य देव कहते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त जो भी भाव होते हैं, वे सब दुःखरूप हैं। वे भाव आत्मानन्दरूप नहीं हैं। जो

जो आत्मानन्दका नाश करने वाले हैं वे आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकते ।

जो सुख स्वाश्रयी स्वत होता है, वह दु खरूप नहीं होता । जो सुख पर के आधार से होता है, वह सुख नहीं किन्तु दु ख है ।

जो परवश है वह दुख लक्षण निजवश सो सुख कहिये ।
इस विधि से आतमगुण प्रगटे और सुकथ क्या कहिये ॥
भविजन वीर वचन अवलोको ॥

जैसा सर्वज्ञ देव–भगवान महावीर ने कहा है, वही कहा जा रहा है । दया, पूजा, व्रत, अव्रत और हिंसादि के जो भाव होते हैं सो वे सब शुभाशुभभाव पर निमित्त से–पराश्रय से होने वाले भाव हैं, यह पराधीनता है । अपने सुख के लिये एक रजकण का भी आश्रय लेना पड़े तो वह परवशता है, और परवशता दु ख का लक्षण है । एक भी रजकण के आधार के बिना अपने आधार से अपने चैतन्य की शुद्धता में स्थिर रहे सो सुख है । ऐसी दृष्टि से ही आत्मा का सुख प्रगट होता है । ऐसी दृष्टि हुए बिना सुख किसे कहा जा सकता है ?

कर्म आठ हैं, उनके आधार से जो भाव होते हैं सो सब दु खरूप हैं । शुद्धभावको देखनेकेलिये भीतर स्थिर नहीं होना और शुभाशुभभावमें डोलता रहता है । भीतर स्थिर हुए बिना शुभाशुभरूप दो भाव होते हैं, उनमें से एक में कलुषित भाव की तीव्रता है, और दूसरे में मन्दता, किन्तु दोनों कलुषित ही हैं, इसलिये दु खरूप हैं । महाव्रत और अणुव्रतके जितने शुभ भाव हैं वे सब दु खमें समाविष्ट हो जाते हैं । आत्मा ज्ञाताद्रष्टारूपसे परसे जितना निराला रहे उतना ही सुखरूप है, चैतन्यकी स्वाश्रयता ही सुखरूप है । आत्माके स्वाश्रयसे जो बात कही जाती है, वह यथार्थ और परमार्थ है ।

अब पराश्रयसे शास्त्रमें जो बात कही गई है, उसे शिष्यने उठाया है । सर्वज्ञके शास्त्रमें जो पराश्रय बात कहने में आई है, वह व्यवहार है ।

आत्मामें पराश्रयसे जो बात कही जाये वह व्यवहार और स्वाश्रयसे जो बात हो वह निश्चय है । आत्मामें स्वाश्रयसे जितना भाव हो उतना ही आत्मा है, और जो पराश्रित भाव हो वह आत्मा नहीं है ।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानकी जो बात आत्माश्रित कही जाती है, वह सब परमार्थ दृष्टि अर्थात् निश्चय दृष्टिकी है।

शुभाशुभभाव आत्माकी अवस्थामें होते हैं, उस बातको यहाँ गौण कर दिया है, और स्वाश्रयभावको ही मुख्य रखा है। आत्मोन्मुख होते हुए जो भाव होते हैं उन्हीं पर यहाँ भार दिया गया है।

अध्यवसानादि भाव जीवके हैं और नहीं भी हैं—ऐसा आगममें कहा है। पहले ४४ वीं गाथामें कहा था कि अध्यवसानादि भाव सब जीव नहीं हैं—ऐसा सर्वज्ञका वचन है, और वह आगम है। यहाँ भी शिष्य कहता है कि जो अध्यवसानादिभाव हैं वे पुद्गल स्वभाव हैं, तो सर्वज्ञके आगममें उन्हें जीवरूप कैसे कहा गया है? इस प्रकार दोनों जगह सर्वज्ञके आगम की बात कही है।

शास्त्रमें दो नयोंसे कथन है। एक आत्माश्रित होने वाले जो भाव हैं सो निश्चयकी बात है, और दूसरे कर्माश्रित होने वाले जो भाव हैं सो व्यवहार की बात है, यों दो प्रकारसे बात होती है।

आत्माश्रित होने वाले भाव मोक्षमार्ग है और कर्माश्रित होने वाले भाव बन्धमार्ग है।

शिष्य परमार्थकी बात सुनकर पूछता है कि सर्वज्ञके आगममें अध्यवसानादिको जीव क्यों कहा है? प्रभो! आपने यह पुकार पुकार कर कहा है कि अध्यवसानादिक जीव नहीं हैं, किन्तु दूसरे शास्त्रोंमें यह लिखा है कि अध्यवसानादिके साथ जीवका सम्बन्ध है, शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध है। दोनोंमेंसे ठीक क्या है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य देव कहते हैं कि—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥

अर्थ—यह सब अध्यवसानादिक भाव हैं सो जीव हैं ऐसा जिनेन्द्र देवने जो उपदेश दिया है सो वह व्यवहारनय दर्शाया है।

पराश्रयकी—निमित्तकी ओरकी जो बात है सो वह 'है' यह जानने के लिये है, ग्रहण करनेके लिये नहीं।

यह सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, ऐसा जो भगवान सर्वज्ञ देवने कहा है सो वह व्यवहारनयके अभूतार्थ होते हुए भी व्यवहारनयको बतानेके लिये कहा है।

पराश्रयसे आत्मामें जो भाव होता है, वह त्रिकाल रहनेवाला भाव नहीं है, वह अभूतार्थ है। आत्मामें जो राग द्वेषादि भाव होते हैं सो व्यवहार है। राग द्वेषकी अवस्था आत्मामें एक समय मात्रकी होती है। राग द्वेष और शुभाशुभ भाव आत्माका वास्तविक स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका और आत्माका एक क्षणमात्रका सम्बन्ध है।

शरीर और आत्माका भी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ सम्बन्ध है यह बताया है, किन्तु उसे आदरणीय या ग्राह्य नहीं कहा।

आत्माका स्वभाव ही ग्राह्य है। एक क्षण मात्रकी राग द्वेष आदिकी जो अवस्था होती है, उसका आत्माके साथ एक क्षणका ही सम्बन्ध है, किंतु वह आत्मभान द्वारा दूर करने योग्य है। मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, निर्मल हूँ ऐसा जो लक्ष करना पड़ता है, सो वह यह बतलाता है कि अवस्थामें मलिनता है। यदि अवस्थामें मलिनता न हो तो आत्माकी ओर उन्मुख होना कहाँ रहा?

यदि कोई कहे कि—आत्मामें क्षण मात्रके लिये भी राग द्वेष नहीं होता और शरीरके साथ आत्माका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है, उससे इस सम्बन्धकी बात कही जाती है कि—शरीर मेरा है ऐसा विपरीत माननेमें शरीर निमित्त है, उतना व्यवहार सम्बन्ध है, शरीरके साथ जो एकत्व बुद्धि है सो शरीरके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। शरीर की ओर का जो राग है, सो भी शरीरके साथ सम्बन्ध रखता है, वह व्यवहार है।

जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छोंको वस्तु स्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंके लिये परमार्थका कहनेवाला है, इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करनेके लिये व्यवहारनयका दर्शाना न्यायसंगत ही है।

व्यवहारनय म्लेच्छ भाषाके समान है, और म्लेच्छवत् मिथ्यादृष्टि श्रोता हैं। राग द्वषादिक अवस्थामें होते हैं। वे 'हैं' ऐसा विचार करना सो व्यवहारनय है, और वे स्वभावमें नहीं हैं सो परमार्थ है।

म्लेच्छको म्लेच्छकी भाषामें समझाया जाता है। जैसे गुजराती भाषा का कोइ शब्द गुजराती जाननेवाला बालक ही समझ सकता है, किन्तु उसे अंग्रेज नहीं समझता इसलिये उसे अंग्रेजी भाषामें समझाया जाता है। इसी प्रकार अनादि कालसे व्यवहार दृष्टि वाले जीव पराश्रय में फँसे हुए हैं। अत उन अज्ञानियोंको पराश्रित व्यवहारसे समझाया जाता है, उन अज्ञानियोंकी दृष्टि भग पर और निमित्त पर जमी हुई है, इसलिये उन्हे यदि भग द्वारा और निमित्त द्वारा समझाया जाय तभी समझते हैं।

व्यवहारनय का विषय खड खड युक्त है, जो कि आदरणीय नहीं है, आदरणीय तो अखंड आत्मा ही है। तथापि जानना चाहिये कि मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर यह राग-द्वेष की अवस्था होती है, यदि ऐसा ज्ञान हो तो उस अवस्था को दूर करने का पुरुषार्थ करना होता है। किन्तु व्यवहारदृष्टि तो भग दृष्टि है, खड दृष्टि है, पराश्रित है, इसलिये वह आदरणीय नहीं है, रख छोड़ने योग्य नहीं है। मेरा ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। मै त्रिकालज्ञाता अखड हूँ, वही एक आदरणीय है, ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है, वह सम्यक्दृष्टि है। निश्चय दृष्टि आत्मामें शुभाशुभ भावको स्वीकार नहीं करती किन्तु निषेध करती है। किन्तु जब तक अपने पूर्ण पवित्र स्वभावमें पूर्णतया स्थिर न हो जाये, पूरी पर्याय न हो जाये तब तक जो जो अवस्था होती है, उसे ज्ञानी भलीभाँति जान लेता है। जो जो अवस्था होती है उसे ध्यानसे बाहर नहीं जाने देता, किन्तु उन्हें जान लेता है सो व्यवहारनय है। मै कमस्वभाव नहीं हूँ, मै राग भाव नहीं हूँ, ऐसी दृष्टि विद्यमान है, किन्तु जब तक पूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ तब तक हीन पुरुषार्थ की अवस्थाको जान लेना सो व्यवहारनय है। जहाँ यह कहा कि आत्मा रागयुक्त नहीं है, वहाँ यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि पहले रागयुक्त था। जहाँ एक अपेक्षासे कथन होता है वहाँ दूसरी अपेक्षा आ जाती है, इसलिये व्यव-

हार है।

व्यवहारी जीवोंको व्यवहार की भाषासे समझाते हैं कि आत्मा राग युक्त है, द्वेषयुक्त है, और वह विकार है। विकार अवस्थामें होता है, स्वभावमें नहीं, ऐसा कहा कि वहाँ भेद हो गया। भेद किये बिना कैसे समझाया जाये? यद्यपि भेदसे अभेद नहीं समझा जा सकता, किन्तु अभेद को समझते हुए बीचमें भेद आ जाता है। व्यवहारनय परमार्थ को कहनेवाला है, किन्तु परमार्थरूप नहीं है। परमार्थ को समझते हुए बीचमें व्यवहार आ जाता है, इसलिये उसके आरोप से ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे समझा है, किन्तु वास्तवमें व्यवहारसे नहीं समझा, लेकिन यथार्थ को समझते हुए बीचमें व्यवहार आ जाता है।

व्यवहार का अर्थ है विकल्प। विकल्पसे समझा नहीं जाता, किन्तु अभेद निर्विकल्प स्वरूप होने में बीचमें विकल्प आ जाता है, वह व्यवहारनय पराश्रित है। व्यवहारनय परमार्थको भी कहता है। व्यवहारनय अपरमार्थभूत है, फिर भी उसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करने के लिए बताना न्यायसगत है।

व्यवहार परमार्थ को कहनेवाला है किन्तु वह लाभदायक नहीं है। यदि अज्ञानीसे कहा जाये कि तू आत्मा है, तो मात्र आत्मा शब्द कहने से वह नहीं समझेगा इसलिये उसे समझानेके लिये यह कहा जाता है कि–देख जो यह जानता है सो आत्मा है, या जो प्रतीति करता है सो आत्मा है, इत्यादि। इसीप्रकार धर्मतीर्थ की प्रवृत्तिके लिये व्यवहारनय कहा जाता है, वह व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थ बताने वाला है किन्तु परमार्थ को प्रगट करनेवाला नहीं है।

आत्मा अनन्त गुणका पिंड है, उसमें से एक गुणको भेद करके समझाना सो व्यवहार है। मुनि, आर्यिका, श्रावक, और श्राविका को समझानेके लिये कहे कि देखो यह आत्मा है सो जीव कहलाता है, यह शरीरादिक अजीव कहलाते हैं, जो शुभाशुभ भाव होते हैं सो आस्रव हैं, वह विकारी भाव है और आत्माके अखंड स्वभावको लक्षमें लेने पर निर्मल पर्याय प्रगट हो और मलिन अवस्था दूर हो सो संवर है, आत्म स्वभावमें गाढ़ स्थिरता होना सो निर्जरा है, कर्मका खिर जाना द्रव्य निर्जरा है, संवर और

निर्जरा मोक्ष मार्ग है, और सम्पूर्ण निर्मल पर्यायका प्रगट होना सो मोक्ष है। ऐसे नवतत्वके विकल्प राग मिश्रित हैं, तथापि एसे भेद करके, व्यवहार धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति के लिये समझाया जाता है। स्वरूप को समझते हुए और उसमें स्थिर होते हुए बीचमें शुभविकल्प का व्यवहार आता है, सो वह व्यवहार धर्मतीर्थ है, इतना ही नहीं, किन्तु समझकर स्वरूपमें स्थिर होना भी व्यवहार धर्मतीर्थ है। किन्तु वह व्यवहार परिपूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होनेसे पूर्व बीचमें आता अवश्य है, इसलिये व्यवहार समझाया जाता है। परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य दृष्टिके विषय में एसे भेद नहीं होते।

व्यवहार है तो अवश्य, यदि वह न हो तो उपदेश देना ही व्यर्थ सिद्ध होगा। आत्मामें मलिन अवस्था होती है, उसे दूर किया जा सकता है। साधक अवस्था है, बाधक अवस्था है, और अपूर्ण अवस्था है, उसे पूर्ण किया जा सकता है। अशुभ परिणामको दूर करने के लिये निम्न भूमिकामें शुभ परिणाम आते हैं, किन्तु शुद्ध दृष्टिके बलसे स्वरूपमें स्थिर होने पर शुभ परिणाम भी दूर हो जाते हैं। पुरुषार्थके द्वारा मोक्ष मार्गमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अवस्था साधी जाती है, इत्यादि भेदोंको व्यवहारनय बताता है, इसलिये व्यवहारनयका बताना न्याय संगत है। व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह वर्तमान मात्रके लिये है, त्रिकाल नहीं है। अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण आत्मा त्रिकाल है, त्रिकाली अर्थात् समस्त नय एकत्रित करके त्रिकाली अखण्ड हो हो ऐसा नहीं है वह जैसे वर्तमानमें परिपूर्ण अखण्ड है वैसा ही त्रिकाल परिपूर्ण अखण्ड है, इसलिये आत्मा त्रिकाल है, आत्मा वर्तमानमें ही परिपूर्ण अखण्ड है, ऐसा विषय करने वाली दृष्टि परमार्थदृष्टि है। जो व्यवहार है सो वर्तमान एक समय पर्यंत ही है, वह बदल जाता है, इसलिये अभूतार्थ है, इसलिये व्यवहारनय आदरणीय नहीं है। व्यवहारनय, व्यवहारनयसे आदरणीय है, किन्तु वह आत्मामें त्रिकाल स्थायी भाव नहीं है। वह व्यवहारनय परमार्थ दृष्टिसे आदरणीय नहीं है। मलिन अवस्था और निर्मल अवस्था तथा अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थाका परिपूर्ण दृष्टिमें स्वीकार नहीं है, वह दृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती, उसका आदर नहीं करती। व्यवहार है वैसा ज्ञानमें

जानना सो व्यवहारनय है ।

निम्न भूमिका में बीच में निमित्त आये विना नहीं रहते, अशुभ परिणामों को दूर करने के लिये शुभ परिणाम आये विना नहीं रहते, अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्था का भेद हुए विना नहीं रहता, इसलिये व्यवहार है, अवश्य ।

अनादिमिथ्यादृष्टि को सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करने के लिये साक्षात् चैतन्यमूर्ति देवगुरु के अपूर्व वचन एकबार कान में पड़ना चाहिये, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है । जहाँ सत् को समझने की जिज्ञासा जागृत होती है, वहाँ ऐसे निमित्त मिल जाते हैं । जो निमित्त मिलते हैं सो निमित्त के कारण मिलते हैं, और जो समझता है सो अपने कारण से समझता है । निमित्त के विना समझा नहीं जाता, किन्तु यह भी सच है कि निमित्तसे समझा नहीं जाता । एकबार सत्‌वचन कान में पड़ना चाहिये ।

सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करने के बाद भी जबतक अपूर्ण अवस्था है, तब तक साधक जीवों के धर्म भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं इसलिये उनके उदय भी भिन्न प्रकार के होते हैं । राग भिन्न २ प्रकार का होता है और राग के निमित्त भी भिन्न प्रकारके होते हैं । राग के अनुसार निमित्त का सयोग हो तो रागके निमित्त भी भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं, जैसे प्रतिमा, दर्शन, स्वाध्याय, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि ।

चतुर्थ पचम और छुटे गुणस्थान के अनुसार अमुक मर्यादा तक राग का उदय होता है । उसमें चतुर्थ पचम गुणस्थानवर्ती समस्त साधक जीवों के राग का उदय एकसा नहीं होता, किन्तु अनेक प्रकार का होता है, और निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं । तथा छुठे गुणस्थानवर्ती समस्त साधक मुनियोंके रागका उदय एकसा नहीं होता किन्तु अनेक प्रकारका होता है और उनके निमित्त भी अनेक प्रकारके होते हैं, जैसे स्वाध्याय, उपदेश, शास्त्र रचना, भगवानका दर्शन, स्तुति, अभिग्रह (वृत्तिपरिसंख्या) इत्यादि भिन्न २ प्रकार के शुभभाव होते हैं और तदनुसार उसके उदय के अनुकूल बाह्य निमित्त भी भिन्न २ प्रकार के होते हैं । चैतन्य की अवस्था में शुभराग

का उदय आता है किन्तु उस शुभराग के अनुसार निमित्त का संयोग होना या न होना पुण्याधीन रहता है। जैसे साक्षात् सीमंधर भगवान के दर्शन करने की भावना है, किन्तु उसका संयोग मिलना पुण्याधीन है। ज्ञानी के निमित्त है, राग है, उसका ज्ञान है, किन्तु वह आदरणीय नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा अकेला ही है और कर्म सर्वथा पृथक् ही है, कर्म और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तो फिर बन्ध मोक्ष कहाँ रहा? विकार कहाँ रहा? और उसे नाश करना भी कहाँ रहा? इसलिये आत्मा और कर्म का सम्बन्ध है। आत्मा के साथ कर्मका निमित्त है—कर्मका व्यवहार है, किन्तु उसे आदरणीय माने या लाभदायक माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि व्यवहारनय से भी आत्मा के साथ कर्म का सबंध न हो तो दुःख कहाँ रहा? और दुःख को दूर करने के लिये पुरुषार्थ करने की भी आवश्यकता कहाँ रही? इसलिये यदि सबंध न माना जाये तो वह कुछ भी नहीं रहता। पराश्रय भाव के होने में निमित्त रूपसे कर्म का सबंध है किन्तु निश्चय से कर्म का सबंध आत्मा में नहीं है।

और ऐसा भी नहीं है कि कर्म आत्माको रागद्वेष कराते हैं। यदि कर्म आत्मा को राग द्वेष कराते हों तो कर्म और आत्मा दोनों एक हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं विपरीत दृष्टि के द्वारा राग द्वेषरूप विकार भाव में युक्त हो तब कर्म निमित्त रूप होते हैं, इसे जानना सो व्यवहारनय है।

यदि व्यवहारनय न दिखाया जाये तो परमार्थतः जीव शरीर से भिन्न बताया जाता है, इसलिये जिस प्रकार भस्म को मसल देने में हिंसा का अभाव है उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवोंको भस्मकी भाँति निःशंकतया मर्दन कर देने में भी हिंसा का अभाव सिद्ध होगा, और इससे बन्धका ही अभाव हो जायेगा।

परमार्थ की भाँति व्यवहार से भी आत्मा और शरीर से कोई सम्बन्ध न हो तो फिर जैसे राख को मसल देने से हिंसा नहीं होती इसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों को भी मसल देने से हिंसा नहीं होगी, किन्तु ऐसा नहीं है।

शरीर में रोग होता है सो उस रोग का दुःख नहीं होता, किन्तु उस रोग के प्रति जो द्वेषभाव है उसका दुःख होता है, उस द्वेष का

और रोगका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे परमार्थत शरीरसे आत्मा सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार यदि व्यवहारसे भी शरीर और आत्माका कोई भी सबंध न माना जाये, और शरीर तथा आत्मा सर्वथा सम्बन्ध रहित भिन्न हों तो त्रस स्थावर जीवों को मार डालने के भाव और प्रस्तुत मरनेवाले त्रस स्थावरका निमित्त दोनों सिद्ध नहीं होते। मरनेवाले जीवको शरीर पर राग है, इसलिये उस रागके कारण शरीरके अलग होते समय दुःख होता है। यदि शरीरके साथ आत्माकी वैभाविक पर्यायका कोई सम्बन्ध न हो तो शरीरके अलग होते समय दुःख न हो, इसलिये संबंध न माने तो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

जैसे परमार्थत शरीर और आत्मा भिन्न हैं, कर्म और आत्मा भिन्न हैं इसीप्रकार यदि व्यवहारसे भी शरीर और आत्मा तथा कर्म और आत्माका कोई भी सबंध न हो तो मारनेवाले जीवके किसी जीवको मारने या दुःख देने के भाव ही न हों। मरनेवाले जीवको अपने शरीर पर राग है, इसलिये यदि कोई उसे मारता है तो उसे दुःख होता है, इसलिये रागमें और दुःखमें शरीरका निमित्त है, और राग होता है इसलिये कर्मका भी निमित्त है। यदि कर्मका निमित्त न हो तो राग आत्माका स्वभाव हो जाये इसलिये रागके होनेमें कर्मकी उपस्थिति होती है।

यदि रागभाव और शरीरका तथा कर्म और रागका निमित्त–नैमित्तिक सबंध ही न हो, तो मरनेवाले जीवको दुःख ही न हो।

मारनेवाले जीवको भी द्वेष भाव और अपने शरीरका तथा द्वेषभाव और कर्मका व्यवहारसे भी कोई सबंध न हो तो दूसरे जीवको मारनेका भाव ही न हो।

मारनेवाले जीवके उसके द्वेषभाव और शरीरका सम्बन्ध है, तथा उसके आत्माके प्रदेशोंके कम्पनका और शरीरका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, इसीप्रकार मरनेवाले जीवके भी रागभाव और शरीरका सबंध है, उसके आत्माके प्रदेशोंके कम्पन और शरीरका भी एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, जब तू ऐसे सम्बन्धको लक्षमें लेता है तब मारनेकी वृत्ति उत्पन्न होती है।

मारनेवाले को सबंधका ज्ञान नहीं है, वह तो शरीरको ही आत्मा

मानता है, किन्तु मारनेकी जो वृत्ति होती है, उसमें मबन्ध आ जाता है।

उपरोक्त सबके व्यवहार सम्बन्ध अर्थात् निमित्त–नैमित्तिक सनध है तो मारनेके भाव होते हैं, इसलिये बन्ध भी होता है। जैसे भस्मको मसल देनेमें बन्धका अभाव है वैसे वे नहीं है, किन्तु बन्ध होता है, और इसलिये ससारमें परिभ्रमण करता है। यदि ऐसा व्यवहार मबन्ध न माने तो संसार, मोक्ष, मोक्षमार्ग इत्यादि कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाये तो शरीर और आत्मा वस्तुत भिन्न २ ह, वस्तुस्वभावसे राग द्वेष और आत्मा भिन्न भिन्न हैं, कर्म और आत्मा भिन्न भिन हैं, किन्तु यदि अवस्थामें कोई भी सबध न हो तो उसका शरीर पर लक्ष न जाये और राग द्वेष न हो।

यदि कर्म और आत्माकी पर्यायका व्यवहारसे भी कोई सबध न हो, तो राग द्वेष और कर्मका निमित्त–नैमित्तिक मबध भी न हो, और उसमे किसी जीवके मारनेके विकारी भाव भी न हों, तथा बन्ध भी न हो। मार डालनेका जो भाव होता है सो कर्मके अशसे होता है। किसी जीवको मार डालू और उसे दुःख होता है, ऐसी कल्पना हुए बिना मारनेके भाव होंगे ही नहीं।

यदि आत्मा में राग द्वेष सर्वथा होते ही न हों तो आत्मा सर्वथा निमल हो, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि मलिनता तो दिखाई देती है, इसलिये आत्मा राग द्वेष करता है। राग द्वप और आत्माका वर्तमान पर्याय से सम्बध है। यदि सम्बध ही न हो तो किसी जीव को मारने से उसे दुःख न हो, और अपना मार डालने का भाव भी न हो।

शास्त्रों में पराश्रय का कथन भी है और स्वाश्रय का भी कथन है। यदि उन दोनोंकी सधि करके दोनोंमें विवेक न करे तो समझमें नहीं आ सकता। यदि दोनों के अतर का अभ्यास करके विवेक न करे तो समझ में नहीं आ सकता। वास्तवमें तो उपकार अपनी यथार्थ समझका है, निमित्त का उपकार कहना तो व्यवहार से है। यदि विपरीत भाव में कर्मकी उपस्थिति न हो तो दुःख नहीं हो सकता। यदि दुःख के समय शरीर में रोग न हो

तो दुःख और द्वेष नहीं हो सकता। ऊपर जैसे हिंसा की बात कही है, उसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह, इत्यादि के भावों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। शरीर, वाणी, कर्म और आत्मा की वैभाविक पर्याय का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि सत्य बोलने के भाव हों तो वाणी सत्य बोलने में निमित्त होती है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि सत्य बोलने के भाव हों और वाणी असत्य बोलने के रूप में निमित्त हो। जैसे भाव होते हैं, उसी प्रकार निमित्त परिणमित होता है। जिसने वास्तव में माँस का त्याग कर दिया है, उसके शरीर की क्रिया मांस खाने की नहीं हो सकती—ऐसा सम्बन्ध है, यदि कोई कहे कि हमारे अमुक वस्तु का त्याग है, किन्तु उसके खाने की क्रिया बना हुई है, तो यह बात सर्वथा मिथ्या है, वह वस्तुस्वरूप को नहीं समझा है, और मात्र बातें बताना जानता है, उसे धर्म प्रगट नहीं हुआ है किन्तु वह मिथ्या प्रकार से यह बताता है कि मुझे धर्म प्रगट हुआ है। जिसके ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हुआ है, उसके पास अब्रह्मचर्य रूपसे शरीर का निमित्त नहीं हो सकता ऐसा सम्बन्ध है। अतरंग में तो ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हो गया हो और बाहर से विषय सेवन करता हो ऐसा नहीं हो सकता। यदि कोई यह कहे कि हमें अंतरंग में तो ब्रह्मचर्य का भाव प्रगट हो गया है, किन्तु बाहर से विषय सेवन करते हैं तो ऐसा कहने वाले सर्वथा झूठे हैं, उन्हें धर्म प्रगट नहीं हुआ, किन्तु वे मिथ्या प्रकार से अपने को धर्म प्रगट होना बतलाते हैं। शुभाशुभ भाव के साथ शरीर वाणी और कर्मका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

गृहस्थाश्रम में स्थित चक्रवर्ती के श्रद्धा और ज्ञान से सर्व विषयों का त्याग है। पर पदार्थ में कहीं भी सुखबुद्धि भासित नहीं होती। सुख हो तो मेरे आत्मा में हैं, एक रजकण भी मेरा नहीं है, यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जाता हो तो मुझे यह कुछ नहीं चाहिये, ऐसी भावना विद्यमान है। क्या किया जाये? पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण यहाँ रह रहा हूँ, यदि इसी क्षण पुरुषार्थ जागृत हो जाये तो मुझे कुछ नहीं चाहिये, ऐसी भावना करता हुआ वह राजवैभव में बैठा हुआ अपने को विष्टा के ढेर पर बैठा हुआ

मानता है, किन्तु अल्प अस्थिरता विद्यमान है, इसलिये वह राजकाजमें विद्यम न है। वह वीतराग हो गया है, और कोई रागद्वेष नहीं रहा है, फिर भी ससार में राज काजमें लगा हुआ है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जितना राग विद्यमान है उतना शरीर, राज्य और स्त्री इत्यादि के साथ सम्बन्ध विद्यमान है। राग के कारण गृहस्थाश्रममें विद्यमान है यदि राग छूट जाये तो मुनि हो जाये। रागका और गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध है। यदि राग छूट जाये तो गृहस्थाश्रम छूट जाये ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। चारित्र दशा प्रगट नहीं हुई इसलिये गृहस्थाश्रम में विद्यमान है।

राग है, निमित्त है, उसे ज्ञानमें स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। यदि उसे स्वीकार कर ले तो पुरुषार्थ करना होता है। व्यवहार है, यह जानना सो व्यवहारनय है। इसके अतिरिक्त व्यवहारनयका दूसरा अर्थ नहीं है।

जो निमित्त को रखने योग्य माने और लाभदायक माने, तथा राग को रखने योग्य या लाभदायक माने वह मिथ्यादृष्टि है। जो निमित्त और राग का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

यह समयसार शास्त्र परमार्थ की बात कहने वाला है, उसमें व्यवहार गौण है। व्यवहारकी मुख्यता वाले अन्य अनेक शास्त्र हैं। किन्तु इस शास्त्र में कथित परमार्थ को समझे बिना तीन काल और तीन लोक में सिद्धि नहीं हो सकती। परमार्थ प्रगट होते हुए बीचमें व्यवहार आ जाता है। उस व्यवहार को बताने वाले व्यवहारशास्त्र हैं, किन्तु जो मात्र व्यवहार को पकड़ रखता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जब स्वयं राग द्वेष करता है तब कर्म निमित्तरूप होते हैं, किन्तु यदि यह माने कि कर्मने राग द्वेष कराया है तो वह व्यवहार ही निश्चय हो गया, और यदि राग द्वेषको अपना माने तो व्यवहार ही परमार्थ हो गया।

त्रिकालदृष्टि-परमार्थ दृष्टि भूलका नाश करती है। निमित्त और रागके सम्बन्ध में व्यवहार बीच में आता है, उसे जानना सो व्यवहारनय है, किन्तु उसे आदरणीय मानना सो व्यवहारनय नहीं है।

राग द्वेष तथा शरीर का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, यदि वह न हो तो कैसे समझाया जायेगा? शरीर तेरा नहीं है और राग द्वेष तेरे नहीं

हैं, ऐसा मान, ऐसे उपदेश के द्वारा उस अज्ञानी को समझाया जाता है कि जो शरीर को और राग द्वेष को अपना मानता है।

शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं, इस परमार्थ तत्त्व को समझ लेने पर मारने के भाव नहीं होते। जो अस्थिरता होती है उसे यहाँ नहीं लिया है।

परमार्थ के द्वारा जीव राग द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाता है, इस लिये 'रागी द्वेषी मोही जीव कर्मों से बँधते हैं उन्हें छुड़ाना चाहिये'—इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव होगा, और इसलिये मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा।

वास्तवमें तो आत्मा राग द्वेषसे भिन्न है, किन्तु विपरीत दृष्टिके कारण राग-द्वेषको अपना मान रहा है। उस विकारी अवस्थाके साथ आत्माका वर्तमान पर्याय जितना सम्बन्ध है, उतना व्यवहार सम्बन्ध न हो तो यह उपदेश नहीं हो सकता कि तू विकारको छोड़ दे और मुक्तिको प्राप्त कर।

परमार्थ दृष्टि तो आत्मा को परसे भिन्न ही बतलाती है, किन्तु व्यवहार सम्बन्ध से कहा जाता है कि तू पुण्य पाप से बँधा हुआ है। यदि पर की अपेक्षा न हो तो उसे छुड़ानेका उपाय-मोक्षका उपाय जो निर्मल श्रद्धा, निर्मल ज्ञान, और निर्मल चारित्र है, उसका उपदेश भी नहीं दिया जा सकेगा, और यह नहीं कहा जा सकेगा कि—मोक्षके उपायको ग्रहण कर।

यदि मात्र ध्रौव्यको ही माना जाये तो राग द्वेषके व्यय और मुक्ति के उत्पाद करनेका पुरुषार्थ ही न हो सकेगा।

यद्यपि मोक्षका उपाय ध्रुव दृष्टिसे ही होता है, किन्तु उस ध्रुव दृष्टिके द्वारा मोक्ष पर्यायका उत्पाद और बंध पर्यायका व्यय होता है, यदि उत्पाद-व्यय को स्वीकार न करे तो पर्याय में भी मलिनता सिद्ध नहीं होगी, और तब मलिनता दूर करनेका उपदेश भी नहीं दिया जा सकेगा।

यहाँ जिस प्रकार नाप तौलकर कहा जा रहा है, उसी प्रकार समझना चाहिये। यदि स्वभावमें विकारकी नास्ति माने और स्वभावको

निर्मल माने तो ही मोक्ष का उपाय होता है, परन्तु मोक्ष मार्ग की पर्याय और मोक्ष की पर्याय दोनों व्यवहार हैं। यदि व्यवहार को न माने तो मलिनता का दूर करने का उपदेश नहीं दिया जा सकता। ध्रुव दृष्टि के बल से मोक्ष मार्ग की अवस्था और मोक्षकी अवस्था प्रगट होती है, उसे ज्ञान में स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। बन्धकी अवस्था, मोक्ष और मोक्ष मार्गकी अवस्था है, इसलिये व्यवहार को बताना न्यायसंगत है।

यह आत्मा देह से निराला अनन्त गुण स्वरूप तत्व है। यह शरीररूपी रजकणों का एक पुतला है, उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं, यह अनन्त रूपी परमाणुओंका पुतला है। जहाँ शरीर है, उसी क्षेत्रमें आत्मा है। वह आत्मा भी शरीराकार अरूपी एक पुतला है। जहाँ आत्मा है, उसी स्थान पर कार्माण शरीरका भी एक पुतला है। जो विकारी भाव है सो कर्मके निमित्तसे होता है, किन्तु परमार्थ दृष्टिसे आत्मामें विकारकी नास्ति है। आत्मा देहसे पृथक तत्व है, अनन्तगुणोंकी पिंडरूप एक वस्तु है, यह बात अनन्तकालमें जीवोंने कभी नहीं सुनी और उसके प्रति रुचि नहीं जमी, तब फिर एकाग्र होना कहाँसे हो सकता है?

पहले आत्माको समझे बिना यथार्थ वर्तन नहीं हो सकता, इसलिये आत्मस्वरूप समझनेके लिये सच्चे देव गुरुकी वाणीका श्रवण और उनका संग करना चाहिये। परमार्थमें से रुचि हटकर आत्मस्वभावकी रुचि जागृत हुए बिना यथार्थ नहीं समझा जा सकता। आत्म स्वभावकी रुचि जागृत होने पर वह स्वभाव जिसे प्रगट हुआ है, उसे यथार्थ देव गुरु पर बहुमान और भक्ति हुए बिना नहीं रहती। पहले आत्माको समझनेकी सत् जिज्ञासा सहित देव गुरु शास्त्रका बहुमान पूर्वक समागम, सत् श्रवण, सत् पठन और सत् विचार आयेगा। सत्को समझनेकी आकांक्षासे यथार्थ ज्ञान और श्रद्धा होती है उसके बाद यथार्थ प्रवृत्ति (चारित्र) होती है। आत्माका चारित्र आत्मामें होता है, जड़में नहीं। समझनेके बाद स्वरूपमें स्थिर होना सो अंतरंगकी अरूपी क्रिया है, वह यथार्थ प्रवृत्ति है, वह सच्चे व्रत हैं। स्वभावदृष्टि के बल से अशुभराग को दूर करते २ राग रह जाता है, उसमें व्रततप के शुभ भाव

सहज होते हैं। स्वरूप स्थिरता में टिकने पर जितना राग का नाश होता है, उतना चारित्र है।

सम्यग्दर्शन के बिना व्रत और चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। पहले सम्यग्दर्शन होता है, अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान होता है, तत्पश्चात् आगे बढ़ने पर पांचवाँ गुणस्थान आता है, जहाँ आंशिक स्वरूपस्थिरता बढ़कर अव्रत के परिणाम दूर हो जाते हैं, और शुभ परिणामरूप व्रत होते हैं, जो कि व्यवहार व्रत हैं, और जो स्वरूप में स्थिरता बढ़ी सो निश्चय व्रत हैं। इसके बाद छट्ठा गुणस्थान होना है, तब मुनित्व प्राप्त होता है, वहाँ स्वरूप रमणता विशेष बढ़ जाती है। पहले सच्ची श्रद्धा होती है, और फिर व्रत होते हैं, यह मोक्ष मार्ग का क्रम है।

आजकल लोग उपरोक्त समझने के मार्ग का क्रम छोड़कर बाह्य व्रत-तप इत्यादि में धर्म मान रहे हैं, जिसमें मात्र शुभ परिणाम हो तो पुण्य बंध हो सकता है, किन्तु भव का अभाव नहीं हो सकता। लोगोंने ऐसे बाह्य व्रत तप इत्यादि में सर्वस्व मान रखा है, और उन्हींसे धर्म मोक्ष का होना मान लिया है, किन्तु ऐसी मान्यता मात्र मिथ्यादर्शन शल्य है। ऐसी मान्यता से एक भी भव कम होने वाला नहीं है। पहले सच्ची श्रद्धा कर, उसके बाद यथार्थ चारित्र बन सकेगा। सत् श्रवण, मनन और बहुमान के शुभ परिणाम के साथ सत् रुचि और सत् को समझने का शोधन यदि यथार्थ हो तो अवश्य सत् समझमें आये और सम्यक् श्रद्धा प्रगट हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि विषय कषाय का अशुभ राग दूर न किया जाये। विषय-कषाय की तीव्र आसक्ति को दूर करने के लिये शुभराग होगा, किन्तु वह धर्म नहीं है, इसलिये पहले यथार्थ को समझने का प्रयास करना चाहिये और उस ओर उन्मुख रहना चाहिये, यह सच्चे मार्गको प्राप्त करने का क्रम है।

सम्यग्दर्शनके साथ निःशंकादि आठ अंग होते हैं। व्रतका प्रकार तो पंचम गुणस्थानमें होता है, इसलिये सत् समागमसे पहले सच्ची समझ प्राप्त करनी चाहिये। जीवने अनंतकालसे धर्म श्रवण नहीं किया।

उपवासादि करके यदि कषाय को हलका करे तो पुण्य बन्ध होता है, किन्तु इससे भवका अभाव नहीं होता।

जो शुभाशुभभाव होते हैं सो विकारी भाव हैं। कर्म के निमित्तसे जितने भाव होते हैं व सब विकारी भाव हैं। व आत्मा का स्वभाव धर्म या हितरूप नहीं हैं। विकार सदा स्थायी नहीं है और आत्मा सदा स्थायी वस्तु है। उसे पहिचान तो तेरा हित हो, धर्म हो।

शिष्यने दूसरी ओरका तर्क उपस्थित करते हुए कहा था कि प्रभो! आपने तो आत्माके मात्र शुद्ध स्वरूपकी ही बात कही है, और उसीको जानने–देखने और स्थिर होनेको कहा है किन्तु अन्य शास्त्रोंमें तो ऐसा कथन है कि–आत्मा राग-द्वेष और देहयुक्त है, तब इन दोनों बातोंका मेल कैसे बैठ सकता है?

इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि–भगवान सर्वज्ञदेवने यह कहा है कि–यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं, सो यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि व्यवहारनयको भी बताया है।

आत्मामें पराश्रय भाव होता है, उसे आत्मामें होता है, ऐसा जानना सो व्यवहारनय है। कर्माश्रित भाव एक समय मात्रके लिये होते हैं सो अभूतार्थ है। जो कर्माश्रित—पराश्रित भाव होते हैं सो सत्य नहीं है, क्योंकि वह त्रिकालस्थायी वस्तु नहीं है। सत्य नहीं है, अर्थात् जड़में होती है, यह बात नहीं है। यद्यपि वह आत्माकी अवस्थामें होती है, तथापि वह आत्माका वास्तविक स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे अभूतार्थ कहा है।

पानी अग्निके निमित्तसे उष्ण होता है किन्तु पानीका स्वभाव शीतल है, उसका त्रिकाल स्वभाव उष्ण नहीं है। पानीका स्वभाव शीतल है, ऐसा जानना सत्यार्थ है, किन्तु अग्निके निमित्तसे वर्तमानमें उष्णता आ गई है, सो इस आरोपका आना व्यवहार है। जो आरोप है सो आरोपकी दृष्टिसे सत्य है, किन्तु वह पानीके मूल स्वभावकी दृष्टिसे सत्य नहीं है।

इसीप्रकार जिसे आत्माका शीतल स्वभाव प्रगट करना है, उसे आत्माकी ज्ञान और शांति आदिकी शीतलता तथा राग द्वेष-अज्ञानरूप

उष्णता–इन दोनों भावोंका स्वरूप जानना होगा। आत्माकी पर्यायमें कर्मके निमित्तसे राग-द्वेष और अज्ञानरूप उष्णता होती है, परन्तु आत्माका स्वभाव सम्पूर्ण निर्मल और अविकारी है। उसका त्रिकाल स्वभाव रागद्वेष और अज्ञान रूपसे मलिन नहीं है, परन्तु शुद्ध और निर्मल है। आत्मा स्वभावसे शुद्ध और निर्मल है, ऐसा जानना सो सत्यार्थ है, किन्तु स्वयं कर्मके निमित्ताधीन होने पर राग-द्वेष और अज्ञानरूप मलिन अवस्था वर्तमानमें हुई है, इतना आरोप आया सो व्यवहार है। आरोप को आरोपकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह सत्य है, किन्तु वह आत्माके मूल स्वभावकी दृष्टिसे देखने पर सत्य नहीं है।

आत्मस्वभावरूप शीतलता की दृष्टिके बलसे रागद्वेषरूप अस्थिरता दूर हो जाती है। पर्याय पर दृष्टि नहीं जमती, क्योंकि पर्याय पलट जाती है। पर्याय टिकती नहीं है, इसलिये जो टिकनेवाला द्रव्य है, उस पर दृष्टि डाले तो वहाँ दृष्टि टिक जाती है, और दृष्टिके स्तम्भित होनेसे स्थिरता होती है, राग द्वेषका अभाव होता है, और स्वभाव पर्याय प्रगट हो जाती है।

यद्यपि बन्ध मोक्षकी पर्याय है अवश्य वह सर्वथा अभूतार्थ नहीं है, यदि सर्वथा अभूतार्थ हो तो कोई पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता न रहे, किन्तु वह क्षणके लिये होती है। मोक्षकी अवस्था प्रतिक्षण नई नई होकर अनन्तकाल तक रहती है, किन्तु वह एक एक पर्याय वर्तमान समय तकही रहती है, इसलिये वह अभूतार्थ है। उस पर्याय पर लक्ष करनेसे राग होता है, परन्तु राग टूटता नहीं है, द्रव्य पर दृष्टि रखनेसे राग टूटता है। मोक्षपर्याय शुद्ध पर्याय है, और बन्धपर्याय मलिन पर्याय है। एकमें निमित्तके अस्तित्व की अपेक्षा है, और दूसरेमें अभाव की। दोनों निमित्तके आश्रयकी अपेक्षा रखनेवाले प्रकार हैं, इसलिये दोनों पर लक्ष जानेसे राग होता है। मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ, ऐसे विकल्प साधक अवस्थामें आते हैं, किन्तु मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ, इसप्रकार गुणके भेद करके लक्ष करने पर राग होता है। उस रागके आश्रयसे स्वभावकी शरणमें नहीं पहुँचा जाता, किन्तु संपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि डालनेसे राग टूट जाता है, स्वभावकी शरणमें पहुँचा जाता है, और वीतरागता प्रगट होती है। स्वरूपको साधनेका जो प्रयास होता है

अर्थात् मोक्षमार्ग होता है सो वह भी अवस्था है, सपूर्ण आत्माका स्वरूप नहीं है, इसलिये उस अवस्था पर लक्ष करनेसे राग होता है। जब तक अपूर्ण है, तब तक मोक्षमार्ग और उस ओर लक्ष होता है, किन्तु वहाँ लक्ष देनेसे राग होता है, किन्तु वह टूटता नहीं है, और अखड द्रव्य पर दृष्टि डालनेसे राग टूटता है और स्वरूप प्रगट होता है।

श्रद्धा गुण स्वय निर्विकल्प है, इसलिये उसका विषय भी निर्विकल्प है। दृष्टिमें भेदका विषय नहीं है, दृष्टि स्वय सामान्य है, इसलिये उसका विषय भी सामान्य है। जो सम्यक्श्रद्धा प्रगट होती है सो अवस्था है, किन्तु उस अवस्थाका विषय सपूर्ण द्रव्य है। दृष्टिका विषय भेद नहीं, किन्तु अभेद–सपूर्ण द्रव्य है। ज्ञान गुण है, जो कि स्व पर–दोनोंको जानता है। दृष्टि होनेके बादका ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। ज्ञान द्रव्यको और अपूर्ण एव पूर्ण पर्यायको भी जानता है। दृष्टिहीन (सम्यक्दर्शन रहित) ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है।

धर्मीकी दृष्टि अखण्ड द्रव्य पर होती है, और वह जानता है कि मैं ज्ञानमें सामान्य परिपूर्ण हूँ, तथा वह वर्तमान अवस्थामें जो मलिनता होती है उसे भी जानता है। यह ज्ञानकी प्रमाणता है।

जब तक पूर्ण वीतराग दशा न हो तब तक सामान्य दृष्टि बनी रहती है, इसलिये पुरुषार्थ सामान्य और विशेषको अखण्ड करनेके लिये पुरुषार्थ करता है। रागको तोड़कर पर्याय सामान्यमें लगातार अखण्ड होती है, यह ज्ञानकी प्रमाणता है। द्रव्य और पर्याय एक होते हैं, सो यह ज्ञानकी प्रमाणता है। श्रद्धा और ज्ञान तो है, किन्तु पुरुषार्थ पूरक रमणता को बढ़ाता हुआ जितने अशमें रागको तोड़कर और रमणताको जोड़कर सामान्यके साथ ज्ञान अखण्ड होता है, सामान्य–विशेष दोनों एक होते हैं सो यह प्रमाणज्ञान है।

ज्ञान अखड पूर्ण स्वभावको भी जानता है, और पर्यायमें जो मलिनता है, उसेभी जानता है। वह वस्तु को और अवस्था को दोनोंको जानता है। इस-प्रकार जो सामान्य और विशेष दोनों को जानता है वह प्रमाणज्ञान है।

श्रद्धा विकारी और अपूर्ण पर्यायको स्वीकार नहीं करती। श्रद्धाके विषय में द्रव्य ही है, शुद्ध परिपूर्ण ज्ञानमें दोनों पहलू ज्ञात होते हैं। ज्ञान जब द्रव्य

के शुद्ध स्वभावकी ओर मुख्यतया उन्मुख होता है तब पर्यायका वजन हलका (गौण) हो जाता है, सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु ज्ञानमें पर्यायका लक्ष गौण होता है, और ज्ञान जब पर्यायका मुख्यतया लक्ष करता है, तब दूसरे पहलूका लक्ष गौण होता है। जब ज्ञानका पहलू मुख्यतया एक ओर जाता है तब उसके साथ राग लगा हुआ होता है। ज्ञानमें वस्तुका एक पहलू मुख्य और दूसरा गौण हो तो उसे नय कहते हैं। दृष्टिके विषयमें द्रव्यका अभेद स्वभाव ही रहा करता है। जितने अंशमें रागको तोड़कर निर्मल पर्याय बढ़ाता हुआ सामान्यके साथ ज्ञान अखण्ड होता है, सामान्य विशेष दोनों एक होते हैं वह ज्ञानकी प्रमाणता है। द्रव्य और पर्याय दोनों प्रमाण ज्ञानमें एक ही साथ ज्ञात होते हैं। जहाँ वस्तु दृष्टि होती है, वहीं नय, प्रमाण इत्यादि सच्चे होते हैं।

चन्दन की लकड़ी सुगन्धयुक्त, भारी और चिकनी तथा कोमल इत्यादि अनेक गुणयुक्त एक ही साथ है, किन्तु उनमें से एक सुगन्ध गुणको मुख्य करके दूसरे को समझाने के लिये कहा जाता है कि—चन्दन की लकड़ी सुगन्धमय है, यह व्यवहारनय है। इसीप्रकार आत्मामें अनन्त गुण एक ही साथ अभेदरूपसे विद्यमान हैं, उस अभेद पहलूको लक्षमें लेना सो निश्चयनय है, और गुण—पर्यायके भेद करके लक्षमें लेना या दूसरों को समझाना सो व्यवहारनय है।

जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही अनन्त गुणों का पिंड यह भगवान आत्मा है, किन्तु उसमें से ज्ञान गुण को मुख्य करके समझाने के लिये कहना कि जो यह ज्ञान है सो आत्मा है यह दर्शन या चारित्र आत्मा है, सो व्यवहारनय है। आत्मा के पूर्ण अखण्ड स्वभाव की प्रतीति होने के बाद भी मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, इत्यादि भेद होते हैं, किन्तु गुण तो द्रव्य के साथ अभेद है। जैसे द्रव्य त्रिकाल है वैसे ही गुण भी त्रिकाल है, द्रव्य से गुणों का भेद नहीं होता, तथापि ज्ञान ज्ञानरूप से, दर्शन दर्शनरूप से, चारित्र चारित्र रूप से और वीर्य वीर्यरूप से त्रिकाल है, सभी गुण लक्षण से भिन्न हैं किन्तु वस्तु से अभिन्न हैं। कोई भी गुण द्रव्य से अलग नहीं होता, द्रव्य से उसका

पृथक्त्व नहीं हो सकता, तथापि अपूर्ण अवस्थामें मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, इत्यादि विकल्प हुये बिना नहीं रहते, भेद हुए बिना नहीं रहते। बीचमें व्यवहार आता है, इसलिये वीतराग देव ने बताया है, अथवा व्यवहार बीचमें आता है इसलिये समझाया है।

स्वभाव तो निर्मल अविकारी वीतरागस्वरूप है, किन्तु कर्म का आश्रय लेने से जो भाव होते हैं वे व्यवहार से तुझमें हैं—ऐसा वीतराग देव ने कहा है। स्मरण रहे कि विकारी भाव तेरी अवस्था में होते हैं, कहीं सर्वथा जड़ में नहीं होते। इस प्रकार प्रयोजनवश किसी नय को मुख्य करके कहना या समझना सो नय है। प्रमाणज्ञान द्रव्य, पर्याय दोनों को एक ही साथ जानता है।

कर्माश्रित भाव तुझमें होते हैं ऐसा वीतराग देवने कहा है। अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि होने पर भी निर्बलता से अवस्था में राग-द्वेष होता है, उसे जानना चाहिये। मैं चौथे पाचवें या छट्ठे गुणस्थान में हूँ, इत्यादि गुणस्थान भेद को जानना चाहिये। मेरी अवस्था श्रावक की है या मुनि की, इत्यादि उस उस समय की अवस्था को जान लेना सो व्यवहारनय है। स्वयं वीतराग नहीं हुआ इसलिये जो जो अपूर्ण अवस्था हो उसका ज्ञान भली भाँति होना चाहिये। ज्ञान ठीक हो तो पुरुषार्थ को लेकर पूर्ण हो जाता है।

श्रद्धा के विषय में पूर्ण होनेपर भी अवस्था में अपूर्ण होने से अपूर्ण को अपूर्ण जाने तो पुरुषार्थ बढ़ाए, और पर्याय को पूर्ण करे। दृष्टि सम्पूर्ण द्रव्य पर विद्यमान है, उस समय अपूर्ण अधूरी पर्यायके जो भेद होते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है।

रागी और वीतरागी तथा शुद्ध और अशुद्ध इत्यादि दो प्रकारसे भगवान ने वस्तु का स्वरूप बताया है। जैसे म्लेच्छ भाषासे म्लेच्छ को समझाया जाता है, उसीप्रकार परके आश्रयसे भेदकरके व्यवहारी जीवोंको समझाया जाता है।

यद्यपि व्यवहारसे वास्तवमें परमार्थ समझमें नहीं आता, किन्तु जब स्वयं समझे तब समझाने वालेको निमित्त कहा जाता है।

सच्ची श्रद्धा हो तो, समझते हुये बीचमें जो गुण भेद करके समझा

या उस भेदको व्यवहार या निमित्त कहते हैं, यदि न समझे तो निमित्त कैसा ? मेरा वीतराग स्वरूप राग द्वेष रहित है, यदि वह समझे तो भेदको निमित्त कहा जाता है।)

भेदका व्यवहार, समझने में और समझानेमें बीचमें आता है। व्यवहारहै अवश्य, यदि आत्मा पर्यायसे भी सम्पूर्णपवित्र ही हो तो फिर किसे समझाना है ? जिसे ऐसा लगता है कि शरीर मेरा है, उसे समझाने के लिये कहते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही क्षेत्रमें रहते हैं, किन्तु शरीरसे आत्मा अलग है। जिसने यह मान रखा है कि घीका घड़ा है उसे समझाते हैं कि—घी का घड़ा वास्तवमें घी का नहीं किन्तु मिट्टीका है, उसमें घी भरा हुआ है, किन्तु वह घड़ा घीमय नहीं, लेकिन मिट्टीमय है।

जैसे किसी बालकने लकड़ीके घोड़ेको सच्चा घोड़ा मान रखा है, इसलिये उससे उसीकी भाषामें यही कहा जाता है कि तू अपने घोड़ेको बाहर ले जा, अथवा तू अपने घोड़ेको इधर ले आ, यदि उससे कहा जाये कि उस लकड़ीको बाहर लेजा या यहां लेआ तो वह नहीं समझ सकेगा, इसलिये उसीकी भाषामें लकड़ीको घोड़ा कह दिया जाता है।

इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान तीनकाल और तीनलोक को जानते हैं। जगतके जो जीव घरमें प्रवेश नहीं करते, और घरके आँगनमें ही खड़े हैं उनसे कहते हैं कि जो ज्ञान है सो तू है, जो दर्शन है सो तू है, और इस प्रकार भेद करके समझाते हैं। यद्यपि आत्मा वस्तु अनन्त गुण-स्वरूपसे अभिन्न है, किन्तु बालकवत् अज्ञानी जीव अभेदमें नहीं समझता इसलिये उसे भेद करके समझाते हैं।

जिन जीवोंने यह मान रखा है, कि—शरीर, मन, वाणी और कर्म हमारे हैं, उन जीवोंको श्री तीर्थंकर देव समझाते हैं कि आत्मा स्वतन्त्र, निरुपाधिक ज्ञाता दृष्टा सबका साक्षी और आनन्दका पिंड है, वह स्वभाव मात्र तेरा है, उसे अपना न मानकर कर्मके भावको और शरीरादिके भावको अपना—निजका मान रहा है, सो यह तुझे शोभा नहीं देता। हे भाई! राग द्वेष के आश्रित रहनेमें तेरे स्वभावभाव की हीनता होती है। तेरे आत्मामें अनन्त

गुणों का अन त वैभव भरा हुआ है। ऐसा समझाने पर यदि समझने वाले जीवकी दृष्टि अपने अभिन्न आत्मा पर पहुँच गई तो जो भेद करके समझाया गया, वह व्यवहार या निमित्त कहलाता है।

भगवान तीर्थंकर देवने कहा है कि जो निमित्ताश्रित भाव होते हैं वे तेरे ह। उ हें तेरे कहनेका कारण यह है कि वे पराश्रित रागादि भाव तेरी अवस्थामें होते हैं, इसलिये तू पुरुषार्थ करके उन्हें दूर कर। पराश्रितभाव तुझमें होते हैं यह कहना सो व्यवहार है। जो ज्ञान है सो तू है जो दर्शन है सो तू है, और जो चारित्र है सो त है, इस प्रकार गुणके भेद करके व्यवहार कहने पर वह परमार्थको समझ जाता है कि अरे! यह विकारी भाव त्रिकाल मुझमें नहीं ह, मेरे अभेद आत्मा में यह रागादिके भेद नहीं हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्रके विकल्प-भेद मेरे अभेद आत्मामें नहीं हैं, इस प्रकार परमार्थको समझ ले तो व्यवहार उपकाररूप हुआ कहलाता है। यदि स्वय परमार्थको समझे तो व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी से श्री गुरु कहते हैं कि हे भाइ! तूने राग किया, द्वेष किया और अन त भव धारण किये, किन्तु वह तेरा स्वरूप नहीं है, तब उसे एसा लगता है कि अरे! मैने अन त भव धारण किये हैं, वे क्यों कर दूर होंगे? तब ज्ञानी कहते हैं कि—जो नित्य निरतर जानने वाला है सो तू है, और जो सुख का पिंड है सो तू है, तथा राग स्नेह या क्रोध-मान रूप तू नहीं है, इस प्रकार भेद करके समझाने पर, यदि वह यह समझ जाये कि आत्मा अखड गुणों का पिंड है, तो धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये व्यवहार कथन न्याय सगत है।

पर तु यदि व्यवहारनयन दर्शाया जाये तो परमार्थन शरीर से जीव को भिन्न बताया जानसे त्रस स्थावर जीवोंका नि शकतया मर्दन घात कर डालने पर भी हिंसाका अभाव सिद्ध होगा, जैसे कि भस्मके मर्दन करनेमें हिंसाका अभाव होता है, *और इस प्रकार तो बधका ही अभाव हो जायेगा।*

परमार्थसे तो यह आत्मा ही परमात्मा जैसा है, और दूसरा आत्मा भी परमात्मा जैसा है, किंतु शरीर मेरा है, राग मेरा है, इस प्रकार अपनेपनकी

बुद्धि है, और एसवरी बुद्धि हैं, उसके हिंसा करनेका भाव होता है। परमार्थसे शरीर और आत्मा भिन्न हैं तथापि निःशङ्कतया मारनेका जो भाव होता है, उसीमें व्यवहार सिद्ध होता है। जिसकी दृष्टि शरीर पर है, ऐसे त्रस-स्थावर जीवोंको मारनेका भाव या अपने शरीर पर रागका भाव परमार्थ नहीं किन्तु व्यवहार ही है, क्योंकि आत्मा निर्विकार है।

तेरा मारनेका भाव हो, और यदि वह मारनेका भाव-हिंसाका भाव तेरे आत्मामे सर्वथा भिन्न हो तो हिंसाका अभाव हो जायेगा, और इससे बन्धनका भी अभाव हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। उस हिंसाका भाव तेरी आत्माकी अवस्थामें होता है, इसलिये उस हिंसाका भाव होने पर तुझे बन्ध होता है। उस हिंसाका भाव तेरे आत्माकी अवस्थामें होता है, ऐसा न माने तो बन्धका भी अभाव हो जायेगा, और बन्धका अभाव होनेसे मोक्षका भी अभाव हो जायेगा।

हिंसाके भावकी भाँति ही झूठ, चोरी कुशील आदिके भाव भी आत्माकी अवस्थामें होते हैं। यदि ऐसा न माने तो उसे दूर करनेका पुरुषार्थ भी कहाँसे करेगा?

अपने शरीर पर राग है, इसलिये दूसरे जीवोंको मारनेका द्वेष होता है। रागमें और द्वेषमें शरीरका निमित्त है, सो वह भी व्यवहार है।

परमार्थसे शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं, इसीप्रकार यदि व्यवहारसे भी भिन्न हों तो त्रस स्थावर जीवोंके शरीरको मसल देने पर पापका अभाव ही सिद्ध होगा, किन्तु ऐसा नहीं है। राग द्वेषका भाव, शरीर सम्बन्धी मोहका भाव अपने में विद्यमान है, सो वह सब व्यवहार सम्बन्ध है, ऐसा समझना चाहिये। अपने शरीर और आत्माका आकाशक्षेत्रकी अपेक्षासे एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, इसीप्रकार अन्य आत्माका और उसके शरीरका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। जब तू ऐसे सम्बन्धको लक्ष्यमें लेता है तब तेरी मारनेकी वृत्ति होती है, इसलिये त्रस-स्थावर जीवोंको मारनेका विकारी मलिन भाव है, और उस भावका और तेरे आत्माका सम्बन्ध है ऐसा समझना चाहिये।

उसी प्रकार देव, गुरु शास्त्र की विनय करना भी व्यवहार है।

जब तक सम्पूर्ण वीतराग नहीं हुआ तब तक ऐसा भाव होता है कि यह देव, गुरु, शास्त्र विनय करने योग्य हैं और मैं विनय करनेवाला हूँ। इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्र के प्रति बहुमान और विनय हुए बिना नहीं रहती, तथापि वह मात्र व्यवहार हैं।

शरीर और आत्मा को भिन्न कहा है, वहाँ यह अपेक्षा भी है कि शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। आत्मा पृथक् है ऐसा कहते ही पर के सम्बन्ध का इतना व्यवहार आ जाता है। तूने शरीर का सम्बन्ध माना है, तूने पर का आश्रय माना है, इसलिये व्यवहार कहते हैं।

पुण्य पापका जो भाव होता है, उसमें 'तू भटक रहा है, इसलिये उसे टालने को कहा जाता है। जो हिंसादि के परिणाम होते हैं उन्हें बताये बिना, उन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं बन सकेगा, बन्धभाव को समझे बिना मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा।

बंधके माननेमें दूसरी वस्तु निमित्त है, यह व्यवहार बताया है, जो कि जानने योग्य है, किन्तु अंगीकार करने योग्य नहीं है। जाननेरूप से अंगीकार करने योग्य अवश्य है, किन्तु वह व्यवहार रखने योग्य अर्थात् अंगीकार करने योग्य नहीं है।

एक वस्तु किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षाके बिना छोटी बड़ी कैसे कही जा सकती है? इसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का पिंड-वस्तु है, और कर्म दूसरी वस्तु है, वह कर्म विकार में निमित्त है। उस विकारभावमें आत्मा फँसा हुआ न हो तो मुक्त होनेकी बात कैसे कही जायेगी? आत्मा मुक्त ही है, ऐसा कहने पर बन्ध की अपेक्षा साथ में आती है, सो व्यवहार है।

मात्र अपनी अपेक्षाका होना निश्चय है। वास्तविक दृष्टिसे वस्तु में बँध नहीं है। यदि वस्तु बंधी हुई हो तो वह छूट नहीं सकती। वस्तुका स्वरूप तो एक समयमें परिपूर्ण है। वह वस्तु किसीसे पकड़ी नहीं जाती और छूट भी नहीं सकती। भगवान आत्मा वर्तमान एक समयमें अनन्त गुणोंका परिपूर्ण पिंड है, उस में जो बन्ध अवस्था है, सो वह भी व्यवहार है, और छूटने की अवस्था भी व्यवहार है। पर से निराला

वर्तमान समय में परिपूर्ण तत्व है, ऐसी दृष्टि के बल से व्यवहार छूटता है। अज्ञानीको व्यवहारसे बताया है, कि व्यवहारसे अवस्था मलिन हुई है उसे जान, किन्तु निश्चयसे तू सपूर्ण-परिपूर्ण तत्व है, ऐसी दृष्टि कर, ऐसा कहनेसे यदि वह समझ जाये तो व्यवहारके उपदेशसे समझा है, ऐसा आरोप करके कहा जायेगा।

आत्माका स्वरूप ऐसा है, इसप्रकार उपदेश देते ही व्यवहार आ जाता है। निश्चयसे तू अखण्ड, अभेद और परसे निराला तत्व है, ऐसा समझाते ही व्यवहार आ जाता है। क्योंकि तत्वका स्वरूप ऐसा है, यह कहने पर यह स्पष्ट होता है कि उसे तू समझा नहीं है, यही व्यवहार है, अथवा वस्तु को समझाते हुये गुण-गुणीका भेद करके समझाना पड़ता है सो यही व्यवहार है।

निश्चय पूर्वक व्यवहार समझमें आये तो वह यथार्थ समझ है। यदि भेद करके समझाया जाये कि यह पुरुषका आत्मा है, यह स्त्रीका आत्मा है, यह पशु पक्षीका आत्मा है, तब प्रस्तुत जीव समझ जाता है कि यह आत्मा भिन्न भिन्न हैं किन्तु सभी आत्माओंका स्वरूप भिन्न भिन्न नहीं है, स्वरूप तो सबका एक ही प्रकार का है। जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो दर्शन है सो आत्मा है, और चारित्र है सो आत्मा है, इसप्रकार गुरुके द्वारा समझाये जाने पर स्वय अभेद आत्माका स्वरूप समझ जाये तो वह व्यवहारके भेद बतानेसे समझा है, यह कहलायेगा। गुरु उपदेश देते हैं उसीमें व्यवहार आजाता है। यदि उपदेशसे स्वय वास्तविक स्वरूप को समझ ले तो गुरुके उपकार का निमित्त कहलाता है। समझ तो स्वसे है, किन्तु उपचारसे यह कहा जाता है कि-व्यवहारसे समझा है।

यदि हिंसादि का भाव न बताया जाये तो उसे दूर करने का प्रयत्न भी नहीं करेगा। निश्चयपूर्वक व्यवहार के लक्षमें आये बिना बधका व्यवहार दूर नहीं होगा। वास्तवमें तो हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिक भाव निश्चय दृष्टि के लक्षमें आये बिना दूर होते ही नहीं। मेरे स्वरूपमें वे भाव है ही नहीं, ऐसी दृष्टिके बिना वे भाव दूर नहीं हो सकते। 'अस्ति स्वरूप में कौन हूँ'

इसकी श्रद्धाके बिना विकार की नास्ति होती ही नहीं। ऐसी श्रद्धा होनेके बाद भी अल्प हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके भाव रहते हैं, किन्तु वे क्रमशः दूर हो जाते हैं, प्रतीति होनेके पश्चात् तत्काल ही वीतराग हो जाये ऐसा नहीं होता। स्वरूपकी श्रद्धा होनेके बाद अस्थिरता दूर होकर क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र होता है ऐसा ही वस्तु स्वभाव है। यदि कोई जीव आत्म प्रतीति होने के बाद अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करले तो उसमें भी अन्तर्मुहूर्त का क्रम तो पड़ता ही है। प्रतीति होनेके पश्चात् एक समयमें किसीको केवलज्ञान नहीं होता। प्रतीति होनेके बाद जो अल्प शुभाशुभ भाव रहते हैं, उसे आचार्य देवने बताया है कि-तू जरा ठहर, अभी पूर्ण नहीं होगया, अभी अस्थिरता शेष है, अवस्थामें अधूरापन है, उसे समझ और जान। जब तक वीतराग न हो तब तक उस उस कालमें उस अवस्था को यथावत् जानना सो व्यवहारनय है।

विकारी पर्यायके होने पर भी निर्विकार स्वभावकी प्रतीति हो सकती है। चारित्र गुणमें विकार होने पर भी समस्त परिपूर्ण तत्वकी श्रद्धा और ज्ञान हो सकता है। यह यह बतलाता है कि-गुणोंमें कथंचित् भेद है, समस्त गुणोंके कार्य अलग हैं, गुणोंमें यदि कथंचित् भेद न हो तो सम्यक् दर्शनके होते ही तत्काल वीतराग हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। अखण्ड द्रव्य की प्रतीति होने पर भी चारित्रगुणमें विकार बना रहता है, इसलिये गुणोंमें कथंचित् भेद है, और इसलिये गुणस्थानके भी भेद होते हैं। गुणोंमें कथंचित् भेद होनेसे स्वभाव दृष्टि होनेके बाद तत्काल ही वीतरागता नहीं हो जाती, इसलिये गुणस्थानके भेद होते हैं।

द्रव्य अखण्ड है, वह अनन्त गुणोंकी पिंडरूप वस्तु है, उस प्रत्येक गुणकी जाति भिन्न भिन्न है, लक्षणकी अपेक्षासे गुणोंमें कथंचित् भेद है। प्रत्येक गुणका कार्य भिन्न भिन्न है, ज्ञानगुण जानने का, दर्शन गुण प्रतीति का और चारित्र गुण स्थिरता का कार्य करता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न गुण भिन्न भिन्न कार्य करते हैं। और इस प्रकार वस्तुमें 'गुण भेद हैं' तथा गुणभेद होनेसे पर्यायभेद भी है।

जैसे सोना पीला, चिकना और भारी आदि गुणोंसे अखण्ड है, परन्तु कथंचित् गुणभेद है । पीलापन, चिकनापन, भारीपन आदि गुणोंके लक्षण भिन्न हैं, उनके प्रकार अलग हैं, और कार्य अलग हैं इसलिये कथंचित् गुण भेद है ।

सम्यक् दर्शन होने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं, फिर भी अबुद्धि पूर्वक विकल्प रह जाते हैं, इसलिये गुण भेद भी रह जाता है, अतः सम्यक् दर्शनके होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता । कोई जीव तत्काल ही केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो भी बीचमें अन्तर्मुहूर्त का अन्तर तो होता ही है । इसका कारण यह है कि गुणों में कथंचित् भेद रह जाता है, इसलिये वस्तु और पर्याय का भेद होता है, सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान होनेमें बीचमें अन्तर पड़ता है ।

छट्टे गुणस्थानमें मुनिके बुद्धिपूर्वक विकल्प हों और आर्तध्यानके परिणाम विद्यमान हों तो भी वहाँ निर्जरा विशेष है, क्योंकि वहाँ तीन कषायों का अभाव है, और चारित्र गुण की पर्याय विशेष है । चौथे गुणस्थानमें बुद्धिपूर्वक विकल्प न हों निर्विकल्प स्वरूपमें स्थिर हो गया हो तो भी वहाँ तीन कषाय विद्यमान हैं, इसलिये निर्जरा कम है, अतः गुण भेद है, चारित्र आदि गुणोंका परिणमन कम है, इसलिये व्यवहारनय अनेक प्रकार का है ।

सम्यग्दर्शनके होने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जायें तो भी गुणों का परिणमन क्रम-बद्ध अर्थात् तारतम्यरूपसे रहता है । यदि ऐसा न हो तो एक गुणरूप वस्तु हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता, वस्तु तो अनन्त गुणों की पिंडरूप होती है ।

वस्तु में अनन्त गुणों का परिणमन क्रम बद्ध-तारतम्यरूपसे होता है । गुणोंके परिणमनमें अनेक प्रकारकी विचित्रता है, इसलिये व्यवहार-नय भी अनेक प्रकार का है । सम्यग्दर्शन होने के बाद तत्काल ही वीतराग नहीं हो जाता । सम्यग्दृष्टि से एक समय का परिणमन नहीं पकड़ा जाता, यदि पकड़ा जाये तो केवल ज्ञान हो जाये । सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद चारित्र गुण की पर्याय अपूर्ण रहती है, इसलिये केवलज्ञान तत्काल नहीं होता ।

इस प्रकार गुणों के परिणमन में भेद रहता है। सम्यक्दर्शन प्राप्त होनेके बाद तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता, क्योंकि चारित्र, ज्ञान और दर्शनगुण की पर्याय अपूर्ण है। यद्यपि दर्शनगुण की (उपशम और क्षायोपशमिक) पर्याय अपूर्ण है परन्तु दर्शन गुण की पर्याय का विषय पूर्ण है, दृष्टि का विषय अपूर्ण नहीं है। चारित्र गुण में विकार होने पर भी दर्शन गुण की पर्याय वस्तु का पूरा विषय कर सकती है। दृष्टि की पर्याय अपूर्ण है परन्तु दृष्टि का विषय पूर्ण है।

अनन्त गुणों की पिंडरूप अभेद वस्तु न हो तो अभेद दृष्टि नहीं हो सकती। द्रव्यदृष्टि से गुण अभेद हैं, इसलिये एक गुण के प्रगट होने पर सभी गुणों का अंश प्रगट होता है। यदि वस्तु अभेद न हो तो एक गुण के प्रगट होने पर समस्त गुणों का अंश प्रगट न हो। यदि कथंचित् गुण भेद न हो तो साधक स्वभाव न रहे, तत्काल ही केवलज्ञान हो जाना चाहिये। इसलिये कथंचित् गुणभेद भी है, और द्रव्य दृष्टि से वस्तु अभेद है।

दृष्टि का विषय ध्रुव है, अपने में होनेवाली मलिन अवस्था पर दृष्टि का लक्ष नहीं है। दृष्टि के साथ रहने वाला ज्ञान, दृष्टि को जानने वाला ज्ञान प्रलम्बित होता है कि मै इस अवस्था तक सीमित नहीं हूँ, मै तो परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार अपनी होनेवाली मलिन अवस्था का वह ज्ञान स्वामी नहीं होता। अपने में होने वाली अवस्था पर दृष्टि का लक्ष नहीं है, इसलिय बाहर होने वाली पर पदार्थों की अवस्था पर भी उसका लक्ष नहीं है। अपना द्रव्य ही दृष्टि का विषय है। अपने में होने वाली मलिन या निर्मल पर्याय को दृष्टि स्वीकार नहीं करती, इसलिये वह दूसरे द्रव्य की मलिन या निर्मल पयाय को भी स्वीकार नहीं करती। अपने में होने वाली मलिन अवस्था क्षणभर के लिये है, इसलिये वह अपने द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से हानि या लाभ नहीं करती। जो अवस्था अपना हानि लाभ नहीं करती, वह दूसरे जीवों की अवस्था को भी हानि लाभ नहीं करती, और अन्य जीवों की अवस्था अपनी अवस्था को हानि लाभ या सहायता नहीं करती। इस प्रकार दृष्टि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय मात्र ध्रुव ही है। अन्य द्रव्य का ध्रौव्य तत्त्व अपने में नास्तिरूप है और स्वयं ध्रौव्य अपने में अस्ति

रूप है। इस प्रकार दृष्टि का विषय अकेला ध्रुव है। दर्शन का विषय अकेला ध्रुव है, परन्तु ज्ञान ध्रुव को, मलिन निर्मल पर्याय को और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को जानता है। दृष्टि का विषय पूर्ण है। पहले दर्शनगुण की पर्याय प्रगट होती है, और फिर चारित्र गुण की पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार *सभी गुण एक ही साथ एक से कार्य नहीं करते तथा एक साथ पूर्ण नहीं होते* इसलिये वस्तुमें कथंचित् गुण भेद है।

यह शरीर और आत्मा दोनों भिन्न वस्तु हैं, वे दोनों वस्तुऐं एक नहीं हैं। आत्मा और शरीर दोनों एक ही स्थान पर रह रहे हैं सो अपनी अपनी अवस्था और योग्यताके कारण रह रहे हैं। दोनों एक ही स्थान पर रह रहे हैं, ऐसा कहना सो व्यवहार है। आत्मा आत्माके क्षेत्रमें है और शरीर शरीरके क्षेत्रमें—जैसे दूध और पानी एक ही लोटेमें एकत्रित हैं अर्थात् दोनों एक ही क्षेत्रमें एक साथ विद्यमान हैं, यह व्यवहार है, किन्तु दोनों एक स्थान पर एकत्रित रहते हुये भी दूध पानीरूप या पानी दूधरूप नहीं हो जाता, दूध दूधमें, और पानी पानीमें।

जैसे आत्मा और शरीर दोनों एक ही आकाश क्षेत्रमें एकत्रित होकर रहे हैं, *तथापि आत्मा आत्माके क्षेत्रमें है और शरीर शरीरके क्षेत्रमें।* आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त गुणोंका पिंड है, और शरीर वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणोंसे परिपूर्ण रजकणोंका पिंड है। वे अपनी अपनी अवस्था की योग्यताके कारणसे रह रहे हैं।

आत्माकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थामें रजकणकी अवस्था नहीं है, और रजकणकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थामें आत्माकी अवस्था नहीं है।

आत्माके अनन्त गुणोंमें रजकणके कोई भी गुण नहीं आजाते, और रजकणके अनन्त गुणोंमें आत्माके कोइ भी गुण नहीं पहुँचते। प्रत्येक वस्तु अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, पर-वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें नहीं है, अपने अपने स्वचतुष्टयमें अपनेमें हैं।

परमार्थनय जीवको शरीर तथा राग, द्वेष, मोहसे भिन्न कहता है। यदि उसका एकान्त पक्ष ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग द्वेष, मोह,

पुद्गलमय कहलायेंगे, और ऐसा होनेसे पुद्गल का घात करनेसे हिंसा नहीं होगी, तथा राग, द्वेष, मोहसे बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थसे जो ससार और मोक्ष दोनोंका अभाव कहा है, वही एकान्तसे सिद्ध होंगे, किन्तु ऐसा एकान्त रूप वस्तुका स्वरूप नहीं है।

काम, क्रोध, हिंसा, झूठ, दया, दान इत्यादि भाव आत्मामें स्वभाव दृष्टिसे नहीं है, आत्मा तो पवित्र ज्ञानमूर्ति, शुद्धतासे परिपूर्ण तत्व है। उस दृष्टिको परमार्थ दृष्टि, सत्य दृष्टि या अपना सत्यस्वरूप इत्यादि कुछ भी कहा जा सकता है। उस दृष्टिको एकान्तरूपसे लिया जाये, और जितना व्यवहार सम्बन्ध है उतना पक्ष न लिया जाये तो व्यवहार सम्बन्ध को माने बिना वह परमार्थसे भिन्न है, ऐसा भी नहीं बताया जा सकेगा।

रागीको शरीरमें अनुकूलताके समय राग और प्रतिकूलताके समय द्वेष होता है। उस राग-द्वेषमें शरीर निमित्त है। स्वयं विकारमें युक्त होता है, इसलिये राग द्वेष होता है, किन्तु उसमें शरीर की उपस्थिति है, इतना सम्बन्ध है।

व्यवहारसे सचेत शरीर और अचेत शरीर कहलाता है। यहाँ सचेत अर्थात् जीव वाला शरीर मात्र अर्थ होता है, किन्तु यदि शरीर को एकान्त सचेतन मान लिया जाये तो भूल होगी जब तक जीव रहता है, तब तक शरीरमें जीवका आरोप किया जाता है, इसलिये शरीरको सचेत कहा जाता है, जो कि व्यवहार है। किन्तु वास्तव में देखा जाये तो शरीर सचेत नहीं है।

परमार्थ दृष्टिमें दूसरे जीवोंको मारनेका भाव भी आत्मामें नहीं होता। किसीके शरीर और आत्माका सम्बन्ध है और अपने शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, उसे भी परमार्थ दृष्टि स्वीकार नहीं करती, क्योंकि शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं।

किन्तु यदि व्यवहारसे भी आत्मामें बन्ध न हो तो बन्ध को दूर करके मुक्त होनेका उपदेश न दिया जाये, और यदिहिंसा का भाव आत्मा की पर्याय में होता ही न हो, तो उस भाव को दूर करने का उपदेश न दिया ... यदि शरीर और आत्मा का कोइ भी सम्बन्ध स्वीकार ... तो ...

मारने का भाव ही न हो। किसी जीवको मारनेका भाव होता है, इससे यह स्पष्ट है कि शरीर और आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। शरीर और आत्मा का एक ही स्थान पर रहने का अपनी अपनी पर्याय की योग्यताके कारण सम्बन्ध है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, ऐसा लक्षमें आने पर ही दूसरे जीवको मारने का भाव होता है।

आत्माके साथ ही एक ही स्थान पर शरीर की उपस्थिति है, इसलिये शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ज्ञायक है और हिंसा, दया, राग, द्वेष आदि भावों का वर्तमान अवस्था तक ही सम्बन्ध है। उस विकारी अवस्था का सम्बन्ध ज्ञातव्य है, किंतु रखने योग्य नहीं है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा का एक ही स्थान पर रहने का सम्बन्ध ज्ञातव्य है, किन्तु रखने योग्य नहीं है। 'सबंध है' यह ज्ञातव्य है, किन्तु अंगीकार करने योग्य नहीं है।

जैसे छाछ बिलोने की मथानी के रस्सी के दो छोरों में से यदि दोनों को एक हा साथ खींचें तो मक्खन नहीं निकलेगा, दोनों के छोड़ देने से भी मक्खन नहीं निकलेगा, एक को पकड़ रखे और दूसरे को छोड़ दे तो भी मक्खन नहीं निकलेगा, किन्तु यदि एक छोर को खींचे और दूसरे को ढील दे तो मक्खन निकलेगा। इसीप्रकार वस्तुस्वरूप को समझने के लिये दो नय होते हैं, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। उन दोनों नयों को न समझे तो आत्महितरूप मक्खन प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों नयों को एकान्त रूप से पकड़ रखने से भी आत्महित नहीं होगा, व्यवहारनय को एकान्त रूप से पकड़ रखे और निश्चयनय का निषेध करे, तो भी हित न होगा, यदि निश्चयनय को एकान्त रूप से पकड़ रखे और व्यवहारनय का स्वरूप यथावत् न जाने, तथा यह कहे कि किसी भी अपेक्षा से आत्मा में व्यवहार है ही नहीं तो भी आत्मा का हित न होगा, धर्म नहीं होगा, किन्तु जब निश्चय की बात समझायी जाये तब व्यवहारनय की अपेक्षा लक्ष में रखे, और जब व्यवहारनय का बात समझायी जाये तब निश्चय नय की अपेक्षा लक्ष में रखे, इस प्रकार दोनों नय जो स्वरूप बतलाते हैं, उस स्वरूप

भली भाँति यथावत् समझे तो आत्मा का हित हो, सुख प्रगट हो और मुक्ति प्राप्त हो। इस प्रकार दोनों नयों के ज्ञान की एकता होकर प्रमाण होता है। जो निश्चय और व्यवहारनय का विषय है, उसका ठीक ज्ञान करके दोनों का मेल होकर प्रमाण होता है और प्रमाण ज्ञान के होने पर मुक्ति होती है।

कितने ही लोग निश्चय का एकान्त पकड़ रखते हैं, किन्तु मात्र निश्चयनय की अपेक्षा ली जाये तो उसमें बंध-मोक्ष नहीं हो सकता। एक मत ऐसा है कि आत्मा में जो राग द्वेष आदि दिखाई देता है, और जो शरीरादि बाह्य वस्तुऐं दिखाई देती हैं वह सब भ्रम है, किन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। बाह्य वस्तु जगतमें है, किन्तु तेरे आत्मा में नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु जगत में नहीं है। राग,द्वेष और मोह आत्मा की अवस्था में होते तो हैं, किन्तु वे आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा की अवस्था में विकार होता ही नहीं। जड़कर्म रूप अन्य वस्तु है, वह जब आत्मा भूल करता है तब विकार में निमित्त होती है। राग द्वेष तेरे स्वरूप में नहीं हैं, इसलिये अभूतार्थ हैं, किन्तु राग द्वेष अवस्था में भी नहीं हैं ऐसा मानना मिथ्या है, व्यवहार में अवस्था से बंध है इतना स्वीकार न करे तो वह एकान्त दृष्टि है। आत्मा की पर्यायमें शुभा शुभभाव होते हैं, इसलिये वे आदरणीय हों सो बात नहीं है, किन्तु 'होते हैं' इतना स्वीकार करने की बात है। यदि सर्वथा अवस्था से भी अबंध माना जाये तो हिंसा विषय इत्यादि के अशुभ भाव छोड़कर दया, दान, ब्रह्मचर्य इत्यादि के शुभभाव करनेका और शुभ भाव दूर करके शुद्धताको प्रगट करनेका भी अवकाश नहीं रहता।

कुछ लोग एकान्त व्यवहार को पकड़ लेते हैं, और मानते हैं कि मात्र शुभपरिणाम करते रहनेसे धर्म हो जायेगा, और मोक्ष मिल जायेगा, किन्तु ऐसा मानना मिथ्या दृष्टि है, क्योंकि त्रिकालमें भी शुभसे शुद्धकी प्राप्ति नहीं हो सकती, विकार करते करते त्रिकालमें भी अविकार भाव प्रगट नहीं हो सकता। यथार्थ स्वरूप को समझे बिना निश्चयनय और व्यवहारनय नय नहीं किन्तु नयाभास हैं, उन्हें निश्चयाभास और व्यवहाराभास कहा जाता है।

यथार्थतया निश्चय और व्यवहारका स्वरूप समझनेसे मुक्ति होती है। यथार्थ निश्चय दृष्टि व्यवहारका नाश करनेवाली है। मैं आत्मा एक समयमें परिपूर्ण तत्व हूँ ऐसी दृष्टि का नाम निश्चयदृष्टि है, ऐसी प्रतीति होनेके बाद स्वभाव दृष्टिके बलसे राग, द्वेष, हिंसा, झूठ इत्यादि शुभाशुभ भाव क्रमश कम होते जाते हैं, और निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है, वह जो जो होता है उसे जानना सो व्यवहारनय है। साध्य-साधक भावका जो भेद होता है, वह भी स्वभाव दृष्टिके बलसे पूर्ण स्थिरता होने पर उस भेदका व्यवहार भी छूट जाता है। निश्चय दृष्टिका बल उस व्यवहारका नाश करनेवाला है। जिस जिस भूमिकासे जो जो अवस्था होती है, उसे जानना सो व्यवहारनय है। अमुक अशमें आत्माकी शुद्ध भूमिकामें पहुँचने पर भी अभी अपूर्ण है, इसलिये अशुभ भावको दूर करके व्रतादिके जो जो शुभ परिणाम आते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है। यदि व्यवहार को न माने तो सम्पूर्ण उपदेश व्यर्थ जायेगा। कई लोग कहा करते हैं कि स्याद्वाद अर्थात् ऐसा भी हो सकता है, और वैसा भी हो सकता है, किन्तु वास्तवमें स्याद्वाद् ऐसे चकरीवाद (संशयवाद) के समान नहीं है।

आत्मा जिस अपेक्षासे शुद्ध है, उस अपेक्षासे अशुद्ध नहीं है, और जिस अपेक्षासे अशुद्ध है, उस अपेक्षासे शुद्ध नहीं है, दोनों की अपेक्षा अलग अलग है, यह स्याद्वाद् है। और जिस अपेक्षासे शुद्ध है उसी अपेक्षासे अशुद्ध माना जाये तो वह चकरीवाद है। और शुद्धभावसे भी मुक्ति हो सकती है, तथा शुभभावसे भी मुक्ति हो सकती है, ऐसा मानना सो चकरीवाद है। शुद्ध भावसे मुक्ति होती किन्तु शुभभावसे मुक्ति नहीं होती, ऐसा मानना सो स्याद्-वाद् है। दोनों नय ज्ञातव्य हैं, किन्तु आदरणीय नहीं हैं। आत्माकी अवस्था में राग-द्वेष होता है, उसे दूर करके वीतराग हुआ जाता है, किन्तु स्वभावमें पुण्य पापादि कुछ नहीं हैं, तथा दोनों का ज्ञान करनेसे वीतराग स्वरूप प्रगट होता है। ज्ञान तो दोनोंका करना चाहिये। किन्तु आदरणीय दोनों नहीं हो सकते। निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान करना चाहिये, किन्तु दोनों को ग्रहण करनेसे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होगी।

निश्चय और व्यवहार दोनों आदरणीय नहीं हो सकते। जब विकार को आदरणीय माना जायेगा तब अन्तरङ्गमें जो निर्विकार स्वभाव भरा हुआ है, उसका आदर (ग्रहण) नहीं होगा। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड परिपूर्ण तत्व है, ऐसी निश्चय दृष्टिको आदरणीय मानने पर पर्याय निर्मल हुये बिना नहीं रहती। पर्याय का निर्मल होना व्यवहार है, और उसे जानना व्यवहारनय है।

आत्मा परमार्थसे परसे निराला है। निराला, निर्विकल्प स्वरूपसे है उसका ज्ञान कर और वर्तमानमें अवस्था मलिन है, उसका भी ज्ञान कर। 'होता है' उससे इन्कार करे तो ज्ञान मिथ्या कहलायेगा, और उससे लाभ माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी।

दृष्टि निमित्त को स्वीकार नहीं करती। दृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार हेय है। दृष्टि विकारी पर्याय को स्वीकार नहीं करती, अपूर्ण—पूर्ण अवस्थाको भी स्वीकार नहीं करती, इतना ही नहीं, किंतु भीतर जो जो निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है, उसे भी स्वीकार नहीं करती। दृष्टिका विषय एक परिपूर्ण तत्व ही है। ज्ञानी की अपेक्षासे व्यवहार ज्ञेय (जानने योग्य) है, और चारित्रकी अपेक्षासे शुभाशुभ भावरूप व्यवहार विष है।

यथार्थ दृष्टि होनेके बाद देव गुरु शास्त्रकी भक्ति का व्यवहार बीचमें आता है, इसलिये यदि मात्र परमार्थको माने तो सबका अभाव हो जायेगा। देव गुरु शास्त्रकी भक्तिका जो शुभभाव होता है, उसका ज्ञान करे, किन्तु यदि उसे आदरणीय माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी। जबतक अपूर्ण है, तबतक बीचमें शुभभाव आ जाता है, किन्तु उसका खेद है, अशुभ भावको दूर करके शुभभावमें युक्त होता है, और वह युक्त हुआ इतने मात्रसे व्यवहार है। व्यवहार व्यवहारसे आदरणीय है, किन्तु वह श्रद्धामें किंचित् मात्र भी आदरणीय नहीं है, यदि उसे आदरणीय माने तो श्रद्धा मिथ्या कहलायेगी, किन्तु इससे देव-गुरु शास्त्रकी भक्तिके परिणाम बीचमें नहीं आते, ऐसा माने तो ज्ञान मिथ्या होगा। शुद्धमें विशेष स्थिर नहीं हुआ जाता और शुभभावमें युक्त न हो तो अशुभ परिणाम होते हैं, इसलिये शुभभावमें युक्त होना है। चतुर्थ गुणस्थानमें देव गुरु शास्त्र की भक्तिके शुभ परिणाम होते हैं, तत्पश्चात् पञ्चम गुणस्थानमें अव्रतके परिणाम

दूर करके स्वरूपमें विशेष स्थिरता होता है, वे सच्चे भाव हैं, और अशुभ परिणामों को दूर करके शुभ परिणामरूप भाव भी बीचमें आते हैं। मनके शुभ परिणाम और देव-गुरु शास्त्रकी भक्तिके शुभ परिणाम को जानना सो व्यवहारनय है। परमार्थदृष्टिके बलसे पूर्ण स्थिरता होने पर, शुभाशुभ विकल्पका व्यवहार और साध्य साधक भावके विकल्पके भेदका व्यवहार भी छूट जाता है, किन्तु अपूर्ण अवस्था है, तब तक विकल्पके भाव आये बिना नहीं रहते। वे आते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहारनय है।

मैं विकल्प रहित हूँ, निर्विकल्प स्वरूप हूँ उसे स्वीकार करनेसे ही लाभ है, ऐसा जाने और वर्तमान पर्यायमें मलिन अवस्था होती है, उसे जाने किन्तु उससे लाभ न माने। देव गुरु शास्त्र इत्यादि निमित्त बीचमें आते हैं, उन्हें न माने तो ज्ञान मिथ्या है, और उनसे लाभ होता है, ऐसा माने तो श्रद्धा मिथ्या है। विकारी पर्याय या वर्तमान अवस्था मात्रका भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा माने तो उसे वस्तुका वास्तविक श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं हुआ है।

अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान आचरण अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहार का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयोंका विरोध मिटा कर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

आत्माकी पर्यायमें राग द्वेष और भ्रान्ति होती है, उसे न जाने तो अवस्तुका ज्ञान किया, और वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा न जाने तो अवस्तु का ज्ञान किया कहलायगा। जिसकी श्रद्धा यथार्थ होती है, उसका ज्ञान यथार्थ तथा ही जाननेका कार्य करता है, किन्तु जिसका ज्ञान मिथ्या है, उसकी श्रद्धा भी अवस्तु की ही कहलायेगी। अवस्थामें राग द्वेष होता है, ऐसा नहीं माना, इसलिये राग द्वेषको दूर करके स्वरूपमें स्थिर होनेका आचरण नहीं रहा, इस लिये आचरण भी अवस्तुका ही हुआ। वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसा आचरण नहीं हुआ इसलिये अवस्तुका ही आचरण हुआ कहलायगा।

आत्माकी पर्यायमें वर्तमान अवस्था पर्यंत राग द्वेष होते हैं, इसे स्वीकार न करे तो उसके श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र तीनों अवस्तुके हुए, और इसलिये वे तीनों मिथ्या कहलायेंगे।

यदि ऐसा माने कि राग द्वेष आत्माके स्वभावमें हैं तो भी अवस्तुकी

श्रद्धा, ज्ञान और अवस्तुका आचरण हुआ। और इसप्रकार उसके श्रद्धा ज्ञान और चारित्र तीनों मिथ्या हुए। जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उसका ज्ञान और आचरण भी सम्यक् होता है। जैसे—पानीका त्रिकाल अखण्ड स्वभाव शीतल है, किन्तु उसकी योग्यता वर्तमान अवस्थामें अग्निके कारण उष्णता होती है। अब यदि कोई उस उष्ण अवस्थाको पानीके सम्पूर्ण त्रिकाल स्वभाव में माने तो यह कहा जायेगा कि–उसने अवस्तुकी श्रद्धा की, अवस्तुका ज्ञान किया और अवस्तुका आचरण किया है। किन्तु जिसे तृषा मिटानी है उसे यह ज्ञान करना होगा कि पानीका स्वभाव तो त्रिकाल शीतल है, किन्तु वर्तमान में उसमें उष्णता प्रगट हो गई है। यदि शीतलताका ज्ञान न करे तो वह यह मानेगा कि गर्म पानी ही पेय है, और इससे उसकी प्यास नहीं बुझेगी। यदि यह न माने कि–वर्तमान अवस्थामें उष्णता आ गई है तो वह पानीको ठंडा करनेका प्रयत्न ही नहीं करेगा, और इसलिये उसकी प्यास भी नहीं बुझेगी। इसलिये पानीके शीतल स्वभाव को, और वर्तमान उष्ण पर्याय को–दोनोंको स्वीकार करे तो वह पानीको ठंडा करेगा, और उसे पीकर अपनी प्यास बुझा येगा। तात्पर्य यह है कि–प्यासको बुझानेके लिये ज्ञान तो दोनोंका करना होगा, किन्तु उनमें से आदरणीय मात्र शीतलता ही है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द ज्ञान जल से भरा हुआ सिद्ध परमात्मा के समान है। सभी आत्माओं का स्वरूप वैसा ही है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें कर्मके अवलम्बन से राग द्वेष मोह, हर्ष, शोक इत्यादि होते हैं। यदि कोई उस वर्तमान अवस्था पर्यंत ही सम्पूर्ण द्रव्य का स्वरूप मान ले तो यह कहलायेगा कि उसने अवस्तु की श्रद्धा की, अवस्तु का ज्ञान किया, और अवस्तु का आचरण किया है। जो संसारदावानलको बुझाना चाहता हो उसे यह ज्ञान करना होगा कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध पवित्र और आनन्दस्वरूप त्रिकाल है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें राग द्वेष और भ्रान्तिरूप मलिनता आगई है। आत्माका स्वभाव त्रिकाल ज्ञान जलसे भरा हुआ है, यदि यह ज्ञान न करे तो मलिन अवस्था को ही आत्मा मानेगा, और ऐसा होने से उसका दुःख दूर होकर उसे आत्मशांति नहीं मिलेगी, और यदि यह मानेगा कि वर्तमान

अवस्था में राग द्वेष तथा भ्रांति है ही नहीं, तथा आत्मा अवस्था दृष्टि से भी बिल्कुल निर्मल है तो भी वह मलिन अवस्था को दूर करके निर्मल अवस्था प्रगट करने का प्रयत्न नहीं करेगा, और इसलिये उसे दुःख दूर होकर शांति नहीं मिलेगी, इसलिये आत्मा का त्रिकाल शुद्ध स्वभाव और वर्तमान अवस्था की मलिनता दोनों को स्वीकार करे तब निर्मल अवस्था को प्रगट करने का प्रयत्न करता है, और इससे आत्मा के अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। इससे यह निश्चित हुआ कि दुःख को दूर करने के लिये दोनों का ज्ञान करना होगा, किन्तु आदरणीय तो एक शुद्ध स्वभाव ही है।

यदि यह माने कि राग द्वेष का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं और आत्मा मात्र शुद्ध ही है, तो भी उसने सम्पूर्ण वस्तु को नहीं जाना इसलिये उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है, और यदि वर्तमान मलिन अवस्था पर्यंत ही आत्मा को जाने तथा त्रिकाल अखंड पवित्र स्वभाव को न जाने तो भी सम्पूर्ण वस्तु को न जानने से उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है, इसलिये जब दोनों ओर का ज्ञान एकत्रित होता है तब सम्पूर्ण प्रमाण ज्ञान होता है, और सम्पूर्ण प्रमाण ज्ञान वीतरागी स्वभाव को प्रगट करता है।

यदि यह स्वीकार न किया जाये कि वर्तमान अवस्था पर्यंत निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है तो सम्पूर्ण वस्तु लक्ष में नहीं आयेगी। आत्मा में मलिन अवस्था मात्र वर्तमान एक समय है, त्रिकाल स्वभावमें नहीं। यदि वह त्रिकाल स्वभावमें हो तो कभी भी दूर नहीं हो सकती किन्तु यदि दूसरे ही क्षण निर्मल अवस्था प्रगट करना चाहे तो की जा सकती है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु पर्यायदृष्टि से वर्तमान अवस्थामें मलिनता होती है। इसलिये उन दोनों को दिखाना न्यायसंगत है। किन्तु उसमें भेद आदरणीय नहीं है, आदरणीय तो मात्र अभेद स्वरूप ही है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

दोनों नयों का विरोध मिटा हुआ तब कहला सकता है जब यह जाने कि—आत्मा स्वभावसे त्रिकाल शुद्ध है, और अवस्थामें मलिनता मात्र वर्तमानमें ही होती है, तथा अवस्था से शरीरादि के साथ सम्बन्ध है।

यदि आत्माके मात्र शुद्ध निर्मल स्वभावको माने और वर्तमान मलिन अवस्था को न माने तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा, तथा मात्र राग-द्वेष की अवस्था को माने और शरीर के सम्बन्ध को माने किन्तु यह न माने कि आत्मा का निर्विकल्प शुद्ध स्वभाव त्रिकाल राग द्वेष रहित है तो भी विरोध मिटाया गया नहा कहलायेगा, क्योंकि-मात्र द्रव्य या मात्र पर्याय के मानने में विरोध आता है इसलिये उनमें से मात्र एक एक को माननेसे विरोध मिटाया गया नहीं कहला सकता।

और फिर निश्चय भी आदरणीय है, और व्यवहार भी आदरणीय है, इस प्रकार दोनों को आदरणीय मानं तो भी विरोध मिटाया गया नहीं कहलायेगा, परन्तु यदि द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान करे और उसमें मात्र शुद्ध स्वभाव को आदरणीय माने तो दोनों नयों का विरोध मिटाया गया कहलायेगा।

यह समझने योग्य बात है। त्रिकालके तीर्थंकर देवों ने जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही कहा है। ४६।

अब शिष्य पूछता है कि—वर्तमान मलिन अवस्थाको जानने वाला व्यवहारनय किस दृष्टान्तसे वर्तता है? उसका उत्तर कहते हैं —

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया॥ ४७।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाण।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो॥ ४८॥

अर्थ —जैसे कोइ राजा सेना सहित निकला, वहाँ जो सेनाके समूह को ऐसा कहा जाता है कि यह राजा निकला है, सो वह व्यवहारनयसे कहा जाता है। उस सेनामें वास्तवमें तो एक ही राजा निकला है, इसीप्रकार इन अध्यवसानादि अन्य भावोंको परमागम 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहारनय से कहा है, निश्चयसे विचारा जाये तो उन भावोंमें जीव तो एक ही है।

यह व्यवहार-निश्चयरूप वस्तुस्वभाव जीवों ने कभी आज तक नहीं जाना था। इसे जाननेके अतिरिक्त दूसरा सब कुछ करने में जीवने कहीं

कोई कमाई नहीं रही। किसी ने कहा है कि —

'अहो रूप महा कष्ट, लाभ किंचित् मिलने'।

घोरातिघोर तपस्या करके शरीर को सुखा डाला किन्तु उससे किंचित् मात्र भी लाभ नहीं हुआ। आत्माका स्वभाव सदा स्थायी है, उससे लाभ नहीं माना किन्तु शुभ परिणामसे पुण्य बन्ध हुआ और राज्य मिला—धूल मिली उससे सुख माना, परन्तु भव भ्रमण नहीं मिटा।

जब तक दोनों नयोंको अविरोध रूपसे नहीं जाने तब तक मुक्ति नहीं होती। वर्तमान अवस्थामें शुभ परिणाम होते हैं, उन्हें आदरणीय माने किन्तु वस्तुका मूल स्वभाव निर्विकार है, इसे न जाने तो वह मिथ्यादृष्टि है, और आत्मा मात्र शुद्ध ही है, उसकी वर्तमान अवस्थामें अशुद्धता नहीं होती, ऐसा माने तो मलिन अवस्थाको दूर करके, पुरुषार्थ करना नहीं रहा, और इस लिये शुष्क हो गया।

शिष्य पूछता है कि—भगवन् इस एक आत्मामें यह सब इतना बड़ा विस्तार क्या है? आठ कर्म, उनके निमित्तसे होने वाले राग-द्वेष और राग-द्वेषके फल पुण्य पाप, तथा राग द्वेषके निमित्तभूत शारीरिक रोग, घर, स्त्री पुत्र इत्यादि एक ही आत्मामें कैसे होते हैं?

जैसे लाखों सैनिकोंके साथ कोई राजा निकले तब उस सेनाके समुदाय को यह कहा जाता है कि यह अमुक राजा जा रहा है। यद्यपि राजा तो एक हाथी पर बैठा होता है किन्तु मीलों तक फैली हुई सेनाको यह कहा जाता है कि राजा जा रहा है। इसप्रकार सेनाके समुदाय को राजा कहना सो व्यवहार है। राजा सेना सहित निकला और आगे जाकर युद्धमें सारी सेना मर गई और राजा अकेला अपने राज्यमें वापिस आगया तो यह स्पष्ट सिद्ध है कि राजा और सेना एक नहीं है, किन्तु सेनाके निमित्तके सम्बन्ध से मात्र राजा सेना सहित कहा जा सकता है, किन्तु वास्तवमें जो सेना है, सो राजा नहीं है।

इसीप्रकार क्रोध, मान, दया, दान, सत्य, झूठ इत्यादिके भाव सेनाके समान हैं, वे सभी भाव जीव हैं ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है। वर्तमान

क्षण मात्रके लिये, उसमें अटका होनेसे, वे मात्र व्यवहारसे आत्माके कहे जाते हैं।

आत्मा ध्रुव त्रिकाल, निर्विकार, अखण्ड है, और अवस्था क्षणमात्र की खण्डवाली और विकारी है, ऐसा परमागममें कहा है। अवस्था क्षणिक है, और आत्मा त्रिकाल स्थायी है, इसलिये दोनोंके काल भिन्न हुए। आत्मा निर्विकार और अखण्ड है, तथा पर्याय विकारी और खण्डवाली है। इसलिये दोनोंके भाव भिन्न हुए।

वास्तवमें देखा जाये तो आत्मा अध्यवसानके समूह को नाश करने वाला उसी अवस्था तक ही नहीं, किंतु ध्रुव है। उस ध्रुव स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण किया जाये तो वह आत्मा एक ही ज्ञात होता है। पर-संयोग और राग द्वेष आदिका जो कुछ मालुम होता है, सो वह कर्मके सम्बन्धकी दृष्टिसे दिखाई देता है।

भगवान आत्मा देहसे भिन्न तत्व है, वह शरीर, मन, वाणीसे पृथक् तत्व है, उसका क्षणिक अवस्था तक ही राग द्वेष और भ्रांतिके साथ व्यवहारसे सम्बन्ध कहा है, किंतु परमार्थतः जीव एकरूप ही है। व्यवहारकी सेना आत्माकी पर्यायमें होती अवश्य है, किंतु वास्तवमें वह आत्माका स्वभाव नहीं है, वास्तवमें तो आत्मा एक ही स्वरूप है।

जिसे आत्माका हित अर्थात् आत्माका धर्म करना हो उसके लिये आत्मा एक अलग वस्तु है, तथा शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि बाह्य संयोगी वस्तु और पुण्य, पाप, हर्ष, शोक इत्यादि अंतरंग संयोगी वस्तु सब पर हैं, अपना स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जानना पड़ेगा। उनसे आत्माका हित या धर्म नहीं होता, इसलिये बाह्य संयोगसे और अंतरंग संयोगसे चैतन्य स्वभावको निराला जानना, मानना और उसमें एकाग्र होना सो मोक्षका मार्ग है।

शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! आत्मामें जो राग-द्वेषके भाव प्रवर्तमान हैं, वे व्यवहारसे प्रवर्तमान हैं, तो वह कौनसे दृष्टांतसे व्यवहार प्रवृत्त हुआ है?

उत्तर —जैसे मीलों तक विस्तृत सेना को राजा कह दिया जाता है, यद्यपि राजाका मीलों तक फैलना अशक्य है, किंतु व्यवहारी लोगोंका

सेना समुदाय को राजा कहने का व्यवहार है, परमार्थसे तो राजा एक ही है।

राजा तो एक ही है, किंतु उसकी सेना मीलों तक फैली हुई है, इसलिये ऐसा कहते हैं कि राजा ने इतने मीलकी जमीन रोक रखी है, किन्तु एक राजा मीलों तक नहीं फैल सकता, फिर भी यह कह दिया जाता है कि राजा ने इतना जमीन रोक रखी है। यद्यपि मीलोंकी जमीन राजा ने रोक रखी है, किन्तु वास्तवमें राजा ने नहीं रोकी है, स्थूल दृष्टिवाले का और वर्तमान देखनेवालेका ऐसा व्यवहार है। व्यवहारी लोगोंका सेना समुदाय को राजा कहनेका व्यवहार है।

इसीप्रकार यह जीव समग्र राग ग्राममें (रागके स्थानों में) व्याप्त होकर प्रवर्त रहा है, ऐसा कहना सो, एक जीवका समस्त राग ग्राममें व्याप्त होना अशक्य होनेसे, व्यवहारी लोगोंका अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहने रूप व्यवहार है, वैसे परमार्थसे तो जीव एक है।

भगवान आत्मा तो एक ही है, उसका हिंसा, दया, दान, पूजा, भक्ति, झूठ कजूसीमें, और एसे ही अन्य भावोंमें फैलना अशक्य है। चिदानंदमूर्ति आत्मा एक ही है, उसका इतने सारे विकारोंके विस्तारमें फैलना अशक्य है। राग-द्वेषका विकार तो क्षण भरका है, उसमें भगवान आत्मा फैल नहीं गया है, यदि फैल गया हो तो उसमें अलग करके धर्म कैसे कर सकेगा?

घर, कुटुम्ब और लक्ष्मीका जो फैलाव होता है, सो वह फैलाव भगवान आत्मा का नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु हिंसा, दया, कंजूसी, उदारता, विनय अविनय, पूजा, भक्ति इत्यादि भावोंका जो विस्तार होता है, सो वह भी भगवान आत्माका नहीं है। जो शुभाशुभ वृत्तियाँ हैं सो क्षणभरके लिये हैं। संपूर्ण भगवान आत्मा उसमें फैल नहीं जाता। आत्मा तो एक है, वह अनेक रूप नहीं होता।

जैसे एक राजा मीलों तक नहीं फैल सकता उसीप्रकार आत्मा एक है, वीतराग स्वभाव है, उस एक आत्माका पुण्य-पापके भावोंके समूह में व्याप्त होना अशक्य है, अर्थात् वैसा हो ही नहीं सकता। यहाँ अशक्य कहा है किन्तु दुर्लभ नहीं कहा है। अशक्य अर्थात् जो बन ही नहीं सकता, और

दुर्लभ अर्थात् बन तो सकता है, किन्तु दुर्लभतासे (भारी कठिनाईसे) बन सकता है। इसप्रकार दोनोंके अर्थमें अंतर है।

घर, कुटुम्ब, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र इत्यादि के विस्तारकी तो यहाँ बात ही नहीं है, क्योंकि—उनका विस्तार तो आत्मासे भिन्न ही है, किन्तु शरीर, मन, वाणीके विस्तारकी भी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि—इन सबका विस्तार आत्मा से भिन्न ही है, परंतु दया दान आदिकी जो वृत्ति हो उसमें भी आत्मा को फैला हुआ माना जाये, तो वह सर्वथा अज्ञान है।

वर्तमानमें पानीमें जो उष्णता दिखाई देती है, वह पानीके मूल स्वभावमें नहीं है, इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मामें देव गुरु शास्त्रकी भक्ति की या अविनयकी, दानकी या कंजूसीकी, और निर्दयताकी या दयाकी, समस्त वृत्तियाँ संयोगी वस्तु हैं, क्षणिक हैं, वे आत्माका मूल स्वभाव नहीं हैं, वह विकारी और क्षणिक अवस्थाका विस्तार है, वह विस्तार आत्माका नहीं है। जो यह मानता है कि उस विस्तारसे आत्माका हित होता है, या धर्म होता है, वह अज्ञानी है। आत्मा चिदानन्द शुद्ध स्वभाव है, उसे राग-द्वेषमें फैला हुआ मानना सो मूढ़ जीवोंका अज्ञान है।

आत्मा चिदानन्द प्रभु है। कर्म संयोगके निमित्तसे जो वृत्ति होती है, वह आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि वह आत्माका स्वभाव नहीं है, भगवान तीर्थंकर देव और अनन्त ज्ञानी सन्तोंने यह कहा है कि यह विकारी भाव आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो गये हैं।

कुत्ते बिल्ली इत्यादिके भव धारण करके सत्यकी शरण प्राप्त किये बिना अनंतबार संसारमें परिभ्रमण किया, उसमें मनुष्यका भव अनन्तकालमें जैसे तैसे मिला, उसमें भी यदि सत्यकी शरण प्राप्त न की तो फिर चौरासी के चक्करमें जा गिरेगा। असत्यकी शरणमें किसी भी क्षेत्र या किसी भी काल में सुख नहीं हो सकता।

जैसे—सेनाके समुदायमें राजा कथन मात्रसे व्यवहार है, इसीप्रकार व्यवहारी लोगोंका अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहनेका व्यवहार होता है। व्यवहारीजन यह कहा करते हैं कि अध्यवसानादि जीव हैं, इसलिये उनकी

भाषामें समझाया है कि अध्यवसानादि जीव हैं, परन्तु आत्म स्वभावमें न अध्यव सानादि भाव नहीं हैं। उनसे आत्मा को कोई लाभ या हित नहीं हैं। देव–गुरु–शास्त्रकी ओर का राग, और व्रत, दया, दानादिके परिणाम तो पुण्य बन्धके कारण हैं ही, किन्तु स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये प्रथम विकल्प आये कि मैं ज्ञान हूँ, म दर्शन हूँ, म चारित्र हूँ, तो वह भी पुण्य बन्धका कारण है, क्योंकि उसमें राग है। इसलिये वह पुण्य बन्धका कारण है, और वह व्यवहार है। *यदि निर्विकल्प स्वरूपमें स्थिर हो जाये तो बीचमें आया हुआ* विकल्प व्यवहार कहलाता है, अन्यथा वह व्यवहार भी नहीं है, किन्तु मात्र पुण्य बन्ध है। यदि स्वभाव पर्याय प्रगट हो तो बीचमें आये हुए विकल्पको व्यवहार कहा जाता है। स्वरूप को समझते समय और स्वरूपमें स्थिर होते समय बीचमें व्यवहार आये बिना नहीं रहता। परिपूर्ण स्वरूपकी दृष्टि करके स्वरूपका अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है, और विशेष रमणता बढ़ने पर *सम्यक्चारित्र प्रगट होता है। साधक दशामें जितने जितने राग मिश्रित परि*णाम आते हैं, वे सब पुण्य बन्धका कारण हैं, और स्वभाव दृष्टिके द्वारा स्वभावमें से जो स्वभाव पर्याय प्रगट होती है, वह निर्जराका कारण है। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड है, उसमें से अनन्त पर्याय प्रगट होती है–सामान्यमें से विशेष आता है, विशेषमें से विशेष नहीं आता। जड़की अवस्था को आत्मा करता है, ऐसी मिथ्या मान्यता अज्ञानी जीवोंके द्वारा माना हुआ व्यवहार है, *और मलिन अवस्था आत्मामें प्रविष्ट हो गई है वह भी अज्ञानी जीवोंके द्वारा* माना हुआ व्यवहार है, यह व्यवहार ज्ञानीका नहीं है, ज्ञानी तो मलिन अवस्थाको मात्र जानता है, और उसका व्यवहार अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वरूपमें एकाग्र होना और अस्थिरता को दूर करना है।

आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभाशुभ परिणाम होते हैं सो व्यवहार है। स्वरूप में स्थिर होने के लिये म ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ ऐसे विकल्पों का आना भी व्यवहार है। स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न व्यवहार है, और स्वरूपमें स्थिर हुआ सो वह भी व्यवहार है, क्योंकि उसमें अपूर्ण अवस्था है, और पूर्ण अवस्था करनी चाहिये ऐसे भग होते हैं। जब तक पूर्णदशा नहीं

होती तब तक बीचमें व्यवहार आता है। अपूर्ण अवस्था है और उसे पूर्ण किया जाये, ऐसा व्यवहार यदि न हो तो उपदेश देना व्यर्थ सिद्ध हो। ज्ञाता-दृष्टा रहकर स्वरूप में एकाग्र होना धर्मा का व्यवहार है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव जिसके परम गुरु हैं —उनका दास, उनका भक्त, ऐसा धर्मात्मा ज्ञानी परमार्थत जीव एक है, ऐसा कहते हैं। वह अध्यवसानादि भावो में अनेक नहीं हो गया, उन विकारी भावों से आत्मा का धर्म नहीं है, सुख नहीं है, हित नहीं है, इसप्रकार सर्वज्ञका दास धर्मात्मा कहता है। स्वभाव दृष्टि और पर से पृथक्त्व का ज्ञान उस धर्मात्मा के प्रवर्तमान ही रहता है, इसलिये वह पर द्रव्य के भाव रूपमें परिणमित नहीं होता, पर में कर्तृत्व नहीं मानता। ऐसी प्रतीतिके साथ जो स्वरूपका अनुभव करता है,—ऐसा भगवान का भक्त कहता है कि अध्यवसानादि जीव नहीं है, परमार्थ से जीव एक है, वह अध्यवसानादि भावों से भिन्न है।

आचार्य देव नियमसार में कहते ह कि मार्ग की श्रद्धा बराबर करो, उसे उल्टा सीधा मत मानो, यदि हो सके तो श्रद्धा पूर्वक स्थिरता भी करो, यदि स्थिरता का प्रयत्न न हो तो श्रद्धा भली भाँति करना, यदि तुझमे स्थिरता न हो सके तो मार्गकी श्रद्धा को विपरीत मत करना।

हे प्रभु! जब कि तूने अनन्त काल में कभी भी आत्मस्वभाव की बात नहीं सुनी तब तुझे यह खबर कहाँ से हो सकती है कि श्रद्धा की, मुनित्व की और केवली की बात कैसी होती है? जहाँ यथार्थ परिचय नहीं, और यह खबर नहीं है, कि–किस मार्ग पर जाना है, तो वहाँ मार्गपर कैसे चलेगा?

हे भाइ! यह बहुत उच्चकोटि की नहीं किन्तु यह तो प्रथम इकाई की बात है, पहले यथार्थ ज्ञानश्रद्धा करने की बात है। विशेष स्थिरता प्रगट करके मुनित्व को प्रगट करना, और फिर केवलज्ञान प्रगट करना उच्चाति उच्च कक्षा की बात है।

अनीतिमय आचरण कर रहा हो, तथापि दुनियाँ में बडा होने के लिये नीति की आड़ में रहना चाहे, और दूसरों से कहे कि–क्या मै अनीति कर सकता हूँ? अनाचार कर सकता हूँ? क्या म असत्य बोल सकता हूँ?

छि छि ! *इनका तो नाम ही मत लो ! इसप्रकार* वह नीति की आड़ लेकर भला बनना चाहता है, और इसप्रकार वह यह मानता है कि अनीति अच्छी नहीं किन्तु नीति अच्छी है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि शुभाशुभ विकारों से रहित सत्स्वरूप शुद्ध *आत्मा ही आदरणीय* है।

लोग सांसारिक बातों में अपना सयान बतलाते हैं, उत्साह दिखाते हैं और उन्हीं में तन्मय रहते हैं, किन्तु यहाँ धर्म की बातों में कोई उमंग नहीं है, तो क्या यह धर्म कोई मुफ्त की चीज है ? धर्म की बात में लोग यह मानते हैं कि यह हमारी समझ में नहीं आयेगी, अपनी ऐसी शक्ति ही नहीं है। किन्तु हे भाई ! तुझमें शक्ति तो अनन्त है। तेरे स्वभाव की अनन्त शक्ति प्रतिसमय ऐसी परिपूर्ण है कि—अड़तालीस मिनट में केवलज्ञान प्रगट कर सकता है, तब फिर यह कहना कि मेरी समझ में नहीं आ सकता या मुझे मत समझाइये,—घोर कलंक की बात है। यदि कोई किसी मनुष्यसे बातचीत में गधा कह दे तो वह लड़ने को तैयार हो जाता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है, कि जहाँ तेरा अनन्त संसार में परिभ्रमण करने का भाव विद्यमान है, वहाँ गधे आदि के अनन्त भव भी धारण करने होंगे।

हे भाई ! ऐसा उत्तम सुयोग मिला है, दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, और सत्समागम भी मिला है, ऐसे समय में भी यदि न समझे तो फिर कब समझेगा ? विकार की अनेकता से रहित एक ही चैतन्यस्वरूप है, उसकी श्रद्धा करने और उसका ज्ञान करने में ही तेरा हित है। चैतन्य प्रभु एक है, ज्ञाता दृष्टा है, वीतराग स्वरूप है। पुण्य पाप के परिणाम की जो अनेकता है, सो आत्मा नहीं है, उस परिणाम में आत्मा फैलता नहीं है या उसमें अटककर नहीं फैलता ॥ ४८ ॥

अब शिष्य पूछता है कि—यदि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं है तो बताइये कि एक टंकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ?

यहाँ शिष्य के मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जिज्ञासा हुई है, जानने की तीव्र आकांक्षा हुई है, और वह जानने के लिये पुलकित हो उठा है कि

प्रभो ! यह क्या है ? आपने जो भगवान आत्मा को राग रहित कहा है सो कैसा है ? टकोत्कीर्ण और कमी नष्ट न होनेवाली आत्मा कैसा है ? जिस आत्मा की श्रद्धा करने से मोक्ष होता है, उसका सत्य स्वरूप क्या है ? आपने तो यहाँ तक कह दिया है कि पुण्यादि के शुभ भावों से भी लाभ नहीं होता, तो फिर सत्य स्वरूप क्या है, सो समझाइये। यहा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव की बात नहीं है, किन्तु शिष्य को जिज्ञासा हुई है, और वह स्वरूपका इच्छुक होता हुआ पूछता है कि भगवन् ! जिस आत्मा का नाश नहीं होता वह वस्तु क्या है, जिसे जानकर श्रद्धा करके स्थिर हों तो इस संसार का अत हो जाये ?

शिष्य पूछता है कि भगवन् ! शुभाशुभभावकी जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे आत्माका स्वरूप नहीं हैं, और उनके आश्रयसे आत्माको लाभ नहीं होता, तो अब हम किसकी शरण ग्रहण करें ? किस पर दृष्टि लगायें ? आत्मा कैसा है ? उसका परमार्थ स्वरूप क्या है, कि जिसपर दृष्टि रखकर उसमें स्थिरहोनेसे भवभ्रमणका अन्त आये ? इसप्रकार विनयपूर्वक शिष्यके पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देते हुये निम्नलिखित गाथामें कहा है कि—

अरसमरूमगधं अव्वत्तं चेदणा गुणमसद्द ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥४६॥

अर्थ —हे भव्य ! तू जीवको रूप, रस, और गधसे रहित, अव्यक्त और इन्द्रिय अगोचर, तथा चेतना जिसका गुण है, शब्द रहित, जिसका किसी भी चिह्नसे ग्रहण नहीं होता, तथा जिसका कोई आकार नहीं कहा जा सकता ऐसा जान।

यह गाथा बड़ी अलौकिक है। यह गाथा श्रीकुदकुदाचार्यरचित सभी ग्रथोंमें पाई जाती है। नियमसारमें ४६वीं, अष्टपाहुड़के भाव पाहुड़में ६४वीं, प्रवचनसारमें ८०वीं, और पचास्तिकायमें १२७वीं गाथा है। तथा धवल ग्रथके तीसरे भागमें यह पहली गाथा है। इसप्रकार यह गाथा इन सभी शास्त्रोंमें है। इस गाथामें आत्माका वास्तविक स्वरूप अचिंत्य और अलौकिकढ़ङ्गसे किया गया है।

सर्वज्ञ भगवानके मार्गोको कुदकुदाचार्यने अपने अनुभवमें उतारकर इस शास्त्रमें स्पष्टतया लिखा है।

हे सुयोग्य भव्य! तू भगवान आत्माको रस रहित जान। गाथामें सबसे पहले रस रहित कहा है, इसका कारण यह है, कि जीव पर पदार्थोंमें रस मान रहे हैं, वे खाने पीने, चलने फिरने, और रहन सहन इत्यादि में रस मान रहे हैं, तथा इसीमें सुख मान रहे हैं, और इस गाथामें आत्माके अतीन्द्रिय अनुभवरसकी बात करनी है, आत्माका आनन्द बताना है, इसलिये यहाँ रसकी बात पहले कही है। अन्य सभी शास्त्रोंमें पचवर्णादिका वर्णन करते हुये पहले स्पर्शकी बात आती है, किन्तु यहाँ तो आत्माका अनुभव रस बताना है, इसलिये रसकी बात पहले कही है।

आत्मा अनन्त कालसे पर वस्तुमें रस मान रहा है। प्रतिष्ठामें, कीर्ति में, लक्ष्मीमें, खानेमें, पीनेमें, उठनेमें, बैठनेमें, सोनेमें जो रस मान रहा है वह विकारी रस है। उस विकारी रसका नाश करनेवाला अतीन्द्रिय आनन्द रस आत्मामें सम्पूर्णतया भरा हुआ है, वह रस सम्यग्दर्शन होनेपर प्रगट होता है। वह रस ही आत्माका है, शेष अन्य रस आत्माके नहीं हैं।

जैसे भगवान आत्मामें रस नहीं है, उसी प्रकार रूप भी नहीं है। आत्मा सफेद, काला, हरा, पीला, और लाल नहीं है। इन पाच वर्णोंमें से कोई भी वर्ण आत्मामें नहीं है। आत्मा स्वय अपने अनन्त गुणोंसे स्वरूपवान है।

भगवान आत्मामें सुगन्ध या दुर्गन्ध कुछ भी नहीं है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है,—इन्द्रिय गोचर नहीं है। स्पर्श, रस इत्यादि के जाननेमें इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं। किन्तु आत्माके जाननेमें इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। उपदेश सुनना भी कान का विषय है।

प्रश्न —जब कि सुनना भी कानका विषय है, तब हमें क्या करना चाहिये?

उत्तर —रुपये पैसेकी कमाईकी बात, पुत्र पुत्रियोंकी प्यारी आवाज और स्त्री के मीठे बोल सुनना सो सब पापराग है। उसकी दिशा बदलकर देव गुरु शास्त्रके वचन श्रवण करना सो पुण्यराग है। और उसमें विवेक करना कि—आत्मा रागरहित है, वर्ण आदि रहित है, ऐसा विवेक करना—वह

आमासे होता है, सुननेसे नहीं होता। जब सत् को समझनेकी जिज्ञासा होती है, तब सत्श्रवण बीचमें आता है, क्योंकि सत्श्रवणके बिना सत्स्वरूप समझमें नहीं आता, किन्तु सत्श्रवणसे ही सत्स्वरूप समझमें नहीं आ जाता, सत् स्वरूप तो आत्माके पुरुषार्थसे समझा जाता है। अपने स्वरूपका विवेक करने की ओर जब वीर्य ढलता है, तब श्रवणके रागका लक्ष छूट जाता है। परन्तु स्वयस्वरूपका विवेक करके समझे तो जो श्रवण का राग और श्रवणका निमित्त, जो देव गुरु शास्त्र हैं, वे समझनेमें निमित्त हुये कहलाते हैं। विवेक करना आत्माका स्वतन्त्र कर्तव्य है।

भगवान आत्मा शब्द रहित है। आत्मामें वाणी नहीं है। यह जो वाणी बोली जा रही है, सो उसे जड़ बोलता है, आत्मा नहीं। जड़भूतवाणी जड़ की खानमें से निकलती है। भगवान आत्मा ज्ञाता दृष्टा–साक्षीस्वरूप है, उसकी खानमें से वाणी नहीं निकलती इसलिये आत्मा शब्दरहित है।

आत्मा किसी बाह्य चिह्नसे नहीं पकड़ा जा सकता। विपरीत दृष्टि के कारण जीव ऐसा मान रहे हैं कि हम स्त्री हैं, हम पुरुष हैं, हम बालक हैं, हम युवक हैं, हम वृद्ध हैं, हम मनुष्य हैं, और हम पशु हैं, इत्यादि। उससे सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे भाई! तू आत्मा है, स्त्री पुरुषादि कोई भी चिह्न वाला नहीं है, तेरा आत्मा चिह्नरहित है लिंगरहित है। आत्माका स्वरूप किसी बाह्य चिह्नसे नहीं पकड़ा जा सकता, तथापि जो बाह्य चिह्नको 'यह मै हूँ, ऐसा मानता है वह आत्माकी हत्या करनेवाला है। आत्मा चिह्नरहित, चिदानन्द है। शरीरके चिह्न (लिंग) वाणी इत्यादि पर वस्तु आत्माकी नहीं है। आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है, इसप्रकार हे शिष्य! तू जान! यहाँ शिष्यसे 'तू जान' ऐसा कहा है, किन्तु तेरी समझ में नहीं आयगा ऐसा नहा कहा। ऐसा ही आत्मा है, इसप्रकार आचार्यदेव घोषित करते हैं। वैसे ही आत्माकी श्रद्धा कर, उसीको जान और उसीमें स्थिर हो जा। आत्मामें ज्ञात न हो ऐसा कुछ है ही नहीं। यहाँ 'जान' शब्द कहकर ज्ञान दर्शन चारित्र तीनोंका समावेश कर दिया है।

अब, इस आदिका विस्तृत विवेचन करते हैं–

जो जीव है सो निश्चयसे पुद्गल द्रव्यसे अलग है, इसलिये उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है, इसलिये अरस है।

आत्मा रस रहित है। खट्टा, मीठा, कड़ुवा, इत्यादि पांच प्रकारके जो रस हैं सो पुद्गलके हैं, आत्माके नहीं। शरीर मन वाणी इत्यादि सब आत्मासे भिन्न हैं, इसलिये भगवान आत्मामें वह रस विद्यमान नहीं है। रस तो रजकणका गुण है, और आत्मामें रजकणका अभाव है, इसलिये रस का भी अभाव है। आत्मा और पुद्गल दोनों वस्तु है, किन्तु रस पुद्गल द्रव्यका गुण है, आत्मद्रव्यका नहीं।

यह शरीर बहुतसे रजकणोंका पिंड है, इस पिंडके अंतिम भागको परमाणु कहते हैं उस परमाणुमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण हैं, ऐसे रज कणोंका संयोग मिलकर यह शरीरका दल दिखाई देता है, अब यह शरीर जड़की अवस्था है, और जड़का रस गुण जड़में है, आत्मा इस शरीरसे भिन्न है, इसलिये उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है, अर्थात् उस रस गुणका अस्तित्व ही आत्मामें नहीं है। तेरे आत्माका तो शांत रस है, अनाकुल रस है, अतीन्द्रिय रस है। वह तेरा रस तुझमें है। वह तेरा रस जड़में कहीं भी नहीं है, और जड़का रस गुण तुझमें नहीं है।

यहाँ प्रथमोक्तिमें आत्माको पुद्गल द्रव्यसे अलग किया है, और अब द्वितीयोक्तिमें पुद्गलके गुणोंसे अलग करते हैं।

पुद्गल द्रव्यके समस्त गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण आत्मा स्वयं भी रस गुण नहीं है, अर्थात् अरस है।

पुद्गल द्रव्यके जितने गुण हैं उन सबसे आत्मा भिन्न है। पुद्गल के अनन्त गुण पुद्गलमें है। वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, द्रव्यत्व, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, इत्यादि पुद्गलके अनन्तगुण पुद्गलमें हैं। ऐसे पुद्गल द्रव्यके गुणोंसे आत्मा भिन्न है। जैसे पुद्गल, पुद्गलके रस गुण में परिणमित हुआ है, वैसे रस गुण रूपसे आत्मा परिणमित नहीं हुआ है, इसलिये आत्मा अरस है।

विविध प्रकारके व्यंजनोंका उपभोग करते हुए जो स्वादका होता है,

वह रस आत्माका नहीं किन्तु जड़का है, लेकिन मूढ़ात्मा उसे अपना रस मानता है। वास्तवमें तो आत्मा उस रसको जानता है, इसके अतिरिक्त आत्मा में जड़का कुछ नहीं है। मैं रस नहीं, किन्तु मात्र ज्ञाता हूँ ऐसा ज्ञान किया सो रसमें जो राग आता था उस रागसे अशतः अलग हो गया, और रसका मात्र साक्षी रह गया। मैं रस नहीं हूँ एवं श्रद्धा और ज्ञान करके स्थिर होने पर आकुलता दूर हो जाती है, सो चारित्र है। इसप्रकार आत्मा न तो पर रूप है, और न परके गुण रूप भी है।

अब तृतीयोक्तिमें कहते हैं कि परमार्थसे पुद्गल द्रव्यका स्वामित्व भी उसके नहीं है, इसलिये द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे भी रसको नहीं चखता, इस लिये वह अरस है।

भगवान आत्मा इस जिह्वा इन्द्रियके द्वारा भी रसको नहीं चखता क्योंकि आत्मा जिह्वाका स्वामी नहीं है उसका स्वामी तो जड़ है, वह जीभ आत्माके हिलाये नहीं हिलती। यदि वह आत्माके हिलाये हिलती हो तो कभी कभी मरते समय बोलनेकी उत्कट इच्छा होते हुए भी और भीतर आत्माके रहते हुए भी जिह्वाका अग्रभाग तक क्यों नहीं हिलता और वह क्यों नहीं बोल पाता? तात्पर्य यह है कि जीभका हिलाना आत्माके वशकी बात नहीं है। आत्मा उसका स्वामी नहीं है। वह जड़के आलंबनसे रसको नहीं चखता क्योंकि जीभ हिलती है, उसका स्वामित्व जड़का है। पर द्रव्यके द्वारा पर द्रव्यका रस लेना त्रिकाल में भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों द्रव्य स्वाधीन हैं। वास्तवमें जड़ इन्द्रिय रूप जीभ आत्माका स्वरूप नहीं है। वह जड़ेन्द्रिय आत्मा नहीं है, *आत्माका गुण नहीं है, आत्माकी पर्याय नहीं है। भगवान विज्ञानघन है, वह जड़ रसमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, इसलिये वह अरस है।*

शिष्यने पूछा था कि प्रभो! इसमें आत्मा किसे कहा जाये? क्योंकि जो आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु अन्य जो विकारी भाव है उन्हें हम आत्मा मान रहे हैं तो हित कैसे हो? इसलिये स्थायी स्वभाव क्या है सो बताइये।

जिसे हित करना है उसे आत्माका स्वभाव जानना चाहिये। पांच

के लाखों टुकड़ोंके बीचमें एक हीरा पड़ा हो तो हीरेका इच्छुक और परीक्षक उनमेंसे हीरेको पहिचानकर तत्काल ही उठा लेगा, इसीप्रकार शरीर इन्द्रिय मन यह सब काँचके टुकडे हैं और इन्द्रियोंके विषयभी काँचके टुकडे हैं, और जो पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं वे काचके छोटे टुकडे हैं, तथा भीतर चैतन्य मूर्ति अमूल्य हीरा है, जिसे उस आत्मारूपी हीरेका महत्व मालूम होगा वह परीक्षा करके चैतन्यमूर्ति हीरेको प्राप्त कर लेगा, और उसका उपयोग उस चैतन्यमूर्ति हीरे पर ही जायेगा और उसमें लीन हो जायेगा।

जो हीरेके महत्व को नहीं जानता, जिसे काँच और हीरेका विवेक नहीं है, वह कांचको उठा लेगा। इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति अमूल्य हीरेकी खबर नहीं है, उसे जड़ और चैतन्यके पृथक् स्वभावका विवेक न होनेसे वह शुभाशुभ परिणाम को और शरीरकी क्रियाको ही चैतन्य मान लेगा। जिसे चैतन्यरूपी अमूल्य हीरा चाहिये हो, उसे जड और चैतन्यके पृथक् स्वभावका विवेक करना पड़ेगा। उसके बिना चैतन्यरूपी अमूल्य हीरा नहीं मिलता।

आत्माके साथ जो शरीर, मन, और वाणी है वह सब संयोगी वस्तु है, नाशवान है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि सब बाह्य वस्तुएँ हैं जो कि नाशवान हैं, वे सब बाह्य वस्तुएं चली जाती हैं और ममता रह जाती है। और जो भीतर पुण्य पापके भाव होते हैं वे भी सब बदल जाते हैं, इसलिये वे भी क्षणिक, नाशवान हैं। यह सब संयोगी वस्तुएँ क्षणिक हैं। जितने काल आत्मा रहता है, उतने काल वह संयोगी वस्तु नहीं रहती। आत्मा उससे पृथक् तत्व क्या है, उसकी श्रद्धा और परिचयके बिना एकाग्रता नहीं होती।

यदि कोई कहे कि हम मात्र शुभ परिणाम किया करें, और पाप भाव न करें तो क्या हानि है? किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, पुण्य परिणाम सदा एकरूप नहीं रहते, पुण्य को बदल कर आत्माके स्वभाव को न समझे तो पाप परिणाम अवश्य होते हैं, अनादिकालीन मूढ़ताके कारण संसारकी आवश्यकता मालूम होती है, इसलिये अज्ञानी जीव संसारकी वेगार किया करता है। जिसे जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, वहाँ उसका वीर्य काम किये बिना नहीं रहता। आत्माकी आवश्यकता प्रतीत हो तो वहाँ वीर्य काम किये

बिना नहीं रहेगा। जिसे आत्माका हित करना हो उसे कहाँ दृष्टि रखना चाहिये? उसे क्षणिक परसे दृष्टि हटाकर स्थायीपर दृष्टि करनी चाहिये, अर्थात् परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखनी चाहिये। पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि डाले बिना पूर्णता प्रगट नहीं होगी, और मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होगा। अपने घरको देख। अपने स्वरूप को जाने बिना नित्य सुख प्रगट नहीं होगा, और अनित्य पर दृष्टि रखने से नित्य सुख प्रगट नहीं होगा।

यदि क्षणभरमें पुण्य और क्षणभरमें पापके बदलते हुए भावोंके भरोसे सुख लेना चाहेगा तो नहीं मिलेगा। जो स्वभाव कभी बदलता नहीं है, उसके भरोसे सुख मिलेगा।

सायकालमें माया खिलती है, और सुहावनी प्रभा दिखाई देती है, उस समय ऐसा लगता है कि मानों पृथ्वी ने चुनरी ओढ़ रखी है! जब वह प्रभा अपने मकान पर पड़ती है तब मूढ़ पुरुषकी दृष्टि उधर जाती है, और वह मानता है कि-यह प्रभा सदा बनी रहेगी! किन्तु हे अज्ञानी मानव! यह प्रभा अभी कुछ ही क्षणोंमें चली जायेगी, यह मनोहर रंग कुछ ही क्षणमें नष्ट हो जायेंगे, यह प्रभा क्षणिक है, नाशवान है, इस पर दृष्टि जमा कर यदि सुख लेना चाहे तो वह सुखी नहीं होता।

पुण्यके कारण सुन्दर स्त्री मिली हो, दो-चार अच्छे बालक हों, और शरीरकी कुछ सुन्दर चमड़ी मिली हो तथा ऐसी ही सांसारिक अनुकूलताएँ मिल गई हों तो अज्ञानी जीव उसमें सुख मान बैठता है। किन्तु यदि उस सुन्दर चमड़ी को जरा शरीर परसे उतार कर देखे तो पता लगे कि भीतर क्या भरा हुआ है। रक्त माँससे भरा हुआ यह पुतला है, इसमें जो सुख मानता है वह मूढ़ है। रुपया, पैसा, स्त्री इत्यादि अनुकूलताओंमें सुख मान बैठा है, किन्तु वे सब क्षणिक हैं। उन परसे दृष्टिके विषय को हटाकर उसे आत्माकी ओर ले जा। परोन्मुख दृष्टिको हटा कर स्वोन्मुख कर।

सम्यक्दृष्टिका विषय आत्मोन्मुख होता हुआ स्थायी है, उसकी दृष्टि ध्रुव-शाश्वत पर होती है, पुण्य, पाप, राग, द्वेष, शरीर, मन, वाणी पर नहीं होती, मात्र एक शाश्वत् टङ्कोत्कीर्ण भगवान आत्मा पर ही उसकी दृष्टि होती

है। सध्याकी लालिमा क्षणिक है, उस पर जानेवाली दृष्टि भी क्षणिक है, इसलिये राग द्वेष रहित, सदा स्थायी अविचल वस्तु आत्मा पर दृष्टि दो। उस आत्म द्रव्यका कभी नाश नहीं होता। भगवान आत्मा पर राग-द्वेषकी लालिमा मय संध्याका रंग पड़ा हुआ है, वह सदा नहीं रहेगा। अज्ञानी जीव रागकी लालिमा पर दृष्टि रखकर सुख लेना चाहता है, किन्तु वह स्थायी नहीं है, इसलिये सुख नहीं मिलता। अनित्यके भरोसे सुख नहीं हो सकता, उसके जानेसे दुःख होगा। परन्तु नित्यके भरोसे दुःख नहीं किन्तु सुख होगा।

अपने सांसारिक घर पर जब संध्याकालीन लालिमाकी प्रभा पड़ती है तब उसे देखकर कितना प्रसन्न हो जाता है? किन्तु भाई! अपने निज घरमें तो देख कि आत्मा क्या है, और उसकी कितनी सुन्दर शोभा है, जो कि सदा स्थायी है।

परमाणुमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यह चार गुण मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त अन्य अनन्त गुण भी परमाणुमें विद्यमान हैं। पुद्गलका रस आत्मामें नहीं है, आत्मामें शांतरस है, आत्मा विकारक मलुषित रससे रहित आनन्द रस युक्त है।

यह जिह्वा अजीव है, परमार्थसे इस जड़ द्रव्य जिह्वाका स्वामित्व भी आत्मा के नहीं है, आत्मा जीभके द्वारा अथवा जीभके आलम्बनसे रसको नहीं चखता। जिह्वाकी जो ऊँची नीची अवस्था होती है सो वह जीभकी है। जिह्वाके अग्रभागको चलाना आत्माके वश की बात नहीं है किन्तु वह जिह्वा से ही चलता है। जीभकी अवस्था जीभसे ही बदलती है, आत्मा उससे सर्वथा भिन्न चिदानन्द आनन्दरससे परिपूर्ण है। पुद्गल द्रव्यका स्वामित्व आत्माके नहीं है, इसलिये वह परमार्थसे द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा रसको नहीं चखता। यहाँ प्रथम उक्तिमें पुद्गल द्रव्यसे आत्माको अलग किया और द्वितीयोक्तिमें पुद्गलके गुणसे अलग किया, तथा तृतीयोक्तिमें पुद्गलकी पर्यायसे भी आत्मा को अलग कर दिया है।

यदि आत्मा जिह्वाके द्वारा रसको चख सकता हो तो जब बुखार आता है, और जीभ बिगड़ जाती है-जीभके परमाणु ऐसे हो जाते हैं कि उन्हें रसमें मि-

ठास नहीं लगती तब रसास्वादनकी इच्छा होते हुए भी कोई रस अच्छा नहीं लगता। जीभ अनन्त परमाणुओंका एक पिंड है, उसकी प्रतिक्षण जो अवस्था होती है, वह स्वतन्त्र होती है, तात्पर्य यह है कि आत्मा जिह्वेन्द्रियके द्वारा रस नहीं चखता। परमाणुकी प्रतिक्षण जो अवस्था होती है, वह परमाणुके आधारसे होती है आत्माके आधारसे नहीं होती। और परमाणुकी अवस्थाके आधारसे आत्मा रस नहीं चखता।

आत्माको खाना-पीना और बोलना आता है, ऐसी मान्यता अज्ञान है, मूढ़ता है।

जीभ पर वस्तु है, यह आत्मा नहीं है, वह आत्माके रखे नहीं रह सकती जब हाथमें आम लेकर मुँहमें देता है, और उसे चूसता है, तब तो रसास्वाद आता है, उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है, कि मानों स्वर्गका सुख उतर आया हो! किन्तु प्रभो! तेरा रस तुझ ही में है। तेरा रस आममें से या जीभमें से नहीं आता तू तो मात्र अपने रागका वेदन करता है, जड़का वेदन कोई नहीं कर सकता। तू रसको नहीं चखता किन्तु तुझे रसका स्वरूप ज्ञानसे ज्ञात होता है। उसमें जो यह मानता है कि मैंने इस जीभसे रस चखा है, वह पराधीन दृष्टिवाला मूढ़ मिथ्यात्वी है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाये तो आत्मा द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा रस नहीं चखता, इसलिये आत्मा अरस है। अब यहाँ चतुर्थोक्ति कही जाती है।

अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो क्षायोपशमिक भावका भी अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बनसे भी रसको नहीं चखता, इसलिये अरस है।

यह चतुर्थोक्ति तृतीयोक्तिसे अधिक सूक्ष्म है। आत्मामें जड़ेन्द्रियकी नास्ति है, इसलिये जड़ेन्द्रियको अलग कर दिया है। अब भावेन्द्रियको भी आत्मासे अलग कहते हैं। रसको जाननेका वर्तमान ज्ञानका विकास, रसको जाननेकी वर्तमान ज्ञानकी शक्ति, उस समय रसमें वर्तमान अटकने वाला ज्ञान, एक ही रसकी ओर जानेवाला जो ज्ञान है, वह क्षायोपशमिक ज्ञान है,–उसका भी आत्मामें परमार्थ दृष्टिसे अभाव है, क्योंकि आत्माका परिपूर्ण ज्ञान स्वरूप है,

उस स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो अल्प ज्ञानका उसमें अभाव है। चैतन्य आत्मा उस पूर्ण ज्ञानकी मूर्ति है, इसलिये अपूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव नहीं है।

आत्माको स्थायी स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो क्या एक मात्र रस को ही जाननेका उसका स्वभाव है ? नहीं, सबको एक एकसाथ जाननेका उसका स्वभाव है। परन्तु अपूर्ण ज्ञानके कारण रागमें अटकनेवाला ज्ञान, रूपको जानते समय रूपको ही जानता है और गधको जानते समय गधको ही जानता है, इसीप्रकार पाँचों इन्द्रियोंको लेकर खड खड जानता है। जिस समय जिसे जाननेकी ओर उन्मुख हो, उसे जानसो वह ज्ञान क्षायोपशमिक है अपूर्ण है। यदि स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो आत्मामें उसका अभाव है, मात्र आत्माका स्वभाव लें तो उसमें क्षायोपशमिक-अपूर्ण ज्ञानका अभाव है, क्योंकि आत्मा परिपूर्ण स्वभावकी मूर्ति है, अरूपी ज्ञानकी प्रतिमा है, और सम्पूर्ण ज्ञानशक्तिसे भरपूर है। उस परिपूर्ण शक्तिकी दृष्टिसे देखा जाये तो *उसमें अल्प शक्तिका अभाव है।*

क्षायोपशमिक ज्ञान खड खड ज्ञान है, उसमें जिस समय जिस इन्द्रियकी ओर जानना चाहे, उस समय वह मात्र एक ही इन्द्रियके विषय को जान सकता है। कानसे शब्द सुनाई देता है, किन्तु स्वाद नहीं आता, इसीप्रकार आँखकी ओर लक्ष करे तो रूप ज्ञात होता है, किन्तु आँखसे सुगध नहीं आती, इसीप्रकार रसको जाननेके लिये जीभकी ओर लक्ष करे तो स्वाद मालूम होता है, किन्तु उसमे सुना नहीं जा सकता, इसीप्रकार सुगन्ध जानने के लिये नाककी ओर लक्ष करे तो उससे गध ज्ञात होती है, किन्तु उससे रसास्वाद नहीं जाना जाता, इसीप्रकार ठडा-गर्म स्पर्श जाननेके लिये स्पर्शेन्द्रिय की ओर लक्ष करे तो उसके द्वारा ठण्डा, गर्म इत्यादि स्पर्श मालूम होता है, परन्तु स्पर्शेन्द्रियके द्वारा देखा नहीं जाता, तात्पर्य यह है कि एक इन्द्रियसे दूसरी इन्द्रियका कार्य नहीं होता, क्षायोपशमिक ज्ञान उन इन्द्रियोंके द्वारा क्रमश खड खड जानता है, इसलिये वह खडयुक्त ज्ञान आत्माका स्वभाव नहीं किन्तु अखण्ड ज्ञान आत्माका स्वभाव है। समस्त इन्द्रियोंका ज्ञान आत्मामें है, किन्तु इन्द्रियाँ तो अपने अपने विषयका ही कार्य करती हैं।

सन्तमें जो अशुद्धता आ जाती है, वह उसका अपना स्वभाव नहीं

है, किंतु उसमें तांबेका मिश्रण होगया इसलिये ऐसे पर संयोगके कारण उसमें हीनता आ गई है, इसीप्रकार आत्मामें जो अपूर्ण ज्ञान दिखाई देता है, सो वह अपना निजका स्वभाव नहीं है, किन्तु पर की ओर दृष्टि करके स्वयं अटक रहा है, इसलिये उसकी वर्तमान पर्याय हीन हो गई है। यदि सोनेमें से तांबेकी दृष्टि अलग करली जाये तो सोना स्वभावसे सौ टंची-शुद्ध ही है। इसीप्रकार आत्मामेंसे परसंयोगी दृष्टिको निकाल दिया जाये तो वह स्वभावसे परिपूर्णही है।

चैतन्य आत्माका रसको ही मात्र जाननेका स्वभाव नहीं है, किन्तु अखंडको जाननेका उसका स्वभाव है, एक समयमें तीनकाल और तीनलोकको जाननेका उसका परिपूर्ण स्वभाव है, उसमें मात्र रसको ही जाननेमें अटक जाना सो राग है। अखण्डको जाननेका आत्माका स्वभाव है, वैसी अखंड दृष्टि से देखें तो खण्डयुक्त, अपूर्ण और एक विषयमें अटकनेवाला ज्ञान, और ऐसा विकास अथवा उतना ही विकास आत्माका स्वभाव नहीं है।

चैतन्य ज्ञानज्योति आत्मा अखण्ड गुणोंका पिंड है। ऐसे स्वभावकी प्रतीतिके बिना मात्र एक ही विषयको-रसको ही जाननेमें अटक जाता है, सो यह उसका अज्ञान है। जब किसी राजाको बुलाना हो या उससे काम हो, तो बड़ी बड़ी पदवियाँ लगाकर उसे बुलाया जाता है, तब कहीं सुनवाई होती है, सामान्य शब्दोंसे बुलाने पर काम नहीं बनता, इसीप्रकार यदि भगवान आत्मा को अपूर्ण ज्ञान वाला मानोगे तो वह उत्तर नहीं देगा, शांति प्रगट नहीं होगी, धर्म नहीं होगा। जैसा स्वरूप हो वैसा ही जाने तो आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट हो। यह आत्माके गीत तो सच्चे हैं और राजाके गीत मिथ्या हैं, इस चतु-र्योक्तिमें भीतरकी बात कही है। यदि आत्माको मात्र एक एक इंद्रियके विषयको जानने जितना माना जाये तो वह दुखी होनेका उपाय है।

वास्तवमें बात यह है कि जगतको सच्चे तत्वका अभ्यास ही नहीं है।' दूसरा सब कुछ अभ्यास किया किन्तु उसमें मात्र छिलके ही कूटता रहा। इस अभ्यासमें बड़ी बड़ी परीक्षायें देकर बड़ी बड़ी पदवियाँ लगा लीं किंतु वह कहीं वर्तमान पुरुषार्थका फल नहीं है। पूर्व भवमें आत्मप्रतीतिके बिना ही कुछ राग द्वेष कम किया था इसलिये ज्ञानावरणीय कर्मका कम बंध हुआ, और इसलिये

ज्ञानावरणीय कर्मका कम बन्ध हुआ, और इसलिये वर्तमानमें ज्ञानका कुछ विकास दिखाई देता है, और पूर्वभवमें कुछ पुण्यबन्ध किया था, इसलिये वर्तमानमें कुछ पुण्यका उदय दिखाई देता है, रुपया पैसा मिलना वर्तमान पुरुषार्थका फल नहीं है। जिसप्रकार रुपया-पैसा मिलनेका उदय होता है उसी प्रकार विकल्प उठता है। रुपया पैसा प्राप्त करनेका राग विद्यमान है इसलिये जिस प्रकारका उदय हो, उस प्रकारका विकल्प आये बिना नहीं रहता। कर्म विकल्प नहीं करा देता, परन्तु स्वयं घातिया कर्मके उदयके योगमें, अर्थात् रुपया पैसा प्राप्त करनेके रागमें विद्यमान है, इसलिये पुण्य-पापके उदयानुसार विकल्प आता है, इसलिये रुपया पैसा मिलना वहीं वर्तमान पुरुषार्थका फल नहीं है।

आत्माके धर्मका प्रगट करना वर्तमान पुरुषार्थसे होता है, अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण स्थिरता भी वर्तमान पुरुषार्थसे होती है।

एकेन्द्रिय जीवके मात्र शरीर ही है, जिह्वा आदि नहीं है। वे तत्वको नहीं समझे इसलिये शक्ति हार गये हैं, इसीलिये मात्र एक ही इन्द्रिय मिली है दूसरी सब इन्द्रियाँ हार गये हैं। उन बेचारोंको रस चखनेकी भी शक्ति नहीं रही। और यह सब जो मनुष्य हुए हैं उन्हें पाँचों इन्द्रियोंका विकास प्राप्त हुआ है, तो वे एक एक इन्द्रियके विषयमें ही अटक रहे हैं, यह उनका अज्ञान है।

भगवान आत्मा अटकते हुये ज्ञानमें अटक जाये इतना नहीं है, किन्तु वह तो विशाल स्वभाववाला है। वस्तु परसे निराली है। जो वस्तु परसे निराली होती है वह अखण्ड होती है, उसकी ज्ञान शक्ति भी परिपूर्ण होती है। जब केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है, तब परिपूर्ण हो सो बात नहीं है, किन्तु आत्माकी ज्ञान शक्ति वर्तमानमें ही परिपूर्ण है। परिपूर्ण पर जो दृष्टि है सो सम्यक् दृष्टि है। अपूर्ण पर्यायकी नास्ति और पूर्ण स्वभावकी अस्तिमय स्वभावकी दृष्टि सम्यक् दृष्टि है। स्वभाव परिपूर्ण भरा हुआ है। सम्यक्दृष्टिकी अल्प विकास पर दृष्टि नहीं होती, किन्तु पूर्ण स्वभाव पर होती है, इसलिये वह रससे भिन्न अरस आत्माका अनुभव करता है।

अपूर्ण पर्यायको मानना, और पूर्ण स्वभावको न मानना सो, ऐसी दृष्टि मिथ्या दृष्टि है। हीरेका जितना मूल्य होता है, उतना मूल्य स्वीकार न करे तो हीरा नहीं मिलता। इसीप्रकार चैतन्यरूपी हीरा सारा पूर्ण स्वभावसे भरा हुआ है, यदि उसे अपूर्ण पर्याय वाला माने तो पूरी पर्याय प्रगट नहीं होगी, मोक्षमार्ग भी प्रगट नहीं होगा। यदि पूर्ण स्वभावकी दृष्टि करे तो उसीसे मोक्षमार्ग और पूर्ण पर्याय प्रगट होगी।

जिसे आत्माकी रुचि नहीं है, उसे इस बातके सुननेमें रस नहीं आता। किन्तु यदि घरमें कोई बहुमूल्य वस्तु आई हो या गहना इत्यादि आया हो तो घरके सभी स्त्री पुत्रादि तत्सम्बन्धी बातको रस पूर्वक सुनते हैं, किन्तु जहाँ आत्माकी बात सुनाई जाती है, वहाँ उकताहट आ जाती है।

यहाँ आचार्यदेव यह बता रहे हैं कि आत्माका हित किस प्रकार हो सकता है। वे स्वपरका यथार्थ विवेक बताकर आत्माका हित बतला रहे हैं। जिसे सुनकर सुयोग्य जीव कहते हैं कि अहा! ऐसी बात तो कभी भी नहीं सुनी थी। आत्मा परसे भिन्न वस्तु है, अखण्ड वस्तु है, यद्यपि विकास कम है तथापि स्वभावसे पूर्ण है। यह अपूर्व बात है।

जैसे लेंडी पीपलके चौंसठ पुट होने पर जो चरपराहट प्रगट होती है, वह चरपराहट वर्तमानमें भरी हुई है,—ऐसा ज्ञान पहलेसे लेनेके बाद उस लेंडी पीपलको घोटने लगता है तो उसमेंसे चौसठ पुटी चरपराहट प्रगट होती है। इसी प्रकार भगवान चैतन्य मूर्ति आत्मा वर्तमान क्षणमें ही परिपूर्ण स्वभाव से भरा हुआ है, ऐसी दृष्टि और ज्ञान करनेके बाद घोंटने लग जाये, अर्थात् आत्मामें एकाग्रता करने लगे तो उसमेंसे केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है।

परन्तु यदि परिपूर्ण स्वभावकी प्रतीति न करे और पहले कुछ राग द्वेष मंद किया था जिससे ज्ञानका कुछ विकास हुआ, उतना ही आत्माको मान ले अर्थात् उस पर्याय जितना ही आत्माको मान ले तो पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होगी—केवलज्ञान प्रगट नहीं होगा।

जो सहस्र पुटी अभ्रक भस्म है, उसमें सहस्र पुट होनेकी शक्ति वर्तमानमें ही है, उसमें हजार पुट होनेका स्वभाव वैद्योंके ध्यानमें पहलेसे ही होता

है। इसीप्रकार आत्मामें एक एक इन्द्रियको जानने मात्रका स्वभाव नहीं, किन्तु तीनकाल और तीनलोकको सबको जाननेका स्वभाव वर्तमानमें ही भरा हुआ है, उसमें एकाग्र हो जाऊँ तो पूर्ण स्वभाव प्रगट हो ऐसा ज्ञान पहलेसे ही करे तो आत्मामें स्थिर हो, और केवलज्ञान पर्याय प्रगट हो जाये। यह चतुर्थोक्ति है। अब पञ्चमोक्ति निम्नप्रकार है।

समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण—एक ही संवेदन परिणाम रूप उसका स्वभाव होनेसे केवल एक रसवेदनपरिणामको प्राप्त करके रसको नहीं चखता, इसलिये अरस है।

यहाँ समस्त पर अधिक भार दिया गया है। समस्त प्रकारके विषयों को एक ही साथ जाने तो भी उसका एक ही प्रकारका स्वभाव और एक ही प्रकारका आनन्द होनेसे रसको नहीं चखता।

लोकालोकके जितने पदार्थ हैं, उन सभी भावोंको–उन समस्त प्रकारों को एक ही साथ जान ले ऐसा उसका स्वभाव है। समस्त विषयोंको जानकर कहीं रुक जाये या खण्ड हो जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। उन सबको जानते हुए वह जड़रसरूप या रागरसरूप नहीं होता, किन्तु अपने स्वभावकी शक्ति के आनन्दका वेदन करता है। वह वेदन एक ही प्रकारका होनेसे और उस अतीन्द्रिय रसका अनुभव उसका स्वभाव होनेसे वह जड़के रसको नहीं चखता, रागके रसका अनुभव नहीं करता।

आत्माने अनन्त गुणोंको जानते हुए जिस शान्तरस और आनन्दरस का अनुभव करता है वह आनन्द एक ही प्रकार का होता है, उसमें दो प्रकार नहीं होते या अनेकत्व नहीं होता, उसमें रागका अनुभव नहीं होता।

भगवान आत्मा एक रसका ही ज्ञान करनेकी शक्तिवाला नहीं है, या मात्र एक एक इन्द्रियके विषयका ज्ञान करनेकी शक्तिवाला नहीं है, किन्तु लोकालोकके जितने पदार्थ हैं, उन सबके भावोंको एक ही साथ जाननेकी शक्तिवाला है। आत्मामें अनन्त गुणोंको एकही साथ जाननेकी शक्ति है। वह समस्त भावोंको जानकर आकुलता रहित एक ही प्रकारके अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद लेता है, ऐसा उसका स्वभाव है। वह मात्र रस सम्बन्धी राग का ही अनुभव करके रसको नही चखता परन्तु भगवान आत्मा तो अपने स्व

भावका एक ही प्रकारका अनुभव करनेवाला निरानन्द प्रभु है।

आत्मा मात्र रसका ही ज्ञान करनेवाला नहीं है, किन्तु त्रिकालकी वस्तुओंको जाननेवाला है।

समस्त वस्तुओंको जाननेका स्वभाव होने पर भी, सबको जानते हुए भी आत्मा अपने एक ही प्रकारके अनुभवका वेदन करता है वह खंडरूप होकर परका वेदन नहीं करता।

विविध व्यजनोंके रसका राग करके, उनके वेदनमें अटक जाये इतना ही आत्मा नहीं है, किन्तु आत्माका अनुभव तो एक ही प्रकारका है, वह नित्यानन्द प्रभु स्वभाव रसमें एक ही प्रकारसे रुकता है, वह समस्त विषयोंमें कहीं भी नहीं रुकता, या खंड नहीं होता।

आत्माका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह मन, वाणी, रूप और रसका ज्ञान करके उसीका वेदन करे। मैं एक अखण्ड, पूर्ण समस्त पदार्थोंको एक ही साथ जानने वाला हूँ। अपूर्ण अवस्था होने पर भी स्वभावसे पूर्ण हूँ, ऐसा ज्ञान करना सो उसका नाम सच्चा ज्ञान है। अपूर्ण अवस्थाके समय पूर्ण हूँ ऐसी दृष्टि करना सो सच्ची दृष्टि है। पूर्ण होनेके बाद पूर्णको मानना कहाँ रहा? इसलिये पूर्णकी श्रद्धा तो पहले से ही होती है।

सर्वथा अज्ञान शिष्य ने पूछा था, उसे यह बात समझाई जा रही है, जानकार—समझे हुए को नहीं। यह बात समझनेके लिये पुरुषार्थ चाहिये। यदि समझनेमें कुछ समय लग जाये तो अकुलाहट लग जाती है, किन्तु कमाईमें वर्षोंके वर्ष कैसे निकाल देता है। वह कह सकता है कि—यह तो भूख लगती है इसलिये करना पड़ता है, किन्तु इसीप्रकार आत्माकी भी भूख लगना चाहिये, वास्तविक जिज्ञासा जागृत होनी चाहिये तो स्वरूप समझमें आये बिना नहीं रहेगा। न तो समझना है, और न उसके लिये परिश्रम करना है, तो क्या धर्म किसी वृक्ष पर लटक रहा है, कि उसे तोड़कर ले लेगा? स्वरूप को पहिचाने बिना तीनकाल और तीनलोकमें भी धर्म होनेवाला नहीं है। यह पचमोक्ति हुई। अब षष्ठोक्ति कहते हैं।

आत्मा को समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञेय-ज्ञायक तादात्म्य

का निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वय रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिये अरस है। यों छह प्रकारसे रसके निषेधसे वह अरस है।

रस ज्ञेय है, आत्मा ज्ञायक है। रसके जिह्वा पर स्पर्श करनेसे रसका ज्ञान होता है, किन्तु उस रसके ज्ञानरूपमें, ज्ञानकी अवस्था होने पर भी स्वय रसरूप परिणमित नहीं होता।

आत्मा ज्ञायक है और शरीर, मन, वाणी, राग, द्वेष इत्यादि ज्ञेय हैं। ज्ञायक और ज्ञेय दोनों त्रिकाल भिन्न हैं। शरीरके कारण शरीर और आत्माके कारण आत्मा है, दोनों अपने अपने कारणसे है। वे दोनों कभी भी एकरूप नहीं होते सबकी क्रिया स्वतत्र है। जड़की क्रिया जड़में और आत्माकी क्रिया आत्मा में होती है। इसप्रकार दोनों द्रव्य पृथक होने पर भी एकक्षेत्रमें एकत्रित हैं, अर्थात् दोनों एक ही स्थान पर मिलकर रह रहे हैं, तथापि दोनों एकमेक नहीं हो जाते, दोनोंके तादात्म्य संबंधका निषेध है। यदि दोनों एकरूप हो जायें तो आत्मा जड़ हो जाये। यदि आत्मा और जड़ दोनों एक होते हों तो अग्निके जानने पर आत्मा उष्ण हो जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञात होने योग्य वस्तु और ज्ञाता दोनों एकरूप नहीं होते। आत्मा रसके ज्ञानरूपमें अर्थात् अपने ज्ञानकी अवस्थाके रूपमें परिणमित होता है, तथापि वह रसरूप नहीं होता, इसलिये आत्मा अरस है। इसप्रकार आत्मा को परिपूर्ण रस रहित जानना और उसमें स्थिर होना ही हितका उपाय है।

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, आकार इत्यादि शरीरका स्वभाव-धर्म है। जो जड़का स्वभाव है सो जड़का धर्म है, और जो आत्माका स्वभाव है सो आत्माका धर्म है। "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तुका स्वभाव धर्म है। आत्मा और जड़ दोनों वस्तु हैं, इसलिये दोनोंका अपना अपना स्वभाव, अपना अपना धर्म है। जैसे गुड़का स्वभाव मीठापन है, उसीप्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र है, और जड़का स्वभाव वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श है। आत्माका धर्म आत्म के साथ सम्बन्ध रखता है, वह मन, वाणी, देहके साथ संबंध नहीं रखता। जैसे पीतलके डिब्बेमें गुड़ रखा हो तो वह दोनों अलग अलग वस्तुएँ हैं, इसीप्रकार शरीरमें चैतन्यरूपी आत्मा विद्यमान है। शरीर और

आत्मा दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं।

दुर्गतिमें जानेसे अथवा अधर्ममें गिरनेसे आत्मा को जो धारण कर रखे (बचा रखे) सो धर्म है। जितने राग द्वेष अज्ञान आदिके भाव होते हैं, वे सब दुर्गति–अधर्म हैं, उनमें गिरनेसे आत्माको रोके सो धर्म है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभाव है, उसमें स्थिर न होकर पुण्य पापके भावमें लग जाना या उसे ठीक मानना ही दुर्गति है। वास्तविक दुर्गति तो यही है, और जो चार गतिया हैं वे तो उसका फल हैं। आत्माके स्वभावमें न रहकर परमें रहने का फल चार गतिया हैं। आत्माके स्वभाव को पहिचान कर चैतन्यधन में युक्त होना और पुण्य–पापके विकारमें युक्त न होना सो यही आत्माका धर्म है, और उस धर्मका फल मुक्ति है।

यथार्थ को समझे बिना अनन्त भवोंमें भ्रमण किया, और यदि अभी भी सत्य को न समझा तो चौरासी लाखका भयंकर चक्कर विद्यमान है। जिस भावसे अभी तक अनन्त भव किये, उस भावसे भवका नाश नहीं होगा, किन्तु उससे विरुद्ध भावोंसे भवका नाश होगा।

जो व्यक्ति रुपया, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब और शरीरादिके आश्रयसे ही जीवन मानता है, वह रकातिरक–भिखारी है। चैतन्य प्रभु जागती ज्योति है। उसे भूलकर जो किसी परके आश्रयसे सुख लेना चाहता है, वह अति रंक है। हे प्रभु! वह रुपया पैसा और कुटुम्बादि वहाँ कोई शरण नहीं होंगे, जहाँ तू आँख बन्द होते ही चला जायेगा और कुत्ते बिल्ली इत्यादिके रूपमें भव धारण करेगा। यदि आत्मधर्म को समझेगा तो वही तुझे शरणरूप होगा, इसलिये आत्मधर्म को समझ।

अरे प्रभु! तू अनन्तकालसे अनन्त भव धारण कर चुका है। तू अनन्तबार स्वर्गके भव धारण कर चुका, और अनन्तबार नारक पशु तथा मनुष्यके भव धारण कर चुका, तथा ऐसे अनन्तानन्त भवोंमें न जाने क्यों और कैसे मरण को प्राप्त हुआ। स्वर्गमें देवका शरीर प्राप्त किया और वहाँ सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी शरीर मिला, किन्तु वहाँसे मरकर कौए इत्यादि का भव धारण किया। इसप्रकार आत्म प्रतीतिके बिना पुण्य परिणामसे पाप परिणाम,

और पाप परिणामसे पुण्य परिणाम होते रहे और तू व्यर्थ ही भव भ्रमण करता रहा। यदि अब सुखी होना हो तो आत्मधर्म को समझ और यदि भव भ्रमण ही करना हो तो सभी आत्मा स्वतंत्र हैं। यह तो जिन्हें सुखी होना हो उनके ग्रहण करने योग्य बात है।

जैसे रस रहितताके छह प्रकार कह गये हैं, उसीप्रकार रूप रहितताके छह प्रकार संक्षेपमें कहे जा रहे हैं।

१–आत्मा जड़ पुद्गलसे भिन्न है, और क्योंकि पुद्गलरूपी है, इसलिये आत्मा अरूपी है।

२–पुद्गल के गुणों से भी भिन्न होने से आत्मा रूप गुणयुक्त भी नहीं है, इसलिये अरूपी है। रूप का अर्थ है रंग, जिसके पांच प्रकार है–काला, सफेद, लाल, पीला हरा। रंग गुण की यह पांच अवस्थाऐं हैं। पुद्गल द्रव्य सदा स्थायी वस्तु है, और उसमें रंग नामक गुण भी सदा रहता है, और उसमें जो रंग बदलते हैं वह उसकी पर्याय है। उस पुद्गल से आत्मा भिन्न है, इसलिये रूपरहित है। अज्ञानी जीव उस रूप में मोहित हो जाते हैं। उन्हें उसमें राग हो जाता है। जहाँ वह शरीर की सफेद चमड़ी देखता है, वहाँ राग हो जाता है, और जहाँ काली चमड़ी देखता है वहाँ तिरस्कार हो जाता है, जहाँ राग हो जाता है वहाँ वह यह मानता है कि यह मुझे अनुकूल है। अनुकूल माननेकी गहराइ में एसा समझ लेना है कि वह मेरी सातामें सहायक होगी, और सहायक होगी अर्थात् मेरे साथ एकमेक हो जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि रूप और मै–दोनों एक हो जायेंगे। इस प्रकार अज्ञानी रूप को अच्छा मानते हैं। व अज्ञानवश यह समझते हैं कि हम दोनों एक हो जायेंगे।

किन्तु जिसे यह विवेक जागृत हुआ है, कि रूप तो पुद्गल का गुण है, मेरा आत्मा रूप रहित है, उसे रूप में राग और कुरूप में द्वेष नहीं होता। वह विवेकी ज्ञानी अपने आत्मा में राग द्वेष नहीं होने देता और उपयोग को सुरक्षित रखता है। यह किसने कहा है कि सफेद चमड़ी अच्छी है, और काली चमड़ी अच्छी नहीं है। ऐसा भेद करने का कौनसा कारण

इसलिये अरूपी है।

क्षयोपशमिकज्ञान अपूर्ण अवस्था है, उसके द्वारा जितना जाने उतना ही आत्म स्वभाव नहीं है। आत्मा परिपूर्ण स्वभाव है, तीनकाल और तीन लोकको जाननेका आत्माका स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जो न माने उसकी प्रतीतिमें संपूर्ण स्वभाव नहीं आया इसलिये उसकी प्रतीति सच्ची नहीं है, उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, उसका तर्क सच्चा नहीं है, और उसकी स्थिरता भी सच्ची नहीं है। यदि तू आत्माको अपूर्ण अवस्था जितना ही मानेगा तो उसमें से पूर्णताका उदय नहीं होगा किन्तु पूरा मानने पर पूर्णमें से पूर्णता उदित होगी।

भावेन्द्रियके आलम्बनसे रूपको आत्मा देखे इतना ही आत्मा नहीं है। आत्माका परिपूर्ण स्वभाव है, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान किये बिना उसका उत्तर आत्मासे नहीं मिल सकता।

५–आत्माका स्वभाव जगतके समस्त पदार्थों को अच्छे–बुरेका भेद किये बिना साधारणतया सबको समान और एक समयमें जानने का है, एक को जानने और एक को न जानने का उसका स्वभाव नहीं है। रूपको जानते समय रूपको ही जानना, और उस रूपके रागका वेदन करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु उसका स्वभाव सबको एक ही साथ और एक ही समान जानना है, यह अच्छा है, और यह बुरा है, ऐसा मानकर अटकनेका स्वभाव नहीं है, किन्तु एक समान ही जानने का स्वभाव है। कहीं भी अच्छा बुरा मानकर उसमें अटकने का स्वभाव नहीं है, सबको जानकर अपने स्वरूप का अनुभव और उसका वेदन करना आत्माका स्वभाव है, वह रूप स्वरूप नहीं हो जाता।

जब कि सबको एक समान जानता है तब फिर अच्छा–बुरा कहाँ रहा। जैसे कोई किसी रानीको देखकर विचार करे कि यह रानी पहले कुत्ती थी और तब इसका शरीर सड़ रहा था, किन्तु अब यह रानीके रूपमें है, लेकिन यह मद्य मांसका सेवन करती है, इसलिये अब मरकर नरकमें जायेगी, इसप्रकार यदि तीनों अवस्थाओंका सामान्यतया विचार करे तो राग न रहे।

यदि खण्ड खण्ड जाने तो राग हो सकता है, किन्तु अखण्डतया जानने पर उसके फल स्वरूप वीतरागता होती है। समीमें खंड न करके—भेद न करके एक ही प्रकारका सतत ज्ञान करे तो उसमें अच्छा बुरापन नहीं आ सकता।

लोग रूप, रस, गन्ध को विषय कहते हैं, किन्तु वे तो जड़ द्रव्यके गुण-पर्याय हैं, विषय नहीं। किन्तु उस ओर जो लक्ष जाता है, वह विषय है। आत्मा तो ज्ञायक है, यदि उसमें लक्ष करे तो अपना विषय हो और जो रागका—परका विषय होता है, वह रुक जाये। वस्तु रागका विषय नहीं है, वह तो ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य-ज्ञेय है किन्तु वहाँ राग करके अटकता है, इसलिये उसे विषय कहा जाता है। विषय न तो चैतन्य स्वभावमें है और न जड़में है। मात्र परकी ओर रागका लक्ष जाना है सो उसे विषय कहते हैं।

वस्तुके स्वभाव को जान ले तो यह यथार्थतया जाना जा सकता है कि जड़—चैतन्यका स्वभाव कैसा है। बालक खेलते समय धूलमें पानी मिला कर उसके लड्डू बनाते हैं, किन्तु न तो वे खानेके काममें आ सकते हैं और न उनसे भूख ही मिट सकती है, इसीप्रकार जगत के जीव अपने सत्य तत्व को जाने बिना बाहरका चाहे जितना क्रिया कर्म करें किन्तु वह सब धूल में पानी डालकर लड्डू बनाने के समान हैं। बाहरी क्रिया और शुभ परिणाम आत्माकी भूखको नहीं मिटा सकते किन्तु आत्म स्वरूपको समझनेसे ही भूख मिट सकती है और शान्ति प्राप्त हो सकती है।

६—ज्ञायक और ज्ञेय (रूप) दोनों एक नहीं हो जाते। यद्यपि आत्मा रूपको जानता है, किन्तु रूपको जानते हुए वह रूप स्वरूपमें परिणमित नहीं होता।

अब यहाँ छह प्रकारसे गन्धकी बात करते हैं —

१—गन्धरूप परमाणु द्रव्यसे आत्मा अलग है, इसलिये अगन्ध है।

२—गन्ध परमाणुका गुण है उस गन्धके गुणरूप आत्मा नहीं है, इसलिये वह अगन्ध है।

३–घ्राण इन्द्रियसे आत्मा गन्ध को नहीं जानता, इसलिये वह अगन्ध है।

४–आत्मा गन्धके ज्ञान बराबर, अपूर्ण ज्ञानवाला नहीं है, इसलिये वह अगन्ध है।

५–आत्मा गन्धके भेद न करके एक ही प्रकारसे ज्ञान करता है, एकही प्रकारसे रहता है, इसलिये वह अगन्ध है।

६–गन्ध ज्ञेय है, उसे जाननेवाला ज्ञान गन्धरूप नहीं होता, इसलिये आत्मा अगन्ध है।

अब यहाँ स्पर्शकी बात करते हैं —

१–स्पर्श पुद्गल द्रव्यमें है, इसलिये आत्मा पुद्गल द्रव्यसे अलग है।

२–स्पर्श पुद्गल द्रव्यका गुण है इसलिये आत्मा स्पर्श गुणसे अलग है।

३ स्पर्शेन्द्रिय पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, इसलिये आत्मा स्पर्शेन्द्रियसे अलग है अत अस्पर्शी है। यहाँ प्रथमोक्तिमें आत्माको द्रव्यसे अलग किया, दूसरेमें गुणसे अलग किया और तीसरेमें पर्यायसे अलग किया है।

४–आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्पर्श को जानने मात्रका ही नहीं है, इसलिये आत्मा अस्पर्शी है।

५–स्पर्शमें अच्छे-बुरेका भेद न करके, सतत एक ही प्रकारका ज्ञान करता है इसलिये आत्मा अस्पर्शी है।

६–स्पर्श ज्ञेय है, उसे जाननेवाला ज्ञान स्पर्शरूप नहीं होता, इसलिये आत्मा अस्पर्शी है।

स्पर्श गुण एक है, किन्तु उसकी आठ अवस्थायें हैं—हलका, भारी कठोर, नम, रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म। स्पर्श गुण पुद्गलमें सदा रहता है, और उसकी पर्याय बदलती रहती है। अज्ञानी मानता है कि मैं स्पर्शसे जानता हूँ, किन्तु भाई! जाननेका स्वभाव तो तेरा है, किन्तु जिसका जाननेका स्वभाव नहीं है, उस जड़के द्वारा मैं जानता हूँ, यह मान्यता कितनी उल्टी है?

जो स्वय ही नहीं जानता वह दूसरे को कैसे बतायेगा ? सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि आत्मा स्पर्शके द्वारा स्पर्श को नहीं जानता किन्तु ज्ञानसे जानता है। अज्ञानी का आत्मा भी प्रत्येक रजकणसे भिन्न है, इसलिये स्पर्शके द्वारा जान ही नहीं सकता।

कोई यहाँ यह सकता है कि आप यह कैसी विचित्र बात कह रहे हैं ? जो हमारे सामने अपनी आँखोंसे दिखाइ देता है, उसका भी आप निषेध कर रहे हैं। किन्तु भाइ ! यदि आँखमें पीलिया हो जाता है तो सब पीला ही पीला दिखाइ देता है, किन्तु इसमे कहीं उसका देखना यथार्थ नहीं कहला सकता। यदि आँखका नीचेका भाग उँगलीप दबाकर देखें तो दो चन्द्रमा दिखाइ देते हैं, इसलिये दो चन्द्रमा नहीं माने जा सकते हैं। इसीप्रकार अज्ञानीकी दृष्टिसे देखा गया सच नहीं हो सकता। मोक्षका मार्ग जगतकी दृष्टिसे भिन्न प्रकारका ही होता है, और तभी वह मोक्षका सच्चा मार्ग कहलाता है। जगत की दृष्टि और मोक्षमार्गकी दृष्टिमें कहीं और कभी मेल नहीं खा सकता।

यदि म परको लेकर हूँ ऐसा माने तो यह स्वीकार नहीं होता कि मै स्व को लेकर हूँ, और यदि यह स्वीकार किया कि मैं स्व को लेकर हूँ तो यह भी स्वीकार नहीं हो सकता कि मै परको लेकर हूँ।

स्व में और पर में दो जगह अस्तित्व स्वीकार नहीं हो सकता किन्तु एक ही जगह पर अस्तित्व स्वीकार किया जायेगा।

स्पर्शेन्द्रियकी जितनी ठडे गम इत्यादिकी अवस्था होती है, वह उसकी स्वतन्त्र ही है। आत्मा हल्का भारी कठोर नम इत्यादि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जिसे परसे भिन्न आत्माका ज्ञान नहीं है, वह कहता है कि इस स्पशके अवलम्बनसे म जानता हूँ किन्तु ज्ञानी समझता है कि एक वस्तुको दूसरीका अवलम्बन नहीं है। स्पर्शके ज्ञानकी पर्यायके समय इन्द्रियोंकी उपस्थिति होती है, परन्तु ज्ञान तो ज्ञानके द्वारा ही जानता है। आत्माके ज्ञानमें परका अवलम्बन नहीं होता। और फिर जाननेकी अपूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञानकी पर्याय भी आत्माका स्वभाव नहीं है। जो स्व स्वभावकी शक्तिको नहीं जानता उसे आत्माकी श्रद्धा नही है।

जो विविध प्रकारके वेष भूषा करके सासारिक राग रगमें मस्त होकर आनन्द मान रहा है, उसे त्रैकालिक स्वभावकी प्रतीति नहीं है। तीनकाल और तीनलोकमें वस्तु स्वभावका एक ही प्रकार है। जिसे हित करना हो उसे यह प्रकार समझना ही होगा। 'सत्य कभी असत्य नहीं होता', यह सत्य कभी बदल नहीं सकता। वस्तु स्वभावकी स्वीकृति ही सत्यकी स्वीकृति है, इसके अतिरिक्त सब असत्य है।

आत्मा नित्य है, उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्यसे समझा जाता है वह सदा स्थिर रहता है। इन्द्रियाँ नाशवान हैं, इसलिये जो इन्द्रिय ज्ञानसे ग्रहण किया जाता है वह नष्ट हो जाता है। जो नाशवान इन्द्रियों और मनसे जाना जाता है वह ज्ञान सदा नहीं रहता। मन और इन्द्रियोंकी उपस्थिति हो तथापि उनका निषेध करके आत्मावलम्बनसे आत्माको समझा सो वह ज्ञान अविनाशी है।

आत्मा स्थायी-ध्रुव वस्तु है, वह कोई संयोगी वस्तु नहीं है। जो रजकण एकत्रित हुये हैं वह आत्मा नहीं है, क्योंकि रजकण एकत्रित होते हैं और पृथक् हो जाते हैं। जो यह मानता है, कि मुझे इन्द्रियों और मनसे ज्ञान होता है उसके इन्द्रियों और मनके छूट जाने पर वह ज्ञान भी बदल जाता है। निमित्तके अवलम्बनसे मै जानता हूँ, इसप्रकार पर पदार्थ पर दृष्टि करके वैसी विपरीत मान्यता करके निमित्त पर राग करके जाना सो इसका यह अर्थ हुआ कि मै निमित्तके बिना नहीं जान सकता, इसलिये नाशवान निमित्तोंके छूट जाने पर अपना ज्ञान भी बदल जाता है।

जो परके अवलम्बनसे प्रगट होता है, वह परावलम्बी ज्ञान है, और जो स्वावलम्बनसे ग्रहण होता है वह स्वावलम्बी होता है। आत्मा स्वावलम्बी है, और उसके अवलम्बनसे होनेवाला ज्ञान भी स्वावलम्बी है। आत्माके अवलम्बनसे होनेवाले श्रद्धा और ज्ञान सदा स्थिर रहेंगे। इन्द्रियों और मनका निषेध करके स्वय स्वावलम्बी वस्तु है उस पर दृष्टि डालकर, होनेवाली श्रद्धा और ज्ञान सदा बने रहेंगे। पर पदार्थ मुझे श्रद्धा, ज्ञान करा देंगे इसप्रकार पर इन्द्रिय और मनसे माने हुये ज्ञानकी श्रद्धा सदा नहीं रहेगी। मैं परके अवलम्बन

से जानता हूँ ऐसा माननेसे परके छूटने पर वह जानना भी छूट जायेगा। अज्ञानी अपनेको परतन्त्र मानता है, किन्तु आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, और जड़ भी स्वतन्त्र वस्तु है, किसीके आधारसे किसीके गुण-पर्याय प्रगट नहीं होते।

जो श्रद्धा अंतरंग आत्मामेंसे उदित हुई सो हुई, उस श्रद्धासे ज्ञानकी पर्याय निर्मल होती है, उस श्रद्धामें स्थिरता होकर फिर वह पूर्ण होता है। यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो बड़ी कठिन परीक्षा है। तब क्या कोई खोटा चढ़ाव करना है? सत्य वस्तुका परिचय और उसका मूल्यांकन तो करता नहीं है और कहता है कि यह तो कठिन प्रतीत होता है। किन्तु भाई! यदि समझनेमें विलम्ब हो तो कोई हानि नहीं, किन्तु यदि उल्टा समझेगा तो कहीं भी अन्त नहीं आयेगा। यदि इस समय नहीं समझा तो फिर कब समझेगा?

आत्मा शब्दरहित है, इस सम्बन्धमें छह बातें संक्षेप में कही जा रही हैं। संस्कृत टीकामें अरस शब्द है, उसकी जगह यहाँ अशब्द लेना चाहिये।

आत्मा वास्तवमें पुद्गल द्रव्यसे सर्वथा भिन्न है, इसलिये उसमें शब्द नहीं है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, शब्द होनेकी शक्ति पुद्गल द्रव्य में है, आत्मामें नहीं।

पुद्गल द्रव्यके गुणोंसे भी आत्मा भिन्न है, इसलिये स्वयं शब्द पर्याय रूप नहीं है, अतः अशब्द है। जब तक आत्मा शरीरमें होता है तब तक उसके पास कर्मके रजकण होते हैं, वे कर्म-रजकण भाषाके बोलनेमें निमित्त होते हैं। भाषा स्वतन्त्र है, वह परमाणुओंकी अवस्था है, वह कानोंमें टक्कर लगाती है, इसलिये जड़ है। भाषा शब्द संयोगज य हैं, और वह जिस संयोगसे उत्पन्न होते हैं वह आत्मा नहीं हो सकता, इसलिये शब्दमें आत्मा नहीं है, अथवा आत्मा अशब्द है।

प्रश्न — मन क्या है?

उत्तर — द्रव्यमन जड़ है, और भावमन ज्ञान है। ज्ञान अपने द्वारा जानता है, किन्तु साथ ही मनका निमित्त होता है। जिस ज्ञानके जानने में मनका निमित्त उपस्थिति रूप होता है उसे भावमन कहते हैं, और द्रव्य मन जड़ है, जो कि पुद्गल परमाणुओंसे निर्मित भीतर हृदयमें आठ पँखुड़ियों

के कमलके आकारका है। जैसे आँखकी कौड़ी देखनेमें निमित्त है उसी प्रकार विचार करनेमें द्रव्यमन मात्र उपस्थिति रूप होता है। यद्यपि आत्मा स्वयं विचार करता है, किन्तु उसमें द्रव्यमन निमित्तरूप है। आत्माका स्वभाव ज्ञान है, स्वतःस्वभावी ज्ञान क्रमशः नहीं जानता किन्तु सब एक साथ ही जानता है, लेकिन छद्मस्थका ज्ञान क्रमशः नहीं जानता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञानके जाननेमें किसी परका निमित्त है, परके अवलम्बनकी उपस्थिति है, और वह पर वस्तु जड़-मन है, तथा वह द्रव्यमन आत्मासे भिन्न है।

अज्ञानीको भान नहीं है, इसलिये वह यह कहता है कि—भाषा हमारे द्वारा बोली जाती है, हम बोलें तो भाषा निकलती है, भाषामें हमारा स्वामित्व है। देखो न, मुर्दा नहीं बोलता है? इसलिये मैं भाषा बोलता हूँ। इस-प्रकार अज्ञानी जीवोंने ऐसा स्वामित्व मान लिया है। जब किसी गाड़ीके नीचे कुत्ता चला जाता है, तब वह यह समझता है कि यह गाड़ी मेरे द्वारा ही चल रही है, अर्थात् मैं ही इस गाड़ीको चला रहा हूँ, इसी प्रकार भाषा स्वतन्त्र रज कणोंकी रचनाके कारण बोली जाती है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि भाषा मेरे द्वारा बोली जा रही है। आत्मा तो मात्र बोलनेकी इच्छा करता है, किन्तु उस इच्छा और भाषाके उदयका लगभग निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दिखाई देता है, इसलिये अज्ञानी मान लेता है, कि मैं भाषा बोलता हूँ, किन्तु भाषा और इच्छा दोनों अलग वस्तुएँ हैं। भाषा पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, और इच्छा आत्माकी वैभाविक पर्याय है, इसलिये दोनों सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, जो इस दृढ़ताको भूल जाता है, वह परका स्वामी बनने जाता है, और इसलिये बन्धन होता है, जिससे कि संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है।

जीव या तो अज्ञान भावसे वाणीका अभिमान करता है, या ज्ञान भावसे वाणीको जानता है, बाकी ज्ञानी उस जड़ वाणीका कर्ता हर्ता कदापि नहीं है, इसीप्रकार अज्ञानी भी जड़ वाणीका कर्ता हर्ता त्रिकालमें नहीं है, किन्तु वह अपने अज्ञान भावका कर्ता है। जड़का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। रजकण अनादि अनन्त स्वतन्त्र वस्तु हैं, वे रजकण भाषापर्याप्ति रूपमें बँधते हैं,

और वे उस भाषापर्याप्तिका निमित्त पाकर नवीन रजकण शब्द पर्यायरूप परिणमित होते हैं, इसलिये भाषा जड़ है।

कोई यह कह सकता है कि यदि भाषा जड़ होकर भी बोल सकती है तो मुर्दा क्यों नहीं बोलता ? उसका उत्तर यह है कि मुर्देके पास कर्म नहीं होते। जब जीव शरीरमें से निकल जाता है, तब कर्म उस जीवके साथ जाते हैं। कर्मका निमित्त प्राप्त करके रजकण भाषारूप परिणमित होते हैं। वे कर्म मुर्देके पास नहीं हैं इसलिये मुर्दा नहीं बोलता। कर्मका निमित्त प्राप्त करके रजकण भाषारूपमें परिवर्तित होकर निकलते हैं, इसलिये भाषा (शब्द) जड़ हैं, किन्तु आत्माका स्वभाव नहीं हैं, आत्मा अरूपी है इसलिये आत्मा नहीं बोलता।

यह भेदज्ञानकी बात है। परका अभिमान दूर हुये बिना यह आन्तरिक स्वरूप समझमें नहीं आता। मैं ज्ञाता-द्रष्टा, चैतन्यमूर्ति ज्ञानघन हूँ, अपने ऐसे अस्तित्वकी प्रतीति न करे तब तक उसमें स्थिर नहीं हो सकता, और जब तक स्थिर नहीं होता तब तक परमानन्द दशा प्रगट नहीं होती, और परमानन्द दशा प्रगट हुए बिना मुक्ति नहीं होती।

परमार्थतः श्रोत्रेन्द्रियके अवलम्बनके बिना आत्मा शब्दको नहीं जानता, किन्तु आत्माको वास्तवमें कानका अवलम्बन नहीं है, कान जड़ है, कानका स्वामित्व आत्माके नहीं है। कानके अवलम्बनसे ज्ञान करनेका स्वभाव आत्माका नहीं है। श्रोत्रेन्द्रियका अर्थ है कानके भीतरके पर्दा, किन्तु उस पर्देके अवलम्बन से आत्मा नहीं सुनता इसलिये आत्मा अशब्द है।

आत्मा न तो बहरा है, न गूंगा है, न सुनता है न बोलता है, वह तो मात्र ज्ञाता है। जो यह मानता है कि आत्मा कानके अवलम्बनसे जानता है, वह अपनेको पराधीन मानता है, उसे अपने स्वतन्त्र आत्माके स्वतन्त्र ज्ञान स्वभावकी खबर नहीं है। जैसे अग्नि उष्णताका पिण्ड है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानका पिण्ड है, उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। यह अनन्त स्वभावी आत्मा स्वतः अपने द्वारा जानने वाला है, यह कानके द्वारा सुनता है, ऐसा मानना सो पराधीनता है। इसलिये आत्मा अशब्द है।

अब अशब्द सम्बन्धी चौथी बात कही जाती है। शब्दकी ओर उन्मुख होनेवाला जो ज्ञान अर्थात् जाननेका अल्प विकास है, उसके द्वारा जो शब्द ज्ञात होता है, वह आत्माका वास्तविक स्वभाव नहीं है, शब्दको जानने मात्रका विकास हो इतना ही आत्मा नहीं है। जब आत्मामें केवलज्ञान प्रगट होता है, तब इन्द्रियोंके द्वारा जानना नहीं होता। केवलज्ञानीके जड़ इन्द्रियाँ ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं, तथापि उनके द्वारा जाननेका काम नहीं होता। उस केवलज्ञान में एक एक समयमें अनन्त पदार्थ ज्ञात होते हैं, उन पदार्थोंके अनन्तानन्त स्वभाव ज्ञात होते हैं, प्रत्येक स्वभावकी अनन्तानन्त पर्यायें ज्ञात होती हैं, अनन्त भूतकाल और भविष्यतकाल ज्ञात होता है। ऐसे अनन्तानन्त भाव सीधे आत्मासे ज्ञात होते हैं। ऐसी आत्माकी अनन्त सामर्थ्य प्रत्येक आत्मामें स्वभावरूपसे वर्तमानमें भी पूर्ण हैं, उससे कम ज्ञानके अवलम्बन द्वारा जाने इतनासा आत्मा नहीं है। आत्माके पूर्ण स्वभावको जानना सो धर्म है। आत्माके स्वभावको परावलम्बनवाला न मानना और स्वतन्त्र पूर्ण स्वभाव मानना सो धर्म है। उस पूर्ण स्वभावमें स्थिर होना सो धर्म है। धर्म मनसे वचनसे शरीरसे या बाह्य वस्तुसे नहीं होता किन्तु आत्माका पूर्ण स्वभाव जैसा है, वैसा ही उसे जाननेसे, श्रद्धान करनेसे और उसमें स्थिर होनेसे पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, वह धर्म है। पूर्ण स्वभावकी श्रद्धाके विना पूर्ण होनेका पुरुषार्थ नहीं होगा। मै निर्मल, पवित्र, और स्वभावसे पूर्ण हूँ, ऐसी श्रद्धा होनेसे वह पूर्ण पर्याय तक पहुँच जायेगा। किन्तु जिसने पूर्ण सामर्थ्यको स्वीकार नहीं किया और अपूर्ण शक्तिको स्वीकार किया है उसके साधक पर्याय भी प्रगट नहीं होगी, और सिद्ध पर्याय भी प्रगट नहीं होगी।

कहीं स्वभाव अपूर्ण हो सकता है, अथवा परावलम्बी हो सकता है? नहीं हो सकता। तीनकाल और तीनलोकमें भी स्वभाव पराधीन नहीं होता। परिपूर्ण स्वभाव साध्य है। उस साध्यको लक्ष्यमें लिये बिना, ज्ञान किये बिना और उसका आन्तरिक आचरण किये बिना पूर्ण स्वभावकी शक्ति प्रगट नहीं होती।

यहाँसे पचीस मीलकी दूरी पर एक ग्राम है, और वहाँ जाना है, तो

पहले यह सब निश्चित कर लेना होगा कि वह ग्राम कितनी दूर है और वहाँ किस मार्गसे पहुँचा जाता है, और इस निश्चयके बाद उधर चलने लगे तो अपने उद्दिष्ट ग्राममें पहुँच जायेगा। इसी प्रकार आत्माका स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करनेसे उस प्रकारका पुरुषार्थ होता है, आन्तरिक चारित्र प्रगट होता है और पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार उद्दिष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती है। आत्मामें परिपूर्ण स्वभाव विद्यमान है, वह साध्य है और उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र करना सो पूर्ण पर्यायके प्रगट करनेका साधन है।

शब्द और रसको जानने मात्रकी ही मेरे ज्ञानकी शक्ति है, इसप्रकार जो मानता है, वह परिपूर्ण अखण्डानन्द स्वभावको नहीं मानता, और उसे माने बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता। अपनेको हीन माना इसलिये पूर्ण पर्यायको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ नहीं बनेगा, और इसलिये पूर्ण पर्याय भी प्रगट नहीं होगी। परन्तु शुभाशुभ परिणाम करके चारों गतियोंमें परिभ्रमण करेगा।

पुण्य पराश्रित भाव है। आत्माका पुण्य पाप रहित वीतराग स्वभाव है। उसे जाने बिना किसीका स्वतंत्र स्वभाव प्रगट नहीं होगा। वास्तविक ज्ञान के बिना वास्तविक स्थिरता नहीं होगी। 'पूर्णताके लक्षसे जो प्रारम्भ है, सो वही वास्तविक प्रारम्भ है।" पूर्ण स्वभाव को लक्षमें लिया सो प्रारम्भ हुआ, तत्पश्चात् जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक ज्ञान और ध्यानमें समय लगाता है, तथा स्वभावकी निर्मल पर्यायको बढ़ाता जाता है, और फिर क्रमशः पूर्ण पर्याय हो जाती है।

जिसे आत्माके परिपूर्ण स्वभावकी रुचि नहीं है, और ज्ञान नहीं है, उसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं होता। लोग कहते हैं कि चलो धर्म करें किन्तु धर्म कहाँ है यह जाने बिना धर्म नहीं होता। रुपये पैसेसे धर्म नहीं होता, दो चार हजार रुपये दान देनेसे भी धर्म नहीं होता, क्योंकि यह तो शुभ परिणाम है, धर्म आत्मामें है, वह रुपये पैसे या शुभ परिणाममें नहीं है, इसलिये धर्म आत्मासे ही होता है, परन्तु जब तक परिपूर्ण स्वभावको दृष्टिमें न लिया जाये तब तक पुरुषार्थका प्रारम्भ नहीं होगा। अपना स्वभाव क्या है, यह जाने बिना किसीका एक भी भव कम नहीं होता।

सोना स्वयं अपने आप ही पूर्णतया सौ टंच शुद्ध है, वह जब कुछ

हीन होता है तब वह उसका स्वभाव नहीं है, किन्तु ताँबेके कारण उसमें कमी आई है, सोनेके कारण नहीं। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वभावसे तो परिपूर्ण ही है, उसमें जो कमी दिखाई देती है सो वह कर्मके निमित्तके कारण और अपने वर्तमान विपरीत वीर्यके कारण है। स्वभावके कारण कमी नहीं है, क्योंकि स्वभाव तो परिपूर्ण ही है। वह स्वभाव सामर्थ्यकी भूमिकामें सहज ही स्व परको जानना है। वह राग द्वेष रहित निर्मल स्वभाव है। स्व परको जाने तथापि रागके अवलम्बनसे जाने ऐसा स्वभाव नहीं है, परन्तु रागके अवलम्बन के बिना स्व परको जाने ऐसा स्वभाव है। वैसे स्वभावकी श्रद्धा और ज्ञान किये बिना कभी भी किसीके धर्मका प्रारम्भ नहीं होता।

अब पाचवीं बात कही जाती है। सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण एक ही संवेदन परिणाम रूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल शब्द वेदनके परिणामको प्राप्त करके शब्दको नहीं सुनता इसलिये आत्मा अशब्द है।

शब्दको सुनकर अर्थात् प्रशसा सुनकर रागका वेदन करे, और निंदा के शब्द सुनकर द्वेषका वेदन करे तो उतने मात्र राग-द्वेषका वेदन करने मरके लिये आत्मा नहीं है। इसी प्रकार रग, गध, रस, स्पर्श, शब्द इत्यादि जितने पदार्थ हैं उन्हें जानने पर कहीं भी रुककर जानने मात्रके स्वभाववाला नहीं है। प्रत्येक पदार्थको जानते हुये प्रत्येकमें रुकने पर आकुलताका वेदन होता है, इसलिये आत्माका वैसा स्वभाव नहीं है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जगत के जितने ज्ञेय हैं उन सबको जानता है, किन्तु उनमें कहीं अटकना नहीं है। उनमें अच्छा बुरा मानकर राग द्वेष करनेकी बात नहीं है। समस्त विषयों के विशेषोंमें एक ही प्रकार जानना रहा, किन्तु अच्छा बुरा मानकर भेद करना नहीं रहा।

जहाँ बड़ा वेतन या उच्चपद मिलने पर कोई प्रशसा करता है तो उसमें राग करके आनन्द मानता है, उसे आत्मस्वभावकी श्रद्धा नहीं है, वह मूढ है। नाम तो शरीरका होता है, यदि कोई उस नामकी निन्दा या प्रशसा करे तो उसे सुनकर आकुलित या प्रसन्न हो जाता है, किन्तु वह शरीर भी तेरा कहाँ है? व्यर्थ ही क्यों हर्ष-विषाद करके आकुलित होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रभो ! जो तेरा अपना निजका स्वभाव है उसके सामर्थ्यकी तुझे खबर नहीं है, यह कैसी विचित्र बात है ? जैसे नमककी डली क्षार रसमें मग्न हुई है, उसीप्रकार तेरा आत्मा आनन्द रसमें परिपूर्ण है वह चाहे जिसप्रकारके शब्द सुने तो भी उसमें राग-द्वेष, अच्छे, बुरेका भेद करके उसमें अटकनेवाला नहीं है, किन्तु अखण्डरूपसे सबका एक ही प्रकारका ज्ञान करके एक ही प्रकारकी शांतिका वेदन करनेवाला है। भेदके विकल्पके बिना एक ही प्रकार शांतिका वेदन करनेवाला भगवान आत्मा है।

अब यहाँ छट्ठी बात कहते हैं। शब्द ज्ञेय है, वह शब्द ज्ञानमें ज्ञात होता है, इसलिये शब्दको जानने पर ज्ञान शब्दरूप नहीं हो जाता, ज्ञान ज्ञानरूप रहकर शब्दको जानता है। ज्ञानका स्वभाव यथार्थ है, इसलिये जैसी प्रस्तुत भाषा हो वैसा ही ज्ञान करता है, जैसा प्रस्तुत निमित्त होता है, वैसा ही ज्ञान जानता है। यथार्थ ज्ञात होता है, इसलिये मान शब्दमें प्रविष्ट होकर जानता हो सो बात नहीं है, किन्तु ज्ञान पृथक् रहकर शब्दको जानता है। शब्दको और ज्ञानको एकमेक होनेका निषेध है, इसलिये आत्मा भाषारूप नहीं होता, इसलिये भी वह अशब्द है। यह शब्दको लेकर छह बातें हुई और इसप्रकार कुल ६×५ = ३० बातें हुई।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस भेदज्ञानके बिना किसीका निबटारा नहीं हो सकता। इस स्वरूपको समझने पर ही यथार्थ विवेक प्रगट होता है। इस स्वरूपकी प्रतीतिके बिना कभी भी सत्य समझमें नहीं आ सकता। यदि सत्यका मार्ग कठिन प्रतीत हो तो भी उसी मार्गसे सफलता मिलेगी। असत्य का मार्ग सरल मालूम होता है, किन्तु उस मार्ग पर चार गतियाँ और चौरासी का चक्कर है, सत्य मार्गके बिना किसी अन्य मार्गसे धर्म या मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अब आत्माके परिचय करनेका दूसरा विशेषण 'अनिर्दिष्टसंस्थान' समझाते हैं।

पुद्गल द्रव्यके द्वारा रचित शरीरके संस्थानसे जीवको संस्थानवाला

नहीं कहा जा सकता इसलिये जीव अनिर्दिष्टसस्थान है।

आत्मा शरीराकार है यह नहीं कहा जा सकता। वह शरीरके रूपी आकारवाला नहीं है, किन्तु अपने अरूपी आकारका है। वस्तु हो और उसका आकार न हो ऐसा नहीं हो सकता। जो निरजन निराकार कहा जाता है सो वह शरीरका—जड़का अपनेमें नास्तित्व है, अत उस नास्तिकी अपेक्षासे कहा जाता है। अस्तिकी अपेक्षासे अपने आकारवाला है।

आत्मा वस्तु है जो कि शरीरप्रमाण है। जो वस्तु है, उसका आकार न हो, तो वह अवस्तु कहलायेगी। जो वस्तु है उसका अपना आकार अवश्य होता है। इसलिये आत्मा भी एक वस्तु है, और वह स्वय अपने असख्यप्रदेशी अरूपी आकारवाला है, असख्य अवयववाला है। यहाँ असख्य कहा है—अर्थात् एक एक टुकड़ा करके अलग होकर असख्य नहीं है, परन्तु असख्य प्रदेशका पिंड अखण्डरूपसे है। जैसे गजसे कपड़ेका थान नापा जाता है, इसलिये वह थान खडरूप नहीं हो जाता किन्तु थान अखण्ड ही रहता है, इसी प्रकार आत्मा के प्रदेश को नापने का एक परमाणु-रजकण ही उसका माप है। उस एक परमाणु जितना आत्माका एक एक प्रदेश है, उस असख्य परमाणु जितना आत्मा क्षेत्रसे है। इसप्रकार परमाणुसे आत्माके प्रदेशों का माप होता है, किन्तु इससे आत्मा कहीं खडरूप नहीं हो जाता, किन्तु असख्य प्रदेशोंका पिंड आत्मा अखण्ड है।

परमाणु एक रजकण है तथापि वह आकारवान है, उसकी अपनी लम्बाई—चौड़ाई है। जो यह कहते हैं कि छोटीसे छोटी वस्तुकी लम्बाई चौड़ाई नहीं होती वे वस्तुको बिलकुल नहीं जानते। छोटीसे छोटी वस्तु—परमाणुमें यदि लम्बाई—चौड़ाई न हो तो बहुतसे परमाणु मिलकर जो स्कन्ध होता है उसमें लम्बाई—चौड़ाई कहाँसे आयेगी? यदि एक परमाणुमें लम्बाई—चौड़ाई न हो तो नास्तिमें से अस्ति कहाँसे आयेगी? अस्तिमें से ही अस्ति आती है, एक परमाणुमें लम्बाई-चौड़ाइ है तो स्कन्धमें लम्बाइ चौड़ाइ आती है।

परमाणु एक प्रदेशी है, यह केवलज्ञानीके ज्ञानमें प्रत्यक्ष ज्ञात होता

है। पुद्गलके स्थूल स्कन्धके छोटेसे छोटे टुकड़े किये जायें, और वह तब तक किये जायें जब तक कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म हथियार फिर कोई दूसरा टुकड़ा न कर सके, उसके बाद उस अति सूक्ष्म टुकड़ेके भी ज्ञानसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म टुकड़े तबतक करते जाना चाहिये कि जबतक ज्ञान द्वारा भी उसके दो भाग न हो सकें वह परमाणु है। वह परमाणु भी लम्बाई--चौड़ाईवाली वस्तु है। वह परमाणुरूपी गज आत्म प्रदेशोंके नापनेका एक माप है। आत्मा निराकार नहीं है, उसका भी अपना अरूपी आकार है, किन्तु जड़का किसी भी प्रकार का आकार उसमें नहीं है, इसलिये वह निरजन, निराकार कहलाता है।

जड़के सस्थानसे अर्थात् आकारसे जीवको आकारवान नहीं कहा जा सकता। स्त्री--पुरुषके आकार पर दृष्टि न करके अखण्ड आत्मा पर दृष्टि कर। तू स्त्री--पुरुषके आकाररूप नहीं हो गया। शरीर तो रूपी है, जड़ है, और आत्मा अरूपी तथा जागृत ज्योति चेतन्य है, उसमें जड़का आकार नहीं होता। इसलिये आत्मा अनिर्दिष्ट सस्थान वाला है। अनिर्दिष्ट सस्थानके प्रथम कथनमें पुद्गल द्रव्यसे रचित आकार है यह कहकर व्यवहार स्थापित किया है, और आत्मा उस शरीरके आकाररूप नहीं हुआ है, यह बतलाकर परमार्थ कहा है। पर्यायदृष्टिसे आत्म प्रदेशोंका आकार वर्तमान मात्रके लिये शरीराकार हुआ है सो व्यवहार है। परन्तु द्रव्यदृष्टिसे शरीराकार नहीं हुआ है।

अब सस्थानकी दूसरी बात कहते हैं। आत्मा अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरोंमें रहता है, इसलिये अनिर्दिष्टसस्थान है।

आत्मा अपने नियत असंख्य प्रदेशी स्वभाववाला है, जिसकी सत्ता अनादि--अनन्त है। ससार और मोक्ष दोनों जगह आत्माकी अपनी भिन्न सत्ता होती है, मुक्तिमें जाता है वहाँ भी उसकी सत्ता परसे भिन्न ही रहती है। किसीकी सत्ता किसीमें मिलकर एकमेक नहीं हो जाती। अनियत अर्थात् अनिश्चित् आकार असख्य प्रदेशी नियत आकारवाला आत्मा अनियत आकार वाले अनन्त शरीरोंमें फिरा है, तथापि वह शरीराकार परिणत नहीं हुआ, इस लिये वह अनिर्दिष्ट सस्थानवाला है।

आत्माने कीड़े मकोड़े, कुत्ते--बिल्ली आदिके अनन्त शरीर धारण

किये जिनके आकार एकसे नहीं होते, ऐसे अनिश्चित आकारवाले अनन्त शरीरोंको धरकर भी आत्मा शरीराकार नहीं हुआ।

आत्मा अनन्त शरीरोंमें रहा इसलिये आत्मामें शरीरका आकार आगया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्मा चींटीके शरीरमें और हाथीके शरीरमें उतनाका उतना रहता है। वह स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे जितनाका तितना ही है। वह आकाशके अवगाहनकी अपेक्षासे छोटा बड़ा हुआ मालूम होता है, किंतु वह एसा पर क्षेत्रकी अपेक्षासे लगता है, एक क्षेत्रकी अपेक्षासे तो आत्मा जितनाका तितना ही है। सौ गजके कपड़े को घड़ी करके रख दिया जाये तो भी वह सौ गज ही है, और यदि उसे खोल दिया जाये तो भी वह सौ गज ही है, आत्मा छोटा शरीर प्राप्त करे या बड़ा किंतु उसका निश्चित आकार--असंख्य प्रदेशत्व नहीं मिटता, वह आकाशके अवगाहनसे छोटा--बड़ा मालूम होता है सो व्यवहार है। अनन्त शरीरोंके धारण करने पर भी आत्मा कभी शरीराकार नहीं हुआ।

आत्माने जो वर्तमान शरीर धारण किया है, उस आकाररूपमें वह परिणत नहीं हुआ, यदि आत्मा इसके आकाररूपमें परिणत हो गया हो तो अन्य शरीरके आकारानुसार, आत्माके प्रदेशोंका आकार नहीं होगा। जो वर्तमान शरीरके आकारमें हुआ है, सो व्यवहार है इसलिये इस आत्माका क्षेत्र वर्तमान में शरीर प्रमाण है। वास्तविक दृष्टिसे आत्मा शरीराकार नहीं हुआ है।

अनादिकालसे जीवोंने अपने स्वक्षेत्रको नहीं जाना, स्वक्षेत्रकी मान्यता में भूल हुई है, शरीरके क्षेत्रको ही आत्माका क्षेत्र मान लिया है, इसलिये उस भूलको दूर करनेके लिये आचार्यदेवने अनिर्दिष्टसंस्थानकी बात कही है, कि व शरीराकार नहीं, किन्तु अपने असंख्य प्रदेशके आकारवाला है।

अब संस्थानकी तीसरी बात कहते हैं। संस्थान नाम कर्मका विपाक (फल) पुद्गलोंमें ही कहा जाता है (इसलिये उसके निमित्तसे भी आकार नहीं है) इसलिय अनिर्दिष्टसंस्थान है।

आठ कर्मोंमें एक नामकर्म है, जिसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं, उनमेंसे एक प्रकृति शरीरका आकार देती है। सबके शरीर एकसे नहीं होते किन्तु उनमें भेद दिखाइ देता है, उस कारणभेदसे कार्यमें भेद हुआ है। जैसे पहले

परिणाम हुए हैं। उसीके अनुसार प्रकृति बँध जाती है, सबके परिणाम एक से नहीं होते, सबके परिणामोंमें अन्तर होना ही है, इसलिये प्रत्येकके परिणामानुसार प्रकृति बंध होता है, और तदनुसार उदयमें आता है, इसलिये सबके शरीरोंके आकारमें अन्तर होता है। यह सब अन्तर होनेका कारण नामकर्मकी प्रकृति है। उस नामकर्मका फल पुद्गलमें शरीरमें होता है। संस्थानका अर्थ है आकार, वह आकाररूप फल शरीरमें होता है।

शास्त्रोंमें छह प्रकारके आकार कहे गये हैं, वे छहों प्रकार पुद्गलके आकारके हैं, अर्थात् शरीरके छह प्रकारके आकारकी यह बात है, किन्तु भगवान आत्मामें यह आकार नहीं आता, इसलिये आत्मा पुद्गलके आकारसे रहित है, इसलिये वह निराकार कहलाता है, किन्तु अपने असंख्य प्रदेशके आकार वाला है इसलिये साकार भी है।

जिसे आत्महित करना है, उसे यह ज्ञान करना होगा कि किससे हित होता है, किससे नहीं। आत्माका हित आत्मासे होता है, संयोगी वस्तु या संयोगी भावसे नहीं होता। स्त्री, कुटुम्ब, मकान, लक्ष्मी इत्यादि संयोगी वस्तु हैं, और जो शुभाशुभभाव होते हैं सो संयोगी भाव हैं इसलिये संयोगी है सो पर है, परसे आत्महित नहीं होता। जैसे मिठास गुड़में से मिलती है अफीममें से नहीं, इसीप्रकार हित करना हो तो वह अपनेसे ही होता है। किन्तु जो अपनेसे दूर हो, या अपनेसे पर हो, उससे नहीं होता। जो अपना स्वतः स्वभाव है, उसीसे हित होता है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि क्या उस मार्गका ऐसा कोई निश्चय पत्र है कि अपना स्वरूप जाननेसे ही हित होगा? उससे कहते हैं कि, हाँ, ऐसा ही है। परवस्तु या परभावसे हित होनेकी बात तीनलोक और तीनकालमें नहीं हो सकती। परभाव और परवस्तु अपनेसे अलग है, और जो अपनेसे अलग है, उससे हित नहीं होता। संयोगी वस्तु, संयोगी भाव और असंयोगी आत्मा क्या है? इसे जाने बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता, और सच्चे ज्ञान के बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती और सच्ची श्रद्धा के बिना स्थिर होने का पुरुषार्थ भी नहीं होता।

यहाँ सस्थानकी बात चल रही है, सस्थानका अर्थ है आकार। आत्मामें जड़का आकार नहीं है, किन्तु अपना ही आकार है। जो वस्तु हैं उसका आकार तो होता ही है। जड़के जड़का, और आत्माके आत्माका आकार होता है। आत्माने भिन्न भिन्न प्रकारके अनियत अनन्त शरीर धारण किये तथापि आत्मा तदाकार नहीं हुआ। नाम कर्मका फल—आकार शरीरमें आता है, आत्मामें नहीं।

अब चौथी बात कहते हैं। भिन्न भिन्न सस्थानरूपमें परिणमित समस्त वस्तुओंके स्वरूपके साथ जिसकी स्वाभाविक सवेदन शक्ति सम्बन्धित (तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोकके मिलापसे (सम्बन्धसे) रहित निर्मल अनुभूति हो रही है, और ऐसा होनेसे स्वय आत्यतिक सस्थान रहित है, इसलिये अनिर्दिष्ट सस्थान है।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसके ज्ञानमें जगतकी समस्त वस्तुओंका जैसा आकार हो वैसा ही ज्ञात होता है। यदि सामने कोई वृक्ष हो और उस पर दृष्टि जाये तो उसी आकारवाला ज्ञान जाननेरूपमें होता है, और यदि सामने कोइ मकान हो और उस पर दृष्टि जाये तो उसी आकारका ज्ञान जाननेरूपसे होता है।

प्रश्न — सामनेकी वस्तुका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें पड़ता है या नहीं ?

उत्तर —नहीं, क्योंकि चैतन्य अरूपी ज्ञानघन है, और परमाणु द्रव्य अरूपी है, इसलिये उसका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें नहीं पड़ता। मात्र ज्ञानमें पर पदार्थ ज्ञात होते हैं इसलिये उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि प्रतिबिम्ब पड़ता है।

प्रत्येक वस्तुकी वर्तमानमें होनेवाली अवस्था उसका गुण और वस्तु उस ज्ञानमें ज्ञात होती है। भिन्न भिन्न आकाररूपमें परिणमित समस्त वस्तु ज्ञानमें ज्ञात होती है, किन्तु ज्ञान उस वस्तुरूप नहीं हो जाता।

स्वाभाविक सवेदन शक्ति अर्थात् जैसी वस्तु सामने है, वैसी वह ज्ञान में ज्ञात हो जाती है। 'सम्बन्धित' का अर्थ है तदाकार, अर्थात् वस्तु जैसी छोटी बड़ी हो वैसा ही ज्ञात होता है। परका जैसा आकार है, वैसा ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञान परके आकारका नहीं हो जाता।

स्वय ऐसा होने पर भी समस्त वस्तुओंके मिलापसे रहित है, अर्थात्

ज्ञान परको जानता है, किन्तु पररूप नहीं हो जाता। परवस्तुके ज्ञान करनेका मेल है, किन्तु परवस्तुरूप होनेका मेल नहीं है। किसी चित्रमें छोटे छोटे अनेक हाथी चित्रित हों तो उन्हें जाननेके लिये ज्ञानको क्षेत्रापेक्षासे छोटा होना पड़े, और साक्षात् हाथी बड़े हों तो उन्हें जाननेमें क्षेत्रापेक्षासे बड़ा होना पड़े ऐसा नहीं है। चैतन्यरूप ज्ञानगुणमें सामनेकी वस्तुका जितना बड़ा आकार हो उसे जानते समय आत्माकोभी उतना बड़ा होना पड़े—ऐसा नियम नहीं है। सभी छोटे-बड़े आकारोंको जाननेका आत्माका स्वभाव है, किन्तु उस आकाररूपसे छोटा बड़ा होना पड़े ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा स्वयं छोटे क्षेत्रमें हो तो भी बड़ी वस्तुको जान सकता है।

दूसरी बात यह है कि जाननेके लिये राग द्वेष या अच्छा बुरा करे तभी ज्ञात हो, ऐसा स्वभाव नहीं है। कोई मनुष्य पर्वतके शिखर पर खड़ा हो तो वहाँसे बहुत विशाल क्षेत्र दिखाई देता है, और उसमें अनेक वस्तुऐं दिखाई देती हैं, किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह तत्सम्बन्धी राग द्वेष करे तो ही वे वस्तुयें ज्ञात हों, और उस विशाल क्षेत्रके बराबर स्वयं लंबा चौड़ा हो तभी वह ज्ञान हो।

जैसे कोई मनुष्य फोटो खिंचवाता है, तो उसके शरीरके रजकण उसके फोटो या प्लेटमें नहीं पहुँचते। यदि फोटोमें शरीरके रजकण पहुँचने हों तो यदि कोई मनुष्य दो चार हजार फोटो खिंचवाये तो वह सूख जाना चाहिये या मर जाना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। उस मनुष्यके शरीरके रजकण उसके फोटोमें नहीं जाते, तथापि वह मनुष्य जैसा होता है वही आकार फोटोमें आ जाता है। तात्पर्य यह है कि फोटोमें सन्मुख वस्तुका आकार नहीं आता, किन्तु फोटोके परमाणु उस आकाररूप परिणमित होकर तदाकार हो जाते हैं।

इसीप्रकार ज्ञान प्रस्तुत पदार्थोंको जानता है, तब वे पदार्थ ज्ञानमें नहीं आते। प्रस्तुत पदार्थ छोटा हो तो ज्ञानको छोटा नहीं होना पड़ता और न परको जानते हुए ज्ञानको पररूप ही होना पड़ता है। ज्ञान ज्ञानमें ज्ञानाकार रहकर सबको जानता है। इसप्रकार समस्त लोकके मिलापसे रहित निर्मल अनुभूति हो रही है। जगतके सभी पदार्थ हैं, उनमेंसे अच्छा—बुरा किसे कहा

जाये ? बालक, युवक किसे कहा जाये ? शरीरके अवयव कोमल हों तो बालक अवस्था है, कठिन और सुदृढ़ हों सो युवावस्था है, और शरीर शक्ति शिथिल हो जाये तथा चमडीमें सिकुड़न आ जाये सो वृद्धावस्था है। ज्ञान उन समस्त आकारोंको जानता है किंतु वह तदाकार नहीं होता।

आत्मा समस्त पदार्थोंके आकारोंको जानता है, तथापि उन पदार्थोंके मिलापसे रहित है, इसप्रकार जो जानता है सो सम्यक्ज्ञान है, किन्तु परको जानने पर मेरा ज्ञान पररूप होता है, और परको लेकर मै जानता हूँ ऐसा जो मानता है, उसे स्वतन्त्र प थकी खबर नहीं है,वह मार्ग तो परतन्त्रताका लेता है, और मानता है कि हम स्वतन्त्र हैं!

शरीर कोई स्थायी वस्तु नहीं है। यह सब प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि ७०–८० वर्षकी उम्र होने पर शरीर जर्जरित हो जाता है, परन्तु जब युवावस्था होती है। तब सुन्दर सुदृढ शरीर होता है। जब युवक होता है तब वह जवानीके नशेमें चूर होता है, और जब वृद्ध होता है तब यह मानता है कि मै बूढ़ा हो गया हूँ मेरे पराधीनता आगइ है,परन्तु वह यह नहीं जानता कि मै शरीरके आकारसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मा हूँ। ऐसे अज्ञानीका भवभ्रमण नहीं छूट सकता।

आत्मा स्वयं स्वतंत्र भिन्न वस्तु है। स्त्रीका आत्मा और पुरुषका आत्मा भिन्न भिन्न हैं, मकान आदि सर्व वस्तुऐं अलग हैं, उन वस्तुओंको जानते हुए आत्मा उनके आकारका नहीं हो जाता। जगतके जीव बडे बडे मकान बनवाकर और उन्हे विविध प्रकारसे सजाकर उसकी शोभा में रागसे लीन हो जाते हैं, किन्तु अरे! जीवोंने कहाँसे कहाँ शोभा मान रखी है? वे तो सब जड़के आकार हैं। भगवान आत्मा उन्हें जाननेवाला है। स्त्री, कुटुम्बके आकारोंको जानने मात्रका सम्बन्ध होने पर भी आत्मा कभी परके आकाररूप नहीं होता, जिसे ऐसी स्वतन्त्रताकी खबर नहीं है, वह परतंत्र है।

यहाँ प्रथम छह बातोंमें से पहलीमें पुद्गल द्रव्य स्थापित किया है, दूसरीमें पुद्गलका गुण कहा है तीसरीमें पुद्गलकी पर्याय कही है, चौथीमें जीवकी पर्याय कही है, पाचवीमें जीवका गुण कहा है, और छठ्ठीमें जीव द्रव्य कहा है।

प्रथमोक्तिमें पुद्गल द्रव्यको स्थापित करके यह बताया है कि–जगत

में जड़ द्रव्य है। जैसे वेदान्तमतमें एकईश्वर वस्तु मानी गई है ऐसा नहीं है। अंधकारमें रस्सीको सर्प मान लिया जाता है, इसलिये वेदान्त कहता है कि रस्सी सर्प नहीं है किंतु भ्रमसे सर्प मालुम होता है। वह यह मानता है, कि भ्रम कोई वस्तु ही नहीं, किन्तु यह बात मिथ्या है। भले ही वह सर्प न सही किन्तु वस्तु तो है ही ? भ्रम एक अवस्था है, सर्वथा अवस्तु नहीं। भ्रमरूप अवस्थाका अस्तित्व है और भ्रममें निमित्तरूपसे प्रस्तुत वस्तु भी है, वह कर्म है, और बाह्य में रस्सीमें जो सर्प मान लिया गया था सो वह सर्प नहीं किन्तु रस्सी तो थी ही ? इससे सिद्ध होता है, कि– पर वस्तु है, किंतु वह आत्मा में नहीं है। जगतमें पुद्गल द्रव्य है, ऐसा कहकर आचार्यदेवने व्यवहार भी स्थापित किया है, और वह पुद्गल द्रव्य आत्मामें नहीं है, ऐसा कहकर परमार्थ स्थापित किया है।

द्वितीय कथनमें पुद्गलके गुणोंको स्थापित किया है। कोई यह कहता है, कि पुद्गलद्रव्य भले हो किन्तु कहीं जड़में भी गुण होते हैं ? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि पुद्गलमें भी गुण है, पुद्गलमें गुण बतलाकर आचार्यदेव ने व्यवहार बताया है, किंतु उन पुद्गलके गुणोंसे चैतन्यके गुण अलग हैं ऐसा कहकर परमार्थ बताया है।

तृतीय कथनमें – द्रव्येन्द्रियसे रसको नहीं चखता यह कहकर इन्द्रियाँ हैं, शरीर है, ऐसा व्यवहार बताया है, किन्तु वह शरीर और इन्द्रियाँ आत्मामें नहीं है, आत्मा उनसे भिन्न है, इसप्रकार परमार्थ बताया है।

चतुर्थ कथनमें यह कहा है कि भावेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानका अल्प विकास भी है, और अल्प विकासके साथ राग है, इसलिये बंध भी है, उस बंधको दूर करके मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, इसप्रकार ज्ञान की अपूर्ण अवस्था कहकर व्यवहार बताया है, क्षायोपशमिक ज्ञान कहकर चैतन्यकी अपूर्ण पर्याय बताई है। क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमशः परिणमित होता है, इसप्रकार व्यवहार कहा है किन्तु सहज स्वभावकी दृष्टिमें उस क्रमरूप अपूर्ण पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, ऐसा दृष्टिका विषय कहकर परमार्थ बताया है।

पांचवें कथनमें – सकल विषयोंमें स्वयं कहीं भी नहीं अटकता ऐसा कहकर यह बताया है कि समस्त विषय हैं, अर्थात् सभी पदार्थ हैं। किसी

मतमें एक ही द्रव्य माना गया है, किंतु यहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल छहों द्रव्योंका कथन करके साथ ही व्यवहार भी बताया है। 'मात्र एक रस वेदना परिणामको प्राप्त करके रसको नहीं चखता' इसमें यह कहा है कि ज्ञान मात्र एक रसको ही जाननेवाला नहीं है। परमार्थ दृष्टिसे किसी भी ज्ञेयमें अटक जाना आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है, इसप्रकार परमार्थ बताया है।

छट्ठे कथनमें ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध कहकर जगतमें ज्ञेय हैं पर ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात होते हैं इसप्रकार व्यवहार भी साथमें बताया है। ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात होता है, किन्तु स्वयं ज्ञेयरूप नहीं होता, ऐसा कहकर परमार्थ बताया है।

अनिर्दिष्टसंस्थान अर्थात् जीवको किसी आकारवाला नहीं कहा जा सकता, जो आकार होता है वह तो चैतन्यकी अवस्थाका आकार है, और अवस्थाकी आदि होती है। सिद्धकी अवस्थामें भी चैतन्यके प्रदेशका आकार सादि अनंत है, इसलिये द्रव्यदृष्टिमे अनादि अनंत आत्माको किस आकारका कहना चाहिये यह कुछ नहीं कहा जा सकता। आत्माका आकार असंख्य प्रदेशरूप है, किन्तु वह असंख्य प्रदेशी अनादि अनंत आत्मा किस आकारका है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चार गतिके शरीररूप आत्माके प्रदेशोंका आकार होता है, तथा सिद्ध दशामें प्रदेशोंका जो आकार होता है, वह सब पर्यायका है। इसलिये द्रव्यदृष्टिसे आत्मा किस आकारका होता है, यह नहीं कहा जा सकता, इसलिये उसे अनिर्दिष्टसंस्थानवाला कहा है।

यहाँ अव्यक्त विशेषण सिद्ध करते हैं। छह द्रव्य स्वरूप लोक जो कि ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिये अव्यक्त है।

यह अव्यक्त विशेषण अलौकिक है। ज्ञेयभूत छह द्रव्य स्वरूप लोक व्यक्त है, और आत्मा अव्यक्त है। जानना, मानना, और स्थिर होना इत्यादि अनंत गुणोंका तत्त्व आत्मा है। एक तरफ लोक है, और दूसरी तरफ स्वयं अकेला है। दूसरे अनंत आत्मा जातिकी अपेक्षासे एक हैं और संख्याकी अपेक्षासे अलग अलग हैं। एक ओर अनंत आत्मा, और दूसरी ओर स्वयं अकेला है। अनन्त आत्माओंमें स्वयं आ जाता है, छह द्रव्यमें भी स्वयं आ

जाता है, परन्तु आत्मा उनसे भिन्न है, इसलिये अव्यक्त है। छह द्रव्य स्वरूप लोक आत्मासे बाह्य है, इसलिये आत्मा अव्यक्त है।

आत्मसे परमाणुद्रव्य अनन्त गुने हैं। पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्ति माने हैं, और काय अर्थात् प्रदेशोंका समूह, इसप्रकार जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय,- पचास्तिकाय हैं, छठवां द्रव्य काल है वह एक प्रदेशी है काल द्रव्य स्वतःसिद्ध वस्तु है, वह औपचारिक नहीं है। कालाणु द्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं, वे काल द्रव्य असंख्य हैं, वे कालाणु द्रव्य, चौदहराजु लोकमें विद्यमान हैं। पांचों द्रव्योंमें जो समय समय पर पर्याय बदलती है, उसमें काल द्रव्य निमित्त है। यद्यपि प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय स्वतः बदलती है, किन्तु काल द्रव्य मात्र निमित्त होता है।

आकाशास्तिकाय द्रव्य है, जो कि लोकमें भी है, और अलोकमें भी। यह जीवादि द्रव्यसे भरा हुआ सप्रद्रव्यात्मक लोक है, उसके बाद क्या होगा और फिर उसके बाद क्या होगा, इसप्रकार विचार करते करते मात्र खाली स्थान लक्षमें आयेगा, वह अलोकाकाश है। विचार करते करते क्या फिर उस खाली स्थानका भी कहीं अन्त आ सकता है? नहीं आ सकता। इसलिये वह अलोकाकाश अनन्त है। जो आकाश लोकमें है, उसे लोकाकाश कहते हैं। और जो द्रव्य अलोक में है उसे अलोकाकाश कहते है। वह आकाश द्रव्यलोक और अलोकमें रहता हुआ अखंड एक है, और सर्वव्यापी है।

चौदहराजु लोकमें, एक धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। वह जीव और पुद्गलोंका गति करनेमें उदासीन निमित्त है। जैसे पानीमें चलती हुई मछलीको पानी उदासीन निमित्त होता है, अर्थात् जब मछली पानीमें चलती है तब पानी उसे ढकेलता नहीं है, किन्तु मछली जब चलती है, तब पानी उपस्थित होता है, इसलिये उसे निमित्त कहा जाता है। इसीप्रकार जीव और पुद्गलकी गतिमें धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।

इसीप्रकार चौदहराजु लोकमें एक अधर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है। जब जड़ और चेतन गति करते हुये स्थिर हो जाते हैं तब उसके स्थिर होनेमें अधर्मास्तिकाय उदासीन निमित्तकारण है। जैसे वृक्ष मुसाफिर को बलात् अपनी छाया में नहीं बिठाता, परन्तु जब मुसाफिर छाया लेने

बैठना है तब वृक्ष निमित्त कहलाता है। इसीप्रकार जड़ और चैतन्य चलते हुए स्थिर हो जाते हैं तब अधर्मास्तिकाय उसमें उदासीन निमित्तकारण कहलाता है।

छह द्रव्यस्वरूप लोक युक्ति, आगम और सर्वज्ञके द्वारा निश्चित किया गया है। सर्व आवरण दूर होनेके बाद मात्र जो ज्ञान रह जाता है, वह सर्वज्ञज्ञान है। उस ज्ञानसे लोकके समस्त पदार्थ और अलोक, तथा प्रत्येक पदार्थके अनन्त गुण और गुणोंकी अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष ज्ञात होती हैं।

एक एक वस्तुमें अनन्त गुण और उसकी अनन्त पर्यायें विद्यमान हैं, वैसे अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु इत्यादि छह द्रव्य स्वरूप लोक ज्ञान में जानने योग्य है। एक ओर समस्त द्रव्य हैं, और दूसरी ओर अकेला आत्मा, एक ओर सम्पूर्ण विश्व है, और एक ओर अकेला स्वयं, एक ओर ग्राम है, और एक ओर राम — स्वयं, वह राम सबका ज्ञाता है। वे समस्त द्रव्य आत्मासे बाहर हैं, इसलिये व्यक्त हैं, और आत्मा उनसे अलग है, इसलिये अव्यक्त है।

यहाँ छह द्रव्य स्वरूप लोक कहा है, परन्तु उसमें अलोक भी आ जाता है। वह छह द्रव्य स्वरूप लोक ज्ञानमें जानने योग्य है। वह ज्ञानमें ज्ञात होता है, परन्तु वह आत्मासे बाहर है, इसलिये आत्मा उससे अव्यक्त है। छह द्रव्य स्वरूप लोकमे आत्मा भिन्न है, इसलिये भी आत्मा अव्यक्त है। छह द्रव्य ज्ञेय हैं और आत्मा उनका ज्ञायक है इसलिये वह अव्यक्त है।

अज्ञानके द्वारा जो छह द्रव्योंमें रागके विकल्पसे भेद करके छह द्रव्य को जानता था, और अपनेको नहीं जानता था, वह सम्यक्‌दर्शन होने पर राग के विकल्पको तोड़कर अन्तरंग स्वरूपमें समा गया, सो उस अपेक्षासे भी आत्मा अव्यक्त है।

मैं छह द्रव्योंमें हूँ और छह द्रव्योंमें नहीं हूँ, ऐसा विकल्प राग है। मै बन्धन युक्त हूँ या मुक्त मैं छह द्रव्योंमें हूँ या नहीं, ऐसा विकल्प अभेद दृष्टिमें नहीं है, ऐसा भेद निर्विकल्प अनुभवमें नहीं है। आत्मा जैसा है, वैसा है, किन्तु उसमें यह विकल्प करना कि मैं ऐसा हूँ और मै वैसा हूँ सो राग है। ऐसे भेदके विकल्प निरपेक्ष निर्विकल्प अनुभवमें नहीं हैं। छह द्रव्यके

विकल्पके भेद मुझमें नहीं हैं, इसलिये मैं अव्यक्त हूँ।

लोक छह द्रव्य स्वरूप है, ऐसा कहकर छह द्रव्य बताये हैं, और छह द्रव्य कहकर यह बताया है कि कम यह नहीं किन्तु छह ही हैं। जो इन छह द्रव्योंको नहीं मानता वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है। और जो यह नहीं मानता है कि इन छह द्रव्योंसे मैं निरपेक्ष तत्त्व अलग हूँ, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आचार्यदेवने छह ही द्रव्य हैं, ऐसा कहकर व्यवहार बताया है, और छह द्रव्य हैं ऐसा स्थापित किया है, इसलिये जो छह द्रव्य नहीं मानता वह मिथ्या दृष्टि है। और स्वयं छह द्रव्य स्वरूप नहीं है, ऐसा कहकर निश्चय स्वरूप बताया है—परमार्थ स्वरूप बताया है।

आचार्यदेवने छह द्रव्य, उनके विकल्प, और बंध मोक्षकी पर्याय आदि सबको ज्ञेय कहा है। छह द्रव्य यहां हैं इसलिये व्यक्त हैं, और पर्याय प्रगट होती है इसलिये व्यक्त है, किन्तु आत्मा तो 'है है और है' इसलिये अव्यक्त है।

खण्डदृष्टि और खण्डदृष्टिको तोड़कर, अखण्ड दृष्टिसे अखण्डतत्वकी घोषणा ही मुक्तिका उपाय है। कोई कह सकता है कि जो यह दिखाई देता है, सो क्या उसे भूल जाना चाहिये, और जो नहीं दिखाई देता उसे देखना चाहिये ? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि हाँ, अदृश्यको दृश्य करे और दृश्य को भूल जाये तब ही मुक्तिका मार्ग मिल सकता है। हे भाई ! तुझे अपने स्वभावसामर्थ्यकी भी खबर न पड़े तो फिर तरनेका उपाय कहाँसे हाथ लगेगा। तेरे स्वभावसामर्थ्यमें छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञात होता है, उसमें तेरी स्वतन्त्रशक्ति की घोषणा है। यदि तुझे वह ज्ञात हो जाये तो शांति और सुख मिले।

जिसने आत्माका स्वतन्त्र स्वभाव नहीं जान पाया वह जगतके किसी भी कार्यसे स्वतन्त्र नहीं हो सकता। किन्तु जिसने यह जान लिया कि मैं आत्मा स्वतन्त्र हूँ, वही उसकी स्वतन्त्रताकी घोषणा है। जिसने आत्माका स्वतन्त्र स्वभाव जान लिया उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि परभावकी उपाधि से अलग कैसे हुआ जा सकता है।

जैसे दर्पणमें सामनेकी वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तथापि दर्पण उस वस्तुरूप नहीं हो जाता, इसीप्रकार ज्ञानमूर्ति चैतन्य दर्पण है, जिसका स्व

भाव समस्त पदार्थोंको जानना है। उन समस्त पदार्थोंको जाननेसे आत्मा पर पदार्थरूप नहीं हो जाता। इसप्रकार वस्तु स्वभावको जानकर उसकी श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो तभी आत्महित होता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी मार्ग से आत्महित हो ही नहीं सकता।

अब अव्यक्तकी दूसरी बात कहते हैं। कषायका समूह जो भावक-भाव व्यक्त है, उसमे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है।

कषाय शब्दके दो भाग हैं—एक कष और दूसरा आय। इनमेंसे कष का अर्थ है ससार और आयका अर्थ है लाम। अर्थात् जिस भावके द्वारा संसार के चौरासीके दु खोंको भोगनेका लाभ मिले वह कषाय है। दूसरा अर्थ—कष अर्थात् कृषि, और कृषि अर्थात् खेती करके—क्रोध, मान, माया, लोभकी खेती करके चौरासीके अवतारको उगाये, ससारके दु खको उत्पन्न करे उसे कषाय कहते हैं। जैसे किसान खेती करके अन्न उत्पन्न करता है, इसीप्रकार अज्ञानी अज्ञान भावसे क्रोध, मान, माया, लोभ और शुभाशुभभावकी खेती करके चौरासी में अवतार ग्रहण करनेकी फसल उत्पन्न करता है।

राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति और वेद इत्यादि सब कषायोंका समूह है। भावक अर्थात् कर्म और उसके निमित्तसे होनेवाला जो भाव है सो व्यक्त है, अर्थात् प्रगट है, और आत्मा उन कषायोंके समूहसे अलग है, इस लिये अव्यक्त है।

कषायोंकी वृत्ति एक समय मात्रकी प्रगट है, और आत्मा एक समय मात्रका नहीं किन्तु त्रिकाल है, इसलिये उस समय मात्रकी पर्यायसे आत्मा अन्य होनेसे अव्यक्त है। सम्पूर्ण आत्मा ध्रुव त्रिकाल स्वभाववाला अविनाशी है, और क्रोध मान माया लोभकी पर्याय विकारी क्षणिक और नाशवान है, इसलिये आत्मा उससे अन्य है, अलग है, इसलिये भी अव्यक्त है।

यहाँ कोई कह सकता है कि इसमें धर्म क्या हुआ? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि—इसमें धर्म यह है कि—क्रोध मान आदि जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे ज्ञेय हैं, और मैं आत्मा उनका जाननेवाला ज्ञायक हूँ, इसप्रकार जानना उसकी प्रतीति करना और उस ज्ञायक स्वभावमें स्थिर होना सो यही

सच्चा धर्म है। जिसे आत्माका धर्म करना हो उसे कषायोंके समूहसे जीवको अलग जानना होगा, शुभाशुभ विकारी अवस्थासे अलग जानना होगा, और इसप्रकार अलग जानने पर ही धर्मका प्रारम्भ होता है, इसके अतिरिक्त अन्य लाखों करोड़ों उपायोंसे भी धर्मका प्रारम्भ नहीं होता।

यह बात सच्चा अज्ञानीको समझाइ जा रही है जिसे चौरासीमें परिभ्रमण करते हुये थकान मालूम होने लगी हो। उससे आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! अब बस कर, अब यह परिभ्रमण बन्द कर दे।

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि–सरलता, मध्यस्थता जितेन्द्रियता, और विशालबुद्धि, यह चारों जिसके अन्तरंगमें प्रगट हुए हों वह जीव तत्वप्राप्तिके लिये उत्तम पात्र है। उपरोक्त चारों बात जिसके अतरगमें प्रगट हो गई हों, और जिसे परिभ्रमण करते करते थकान आ गइ हो उस जिज्ञासु जीवके लिये यह बात समझमें आती है। हे भाइ! एसा दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त हुआ, ऐसा सत् समागम प्राप्त हुआ फिर भी ऐसे उत्तम सुअवसर पर भी न समझा तो फिर कब समझेगा? यदि बिना समझे ही यह मनुष्य आयु समाप्त हो गई तो फिर कहाँ जाकर पार होगा। फिर तेरे अरण्यरोदनको कौन सुनेगा? चौरासीके परिभ्रमणमें तेरे रुदनको कोई नहीं सुनेगा। इसलिये यदि सुखी होना हो तो आत्मस्वभावको पहिचान कर उसमें स्थिर हो, इसीसे सुख और शाति मिलेगी। सुख और शान्तिका दूसरा कोइ उपाय नहीं है।

आत्मा कषाय समूहसे भिन्न है, उसे पहिचाननेसे ही मुक्तिका मार्ग मिलता है। अव्यक्तके प्रथम कथनमें आत्माको छहों पर द्रव्योंसे अलग बताया है, और दूसरेमें अपनेमें होने वाली मलिन अवस्थासे अलग बताया है।

अब अव्यक्तकी तीसरी बात कहते हैं। चित्सामान्यमें चैतन्यकी सर्व व्यक्तियाँ निमग्न अन्तर्भूत हैं इसलिये अव्यक्त है।

चित्सामान्यका अर्थ है आत्माका ज्ञानस्वभाव। जो त्रिकाल सदृश एकरूप और सदा एक सा रहनेवाला है, उसमें चैतन्यकी सव व्यक्तियाँ निमग्न हैं अर्थात् जाननेकी पर्याय प्रतिक्षण कम बढ़ निर्मल होती है, वह पर्याय सामान्य स्वभावमें समा जाती है। पर्यायका गुणमें समावेश किया तो उसे अन्तर

निमग्न कहा है। पर्याय गुणमें गुणरूपसे अन्तर्निमग्न है।

सुवर्णमें से चूड़ी, कंठी, अँगूठी इत्यादि जो भिन्न भिन्न अवस्थायें होती हैं वे सब सुवर्णमें समाविष्ट हैं। इसीप्रकार चैतन्यके ज्ञानकी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय इत्यादि जो अपूर्ण या पूर्ण निर्मल अवस्था होती है, वह सब सामान्य ज्ञानमें अन्तर्भूत हैं। वे अवस्थायें सामान्य स्वभावसे भिन्न नहीं हैं, परन्तु उन पर्यायोंके भेदकी ओरसे देखें तो उन भिन्न भिन्न अवस्थाओं जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिये अव्यक्त है, समस्त पर्यायें सामान्यमें अन्तरभूत हैं, अर्थात् सामान्यरूप हैं, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न पर्याय जितना ही नहीं है, अतः वह अव्यक्त है।

जैसे पानीकी छोटी बड़ी तरंगें, पानीमें—सामान्यमें समा जाती हैं, वह सामान्यरूप है, इसीप्रकार आत्मामें जानना चाहिये। आत्मामें ज्ञायकस्वभाव स्थायी रहता है, उस त्रैकालिक ज्ञाता स्वभावमें प्रतिक्षण होनेवाली निर्मल पर्याय समा जाती है, वह प्रतिक्षण होनेवाली प्रगट निर्मल अवस्था सामान्य ज्ञानरूप एकत्रित है इसलिये भिन्न भिन्न पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिये वह अव्यक्त है।

प्रथमोक्तिमें कहा गया है कि तू अपनेको छहों द्रव्य से अलग देख तो अज्ञान और राग द्वेष नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। दूसरीमें कहा है कि कषायोंका समूह जो क्रोध, मान इत्यादि भाव है, उससे अपनेको पृथक् देख, तो राग द्वेष और अज्ञान नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। तीसरे कथनमें बताया गया है कि सामान्य ज्ञानको देख अवस्थाको मत देख तो राग द्वेष और अज्ञान नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

द्वितीय कथनमें मलिन पर्यायकी बात कही गई है कि तू अपनेको मलिन पर्यायसे अलग देख और तृतीय कथनमें निर्मल पर्यायकी बात है कि जो मति श्रुत और अवधिकी निर्मल पर्याय होती है, उतना मात्र ही अपनेको मत मान और उस पर्याय पर दृष्टि मत रख। अब अव्यक्तकी चतुर्थ बात कहते हैं। क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है।

तीसरे कथनमें सर्व व्यक्तियोंकी बात कही है और यहाँ चतुर्थ कथन

में क्षयिक व्यक्ति ली गई है, अर्थात् एक समयकी एक पर्याय ली है। आत्मा एक समयकी एक पर्याय जितना नहीं है, इसलिये अव्यक्त है। जो एक समयकी अवस्था होती है, उस समय भी अवस्था पर लक्ष न देकर अखण्ड ध्रुव स्वभाव पर लक्ष रखकर सम्पूर्ण ध्रुव स्वभावको लक्षमें ले लेना है, इसलिये उस अवस्था जितना ही न होनेसे आत्मा अव्यक्त है।

अभेददृष्टि हुए बिना भेदका राग-द्वेष दूर नहीं होता। चैतन्य आत्मा एक समयकी निर्मल पर्याय जितना ही नहीं है, किन्तु त्रिकाल ध्रुव है। समयकी अवस्था बदल जाती है, और स्वयं आत्मा स्थिर रहता है, इसलिये आत्मा उस अवस्था जितना ही नहीं है, इसलिये वह अव्यक्त है।

क्षयिक व्यक्तिका अर्थ है, एक समयकी अवस्था। यदि आत्माको उस अवस्था जितना ही माना गया तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो ध्रुव स्वभाव है, उसे नहीं माना। यदि आत्मा एक अवस्था जितना ही हो तो फिर दूसरे समय दूसरी अवस्था, और तीसरे समय तीसरी अवस्थाकी सामर्थ्य उस द्रव्यके बिना कहाँसे आयेगी? एक अवस्था बदलकर दूसरी कहाँसे उत्पन्न होगी? इसलिये समस्त अवस्थाओंकी शक्तिका धारक त्रिकालस्थायी द्रव्यका सामान्य स्वभाव है, और उसमेंसे प्रति समय पर्याय उत्पन्न होती है, किन्तु पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, इसलिये स्वयं अव्यक्त है। आत्माका ऐसा स्वरूप है, यदि उसे इसप्रकार समझे तो स्वतन्त्रता प्रगट हो।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि गुरुकृपा हो तो वे हमें समझा दें, किन्तु गुरुकृपा किसीको कुछ नहीं दे सकती। अपनी योग्यतासे स्वयं समझे तो गुरुकृपा निमित्त कही जाती है। तू अपनी पात्रतासे–तैयारीसे समझे तो समझा जा सकता है, अन्यथा तेरी तैयारीके बिना तीर्थंकर भी तुझे समझानेको समर्थ नहीं हैं। तीर्थंकर देवने पूर्वभवमें जब तीर्थंकर गोत्रका बन्ध किया था तब उन्हें आत्माकी पहिचानमें ऐसा उत्कृष्ट प्रशस्तभाव उत्पन्न हुआ था कि सभी जीवोंको आत्माका परिचय करा दूं, और इसीसे तीर्थंकर गोत्रका बंध हुआ था। उस भावसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो गया तथापि स्वयं जब तीर्थंकर केवलज्ञानी थे तब कहीं वे सबको नहीं तार सके। जिनकी तैयारी थी, वे

जीव तर गये, तब उपचारसे यह कहा गया कि वे तीर्थंकर भगवानके निमित्तसे तरे हैं। तीर्थंकर भगवान तो सभीके तरनेमें निमित्त थे, तथापि जो अपने उपादानकी तैयारीसे तर गये उनके लिए वे निमित्त हुए कहलाये।

निमित्तका अर्थ उपस्थिति मात्र है। निमित्त किसीका कुछ कर नहीं देता। कार्यके होनेमें जो अनुकूल निमित्त होता है, वह उस कार्यका निमित्त हुआ कहलाता है। जैसे घड़ेके बननेमें कुम्हार अनुकूल निमित्त होता है। मोक्ष पर्यायके प्रगट होनेमें देव गुरु शास्त्र अनुकूल निमित्त हैं। यदि निमित्तकी दृष्टि से देखा जाये तो स्त्री पुत्रादि रागी निमित्त उस रागके होनेमें निमित्त कहलाते हैं, और जो वीतरागी निमित्त है सो वीतरागताके होनेमें निमित्त कहलाता है, किन्तु यदि कोई रागी निमित्तको देखकर वीतराग भाव करे और वीतरागी निमित्त को देखकर अशुभ भाव करे तो उसमें अपने उपादानका गुण दोष है,-वीतरागी निमित्तको भी अपने रागका निमित्त बनाया सो यह अपने उपादान का दोष है। तीर्थंकर भगवान तो सबके लिये विद्यमान थे किन्तु जो अपनी तैयारी से तर गये उनके लिये वे निमित्त कहलाये।

देव, गुरु और शास्त्र संसार सागरसे पार होनेके लिये अनुकूल निमित्त हैं। ऐसा निमित्त उपादान दोनोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञानमें आ जाता है। रागी निमित्त है, या वीतरागी, इसका विवेक सम्यग्ज्ञानीके होता है। निमित्त तार नहीं देता किन्तु जब स्वतः स्वयं तरता है, तब निमित्त होता है। जब स्वयं तरता है, तब निमित्तका आरोप होता है।

आत्मा छह द्रव्यस्वरूप लोकमें अलग है, इसलिये अन्यत्व है। यदि पृथक् स्वरूपकी प्रतीति करे तो पृथक्में स्थिर हो, यही मोक्ष मार्ग है। यदि अपना पृथक् स्वभाव न जाने तो अपने स्वरूपमें स्थिर होनेका पुरुषार्थ न करे और स्थिर होनेके पुरुषार्थके बिना कषायोंका समूह-राग द्वेष इत्यादि दूर न हो। जो क्रोध, मान इत्यादि होते हैं, उतना मात्र आत्मा नहीं है, किन्तु वह उनके नाशक स्वभावसे परिपूर्ण है। इसप्रकार यह दो बातें हुईं।

तृतीय कथनमें चित्सामान्य अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानगुण लिया है, उस सम्पूर्ण ज्ञानगुणमें जो प्रतिक्षण निर्मल अवस्था होती है, वह ज्ञानगुणसे अलग

नहीं है, किन्तु वह ज्ञानगुणमें अन्तर निमग्न है, अर्थात ज्ञानगुणमें ज्ञानकी निर्मल अवस्था समाई हुई है ।

जैसे–सोनेमें ताँबा मिला दिया जाये और वह ताँबा सोनेके साथ चाहे जितने समय तक रहे तो भी वह सोना नहीं होता । वह ताँबा सोनेसे अलग हो जाता है, तब सोनेकी पीलता–निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है, वह सोने की ही अवस्था है, सुवर्णमय ही वह अवस्था है, सोनेमें उसकी निर्मल अवस्था एक रूप है, अलग नहीं है । इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मामें कर्मके निमित्तसे अपनी विपरीततासे विकारी अवस्था क्षण क्षण रहकर भले ही अनत-कालसे रह रही हो तथापि आत्मा विकारस्वरूप नहीं हो जाता । जो यह विकार है सो मैं नहीं हूँ, मैं आत्मा इसविकाररूप तांबेसे अलग हूँ, इसप्रकार ज्ञानमें विवेक होने पर जो जो निर्मल अवस्था होती है वह उसमें अन्तर्निमग्न है । राग द्वेष रहित जो निर्मल अवस्था होती है, वह चैतन्य सामान्यसे अलग नहीं है, किन्तु सामान्यमें एकरूप है ।

चैतन्यमूर्तिरूप एकरूप जो सामान्य स्वभाव है, उस पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है, सामान्य स्वभावकी दृष्टिके बलसे निर्मल पर्याय उस भरे हुए सामान्य स्वभावमें से प्रगट होती है । परन्तु अवस्था पर लक्ष देने योग्य नहीं है, क्योंकि राग द्वेष दूर होकर जो निर्मल पर्यायके भेद होते हैं, उन पर लक्ष देने पर पर्याय निर्मल नहीं होती । निर्मल पर्याय भी भगरूप और भेदरूप है, इसलिये उस भगरूप पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है और राग होनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती । मैं क्षणिक पर्याय जितना ही नहीं हूँ, किन्तु सामान्य त्रिकाल एकरूप हूँ, ऐसी दृष्टि के बलसे अस्थिरताको दूर करके स्थिरता प्रगट होती है, निर्मल पर्याय प्रगट होती है ।

यह बात बड़ी अलौकिक है । कुन्दकुन्दाचार्य के सभी ग्रन्थोंमें यह गाथा पाई जाती है । उसमें भी यह जो अव्यक्त का कथन है वह तो अत्यन्त सुन्दर है । यह एक प्रकार से चैतन्यलक्ष्मी की पूजा है, किन्तु लोग लक्ष्मी (धन) की पूजा करते हैं, जो कि धूल की पूजाके समान है । लोग धनकी पूजा करते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि वे यह चाहते हैं कि मैं सदा तेरा

(लक्ष्मी का) दास बना रहूँ, और मुझे ऐसा ही बनाये रखना कि जिससे तेरे बिना मेरा काम ही न चले।

लोग कहा करते हैं कि हे भगवान ! हमें नंगा भूखा मत रखना, इसका अर्थ यह हुआ कि यह शरीर सदा बना रहे, और सदा भूख लगती रहे, तथा रोटियाँ मिलती रहें—इस प्रकार सदा परमुखापेक्षी-पराधीन बना रहूँ। यदि यह प्रतीति करे कि मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा परसे निराला हूँ, और मेरी वस्तु-मेरी स्वरूपलक्ष्मी मेरे ही पास है, परवस्तु मुझे सुखरूप नहीं है, मेरा सुख मुझमें ही है, तो ऐसा विवेक होने पर दूसरे की आधीनता मिट जाती है।

यहाँ सम्यक्त्व की बात चल रही है। यह बात आजकल समाज में नहीं चल सकती। आजतक कभी भी यह बात लोगों के कान में नहीं पहुँची, इसलिये उन्होंने कभी इस पर विचार नहीं किया। क्या कभी किसी को ऐसा स्वप्न भी आया कि मैं चिदानन्द आत्मा मुक्त हो गया हूँ ? जिसे जिसका रंग लगा होता है उसे उसी का स्वप्न होता है। व्यापारियों को व्यापारका रंग लगा है, इसलिये उन्हें व्यापार के स्वप्न आते हैं और जिसे आत्मा की लगन है, उसे ऐसे स्वप्न आते हैं कि चिदानन्दस्वरूप में रमण करता हुआ मुक्त हो गया।

> श्रेनु स्वप्ने जो दर्शन पामे रे,
> तेनु मन न चढ़े बीजे भामे रे,
> थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे,
> तेने न गमे बीजा केरो संग रे।

मैं आत्मा मुक्त हो गया, सिद्ध हो गया ऐसा स्वप्न भी यदि आगया तो फिर उसका मन राग-द्वेष और विषय-कषाय की ओर नहीं जाता। कृष्ण अर्थात् कर्म को दूर करने वाला जो आत्मा है, उसका लेश मात्र प्रसंग अर्थात् आंशिक प्रगटता भी हो जाये तो फिर उसे दूसरे के संगकी रुचि या प्रीति नहीं रहती। जो कर्म को कृश करे वह आत्मा स्वयं श्री कृष्ण भगवान है। कर्मोंको मारकर, जलाकर स्वयं जागृत हो सो स्वयं श्रीकृष्ण भगवान है। जैसे श्री कृष्ण का अवतार कंस को मारने के लिये हुआ था, कहीं कंस से

मरने के लिये नहीं हुआ था, इसी प्रकार चैन यमूर्नि भगवान आत्मा स्वय परसे भिन्न है, ऐसा आत्मानुभव हुआ सो मानो श्रीकृष्णका ज म हुआ, वह कंस अर्थात् कर्मका नाश करनेके लिये आत्माका जन्म हुआ है।

अब अव्यक्त की पाँचवीं बात कहते हैं । व्यक्तता और अव्यक्तता दोनों एकत्रित मिश्रित रूपसे प्रतिभासित होते हुए भी वह मात्र व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अ यक्त है।

प्रतिक्षण होने वाली पर्याय व्यक्त, और स्वय सदा स्थायी ध्रुव आत्मा अव्यक्त है, वह क्षणिक अवस्थाका भी ज्ञान करता है, और त्रैकालिक वस्तुका भी ज्ञान करता है। दोनोंकी साथमें मिश्रता अर्थात् दोनोंका एक साथ ज्ञान होने पर भी वह केवल व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता (नहीं जानता) इसलिये स्वय अव्यक्त है।

ज्ञान त्रिकालकी अवस्थाओंको जानता है, और वस्तुको भी जानता है। दोनोंके ज्ञानमें प्रतिभासित होने पर भी मात्र व्यक्त अथवा अवस्थाको ही स्पर्श करता है, ऐसा नहा है। जिसे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट करनेकी रुचि, और पुरुषार्थका बल है वह यह कहता है कि कल ही ज्ञान प्रगट करूगा, कल ही वीतरागता प्रगट करूगा (इसका यह अर्थ है कि कल अर्थात् भविष्यमें जो पर्याय प्रगट करनी है वह पर्याय मेरे द्रव्यमें भरी पड़ी है। द्रव्यमें पर्याय भरी हुई है, सो उसका ज्ञान और वतमानमें होने वाली अवस्थाका ज्ञान इसप्रकार दोनोंका ज्ञान हुआ। द्रव्यमें पर्याय भरी हुई है, इसलिये द्रव्यका ज्ञान और वर्तमान पर्यायका ज्ञान दोनोंका ज्ञान हुआ। मात्र अवस्थाका ही ज्ञान हुआ हो सो बात नहीं है, किन्तु दोनोंका ज्ञान हुआ।

एक लड़की आटेकी लोइ लेकर रोटी बनाना चाहती है, तब उसे पूर्वका ज्ञान होता है, कि मेरी माँ ऐसी रोटी बनाती थी, और अब मुझे ऐसी रोटी करनी है, यह लक्षमें लेकर वर्तमानमें वह लड़की आटेमें से लोइ लेती है। इसप्रकार उस लड़कीके भी रोटी करते समय पहलेका और भविष्यका ज्ञान दोनों एक साथ विद्यमान हैं।

इसी प्रकार कुम्हारके भी घड़ा बनानेसे पूर्वका ज्ञान होता है कि

कल मिट्टीमें में से घड़ा बनाया था वैसा घड़ा भविष्यमें बनाना है, अथवा यह घड़ा कल मिट्टीमें से बना था अभी उसी प्रकार मिट्टीमें से बन रहा है और भविष्यमें भी दूसरी मिट्टीमें से घड़ा इसी प्रकार बनेगा इसप्रकार तीनों काल का ज्ञान एक ही साथ पाया जाता है। कुम्हारने तो घड़ेका ज्ञान ही किया है, किंतु घड़ेका कर्ता कुम्हार नहीं है। जब मिट्टीका पिंड तैयार होता है तब कुम्हार यह जानता है कि इसमें से घड़ा बनेगा, और जब घड़ा बनता है, तब वह यह जानता है कि यह घड़ा बन रहा है, किंतु उसमें उसने कुछ किया नहीं है। मिट्टीके पिंडमें से जब घड़ा बननेसे पूर्व विविध आकृतियाँ बनती हैं तब कुम्हार मात्र उनका ज्ञाता होता है, वह उनका कर्ता नहीं होता। पहले मिट्टीके पिंडका ज्ञान किया, अर्थात् उस कुम्हारने पहले सामान्यका ज्ञान किया, फिर वर्तमानमें होने वाली पर्यायोंका ज्ञान किया। ध्रौव्यत्वकी सामर्थ्यताका ज्ञान और पर्यायका ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं।

इसी प्रकार जौहरीको हीरेका भाव पहले इतना था, वर्तमानमें इतना है, और भविष्यमें इतना बढ़ेगा इसप्रकार त्रिकालका ज्ञान एक ही साथ हो जाता है, इसीप्रकार द्रव्य पर्याय दोनोंका ज्ञान एक ही साथ हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा तीनों कालकी पर्यायोंकी पिंडभूत वस्तुको भी जानता है, तथा वर्तमानमें होनेवाली पर्यायको भी जानता है। ऐसा उसका स्वभाव है, तथापि केवल वर्तमानमें होनेवाली पर्यायको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये वह अव्यक्त है।

ज्ञानी जानता है कि जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा, इस शरीरका जन्म हुआ है सो वियोग जरूर होगा। इसप्रकार संयोग वियोगका ज्ञान साथ ही होता है। संयोगके समय वियोगका ज्ञान एक ही साथ होता है, इसलिये उसे संयोग वियोगके समय राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि जैसा जाना था वैसा ही हुआ है, फिर राग-द्वेष कैसा? इसप्रकार सम्यक्ज्ञानीके ज्ञानमें समाधि होती है, और वह समाधिको बढ़ाकर देहत्याग करता है।

ज्ञानी समझता है यह संयोगी वस्तु है इसलिये कभी न कभी अवश्य जायेगी, इसलिये वह जीवनके अन्तिम क्षणोंमें यह समझता है कि जो यह

शरीर जा रहा है सो मेरा नहीं है। जो मेरा है वह जा नहीं सकता, इसलिये उसे संयोगमें राग नहीं होता और वियोगमें द्वेष नहीं होता। इसप्रकार शांतिकी निर्मल पर्यायमें बढ़ते बढ़ते देहत्याग करता है।

जिसने यह मान रखा है कि जो शरीर है सो मैं हूँ, उसे वियोगके समय द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसे शरीरको रखनेका राग है उसे मरण समय द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। उसे आत्मप्रतीति तो है नहीं, और जो पर सम्बन्धी ज्ञान किया है सो वह सब परोन्मुख होकर किया है इसलिये परसंयोगके समय राग और वियोगके समय द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

जिसने अपने सामान्य चैतन्यस्वभावका अपनी अवस्थाका और पर पदार्थोंका ज्ञान स्वोन्मुख होकर किया है, वह अकेली अवस्थाको स्पर्श नहीं करता। अपने स्वभावकी प्रतीतिमें वर्तमान अवस्थाका ज्ञान, अपने सामान्यका ज्ञान सामान्य पदार्थकी वर्तमान अवस्थाका ज्ञान, प्रस्तुत पदार्थके भविष्यका ज्ञान अर्थात् उसके सामान्यका ज्ञान—ऐसा अखण्डित ज्ञान करनेवाला मात्र अवस्थाको स्पर्श नहीं करता। जिसे यह प्रतीति है कि मेरा आत्मा सदा रहनेवाला ध्रुव है, वह वस्तु और वस्तुकी अवस्था दोनोंका ज्ञान करता है, किन्तु मात्र अवस्थाका ज्ञान नहीं करता, मात्र अवस्थाका स्पर्श नहीं करता। इसलिये आत्मा अव्यक्त है।

अब अव्यक्तकी छट्ठी बात कही जाती है।

स्वयं अपने आपसे ही बाह्याभ्यंतर स्पष्टतया अनुभूत होता हुआ भी *व्यक्तताके प्रति उदासीन भावसे प्रद्योतमान (प्रकाशमान) है, इसलिये अव्यक्त है।*

अभ्यंतर अर्थात् स्वयं द्रव्य और बाह्य अर्थात् सर्व बाह्य पदार्थ ज्ञेय हैं। वे सब स्वयं अपनेसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष पर भार दिया है। मन और इन्द्रियोंके अवलम्बनके बिना, स्वयं अपनेसे ही प्रत्यक्ष जानता है। अकेला परिपूर्ण द्रव्य कहा है, उसमें संयोग, निमित्त, विकार, अपूर्ण पर्याय नहीं और निर्मल पर्याय जितना ही द्रव्य नहीं है, मात्र सामान्य द्रव्य कहा है मात्र पर्यायरूप द्रव्य नहीं है, इसलिये व्यक्तताके प्रति उदासीन है। स्व और पर दोनोंका ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। परका ज्ञान करता है, ऐसा कहना सो व्यवहार है, किन्तु परको जानता है, इसलिये ज्ञानमें परोक्षता नहीं आ जाती, अन्तरंगका और बाहरका

ज्ञान स्वयं अपनेसे प्रत्यक्ष ही करता है, उसमें परका निमित्त या परोक्षता नहीं आती। केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है तब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है सो बात नहीं है, किन्तु ज्ञान स्वयं स्वतः ही स्वरूप प्रत्यक्ष है, स्वयं स्वतः द्रव्यसे, गुणसे पर्यायसे स्वरूपप्रत्यक्ष ही है। स्व पर प्रकाशकतासे स्वयं प्रत्यक्ष ही है तथापि व्यक्तताके प्रति उदासीन है। बाह्य ज्ञेय और अभ्यंतरमें स्वयं स्पष्ट ज्ञात होता हुआ भी पर्यायके प्रति उदासीन रहता है। यहाँ अनुभवका अर्थ ज्ञान है।

आत्मामें प्रस्तुत वस्तुका और उसकी पर्यायका ज्ञान होता है, इसी प्रकार अपने आत्माका और पर्यायका ज्ञान होता है। उन सबका प्रत्यक्षरूपसे स्पष्ट ज्ञान होता है तो भी मात्र पर्यायकी व्यक्तताको आत्मा स्पर्श नहीं करता इसलिये वह अव्यक्त है। इसप्रकार छह हेतुओंसे अव्यक्तता सिद्ध की है।

आत्मा पर्यायके प्रति उदासीन प्रकाशमान है। सिद्ध भगवान भी एक समयमें तीनों कालका आनन्द भोग लेते हों तो दूसरे समयमें दूसरी पर्यायका आनन्द कहाँ से भोगेंगे? इसलिये एक समयमें आनन्द गुणकी एक पर्यायका उपभोग होता है, और आनन्दकी जाति एक ही रहकर प्रतिसमय नई नई पर्यायका उपभोग होता है, वह प्रत्येक पर्याय प्रति समय आत्मामें से आती है, अर्थात् प्रत्येक पर्याय द्रव्यरूप है, इसलिये उसमें से आती है, इसलिये एक पर्यायमें सम्पूर्ण आत्मा नहीं आ जाता इसलिये आत्मा पर्यायके प्रति उदासीन है।

आत्माका मूल स्वभाव क्या है, मूल शक्ति क्या है, यह जाननेसे आत्माका स्वभाव प्रगट हो जाता है। आत्माका कोई भी गुण बाहर नहीं गया है, इसलिये बाहर दृष्टि डालनेसे आत्माका धर्म प्रगट नहीं होता, किन्तु अंतरंगमें दृष्टि डालनेसे धर्म प्रगट होता है। आत्मामें जो प्रतिक्षण निर्मल अवस्था होती है, उसकी शक्ति द्रव्यमें सदा विद्यमान है। जैसे सोनेकी मलिन अवस्था दूर होकर निर्मल निर्मल अवस्था होती जाती है, उस एकके बाद एक निर्मल अवस्था होनेकी सम्पूर्ण शक्ति सुवर्णमें सदा विद्यमान है। एक अवस्थाके बाद दूसरी होती है, यदि यह सब शक्ति स्वभावमें न हो तो प्रगट कहाँसे हो? यदि पर्याय होनेकी शक्ति वस्तुमें न हो तो आये कहाँसे? एकके बाद दूसरी अव-

रूप होनेकी सम्पूर्ण शक्ति सामान्य स्वभावमें सदा विद्यमान है।

स्थूल दृष्टिवालोंको हीरेका प्रकाश एकरूप ही मालुम होता है, किन्तु उसमें प्रतिक्षण पर्याय बदला करती है। इसीप्रकार आत्मा ज्ञान दर्शनादिकी मूर्ति है, उसमें भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। जब मोक्ष मार्ग प्रगट होता है, तब अमुक अंशमें निर्मल पर्याय प्रगट होती है, और जब मोक्ष होता है तब सम्पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

मलिन पर्यायको नाश करनेका स्वभाव त्रिकाल ध्रुवरूपसे भीतर आत्मा में विद्यमान है। यदि विकारको दूर करनेका स्वभाव आत्मामें न हो तो उसे दूर करनेका विकल्प ही न आये, किन्तु उसे दूर करनेका भाव होता है, और वह दूर हो जाता है, इसलिये उसे टालनेका स्वभाव आत्मामें है। सुख इत्यादि अनंत स्वभाव आत्मामें भरे हुए हैं, पुण्य पापके क्षणिक विकारमें सम्पूर्ण द्रव्य समा नहीं जाता, उसे दूर करनेका स्वभाव भीतर आत्मामें भरा पड़ा है। राग द्वेष विकार यद्यपि नहीं चाहिये, तथापि वह आता है, क्योंकि भीतर जो राग द्वेष रहित वीतराग, निर्विकार स्वभाव भरा हुआ है, उसकी ओर न देखकर उल्टी कुचाँट खाई है, इसलिये रागद्वेषकी अवस्था होती है, और यही पराधीनता है।

लोग कहते हैं कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" किन्तु पराधीनता किसे कहते हैं? नौकरी करना पराधीनता है या माँ बापकी आज्ञामें रहना पराधीनता है? पराधीनताकी इतनी तो परिभाषा है नहीं, किन्तु आत्मा जो कि ज्ञानानंदकी मूर्ति है, उसमें जो राग द्वेष पुण्य पापके भाव होते हैं, वही सच्ची पराधीनता है। उस पराधीनतामें सुख नहीं है, इसलिये उसे दूर करूँ और सुख प्रगट करूँ-स्वाधीनता प्रगट करूँ, ऐसे भाव हुआ करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भीतर आत्मामें स्वाधीन स्वभाव भरा हुआ है, उसमेंसे स्वाधीनता प्रगट करूँ।

कुछ लोग कहा करते हैं कि क्या हम पराधीन रहेंगे? इस कथनमें दो बातें हैं,—एक तो वह पराधीन है, और दूसरे पराधीनता दूर करनेकी शक्ति भीतर विद्यमान है।

जैसे किसी प्रतिष्ठित परिवारके व्यक्तिके मनमें अनीतिका कोई विकल्प आता है तो उसे ऐसा विचार आता है कि अरे! मुझे ऐसा विकल्प

आया ? मैं कौन हूँ, मेरा कुटुम्ब परिवार कैसा प्रतिष्ठित है, मुझ जैसे प्रतिष्ठित परिवारके व्यक्तिके ऐसा विकल्प नहीं उठना चाहिये, मुझे यह विकल्प शोभा नहीं देता, भले ही प्राण चले जायें किन्तु पारिवारिक प्रतिष्ठाको देखते हुए मैं ऐसा नहीं करूंगा। अब यहाँ यह देखना है कि—उसके अनीतिका भाव उठा तो है किन्तु साथ ही उसे दूर करनेका भाव भी विद्यमान है, वह अनीतिके भाव को दूर करके नीतिका भाव सदा रखना चाहता है। अनीतिके भावके समय भी नीतिका भाव विद्यमान है, और अनीतिका भाव दूर करते समय तथा उसके दूर होनेके बाद भी नीति का भाव विद्यमान है।

इसीप्रकार जिसे अपनी आत्मिक प्रतिष्ठाके स्वभावका जोश चढ़ गया है, उसे भी ऐसा लगता है कि अरे ! मैं कौन हूँ ? मैं सिद्ध भगवानकी जाति का—उनके परिवारका हूँ, मुझमें जो यह राग द्वेष और पुण्य पापके परिणाम होते हैं वे मुझे शोभा नहीं देते। मैं तो अशरीरी परमात्माके समान हूँ, जैसे सिद्ध भगवानमें राग द्वेष नहीं है, वैसे ही मेरे आत्मामें राग द्वेष नहीं है, तथापि इस अवस्थामें यह क्या है ? अरे मुझे यह शोभा देता है ? क्या मेरे भीतर यह सब होना चाहिये ? इत्यादि।

अब यहाँ यह देखना है कि—उसके राग द्वेष होते तो हैं तथापि वह कहता है कि मुझे यह शोभा नहीं देता, अर्थात् राग द्वेषके होते समय ही उसे दूर कर देनेका स्वभाव है, उसे दूर करनेका स्वभाव जो सदा स्थायी विद्यमान है, उस ओर जाने पर राग द्वेष दूर होते हैं। राग द्वेष होते समय भी उन्हें दूर करनेका स्वभाव विद्यमान है, और राग-द्वेषके दूर हो जाने के बाद भी वह स्वभाव बना हुआ है। अर्थात् राग द्वेषको नाश करनेका स्वभाव त्रिकाल विद्यमान है। क्योंकि वह स्वभाव त्रिकाल विद्यमान है, इसलिये यह राग-द्वेष नहीं चाहिये, यह मुझे शोभा नहीं देते उन्हें दूर कर दूं ऐसे भाव त्रिकाल स्वभावके अस्तित्वके कारण होते रहते हैं। उस ध्रुव स्वभाव,—सामान्य स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे स्वभावपर्याय प्रगट होती है, किन्तु पर्याय पर दृष्टि डालनेसे स्वभावपर्याय प्रगट नहीं होती। पर्याय पर दृष्टि डालनेसे राग होता है, किन्तु राग द्वेष कम नहीं होता, किन्तु सामान्य त्रिकाल एकरूप स्व

भाव पर दृष्टि डालनेसे, राग द्वेष कम होता है, और निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

सब वस्तुके भीतर जो बन्धनभाव होता है, वह आत्मभाव नहीं है। तत्त्व ऐसा नहीं होता जिसमें पर पदार्थकी आवश्यकता पड़े। जिसमें पर पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती उसीका नाम जीवन है। परमुखापेक्षी जीवन भी कोई जीवन है? स्वतन्त्र जीवन ही सच्चा जीवन है। तब स्वतन्त्र जीवन किसे कहा जाये? जिसमें राग द्वेषकी पराश्रयताका अंश भी न हो, और जो अपने निजानन्दमें स्थिर रहे वही सच्चा स्वतन्त्र जीवन कहलाता है। इसलिये पर पदार्थसे स्वयं सर्वथा भिन्न है, ऐसे पृथक् तत्त्वकी श्रद्धा और ज्ञान करे तो उसमें स्थिरता हो और तभी यह स्वतन्त्र सुखी होगा।

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, किसी पदार्थकी क्रिया दूसरे किसी पदार्थके आधीन नहीं है। किन्तु अज्ञानी को यह अभिमान हो जाता है कि यह कार्य मैंने किया है। किन्तु यदि विचार करे तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाये कि तूने परका क्या किया है? मात्र जो होता है उसे जाना ही तो है। कलमका लिखने का स्वभाव है, उसे जाना, और फिर जब उसकी क्रिया होने लगे तब भी जानता है कि इसका यह स्वभाव है, उसीप्रकार क्रिया हो रही है। बढ़ई जानता है कि कील लकड़ीमें ठुक सकती है, पत्थरमें नहीं, जो इसप्रकार वह जानता है, उसीप्रकार क्रिया होती है, सो वह लकड़ीके स्वभावानुसार क्रिया हुई, उसमें बढ़ई ने क्या किया? आठ वर्षकी बालिका भी जानती है कि आटे से रोटी बनती है, इसप्रकार पहलेसे जाना है, और फिर जब वह रोटी बनी तब भी जाना कि इस आटेमें रोटी बननेका स्वभाव था इसलिये उसमेंसे रोटी बनी है। इसप्रकार जो पहले जाना था वही क्रिया होनेके बाद भी जाना, तो उसमें उसने क्या किया? यहाँ विचार यह करना है कि जो पहले जाना था उसीप्रकार क्रिया होती है, इसप्रकार जाननेवाले के ज्ञानमें जाननेकी क्रिया होती है। किन्तु संयोगी वस्तुसे मैं अलग हूँ। मेरी क्रिया मुझमें और परकी परमें होती रहती है। जिसे इसका भान नहीं होता वह यह मानता है कि जो परके कार्य होते हैं उन्हें मैं करता हूँ अथवा वे मेरे द्वारा होते हैं। इस-प्रकार वह अभिमानी होकर फिरता रहता है। किन्तु हे भाई! इस यथार्थ

बातको भी समझ, अनन्तकालकी भूखको मिटानेवाली यह बात है। तूने अभी तक इस बातको नहीं समझा इसलिये पराधीनताके ऐसे दुःख सहन करना पड़े हैं कि जिन्हें देखकर देखनेवालों को भी रोना आगया। इसलिये अब भी समझ ले ? समझनेका यह उत्तम सुयोग प्राप्त हुआ है।

अव्यक्तकी छह बातें कहनेके बाद अब, यह कहते हैं कि आत्मा को पहिचानने का कोई बाह्य चिह्न नहीं है।

इसप्रकार रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होने पर भी स्वसंवेदनके बलसे स्वयं सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमान गोचर मात्रताके अभावके कारण जीवको अलिंगग्रहण कहा जाता है।

आत्मा रूप, रस, गन्ध, और शब्द इत्यादिसे ज्ञात नहीं होता, क्योंकि आत्मामें वे भाव नहीं हैं। आत्मामें रूप, रस, गन्ध,स्पर्श, वाणी और किसी प्रकारके जड़का आकार भी नहीं है।

प्रश्न —जब कि आप आत्मामें इन सबका अभाव बतलाते हैं, तब फिर आत्मामें है क्या ? और आत्मा किससे पकड़ा जाता है ?

उत्तर —आत्मा स्वसंवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष है, इसलिये वह स्वसंवेदनके बलसे जाना जा सकता है, और उसीसे पकड़ा जा सकता है। आत्मा ज्ञानादि अनन्तगुणोंसे भरा हुआ है। वह अलिंगग्रहण है, अर्थात् किसी बाह्य चिह्नसे नहीं पकड़ा जा सकता।

धुएँसे अग्निका अनुमान किया जाता है, परन्तु आत्मा मात्र अनुमानसे नहीं पकड़ा जा सकता। आत्मा स्वयं स्वतः अपने द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। आत्मा यथार्थनया अनुमानसे अर्थात् सम्यक्ज्ञानसे पकड़ा जा सकता है, किन्तु वह विकल्प है, इसलिये परोक्ष है।

आत्मामें संस्थान नहीं है, अर्थात् आत्मामें जड़का कोई आकार नहीं है, किन्तु अपना ही अरूपी आकार है। शरीरादि जड़के आकारसे आत्माकी पहिचान नहीं कराई जा सकती, और वह मन वाणी या विकल्पसे पकड़ा या पहिचाना नहीं जा सकता।

मति-श्रुतज्ञानके भेद आत्माको जाननेके लिये होते हैं, परन्तु ऐसे

भेद ज्ञानके मात्र सामान्य स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये ऐसे पर्यायके भेदों पर लक्ष देनेसे भी आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता। यहाँ तो मात्र सामान्य स्वभावकी बात कही है, अन्तरगमें आत्माके अकेले स्वानुभवकी बात कही है।

मति–श्रुत ज्ञानके द्वारा आत्मा यथार्थ निःशंकतया जाना जा सकता है, किन्तु वह विकल्प सहित है सो परोक्ष है, और स्वानुभव है, सो प्रत्यक्ष है। स्वानुभवके समय मति श्रुत ज्ञानके पर्याय भेद विकल्प सहित नहीं होते। मात्र सामान्य ज्ञानमें ऐसे भेद लागू नहीं पड़ते। जो स्वानुभव है सो एकदेश प्रत्यक्ष है, परतु केवलज्ञानीके ज्ञानमें तो सब सपूर्णतया प्रत्यक्ष है।

आत्मा अपने अनुभवके निज रसके बलसे त्रिकाल प्रत्यक्ष है। वह स्वय अपने स्वसवेदनके बलसे ज्ञात होता है। वह शब्द इत्यादि किसी बाह्य चिन्हसे नहीं पकड़ा जा सकता, परन्तु अपने अनुभवके वेदनके बलसे पकड़ा जाता है।

आत्माको जाननेके लिये मति–श्रुत ज्ञानके द्वारा अनुमान हो सकता है, किन्तु वह अनुमान परोक्ष है, अपूर्ण है, अधूरा है। सम्यग्ज्ञानके द्वारा किया गया अनुमान अटकल नहीं किन्तु यथातथ्य है, परतु वह परोक्ष है, और स्वानुभव प्रत्यक्ष है। चैतन्य भगवानकी अद्भुत निधि स्वय स्वत अपनेमें पहिचानकर स्थिर होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञान होती है। यदि हर्ष–शोकके विकारी वेदनको दूर कर दिया जाये तो आत्मा अपने वेदनसे प्रत्यक्ष है। अखण्डानन्द प्रभु स्वय अपनेसे जाना जा सकता है, पकड़ा जा सकता है, और अनुभवमें आ सकता है। अन्य किसीसे आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता इसलिये वह अलिंगग्रहण है।

जो जीव अपनेको हर्ष शोकमें सुखी–दुखी मानते हैं, और उसमें अपनेपनकी कल्पना करते हैं वे अपनेको निर्माल्य वस्तु मानते हैं। जिसे परवस्तुको देखकर हर्ष होता है उसने यह मान रखा है, कि मेरे आत्मामें कोई शक्ति नहीं है, शाति नहीं है, इसलिये मुझे परके आधारसे सुख प्राप्त करनेकी आवश्यकता होती है। कुछ यह भी तो विचार करना चाहिये कि पराश्रय विकार है या अविकार? सुख है या दुःख? वास्तवमें पराश्रयता दुःख

है, विकार है। पराश्रयभाव तीनकाल तीनलोकमें भी सुख नहीं हो सकता।

जो परवशता सो दुख लक्षण,
निज वश सो सुख लहिये,
यातें ही आतम गुण प्रगटे,
वह सुख क्योंकर कहिये?
भविजन वीर वचन अवलोको।

वीर भगवान सर्वज्ञ प्रभु देवाधिदेव त्रिकालका ज्ञान करके अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा कहते हैं कि—जो सब परवश है, सो दु खका लक्षण है, पराधीनतासे सुख प्राप्त करनेकी बात सब दु ख है, पराधीनता दु खका त्रिकाल अबाधित लक्षण है। जो आत्माकी शांतिको भूलकर यह मानता है, कि मैं सुखका वेदन करता हूँ वह सब वास्तवमें दु ख ही है।

स्वय अपनेको भूलकर बाहरी सोने चाँदी, रुपया पैसा, स्त्री पुत्र, इत्यादिमें सुख मान रहा है, और उसमें संतोषकी साँस लेकर आनंदानुभव कर रहा है, किन्तु वास्तवमें यह सब दु ख है, उसमें किंचित मात्र भी सुख नहीं है। जो पराधीनता है सो दु ख है, दुःखका लक्षण है, और जो निजवश है सो सुख है। आत्माको परसे निराला जानकर मनका अवलम्बन छोड़कर स्वाधीनता से आत्माका जो आंशिक वेदन होता है, सो स्वसंवेदन है, वही आत्माका सुख है, निजवशतामें ही सुख है। शरीर, मन, वाणी, और शुभाशुभ परिणाम इत्यादि किसी भी प्रकारके परावलम्बनसे सुख नहीं होता किन्तु वह पराधीनता है। ऐसी दृष्टिसे स्वरूपमें स्थिर होनेसे स्वभाव सुख प्रगट होता है। जो कि वचनातीत है, ऐसा श्री वीर भगवानने कहा है।

विकारमें सुख नहीं है, वह तो पराधीनता है। ससारका शोक और हर्ष दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों चंडालिनीके पुत्र हैं। विभावरूप विकार रूप चंडालिनीके पुण्य, पाप दो पुत्र हैं। शुभभावमें कषाय मन्द होती है और अशुभभावमें तीव्र। जैसे चंडालिनीके दो पुत्रोंमेंसे एकको जन्मसे ही ब्राह्मणके घर रख दिया जाये और एक अपने ही घर रहे, तो उन दोनोंमें अन्तर मालुम होने लगता है, यद्यपि वे दोनों चंडालिनीके ही पुत्र हैं। इसीप्रकार शुभभावमें

कषाय मन्द, और अशुभभावमें तीव्र होती है, किन्तु वे दोनों विकार हैं, चण्डा लिनीके ही पुत्र हैं। उनमेंसे शुभ सुखरूप और अशुभ दुःखरूप कैसे हो सकता है? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि दोनोंमें विकारका ही वेदन है। पुण्य और पाप दोनोंका वेदन पराश्रय वेदन है, वह वेदन भगवान आत्माके घरका नहीं है, इसलिये वे चण्डालिनीके पुत्र हैं।

ऐसे पुण्य पापरहित आत्माका स्वसंवेदन अनुभव हो सकता है। ऐसा आत्मानुभव चतुर्थ पंचम गुणस्थानमें-गृहस्थाश्रममें भी हो सकता है। अकेले आत्मा का स्वानुभवके द्वारा चौथे पाँचवें गुणस्थानमें अनुभव किया जा सकता है, अनुभवके द्वारा जाना जा सकता है। जिसके छह खण्डका राज्य हो, छियानवे हजार स्त्रियाँ हों, ९६ करोड़ सेना हो, बत्तीसहजार मुकुटबद्ध राजा जिस पर चमर ढोलते हों, और सोलह हजार देव जिसकी सेवामें रहते हों ऐसे ऋद्धिवान चक्रवर्ति राजाको भी आत्मानुभव हो सकता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मन, वाणी, देह और पुण्य पापके छिलकों से भी भिन्न आत्मा स्वयं अपने बलसे जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, किन्तु वह क्षण क्षणमें मलीन होनेवाले पुण्य पापके विकल्पोंसे नहीं जाना जा सकता। जैसे सौ टंची सोनेकी आभा देखना हो तो उसमेंसे ताँबेका भाग निकाल देना चाहिये, इसीप्रकार आत्माके शुद्ध स्वभावका अनुभव करना हो तो उसमेंसे पुण्य पापके विकल्पोंको दूर कर देना चाहिये, उसके बाद अनुभव करे तो हो सकता है।

जिन जीवोंकी परपदार्थ पर दृष्टि है, वे आत्म स्वभावको भला नहीं मानते और परमें भले-बुरेकी कल्पना किया करते हैं कि काली चमड़ी अच्छी नहीं है, और गोरी चमड़ी अच्छी लगती है, किन्तु शरीरकी चमड़ीको जरा उतारकर देख तो पता लगेगा कि भीतर क्या भरा हुआ है? तू ऐसी चमड़ी से अपनेको शोभायमान मान रहा है, सो यह तेरी बहुत बड़ी मूर्खता है। तुझे जब रुपया पैसा मिलता है तो तू उसमें भला मानकर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जो अभी रुपया, पैसा मिला है सो वह तो तेरे पूर्वकृत पुण्यका नोट भँज चुका है, उससे बाह्यमें रुपया पैसा दिखाई दे रहा है। अज्ञानी मानता है

कि मुझे रुपया मिला और ज्ञानी समझता है कि यह मेरा पूर्वकृत पुण्य भँज गया है। एक तो कहता है कि मिला और दूसरा कहता है कि समाप्त हो गया। यदि वर्तमान सम्पत्तिसे तृष्णा कम करे तो पुण्य हो, और रुपये पैसेके खर्च करनेमें शुभभाव हों तो पुण्य बन्ध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि बारबार पुण्य करते रहेंगे तो अच्छा भव मिलता रहेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। एकके बाददूसरा पुण्य लगातार नहीं होता। जैसे चक्कीका पाट घूमता रहता है, उसी प्रकार पुण्यका चक्र घूमकर पाप चक्र हो जाता है। भगवान आत्मा पुण्यसे शोभित नहीं होता, किन्तु स्वयं अपने स्वभावसे शोभित होता है। पुण्यसे आत्मा नहीं जाना जा सकता, किन्तु यदि अपने निराले स्वभावकी श्रद्धा करे तो जाना जा सकता है।

भगवान आत्मा स्वयं अपनेसे शोभित हो रहा है। अपनी शोभाके लिये पर वस्तुकी किंचित्मात्र आवश्यकता नहीं होती। व्यवहारी जन वस्त्राभूषण पहिनकर अपनी शोभा मानते हैं किन्तु इससे चैतन्य आत्माकी शोभा नहीं होती। प्रभो! तेरा ऐसा परावलम्बी स्वभाव नहीं है, तू अपनेको पहिचान। स्वसंवेदनके बलसे तेरा स्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। वह किसी बाह्य चिन्हसे ज्ञात नहीं होता, इसलिये आत्मा अलिंग ग्रहण है। वह मनसे या रागसे ज्ञात नहीं हो सकता किन्तु अपने स्वसंवेदनके बलसे ज्ञात होता है।

अपने अनुभवमें आने पर चैतन्य गुणके द्वारा सदा अन्तरंगमें प्रकाशमान है इसलिये जीव चेतनागुण वाला है। स्वसंवेदनमें जो मैं–मैं प्रतीत हो रहा है वह अन्तरंगमें प्रकाशमान निराली, चैतन्य जागृतज्योति है, वह स्वयं अनादि अनन्त स्वतः सिद्ध वस्तु है, वह स्वयं ही है, इसलिये अपनी ध्वनि आती है, परन्तु अज्ञानीकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिये वह रागमें मैं–मैं का अनुभव करता है। हे प्रभु! तू स्वयं ही त्रिलोकीनाथ है। ऐसे स्वभावको भूलकर जहाँ तहाँ दृष्टि डालकर भीख माँगता फिरे सो यह तो ऐसा है कि कोई चक्रवर्ती महाराजा भिखारीके घर भीख माँगने जाये।

चैतन्य भगवान आत्मा स्वयं अंतरंग सदा प्रकाशमान है, उसका भरोसा छोड़कर यत्रतत्र सुखकी याचना करना भिखारीके यहाँ जाकर रोटी

माँगनेके समान है। दूसरे को अपना न मानकर जो चैतन्य जागृत ज्योति है, वही मैं हूँ, ऐसे स्वतन्त्र स्वभावका परिचय करके उसमें स्थिर होना ही मुक्तिका उपाय है।

यह चेतनागुण कैसा है? समस्त विप्रतिपत्तियोंका (जीवको अन्य प्रकार से माननेरूप झगड़ोंका) नाश करनेवाला है। पहले सदा प्रकाशमान कहकर अस्तिकी दृष्टिसे बताया और अब नाश करनेवाला कहकर नास्तिकी दृष्टिसे बात कही है।

आत्माका चेतनागुण सभी झगड़ोंका नाश करनेवाला है, सब विभावोंका नाश करनेवाला है। कुछ लोग कहते हैं कि मोक्षमार्गमें रागकी सहायता है या नहीं? पुण्यकी सहायता है या नहीं, देहकी सहायता है या नहीं, और कषायकी मन्दतासे धर्म होता है या नहीं? ऐसे मोक्षमार्ग को अन्य प्रकारसे माननेके सभी झगड़ोंका चेतनागुण नाश करनेवाला है। जानने देखनेके अतिरिक्त जो भाव दिखाई देते हैं, उनका चैतन्यस्वभाव नाश करनेवाला है। चेतनागुण परका अवलम्बन करनेवाला नहीं है, किन्तु अपना अवलम्बन करने वाला है। यह धर्मकी जीत औरपद्धति है। यह मोक्ष मार्गकी पद्धति है।

चेतनागुण सब विकारोंका नाशक है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, अर्थात् धर्मी जीवको ऐसी प्रतीति है कि जो यह ज्ञायक है सो वही मैं हूँ, अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ, इसप्रकार अपने भेदविज्ञानको अपना सर्वस्व सौंप दिया है। आनन्दकन्द चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि जाने पर मैं उस स्वरूप हूँ, और अन्यभाव मुझमें नहीं हैं, इसप्रकार भेदज्ञानके द्वारा अपना सर्वस्व अपने को सौंप दिया है। अन्तरंग भेदज्ञानके विवेकके अतिरिक्त दूसरे को यह खबर नहीं हो सकती। इसप्रकार भेदज्ञानीको अपना सर्वस्व सौंप दिया है। चेतनागुण कैसा है यह भेदविज्ञानीके अतिरिक्त अन्य किसीको मालूम नहीं हो सकता। चैतन्यका निज स्वभाव अनादि अनन्त है। चैतन्य प्रकाश अनादि अनन्त ध्रुव स्वरूप है, उस स्वरूपका निर्णय करे कि जो यह स्वरूप है सो मैं हूँ, और राग-द्वेष हर्ष शोक इत्यादि जो आकुलितभाव हैं सो मैं नहीं हूँ। इसप्रकार स्वयं स्व परका विवेक करके अपना स्वयं सर्वस्व

कि मुझे रुपया मिला और ज्ञानी समझता है कि यह मेरा पूर्वकृत पुण्य भँज गया है । एक तो कहता है कि मिला और दूसरा कहता है कि समाप्त हो गया । यदि वर्तमान सम्पत्तिसे तृष्णा कम करे तो पुण्य हो, और रुपये पैसेके खर्च करनेमें शुभभाव हों तो पुण्य बध होता है । कुछ लोग कहते हैं कि बारबार पुण्य करते रहेंगे तो अच्छा भव मिलता रहेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता । एकके बाददूसरा पुण्य लगातार नहीं होता । जैसे चक्कीका पाट घूमता रहता है, उसी प्रकार पुण्यका चक्र घूमकर पाप चक्र हो जाता है । भगवान आत्मा पुण्यसे शोभित नहीं होता, किन्तु स्वय अपने स्वभावसे शोभित होता है । पुण्यसे आत्मा नहीं जाना जा सकता, किन्तु यदि अपने निराले स्वभावकी श्रद्धा करे तो जाना जा सकता है ।

भगवान आत्मा स्वय अपनेसे शोभित हो रहा है । अपनी शोभाके लिये पर वस्तुकी किंचित्‌मात्र आवश्यकता नहीं होती । व्यवहारी जन वस्त्रा भूषण पहिनकर अपनी शोभा मानते हैं किन्तु इससे चैतन्य आत्माकी शोभा नहीं होती । प्रभो ! तेरा ऐसा परावलम्बी स्वभाव नहीं है, तू अपनेको पहिचान ! स्वसवेदनके बलसे तेरा स्वरूप सदा प्रत्यक्ष है । वह किसी बाह्य चिन्हसे ज्ञात नहीं होता, इसलिये आत्मा अलिंग ग्रहण है । वह मनसे या रागसे ज्ञात नहीं हो सकता किन्तु अपने स्वसवेदनके बलसे ज्ञात होता है ।

अपने अनुभवमें आने पर चैतन्य गुणके द्वारा सदा अतरगमें प्रकाश मान है इसलिये जीव चेतनागुण वाला है । स्वसवेदनमें जो मैं-मैं प्रतीत हो रहा है वह अतरगमें प्रकाशमान निराली, चैतन्य जागृतज्योति है, वह स्वय अनादि अनन्त स्वत सिद्ध वस्तु है, वह स्वय ही है, इसलिये अपनी ध्वनि आती है, परन्तु अज्ञानीकी दृष्टि पर पदार्थ पर है, इसलिये वह रागमें मैं-मैं का अनुभव करता है । हे प्रभु ! तू स्वय ही त्रिलोकीनाथ है । ऐसे स्वभावको भूलकर जहाँ तहाँ दृष्टि डालकर भीख माँगता फिरे सो यह तो एसा है कि कोई चक्रवर्ती महाराजा भिखारीके घर भीख माँगने जाये ।

चैतन्य भगवान आत्मा स्वय अतरग सदा प्रकाशमान है, उसका भरोसा छोड़कर यत्रतत्र सुखकी याचना करना भिखारीके यहाँ जाकर रोटी

माँगनेके समान है। दूसरे को अपना न मानकर जो चैतन्य जागृत ज्योति है, वही मैं हूँ, ऐसे स्वतन्त्र स्वभावका परिचय करके उसमें स्थिर होना ही मुक्तिका उपाय है।

यह चेतनागुण कैसा है? समस्त विप्रतिपत्तियोंका (जीवको अन्य प्रकार से माननेरूप झगड़ोंका) नाश करनेवाला है। पहले सदा प्रकाशमान कहकर अस्तिकी दृष्टिसे बताया और अब नाश करनेवाला कहकर नास्तिकी दृष्टिसे बात कही है।

आत्माका चेतनागुण सभी झगड़ोंका नाश करनेवाला है, मत विमार्गोंका नाश करनेवाला है। कुछ लोग कहते हैं कि मोक्षमार्गमें रागकी सहायता है या नहीं? पुण्यकी सहायता है या नहीं, देहकी सहायता है या नहीं, और कषायकी मन्दतामें धर्म होता है या नहीं? ऐसे मोक्षमार्ग को अन्य प्रकारसे माननेके सभी झगड़ोंका चेतनागुण नाश करनेवाला है। जानने देखनेके अतिरिक्त जो भाव दिखाई देते हैं, उनका चैतन्यस्वभाव नाश करनेवाला है। चेतनागुण परका अवलंबन करनेवाला नहीं है, किन्तु अपना अवलंबन करने वाला है। यह धर्मकी जीन औरपद्धति है। यह मोक्ष मार्गकी पद्धति है।

चेतनागुण सब विकारोंका नाशक है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, अर्थात् धर्मी जीवको एसी प्रतीति है कि जो यह ज्ञायक है सो वही मैं हूँ, अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ, इसप्रकार अपने भेदविज्ञानको अपना सर्वस्व सौंप दिया है। आनन्दकन्द चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि जाने पर मैं उस स्वरूप हूँ, और अन्यभाव मुझमें नहीं हैं, इसप्रकार भेदज्ञानके द्वारा अपना सर्वस्व अपने को सौंप दिया है। अन्तरंग भेदज्ञानके विवेकके अतिरिक्त दूसरे को यह खबर नहीं हो सकती। इसप्रकार भेदज्ञानीको अपना सर्वस्व सौंप दिया है। चेतनागुण कैसा है यह भेदविज्ञानीके अतिरिक्त अन्य किसीको मालूम नहीं हो सकता। चैतन्यका निज स्वभाव अनादि अनन्त है। चैतन्य प्रकाश अनादि अनन्त ध्रुव स्वरूप है, उस स्वरूपका निर्णय करे कि जो यह स्वरूप है सो मैं हूँ, और राग द्वेष हर्ष शोक इत्यादि जो आकुलितभाव हैं सो मैं नहीं हूँ। इसप्रकार स्वयं स्व परका विवेक करके अपना स्वयं सर्वस्व

अपने सम्यग्ज्ञानको सौंप दिया है। इस गाथाका भाव अपूर्व है। भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देवकी निकली हुई दिव्यध्वनि है, अर्थात् परम्परासे समागत आगममें भगवानकी दिव्यध्वनि है। कुन्दकुन्दाचार्य देवने बड़ी अद्भुत रचना की है, और उस पर अमृतचन्द्राचार्य देवने अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है।

और वह चेतनागुण समस्त लोकालोकको ग्रासीभूत करके मानों अत्यंत तृप्त (सुखी) हो इसप्रकार कभी भी किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता, और इसप्रकार कभी भी न चलने तथा अन्य द्रव्यसे असाधारणता होनेसे वह (असाधारण) स्वभावभूत है।

समस्त लोकालोक आत्माके स्वभावमें ज्ञात हों ऐसा आत्मस्वभाव है। आत्माके ज्ञानमें समस्त लोकालोक समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् ज्ञात हो जाता है। यहाँ ग्रासीभूतका अर्थ यह है कि ज्ञानमें वह लोकालोक ग्रास (कौर) हो जाता है। जीव अनन्त भवसे अनंत भवके भावोंको जानता आ रहा है, इसलिये उसका ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त भवोंमें आत्मा जिसरूप से जहाँ जहाँ गया, वहाँ वहाँ अनंत द्रव्य, क्षेत्र, भव, भावको जाना, तथापि ज्ञानका अभाव नहीं हुआ जैसे—इस भवके छुटपनसे अभी तकके समस्त भावों को जानता आरहा है, तथापि कोई भार नहीं हुआ, इसीप्रकार अनंत भवके भावोंको जानता आरहा है, तो भी कोई भार नहीं हुआ, और ज्ञानका अभाव नहीं हुआ, इसीप्रकार ज्ञानके बिल्कुल निर्मल होने पर समस्त लोकालोकको एक ही समयमें जान लेनेका उसका स्वभाव है, समस्त लोकालोक ज्ञानमें ग्रासीभूत हो जाता है। अनंतको जानता हुआ भी ज्ञानका अभाव नहीं होता।

मेरा ज्ञान स्वभाव है, ऐसी प्रतीति करे तो पूर्ण अवस्था प्रगट हो, राग द्वेषमें न अटके तो पूर्ण अवस्था प्रगट हो, और यदि यह अच्छा है यह बुरा है—ऐसा मानकर परमें अटक जाये तो समस्त पदार्थों को नहीं जान सकेगा। किन्तु मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ, जानना ही मेरा स्वभाव है। मैं त्रिकाल का ज्ञाता राग द्वेष रहित हूँ, वर्तमानमें भी मैं ऐसा ही हूँ ऐसी दृष्टि करके स्वभावमें स्थिर हुआ कि वहाँ स्वभावमें अत्यंत तृप्तरूपसे सुखका रंग चढ़ गया।

जहाँ पराश्रयीभाव छूटकर स्वाश्रयीभाव प्रगट हुआ कि वहाँ अत्यंत तृप्त हो गया।

हे भाई! तेरे आत्माका यह काल अच्छा और यह काल बुरा है, ऐसा स्वभाव नहीं है, किन्तु तू मात्र ज्ञाता ही है। तीनकाल और तीनलोकको जाननेका तेरा स्वभाव शक्तिवान है। जानने-देखनेमें तृप्त होने पर कभी भी अंशमात्र भी चलायमान नहीं होता, ऐसा तेरा स्वभाव है, त्रिकालको जाननेवाला ज्ञान अपने तृप्त है, वह अपने स्वभावसे कभी भी चलायमान नहीं होता।

जहाँ मनुष्य खा पीकर तृप्त होकर बैठे हों उन्हें जगतके जीव तृप्त मानते हैं। चारों ओरकी अनुकूलताओंको देखकर लोग तृप्तिका अनुभव करते हैं, और पत्र पावन पर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर तथा विविध प्रकारके व्यंजन उड़ाकर सुख और तृप्ति मानते हैं, परन्तु वह सच्ची तृप्ति नहीं है।

आत्माका जानने-देखनेका स्वभाव है, यदि उसमें स्थिर हो जाये तो ऐसी तृप्ति हो कि फिर कभी चलायमान न हो, और सुखका ऐसा रंग चढ़े कि फिर कभी न उतरे। मोहका रंग तो आकुलतामय है, और यह स्वभावका रंग परम सुखमय है। मोहका रंग नाशवान है और चैतन्य स्वभावका रंग अविनाशी है। ज्ञाता-दृष्टामें ऐसा तृप्त हो जाता है, कि फिर कदापि चलायमान नहीं होता। इसप्रकार चलायमान न होनेसे अन्य पदार्थोंके साथ साधारणतया विभक्त नहीं है, परन्तु अन्य पदार्थोंमे असाधारण अर्थात् विशेष है। अन्य पदार्थसे चलायमान नहीं होता, अन्य पदार्थसे साधारण नहीं है, अन्य पदार्थमें विभक्त नहीं है, इसलिये असाधारण है, और इसलिये स्वभावभूत है। जबतक ऐसे आत्माके स्वभावकी श्रद्धा न हो तब तक सत्समागम करके समझनेका प्रयास करना चाहिये। वस्तु स्वभाव अचलायमान है, ऐसे वस्तु स्वभावकी श्रद्धा हो तो फिर स्थिरताका प्रयत्न अवश्य हो, और पूर्ण स्थिरता होने पर अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त हो जाये।

जीव ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप है, जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान आत्मा इस लोकमें एक टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

इस लोकमें आत्मा शक्तिसे भगवान है। सम्यग्दर्शन होनेपर अमुक

अशमें भगवान होता है, और केवलज्ञान होने पर सम्पूर्ण भगवान हो जाता है। शुद्ध द्रव्यदृष्टिमें शक्ति, व्यक्तिका भेद नहीं है, स्वय प्रगटरूपसे भगवान ही है, जिसका प्रकाश, तेज और ज्योति सदा निर्मल है, एसा भगवान आत्मा इस लोकमें जगतके समस्त जड़ द्रव्योंसे, अन्य समस्त जीवोंसे, और अपनी अवस्था में होनेवाले राग द्वेषके विभावोंसे भिन्न स्वय एक है। वह ऐसा टकोत्कीर्ण है कि–जो पर द्रव्योंसे नहीं मिटाया जा सकता। सबसे भिन्न स्वय अपने स्वभावमें विराजमान है, और वह अपने स्वभावमें शोभित हो रहा है। एसे स्वभावको जानना, उसकी रुचि करना और उसमें स्थिर होना चाहिये, एसा होनेसे दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर अपनेमें एक प्रकारसे विराजमान हो जाते हैं, ऐसा कहा है।

अब इसी अर्थका द्योतक कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मानुभव की प्रेरणा करते हैं —

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं।
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ॥
इममुपरि चरतं चारु विश्वस्य साक्षात्।
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥ ३५ ॥

अर्थ —चित्‌शक्तिसे रहित अन्य सकल भावोंको मूलसे छोड़कर और प्रगटतया अपने चित्‌शक्तिमात्र भावका अवगाहन करके समस्त पदार्थ समूह रूप लोकके ऊपर प्रवर्तमान एक केवल अविनाशी आत्माका आत्मामें ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो।

भगवान कुदकुदाचार्यदेवने अद्भुत रचना की है, उसमें श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवने अलौकिक घाट घड़े हैं टीका द्वारा अलौकिक भाव प्रगट किए हैं।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपसे स्वरसयुक्त अनतवीर्यसे परिपूर्ण भीतर विराजमान है। पुण्य–पापके विकल्प छोड़कर अतरग स्वभावमें डुबकी लगाकर ऐसे आत्माको एक बार तो देख! अपने चैतन्य स्वभावमें एक

बार तो प्रवेश कर। बाहरके छोटे बड़े होनेके भावोंको छोड़कर, राग-द्वेषको मूलसे नष्ट कर भगवान आत्मामें एक बार तो प्रवेश कर। अभी तक परमें लगा हुआ था, और परमें अवगाहन कर रहा था सो उसे छोड़कर ज्ञानमात्र आत्मामें अवगाहन कर। जगतके ऊपर प्रवर्तमान अर्थात् तीनलोकके समस्त पदार्थोंके समूहसे भिन्न तरता हुआ ज्ञान करनेवाला, अविनाशी भगवान आत्मा है, उसका अभ्यास करो! जैसे पानीमें डाला हुआ तेल उसके ऊपर ही ऊपर तैरता है, इसीप्रकार मेरा आत्म स्वभाव राग द्वेष, और जगतके समस्त पदार्थोंके ऊपर तैर रहा है। वह सबका ज्ञान करनेवाला (ज्ञाता) है, किंतु किसीमें मिल जानेवाला नहीं है। ऐसे एक अविनाशी चैतन्यका चैतन्यमें ही अभ्यास करो, अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव करो। यही सुखका उपाय है। सभी भव्यात्मा इस सुख स्वभाव और परसे भिन्न भगवान आत्माका ही अनुभव करो! इस अनुभव अभ्यास करनेका ही उपदेश है।

चितशक्तिसे अन्य जो भाव हैं वे अपने नहीं, किंतु पुद्गल द्रव्य संबंधी हैं। संसारी जीवोंने पद्द्रव्यको अपना मानकर व्यर्थ ही घूरोंको उखेड़ा है। जैसे कोई साँड घूरे पर जाकर उसे अपने मस्तकसे छिन्नभिन्न करता है, यदि वह दीवारमें अपना मस्तक मारे तो दीवार नहीं टूट सकती इसलिये घूरेमें मस्तक मारता है, और मानता है कि मैं जीत गया, इसीप्रकार जगतके प्राणी अपने अंतरंगमें विद्यमान अनंत वीर्यको न पहिचान कर जगतके नाशवान पदार्थोंमें ममत्व करके हप मानते हैं कि मैं जीत गया। किंतु हे भाई! तू उसमें क्या जीता? तूने तो मात्र घूरेको ही उखेड़ा है, सांसारिक वैभव सब पुण्य-पापके घूरे हैं, उनमें व्यर्थ ही मस्तक मारकर बड़प्पन मान रहा है। किंतु वह तेरा स्वरूप नहीं है किंतु वह पुद्गल द्रव्यका स्वरूप है।

अब आगे छह गाथाओंमें २९ बातें कही गई हैं। आत्मा उन सबसे अलग बताया गया है। उन २९ बातोंका जो पूरा है, वह आत्मामें नहीं हैं, यह आगे कहा जायेगा। उन गाथाओंके सूचनारूपमें यह कलशरूप श्लोक कहते हैं —

(अनुष्टुप)

चिच्छक्तिव्याप्त सर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।

अतोऽतिरिक्ता सर्वेपि भावा पौद्गलिका अमी ॥३६॥

अर्थ —चैतन्यशक्तिसे व्याप्त जिसका सर्वस्व सार है, ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है, इस चिद्शक्तिसे शून्य जो यह भाव हैं सो सब पुद्गल जन्य हैं—पुद्गलके ही हैं।

भीतर एक चैतन्यशक्ति त्रिकाल ध्रुव है, उस चैतन्य शक्तिसे व्याप्त अर्थात् प्रसरित जिसका सर्वस्वसार है, उसमें होने वाले पुण्य-पाप और अच्छे बुरे इत्यादिके भाव विकारके घूरे हैं, वह आत्म स्वभाव नहीं हैं, आत्मा चैतन्य बिंब ज्ञानानन्दकी मूर्ति है। उस चैतन्यमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि अनन्तगुण हैं, वे अनन्तगुण आत्मामें व्याप्त हैं, और उतना ही आत्मा है, यही आत्माका सर्वस्व सार है। चैतन्यशक्तिसे शून्य जितने भाव हैं वे चैतन्यके नहीं हैं। मात्र आत्माके स्वभावके अतिरिक्त जितने परभाव दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गलके भाव हैं। यह सब आगामी छह गाथाओंमें कहा जायगा। इनमें मात्र परम पारिणामिक भावका कथन है, भगवान आत्मा कैसा है यह बतानेके लिये २९ बातें कही जायेंगी, जिनमें अन्य सैंकड़ों बातोंका समावेश किया गया है।

यहाँ आत्माका अधिकार चल रहा है। आत्माका चेतना स्वभाव है। चेतनाका अर्थ है। जानना और देखना, उसमें जितने संयोगी भाव होते हैं वे परापेक्षाके हैं। जब तक चैतन्यके शुद्ध स्वभावकी दृष्टि नहीं होती तब तक आतरिक विकास होकर स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती अर्थात् मोक्ष दशा प्रगट नहीं होती।

काँचके हजारों टुकड़ोंके बीच यदि एक हीरा पड़ा हो (जो कि संयोग में पड़ा हुआ है) जो उस हीरेके मूल्यको जानता है वह संयोगमें पड़े हुये हीरेकी परीक्षा करके उस काँचसे अलग करके ले लेता है, इसीप्रकार कर्म संयोगके बीच में अनादि कालीन चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योति निराला हीरा पड़ा हुआ है, ऐसे चैतन्य स्वरूप हीरेको जिसे प्राप्त करना है, वह सत्समागमका निमित्त प्राप्त करके

चैतन्यमूर्ति आत्माका यथावत् परिचय करके, श्रद्धा करके उस स्वरूपमें स्थिर होकर मोक्ष दशा प्रगट करता है। इसप्रकार वह चैतन्यमूर्ति हीरेको श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रके द्वारा अलग कर लेता है।

आज मांगलिक दिवस है*। महावीर भगवानके निर्वाण कल्याणक का दिन है। आजसे २४७० वर्ष पूर्व इस भरत क्षेत्रमें भगवान महावीर विराजमान थे उनका जन्म कल्याणक दिन चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको हुआ था। वे बहत्तर वर्षकी आयु पूर्ण करके निर्वाणको प्राप्त हुए थे। आज उनका वह निर्वाण कल्याणकका दिन है।

जैसे यह सब आत्मा हैं वैसा ही महावीर भगवानका आत्मा था। वे भी पहले चार गतियोंमें भ्रमण करते थे, उनमेंसे वे उन्नति क्रममें चढ़ते चढ़ते तीर्थंकर हो गये भगवानका आत्मा चार गतियोंमें था, वहाँसे सत्समागम प्राप्त करके क्रमशः आत्म प्रतीति हुई। जैसे चौसठ पुटी पीपलको पीसते पीसते वह अधिक चरपरी होती जाती है, वैसे ही आत्मामें परमानंद भरा हुआ है वह प्रयास द्वारा प्रगट होता है। भगवान महावीरके आत्मामें स्वाभाविक परमानंद तो भरा ही था, उसे क्रमशः प्रयास करके प्रगट कर लिया, और यह प्रतीति कर ली कि मैं मन, वाणी, देह इत्यादिसे पृथक् ज्ञानानंदमूर्ति हूँ।

भगवान महावीर इस भवसे पूर्व १० वें स्वर्गमें थे और उससे पूर्व नंद नामक राजाके भवमें आत्म प्रतीति पूर्वक चारित्रका पालन किया था। वे नग्न दिगम्बर मुनि होकर स्वरूपरमणतामें लीन थे वहाँ उस भवमें उन्होंने तीर्थंकर गोत्रका बन्ध किया था। वे उस समय ऐसी प्रतीति पूर्वक आत्म स्वरूपमें रमण कर रहे थे कि पुण्यका एक रजकण या शुभरागका एक अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है। इसी भूमिकामें शुभविकल्प उत्पन्न हुआ कि अरे! जीवोंको ऐसे स्वरूपका भान नहीं है। स्वरूपरमणता से बाहर आकर उनको विकल्प उठा कि—इस चैतन्य स्वभावको सभी जीव क्यों न प्राप्त करें "सर्व जीव करूँ शासन रसी, एसी भाव दया मन उलसी" और यह विकल्प उठा कि सभी जीव ऐसा

* भगवान महावीरके निर्वाण दिवसपर यह प्रासंगिक विवेचन (संवत् १९९९ की कार्तिक कृष्णा अमावस्याको) किया गया था।

स्वभाव प्राप्त कर लें। किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यह है कि अहा! ऐसा मेरा चैतन्यस्वभाव कब पूर्ण हो? मैं कब पूर्ण होऊँ? मेरी भावनाकी प्रबलता हुई और बाहरसे ऐसा विकल्प उठा कि सभी जीव ऐसा स्वभाव क्यों कर प्राप्त करें? बस, ऐसे उत्कृष्ट शुभभावसे तीर्थंकर नामक कर्मका बंध हो गया।

जिस भावसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ वह भाव भी आत्माको लाभ नहीं करता, उस शुभरागके टूटने पर ही भविष्यमें केवलज्ञान होता है। तीर्थंकरकी जो वाणी गिरती है, उस वाणीके रजकण स्वरूप प्रतीतिकी भूमिका में बँधते हैं। भगवानके आत्मामें यह भान था कि यह राग मेरा कर्तव्य नहीं है, और वे स्वरूपमें रमण कर रहे थे, ऐसी भूमिकामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ था। जहाँ रागको लाभरूप माना जाता है, उस भूमिकामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नहीं होता, परन्तु राग मुझे लाभरूप नहीं है, मैं रागका कर्ता नहीं हूँ— ऐसी प्रतीति की भूमिकामें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

महावीर भगवानने नंद राजाके भवमें ऐसी वाणीका बंध किया था कि भविष्यमें पात्र जीवोंको लाभ दे सके, और भवको पार करनेमें निमित्त हो, तथा अन्य जीवोंको पार होनेके लिये सर्वोत्कृष्ट निमित्त हो। उनने ऐसी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया, और तीर्थंकर पदसे उनकी जो दिव्यध्वनि खिरी वह अनेक जीवोंके उद्धारमें निमित्त हुई।

महावीर भगवानके जीवने नंद राजाके भवमें चारित्र पालन किया और फिर अनुक्रम पूर्वक आयु पूर्ण करके वहाँसे १० वें स्वर्गमें उत्पन्न हुए, वहाँ १० वें स्वर्गमें जब भगवानकी आयु छह माहकी और शेष रह गई तब छह मास पूर्वसे ही अन्य देवोंको यह ज्ञात होगया कि—इस भरतक्षेत्रमें छह मास बाद त्रिशला राणीकी कूखमें १० वें स्वर्गसे चौवीसवें तीर्थंकर आयेंगे। इस लिये वे देव छह मास पूर्वसे ही माताके पास आकर माताकी सेवा करने लगे। देवगण माताके पास आकर कहने लगे कि हे रत्नकूख धारिणी माता धन्य हो? तुम्हारी कूखमें छह मास बाद जगतके तारक, अनेक जीवोंके उद्धारक त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर आनेवाले हैं। देवगण छह मास पूर्वसे ही माता पिताके घर रत्नों की वर्षा करने लगे।

यहाँ इन रत्नोंका कोई मूल्य नहीं है, रत्न तो धूल समान हैं, जहाँ अन्न पकता है, वहाँ उसके साथ भूसी तो होती है। तीर्थंकर भगवानके साथ ही धान्य पकता साथ आता है, और पुण्य तो उसका भूसा है, जिसका कोई मूल्य नहीं है। किसान भूसेके लिये नहीं किन्तु अन्नके लिये खेती करता है। इसी प्रकार जहाँ मोक्ष मार्गरूपी धान्य उत्पन्न होता है, वहाँ उसके साथ ही शुभ परिणामसे तीर्थंकर और चक्रवर्ति इत्यादि पदरूपी भूसा तो सहज ही होता है।

जिसके पूर्ण परमानन्द दशा प्रगट हो गई है, ऐसे परमात्मा फिर अवतार नहीं लेते, किन्तु जगतके जीवोंमेंसे ही एक जीव उन्नति क्रमसे चढ़ते चढ़ते जगद्गुरु तीर्थंकर होता है। जगतके जीवोंकी जब ऐसी योग्यता तैयार होती है, तब ऐसा उत्कृष्ट निमित्त भी तैयार होता है।

महावीर भगवानके गर्भमें आनेके सवा नौ महीने पश्चात् उनका जन्म हुआ, तब सौधर्म इन्द्र और देवोंने आकर भगवानका जन्मकल्याणक महोत्सव किया। सौधर्मेन्द्रके साथ उनकी शची इन्द्राणी भी आती है, और वह माताके पास जाकर कहती है कि हे रत्न कूख धारिणी माता! हे जननी! तुम्हें धन्य है। और इसप्रकार स्तुति करके भगवानको उठाकर सौधर्म इन्द्रको देती है। सौधर्म इन्द्र भगवानको सहस्र नेत्रसे देखता है फिर भी तृप्त नहीं होता। फिर वह भगवानको मेरु पर्वत पर ले गया और वहाँ भगवानका जन्माभिषेक किया। इसप्रकार इन्द्रों और देवोंने भक्ति पूर्वक भगवानका जन्म कल्याणक महोत्सव किया।

भगवान महावीर तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रममें रहे और उसके बाद दीक्षा ग्रहण की। देवोंने आकर दीक्षा कल्याणक महोत्सव किया। भगवान दीक्षा ग्रहण करके बारह वर्ष तक स्वरूप रमणतामें लीन रहे। उनका यह काल इच्छा निरोध रूपसे स्वरूप रमणतामें व्यतीत हुआ, तत्पश्चात् वैसाख शुक्ला दशमीके दिन उन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ। केवलज्ञानमें तीनकाल, तीनलोक हस्तामलकवत् ज्ञात होते हैं, और सारपदार्थोंके अनन्त भाव ज्ञात होते हैं। तीर्थंकर देवको केवलज्ञान होने बाद तत्काल ही दिव्यध्वनि खिरती है। अन्य सामान्य केवलियोंके लिये ऐसा नियम नहीं है, किन्तु तीर्थंकर भगवानके तो नियमसे ही

दिव्य ध्वनि खिरती है, किन्तु महावीर भगवानको केवलज्ञान प्रगट हो गया, समवशरण रचा गया किन्तु दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। तब इन्द्रको विचार आया कि भगवानकी दिव्य ध्वनि क्यों नहीं खिरती ? और फिर उसने अपने अवधि ज्ञानसे ज्ञात किया कि सभामें उत्कृष्ट पात्र जीव नहीं हैं, तत्पश्चात् उसे यह ज्ञात हुआ कि उसके लिये एक मात्र गौतम ही पात्र हैं, इसलिये इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके गौतमके पास गया गौतम चारों वेदोंमें प्रवीण था, और उसे शास्त्रार्थकी बहुत रुचि थी, ब्राह्मणरूप धारी इन्द्रकी बात चीतसे उत्तेजित होकर गौतम भगवान महावीरके पास जानेको तैयार हो गया, और भगवानके समवशरणके निकट जब मानस्तम्भके पास पहुँचा तब उसका अभिमान गलित हो गया वह भगवान महावीरके दर्शन करके धर्मको प्राप्त हुआ और मुनि हो गया।

इसप्रकार भगवानकी वाणीको झेलनेके लिये सर्वोत्कृष्ट पात्र गौतम स्वामीके आनेसे भगवानकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। गौतम स्वामी चार ज्ञान धारी होगये और उन्हें गणधर पद प्राप्त हुआ। इसप्रकार भगवान महावीरके केवल ज्ञान होनेके बाद ६६ वें दिन दिव्य ध्वनि खिरी वह शुभ दिन श्रावण कृष्णा अमावस्या है, जो कि वीर शासन जयतीका दिन है, शास्त्रप्ररूपणाका दिन है। केवलज्ञानमें अनन्त भाव ज्ञात होते हैं, इसलिये उनकी दिव्यध्वनिमें भी अनन्त रहस्य प्रगट होते हैं। ज्ञानमें भाव पूरा होनेसे वाणीमें भी पूरा भाव आता है।

भगवान महावीरकी आयु ७२ वर्षकी थी। इस समय महा विदेह क्षेत्रमें श्री सीमंधर भगवान चैतन्यमूर्ति परमात्मा समवशरणमें इन्द्र और गण धरादिकी सभामें विराजमान हैं उनकी आयु ८४ लाख पूर्वकी है। जीवन्मुक्त रूपसे वे तेरहवीं भूमिकामें विराज रहे हैं उनकी आयु बड़ी है।

महावीर स्वामीको केवल ज्ञान प्रगट हुआ अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शना वरणीय, मोहनीय, और अतराय नामक चार घातिया कर्मोंका नाश हो गया। तत्पश्चात् वे केवली, जीवनमुक्तदशामें तेरहवें गुणस्थानमें रहकर तीस वर्ष तक विहार किया, और उसके बाद वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र इन चारो अघा तिय कर्मोंका नाश करके पावापुरीसे निर्वाण प्राप्त किया। चौदहवें गुणस्थानमें रहनेका इतना ही अल्प समय होता है जितने समयमें अ इ उ ऋ लृ,

शब्दोंका उच्चारण होता है। चौदहवें गुणस्थानमें प्रदेशोंका कम्पन मिटकर अकम्प हो जाता है, तत्पश्चात् शरीर छूटता है, और भगवानका आत्मा मुक्त होता है। पारिणामिक भाव सम्पूर्ण निर्मल रूपसे प्रगट हो जाता है। जैसे एरंडे का बीज फलमेंसे छूटकर ऊपरको जाता है, उसी प्रकार आत्मा अलग होकर ऊर्ध्वश्रेणीसे ऊपरको जाता है। ऊर्ध्वगमन चैतन्यका स्वभाव है, इसलिये ऊपर सिद्ध क्षेत्रको जाता है।

भगवान महावीरकी आनन्द दशा, पूर्णानन्द मुक्त दशा तो यहीं प्रगट हो गई थी परन्तु प्रदेशोंका कम्पन दूर हो जानेसे अकम्प होकर देहके छूट-जाने पर वे पूर्णानंद महावीर भगवान आजके दिन मुक्त हुये थे। पावापुरी नामक जो क्षेत्र है, वहाँसे समश्रेणीसे ठीक ऊपर सिद्ध क्षेत्रमें भगवान महावीर परमात्मा विराजमान हैं। आत्माका देहसे सर्वथा छूट जाना सो मुक्ति है। अपना ज्ञानानंद मूर्ति स्वभाव रह जाये, और दूसरा सब छूट जाये सो इसका नाम मुक्ति है। भगवान महावीरके विरहसे भव्य जीवोंके प्रशस्त रागके कारण आँखों से अश्रुधारा बह निकली थी, और वे कह रहे थे कि आज भारतवर्षका सूर्य अस्त हो गया। किन्तु भगवान महावीरका आत्मा मुक्त हुआ था इसलिये इन्द्रादिने उनका निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया था।

जब भगवान मोक्ष पधारे तब पावापुरीमें इन्द्रों और देवोंने आकर रत्न दीपकों इत्यादिसे महा मांगलिक महोत्सव किया था, इसलिये आजका दिन दीपावली या दीपोत्सवके नामसे पुकारा जाता है।

आजकल लोग बही खाते आदिकी पूजन इत्यादि करके सांसारिक हेतुओंसे दीपावली मनाते हैं, किन्तु वास्तवमें तो आजका दिन पूर्णानंद स्वभाव को प्रगट करनेकी भावनाका है। जैसा भगवानका आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है, ऐसा विचार कर स्वभावकी प्रतीति करके विभाव परिणामोंको स्वरूप स्थिरताके द्वारा तोड़ दूँ, इसप्रकार आत्म वीर्यको जागृत करनेका आजका दिन है।

जब जगतके जीव मरते हैं तब शोक मनाया जाता है, किन्तु भगवानकी मुक्तिका महोत्सव होता है, क्योंकि वह मरण नहीं किन्तु सहजानंद स्वरूपमें विराजमान रहनेका आत्माका जीवन है, इसलिये उनका महोत्सव होता

है। पूर्णानंद, सहजानंद स्वभावमें रहनेका नाम मुक्ति है।

महावीर भगवानने अपनी वाणी द्वारा जो स्वरूप कहा उसे गणधरों ने झेला, और वही वाणी आचार्य परम्परासे आजतक चली आ रही है। इस भरत क्षेत्रमें परम गुरुदेव श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने शास्त्रोंकी स्थापना की है, और श्रुतकी प्रतिष्ठा करके अपूर्व उपकार किया है। यह बात जैसी है, वैसी ही लोगोंके मनमें जमना कठिन प्रतीत होती है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देवने यह समयसार शास्त्र सर्वोत्कृष्ट योगसे समझाया है, इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है।

लोग कहेंगे कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात है, परंतु अग्निको बालक छुए या बड़ा किंतु दोनोंको उसकी उष्णताका समान अनुभव होगा। छह महीनेका बालक अग्निके स्वभावको जैसा जानता है, वैसा ही वयोवृद्ध पंडित और विज्ञानी जानता है। दोनोंके अनुभवमें कोई अंतर नहीं होता। हाँ, बालक अग्निका विशेष कथन नहीं कर सकता और बड़ा आदमी विशेष कथन कर सकता है, इसलिये कथनमें अंतर हो सकता है, किंतु दोनोंके अनुभवमें अंतर नहीं होता।

इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ, तीर्थंकर देव तीनकाल और तीनलोकके विज्ञान के महा पंडित हैं, उन्होंने जैसा वस्तु स्वरूप जाना है, वैसा ही अविरति सम्यग्दृष्टि बालक भी जानता है केवली और अविरति सम्यग्दृष्टिकी प्रतीतिमें कोई अंतर नहीं होता। जैसी स्वभावकी प्रतीति केवलज्ञानीकी होती है, वैसी ही प्रतीति गृहस्थाश्रमी राज्य करते हुए युद्धमें स्थित चतुर्थ गुणस्थानवर्तीकी भी होती है, दोनोंकी प्रतीतिमें कोई अंतर नहीं होता। एक भी रागका अंश मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसी प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वीके होने पर भी वह दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादिमें युक्त होता है, और शुभभावोंसे युक्त भी होता है, तथापि उसकी और केवली तथा सिद्ध भगवानकी स्वभावकी प्रतीति एक-सी ही होती है, मात्र ज्ञान और चारित्रमें अंतर होता है।

निचली दशावाला व्यक्ति वीतराग नहीं है इसलिये उसे राग होता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवके पुण्य-पापके भाव होते हैं किन्तु वह समझता है कि मेरी पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण यह भाव होते हैं, जो कि मेरा

स्वभाव नहीं है। उन्हें अपना स्वभाव नहीं मानता इसलिये शुभाशुभ भावको अपना कर्तव्य नहीं मानता, वह आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेको ही कर्तव्य मानता है। इसलिये उसका पुरुषार्थ भी उसीप्रकारका होता है, और जब वह अविरति सम्यग्दृष्टि स्वरूपमें स्थिर होता है, तब तब अंशत सिद्ध समान अनुभव करता है।

महावीर भगवानके बाद गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी, और जम्बूस्वामी तीन केवलज्ञानी होगये हैं। उनके पश्चात् एकावतारी जीव हुए हैं वर्तमानमें भी एकावतारी पुरुष होते हैं, और पंचमकालके अंत तक एकावतारी जीव होंगे। यह पंचम काल २१ हजार वर्षका है, जिसमेंसे अभी ढाई हजार वर्ष समाप्त हुए, और साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष हैं। पंचम कालके अन्तमें साधु आर्यिका श्रावक और श्राविका यह चार जीव एकावतारी होंगे, वे देवका एक भव धारण करके, फिर मनुष्य होकर मुक्त होंगे।

जम्बूस्वामीके बाद भी कई संत मुनियोंके चौदह पूर्वका ज्ञान था, और वे एकावतारी हुए, और पंचम कालके अन्तमें यद्यपि चौदह पूर्वका ज्ञान नहीं होगा,—अल्पज्ञान ही होगा, तथापि उनमेंसे भी एकावतारी होंगे, दोनोंके एकावतारीपनमें कोई अन्तर नहीं है।

भगवान महावीरने समवशरणमें दिव्यध्वनि द्वारा यह प्रगट किया था कि पंचमकालके अंत तक एकावतारी जीव होंगे। केवलज्ञानीके जैसी स्वभावकी प्रतीति होती है, वैसी ही प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानवालोंके होती है। जैसा एकावतारीपन पंचमकालके प्रारंभके चौदह पूर्व धारी मुनियोंके था, वैसा ही पंचमकालके अंतके जीवोंके भी होगा। वे जीव भी आत्मप्रतीति करके स्थिरताके बलकी भावनासे एक भवमें मुक्त होंगे। इसप्रकार दोनोंकी मुक्तिके फलमें कोई अंतर नहीं है। प्रारम्भ और अन्त दोनों एकसे हैं। यद्यपि ज्ञानकी न्यूनाधिकता है, किन्तु मुक्तिके फलमें कोई अन्तर नहीं है, श्रद्धा और मुक्तिके फलमें दोनों कोई अंतर नहीं है। भगवान महावीर कह गये हैं कि २१ हजार वर्ष तक लाखों करोड़ोंमें से कोई कोई जीव आत्म प्रतीति करके इस शासनमें एकावतारी हुआ करेंगे। सम्यक्त्वी और केवलज्ञानीकी श्रद्धामें समानता होती

परिणाम हों, अर्थात् तत्त्वकी समुपलनामें जो विकल्प हों, और उन विकल्पोंसे जो पुण्य बन्ध हो उस पुण्यका प्रवाह प्रगट होगा। ऐसी पुण्य प्रवाहकी प्राप्ति अन्यत्र नहीं हो सकती। तब श्रद्धालुको ऐसे पुण्यकी भी इच्छा नहीं होती। वह श्रद्धाके बलसे पुण्यका नाश करके अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

ऐसा नहीं मानना चाहिये कि यह बात हमारी समझमें नहीं आ सकती, और यह भी नहीं मानना चाहिये कि अमुक जीवने पूर्वकालमें बहुत पाप किये थे इसलिये वह यह बात नहीं समझ सकता। अरे! कलका पापी आज आत्मप्रतीति करना चाहे तो हो सकती है। सत्समागम करके सरल बने और सीधे सच्चे परिणाम करले तो क्षणमात्रमें केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। ऐसे अनन्त उदाहरण मौजूद हैं कि कच्चेके लकड़हारे आज केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये हैं इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि कलका पापी आज धर्मात्मा नहीं हो सकता।

प्राय लोग पापीको देखकर तिरस्कार करते हैं, किन्तु हे भाई! ऐसा मत करो, क्योंकि वे भी आत्मा हैं, प्रभु हैं। उनका अपराध जानकर क्षमा करो समता धारण करो। वह भी सीधे होकर अपराधको दूर करके वस आराधक हो जायेंगे उनकी आराधकता उनके हाथ है, वे करेंगे तब स्वय स्वत ही वरेंगे। तुम अपनी आराधकता करो। तुम्हारी आराधकता तुम्हींसे होगी।

यहाँ जो भगवान महावीरकी बात कही गई है, सो वैसे स्वरूपको जो प्रगट करेगा वह मुक्ति प्राप्त करेगा। जैसा भगवान महावीरके आत्माका स्वरूप है वैसा ही सब आत्माओंका है। आज महावीर भगवानके जो गीत गाये हैं सो वे आत्म स्वरूपको प्रगट करनेके लिये हैं। यदि उस स्वरूपको समझ ले तो अभी भी एकावतारीपना प्रगट किया जा सकता है ॥४६॥

अब यहाँ समयसारकी प्रासगिक बातको लेते हैं। इससे पूर्व यह कहा जा रहा था कि चैतन्य शक्तिके अतिरिक्त जो भाव हैं, वे सब अन्य हैं, उनका स्वरूप निम्नलिखित छह गाथाओंमें कहा गया है —

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥

है, और भगवान महावीरके बाद होनेवाले मुनियों तथा पचमकालके अन्तमें होनेवाले सम्यक्त्वी जीव एकावतारी होंगे उनकी मुक्तिके फलमें दोनों ही समान हैं। पहली श्रद्धा और दूसरा मुक्तिके फलका अन्त दोनों समान हो गये। प्रारंभ और मुक्तिका फल दोनों एक हो गये।

महावीर भगवान आजके दिन मोक्ष पधारे थे, उनकी वाणी परपरासे अभी तक चली आ रही है। यह समयसारकी वाणी भी उसी परपरामें से है। जगतके मनमें यह जमे या न जमे किन्तु यह वही वाणी है।

जब कि पचम कालके अन्तमें भी चार जीव आत्म प्रतीति करके एकावतारीपन प्राप्त करेंगे तब फिर इस समय भी क्यों न हो सकेगा? बालक बालिका भी आत्म प्रतीति कर सकते हैं। सभी आत्मा त्रिलोकीनाथ हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं, मात्र शरीरमें अन्तर है। बालिका भी जैसा आत्मस्वरूप परसे भिन्न कहा गया है, वैसी श्रद्धा कर सकती है। जब कि पचमकालके अन्तमें भी आत्म प्रतीति हो सकती है, तो इस समय भी अवश्य हो सकती है।

इस समय आत्मप्रतीति की जा सकती है, परन्तु पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं की जा सकती, क्योंकि पहले स्वयं आत्मवीर्यको विपरीत कर रखा है, उसे अब सीधा करनेमें अनन्त पुरुषार्थकी आवश्यकता है। वर्तमानमें उतना पुरुषार्थ स्वय नहीं कर सकता, इसलिये इस समय पूर्ण वीतरागता नहीं हो सकती। इसमें मात्र अपनी पुरुषार्थकी अशक्तिका ही कारण है।

आत्मामें अखण्डानन्द स्वभाव भरा हुआ है, जैसे दियासलाइको घिसने से तत्क्षण अग्नि प्रगट होती है, इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मामें अनन्त स्वभाव भरा हुआ है, ऐसे आत्माकी श्रद्धा करे कि मैं अखड पूर्णानन्द स्वरूप हूँ,— और इसप्रकार श्रद्धाको प्रज्वलित किया कि उसमेंसे केवलज्ञानकी सम्पूर्ण प्रकाशमान ज्वाला अवश्य प्रगट होगी। वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूपकी प्रतीति करके समझे कि मेरे पुरुषार्थकी कमीके कारण एक-दो भव और होंगे। वह अपनी अशक्तिको समझता है, इसलिये पुरुषार्थ जागृत करके अवश्य केवलज्ञान प्रगट करेगा।

यथार्थ तत्त्वका श्रवण करके यथार्थ प्रतीति करे, और उसमें जो शुभ

परिणाम हों, अर्थात् तत्वकी सन्मुखतार्मे जो विकल्प हों, और उन विकल्पोंसे जो पुण्य बन्ध हो उस पुण्यका प्रवाह प्रगट होगा। ऐसी पुण्य प्रवाहकी प्राप्ति अन्यत्र नहीं हो सकती। तत्व श्रद्धालुको एसे पुण्यकी भी इच्छा नहीं होती। वह श्रद्धाके बलसे पुण्यका नाश करके अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

ऐसा नहीं मानना चाहिये कि यह बात हमारी समझमें नहीं आ सकती, और यह भी नहीं मानना चाहिये कि अमुक जीवने पूर्वकालमें बहुत पाप किये थे इसलिये वह यह बात नहीं समझ सकता। अरे! कलका पापी आज आत्मप्रतीति करना चाहे तो हो सकती है। सत्समागम करके सरल बने और सीधे सच्चे परिणाम करले तो क्षणभरमें केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। ऐसे अनन्त उदाहरण मौजूद हैं कि कलके लकड़हारे आज केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये हैं इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि कलका पापी आज धर्मात्मा नहीं हो सकता।

प्रायः लोग पापीको देखकर तिरस्कार करते हैं, किन्तु हे भाई! ऐसा मत करो, क्योंकि वे भी आत्मा हैं, प्रभु हैं। उनका अपराध जानकर क्षमा करो समता धारण करो। वह भी सीधे होकर अपराधको दूर करके कल आराधक हो जायेंगे उनकी आराधकता उनके हाथ है, वे करेंगे तब स्वयं स्वतः ही करेंगे। तुम अपनी आराधकता करो। तुम्हारी आराधकता तुम्हींसे होगी।

यहाँ जो भगवान महावीरकी बात कही गई है, सो वैसे स्वरूपको जो प्रगट करेगा वह मुक्ति प्राप्त करेगा। जैसा भगवान महावीरके आत्माका स्वरूप है वैसा ही सब आत्माओंका है। आज महावीर भगवानके जो गीत गाये हैं सो वे आत्म स्वरूपको प्रगट करनेके लिये हैं। यदि उस स्वरूपको समझ ले तो अभी भी एकावतारीपना प्रगट किया जा सकता है ॥४९॥

अब यहाँ समयसारकी प्रासंगिक बातको लेते हैं। इससे पूर्व यह कहा जा रहा था कि चैतन्य शक्तिसे अतिरिक्त जो भाव हैं, वे सब अन्य हैं, उनका स्वरूप निम्नलिखित छह गाथाओंमें कहा गया है —

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बन्धठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

अर्थः—जीवमें वर्ण नहीं है, गन्ध भी नहीं है, रस भी नहीं है, स्पर्श भी नहीं है, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है, संहनन भी नहीं है, जीवके राग भी नहीं है, द्वेष भी नहीं है, मोह भी विद्यमान नहीं है, प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं हैं, कर्म भी नहीं हैं, और नोकर्म भी उसके नहीं हैं । जीवके वर्ग नहीं हैं, वर्गणा नहीं हैं, कोई स्पर्द्धक भी नहीं हैं, अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं, और अनुभागस्थान भी नहीं हैं, जीवके कोई योगस्थान भी नहीं हैं, अथवा बंधस्थान भी नहीं हैं, और उदयस्थान भी नहीं हैं, कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं, जीवके स्थितिबंधस्थान भी नहीं हैं, अथवा संक्लेशस्थान भी नहीं हैं, विशुद्धस्थान भी नहीं हैं, अथवा संयमलब्धिस्थान भी नहीं हैं, और जीवके जीवस्थान भी नहीं हैं, अथवा गुणस्थान भी नहीं हैं क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं ।

जो काला, पीला, हरा, लाल, सफेद वर्ण है, सो सब जीवके नहीं हैं, क्योंकि वे सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे अपनी अनुभूतिसे भिन्न हैं ।

भगवान आत्मामें किसी भी प्रकारका काला, पीला, हरा, सफेद और

लाल रग नहीं हैं, रंग आत्माका स्वभाव नहीं हैं। यह सब पुद्गलकी अव स्थाएँ हैं, उन रंगस्वरूप आत्मा नहीं है। आत्मा अग्निकी ज्योति जैसा नहीं है, अग्नि तो रूपी है, रंगवाली है, और आत्मा अरूपी है, अरंगी है। जो बाह्य प्रकाश होता है, उसे लोग आत्मज्योति कहते हैं, किन्तु वह आत्माकी ज्योति नहीं है। आत्माकी तो ज्ञानज्योति है, किन्तु स्वयं कल्पना करके भूल करता है, कि मैं ऐसे रंगवाला हूँ, किन्तु आत्मा वैसा नहीं है। वे पाँचों रंग आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं, अलग हैं। भगवान आत्मा किसी भी कालमें रंगवाला नहीं है,—पाँचों रंग पुद्गलकी पर्याय होनेसे जड़ हैं। उनसे आत्माकी अनु भूति भिन्न है, इसलिये रंग आत्मामें नहीं है।

आचार्यदेवने जो यह २९ बातें कही हैं सो ये सब व्यावहारिक हैं, वह सब व्यवहार है अवश्य। पहली बातमें-पुद्गलद्रव्य है, उसमें वर्ण, गंध, रस स्पर्श सब हैं, किन्तु वे आत्मामें नहीं हैं, लेकिन वे सब जगतमें हैं। यदि कोई यह माने कि वे सब वस्तुएँ जगतमें ही नहीं हैं तो वह महामिथ्यात्वी है। आचार्यदेवने यहाँ पुद्गलके परिणाम कहे हैं सो उसमें पुद्गलमें परिणमन स्थापित किया है, और यह बताया है कि पुद्गल कूटस्थ नहीं है। जीव कहकर जीव और आत्मा अलग नहीं, किन्तु एक हैं, यह सिद्ध किया है, क्योंकि एक मत जीव और आत्माको भिन्न मानता है। पुद्गल है अवश्य किन्तु जीव उससे भिन्न है। यह कहकर परमार्थ बताया है।

सुगंधि अर्थात् सुगंध और दुर्गंधि अर्थात् दुर्गंध भी आत्माके नहीं है, क्योंकि गंध परमाणुओंकी अवस्था है, इसलिये वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है। सुगंध या दुर्गंध पुद्गलकी पर्यायें हैं, आत्मामें सुगंध दुर्गंध कुछ भी नहीं है। आत्मा रंग और गंधसे अलग है, ऐसे आत्माकी अनुभूति करो? ऐसे आत्मस्वभावमें रमणता करो? जैसे भगवान महावीरका आत्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्शयुक्त शरीरसे रहित है, वैसा ही प्रत्येक आत्माका स्वभाव है। उस स्वभाव को पहिचानकर उसमें स्थिर होकर तू भी वैसा ही हो जा।

पुद्गल द्रव्यमें पांच प्रकारके रस हैं,—कड़ुवा, कषैला, चरपरा, खट्टा, और मीठा। यह पाँचों रस आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि वे रजकणकी पर्याय हैं।

खट्टा-मीठा आदि रस पुद्गल द्रव्यमें होता है, वह रूपी है, और जड है, तथा आत्मा अरूपी और चेत य है। जानना उसका स्वभाव है। पुद्गलका किसी भी प्रकारका रस आत्मामें नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलका रस आत्मानुभूतिसे भिन्न है, अज्ञानी जडके रसको अपना मानता है, किन्तु वह रस आत्माके रससे सर्वथा भिन्न है, विलक्षण है, वह पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। आत्माका अनुभव उससे सर्वथा भिन्न है।

पुद्गल द्रव्यमें आठ प्रकारके स्पर्श हैं,—हलका, भारी, कठोर, नर्म, रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म। यह सब पुद्गल द्रव्यके स्पर्श गुणकी पर्याय है, भगवान आत्मा उनके स्पर्शसे भिन्न है, उसका अनुभव भिन्न है, उस स्पर्शकी समस्त अवस्थाओंसे आत्मा भिन्न है, इसकी श्रद्धा कर, और इसमें परसे निराली स्थिरता करना ही मुक्तिका उपाय है।

जो स्पर्शादि सामा य परिणाममात्र रूप है, वह जीवके नहीं है। सामा य परिणाममें वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श सब ले लेना चाहिये। स्पर्शनादि पचेन्द्रियोंसे आत्मा भिन्न है, किसी भी पुद्गलकी अवस्था आत्मामें नहीं है, पुद्गलकी सभी अवस्थाओंसे आत्मानुभव भिन्न है। इसलिये आत्मा उनसे भिन्न है, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान कर तो पार लग जायेगा, नही तो कहीं भी अंत आनेवाला नहीं है।

औदारिक आदि पाँच शरीर भी आत्माके नहीं हैं। औदारिक, अर्थात् उदार, और उदार अर्थात् प्रधान जिसमें केवलज्ञान हो सकता है, इसलिये औदारिक प्रधान शरीर है। वैक्रियक शरीरमें केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु औदारिकमें ही होता है, इसलिये वह औदारिक शरीर कहा जाता है। केवल ज्ञानका कारण औदारिक शरीर नहीं किन्तु आत्मा ही है। केवलज्ञान आत्मासे प्रगट होता है, किन्तु केवलज्ञान प्रगट होते समय साथ ही निमित्तभूत औदारिक शरीर होता है, इतना मात्र सम्ब ध है। औदारिक शरीर आत्मासे भिन्न है, वह जड है और आत्मा चेतन है। दोनों द्र य सर्वथा भिन्न हैं।

वैक्रियक शरीर आत्माके नहीं, किन्तु देवों और नारकियोंके होता है। जो जीव पहले घोर पाप करता है वह नरकमें जाता है, वहाँ उसके

शरीरके हजारों टुकड़े करे तो भी वह नहीं मरता, क्योंकि वह वैक्रियक शरीर पारेकी भाँति अलग होकर फिर मिल जाता है। देवोंके भी वैक्रियक शरीर होता है। वैक्रियक अर्थात् जो विक्रिया करे, भिन्न भिन्न शरीर बना सके। देवोंके वैक्रियक शरीर सुन्दर, और नारकियोंके वैक्रियक शरीर असुन्दर वाले-कुबड़े होते हैं। देवके वैक्रियक शरीरकी परछाइ नहीं पड़ती–जैसे काँचकी पुतलीकी परछाइ नहीं पड़ती। वैक्रियक शरीरसे भी आत्मा भिन्न है, जड़ चेतन दोनों द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं। इस शरीरमें चैतन्य ज्योति शरीरसे भिन्न विराजमान है, ऐसे स्वरूपकी श्रद्धा करे तो आनन्द और सुख प्रगट हो, यह बात यहाँ कही जा रही है।

आत्मा आहारक शरीरसे भी भिन्न है। छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए किसी किसी नग्न–दिगम्बर मुनिके उस आहारक शरीरकी लब्धि प्रगट होती है। यदि उन संत मुनिको कोइ सैद्धान्तिक शंका होती है, तो उसके समाधानार्थ मस्तकमें से एक हाथ प्रमाण अयंत सुन्दर पुतला निकलता है, वह जहाँ भगवान विराजमान होते हैं वहाँ जाता है, वहाँ जाकर भगवानके दर्शनमात्रसे उसका समाधान हो जाता है, और फिर वह पुतला वापिस आकर मुनिराजके शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है, उस शरीरको आहारक कहते हैं।

ऐसा आहारक शरीर वर्तमानमें इस क्षेत्रमें नहीं होता। महाविदेह क्षेत्रमें संत मुनियोंके वैसी लब्धि होती है। जो मुनि समवशरणमें बैठे होते हैं, उन्हें ऐसी शंका नहीं होती, किन्तु कोई मुनि बहुत दूर विराजमान हो, और उन्हें वस्तु स्वरूपकी श्रद्धा एवं ज्ञान होने पर भी यदि तत्वका सूक्ष्माति सूक्ष्म चिंतन करते हुए कोई शंका उपस्थित हो जाये और समाधान न हो, तथा प्रश्न पूछनेकी इच्छा हो, तब उनके मस्तकमें से वह आहारक शरीरका पुतला निकलता है, और वह जहाँ श्रुत केवली अथवा केवली विराजमान हों वहाँ जाता है, वहाँ जाकर उसे कुछ पूछना नहीं पड़ता, किंतु उनके देखनेसे ही समाधान हो जाता है। आहारक शरीर पुद्गल द्रव्य रचित होता है, और पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेसे वह आत्मानुभवसे भिन्न है, जड़ है, और आत्मा ज्ञान स्वरूप है, इसलिये दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं। स्मरण रहे कि श्री कुंद

कुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्रमें आहारक लब्धिसे नहीं, किन्तु अन्य प्रकारसे गये थे।

तैजस शरीरसे भी आत्मा भिन्न है। तैजस शरीर अनन्त रजकणोंका पिंड है—जड़ है। वह तैजस शरीर शरीरमें उष्णता और कान्तिका कारण है, वह आत्मासे भिन्न है। वह पुद्गलकी अवस्था है, उससे आत्माका अनुभव भिन्न है।

कार्माण शरीर भी आत्मा के नहीं है। कार्माण शरीर सम्पूर्ण शरीर प्रमाण सूक्ष्म अष्ट कर्मोंके रजकणोंकी रूपी मूर्ति है, वह जड़ है। कार्माण अर्थात् कर्मके रजकणोंका समूह, वह निमित्तरूपसे आत्माके साथ है, आत्मस्वभावमें वह नहीं है, आत्मा तो आत्मामें है, आत्मामें अष्ट कर्म नहीं हैं। जो आत्मामें नहीं है, वह आत्माको कैसे हानि पहुँचा सकता है? यद्यपि वह साथमें रहता है किन्तु आत्मामें नहीं है।

कोई कहता है कि शरीर अच्छा हो तो धर्म हो, शरीर निरोग हो तो धर्म हो, किन्तु जो आत्माका है ही नहीं उससे आत्माका धर्म कैसे हो सकता है?

लोग कहते हैं कि—पहला सुख शरीरका निरोग होना है, दूसरा सुख बाल बच्चोंका होना है तीसरा सुख घरमें अन्न भरा हो, चौथा सुख सुशील स्त्री हो।

किन्तु इन चारों प्रकारोंमें से किसीमें भी सुख नहीं है, सुख तो आत्मामें है, उस सुखकी पहिचान कर! परमें जो सुख माना है, वह कल्पित सुख है, जड़की अवस्था जैसी होनी हो, वह वैसी ही होती है, वह तेरे आधीन नहीं हैं, परके झगड़ोंसे निवृत्त हो, शरीरकी कार्यशक्ति तुझसे नहीं हो सकती। शरीर आत्मामें नहीं है, जो तेरे आत्मामें नहीं है, उससे तुझे किंचित्मात्र भी सुख नहीं हो सकता। तेरा सुख तुझमें ही स्वतंत्र रूपसे विद्यमान है, उसकी पहिचान कर, कार्माण शरीर जगतकी वस्तु है। वह कोई वस्तु ही नहीं, अर्थात् अवस्तु है, ऐसा नहीं है। परन्तु वे कर्म तेरे आत्मामें नहीं है, ऐसे आत्माकी श्रद्धा कर। उस श्रद्धाके बलसे चारित्र प्रगट होगा, और उस चारित्रसे केवल ज्ञान प्रगट होगा। औदारिक, तैजस और कार्माण शरीर, मनुष्य और पशुओं के होते हैं। वैक्रियक, तैजस और कार्माण शरीर देवों और नारकीयोंके होते

हैं, पाँचों शरीरोंका कर्ता आत्मा नहीं है। शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म हो ऐसा नहीं है। शरीर त्रिकाल में भी आत्माकी सहायता नहीं करता। तेरी मुक्तिका मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, किसी बाहरी या परकी शरण लेनेकी आवश्यकता नहीं है। उसकी ही श्रद्धा कर, यही मुक्तिका मार्ग है।

आज नूतनवर्ष प्रारम्भ हो रहा है। अब समयसारका सुप्रभात नामक कलश कहते हैं —

(वसंततिलका)

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप—
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥

अर्थ —जो चैतन्यपिंड के निर्गल विलाससे विकासरूपसे खिलता है, (चैतन्य पुंजके अत्यन्त विकासका होना ही जिसका खिलना होना है,) जो शुद्ध प्रकाशकी अतिशयताके कारण सुप्रभात समान है, जिसका सदा आनन्दमें सुस्थित, अस्खलित एकरूप है और जिसकी अचल ज्योति है ऐसा यह आत्मा उसीके उदित होता है, — जो पुरुष पूर्वोक्त रीतिसे इस भूमिकाका आश्रय लेता है।

सुप्रभात अर्थात् केवलज्ञानका प्रकाश। जो केवलज्ञानका प्रकाश आत्मा में उदित हुआ वह कभी अस्त नहीं होता, उसे सुप्रभात कहते हैं। प्रभात तो बहुतसे उदित होते हैं, किन्तु जिस प्रभातके उदित होनेसे आत्माका प्रकाश हो और वह कभी अस्त न हो, वही वास्तविक सुप्रभात है। संसारका सूर्य तो प्रातःकाल उदय होता है, और सायंकाल अस्त हो जाता है, किन्तु इस आत्माका केवलज्ञान सूर्य उदय हुआ सो हुआ फिर कभी अस्त नहीं होता, उसको सुप्रभात कहते हैं, इसीका नाम सच्चा प्रभात उदित हुआ कहलाता है।

जो आत्मप्रतीतिसे अपने पुरुषार्थ के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कराये सो सुमंगल है। निर्मल सम्यग्दर्शन, निर्मल सम्यग्ज्ञान और निर्मल सम्यक्चारित्र गुणकी निर्मल पर्याय प्रगट हो सो पवित्र पर्याय है, पवित्र भाव है। उस पवित्र पर्यायके प्रगट होनेपर राग द्वेषकी अपवित्र पर्यायका नाश होता है सो मंगल

है। आत्मामें तीनकाल और तीनलोकमें भी रागका एक अशमात्र भी नहीं है, ऐसी प्रतीति केवलज्ञान प्राप्त कराती है। जो राग द्वेषको गला दे और केवलज्ञान प्राप्त कराये सो ऐसा सम्यग्ज्ञान स्वय मागलिक है।

इस कलशमें आचार्यदेवने सुप्रभातका वर्णन किया है। इसमें चार बातें कही हैं। अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तआनन्द और अनन्तवीर्य--यह अनन्तचतुष्टय प्रगट हो, सो यही सुप्रभात मगल है।

जब भगवानके अनन्तचतुष्टय प्रगट होता है, तब समस्त लोकमें प्रकाश होता है, नारकी जीवोंको भी दो घड़ीके लिये शाति हो जाती है। जब तीर्थंकरदेव केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय जगतके जीवोंके साताका उदय होता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अनन्तचतुष्टय स्वय प्रगट करते हैं और अपने पुरुषार्थके द्वारा स्वय ही कल्याणपदको प्राप्त करते हैं उसीके साथ तीर्थंकरदेवके ऐसे सर्वोत्कृष्ट पुण्यका योग होता है, कि जिससे जिन्हें आत्मस्वरूपकी खबर नहीं है, उन जीवोंके भी असाता दूर होकर दो घड़ीके लिये साता हो जाती है, उन जीवोंके पुण्योदयका और तीर्थंकर भगवानके केवलज्ञानके साथके सर्वोत्कृष्ट पुण्यातिशयका निमित्तनैमित्तिक सबध है। समस्त लोकमें प्रकाश होनेकी परमाणुओंकी योग्यताका और भगवानके केवलज्ञानके समयके पुण्यातिशयका निमित्त नैमित्तक सबध होता है।

प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञानसे परिपूर्ण हैं, स्वय ही अनन्तज्ञानसे परिपूर्ण है।--ऐसे आत्माकी स्वय प्रतीति करे और ज्ञान करे तो उसे अनुक्रमसे स्वरूपस्थिरता (चारित्र) होकर राग द्वेषका सर्वथा अभाव होता है। ज्ञान स्वय समाधानस्वरूप है। ज्ञान चाहे जैसे सयोगोंका समाधान करता है और निष्कर्ष निकालता है। वह ज्ञान स्वरूप में स्थिर हुआ कि राग नष्ट हो जाता है, यह चारित्रअतरगकी क्रिया है।

अनुकूलता या प्रतिकूलताके संयोग तो ज्यो के त्यों बने रहते हैं किन्तु ज्ञाता एसा समाधान करता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, जानना ही मेरा स्वभाव है, यह सयोग मुझ ज्ञायकको कोई सुख दु ख नहीं दे सकते। ऐसा करनेसे राग द्वेषका अभाव और शाति होती है, क्योंकि ज्ञान स्वय ही शातिरूप

रूप है। ज्ञान, ज्ञानमें रहकर समाधान करता है, तब शांति साथमें ही आती है।

यदि ज्ञान समाधान न करे तो राग-द्वेषकी कल्पना करता है कि यह संयोग मुझे दुःख या सुख देते हैं, इस प्रकार अन्य पर दृष्टि रखकर सुख दुःखकी कल्पना किया करता है। ज्ञान या तो समाधान करता है या राग-द्वेषकी कल्पना करता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान दूसरा कुछ भी नहीं करता।

ज्ञान समाधान करके अपनेमें स्थिर हो सो यही ज्ञानकी क्रिया है, ज्ञान परकी क्रिया नहीं कर सकता। वह स्वयं समझता है कि मैं एक ज्ञाता स्वरूप ही हूँ। जाननेवालेका अर्थ है ज्ञान, ज्ञान स्वयं दुःख स्वरूप नहीं होता। यदि ज्ञान स्वयं दुःखरूप हो तो फिर दुःखको दूर करनेका उपाय ही कहाँ रहा। अर्थात् ज्ञान स्वयं समाधान पूर्वक राग द्वेषमें युक्त न हो सो यही चारित्र है, और यही ज्ञानकी क्रिया है, तथा यही ज्ञान और क्रियाका समन्वय (मेल) है, यही स्याद्वाद है।

अन्तरज्ञानकी स्थिरता रूप क्रिया ही चारित्र है, जड़की क्रियासे चारित्र नहीं होता। चारित्र आत्माका गुण है, इसलिये आत्माका गुण चैतन्यकी क्रिया से प्रगट होगा, कि जड़की क्रियासे ? जड़की क्रियासे आत्माका चारित्र तीन काल तीनलोकमें प्रगट नहीं हो सकता।

जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेते हैं, और जो उपरोक्तानुसार ज्ञान तथा चारित्रकी मैत्री जैसी कही गई उसे यथावत् समझते हैं, उन्हींके चैतन्यपिंडका निर्गल विलसित, विकास होता है।

वस्तु, वस्तुका गुण और वस्तुकी कारणरूप पर्याय अनादि अनंत निर्मल है, तीनों मिलकर अखण्ड एक वस्तु है। इसप्रकार दृष्टिका विषय पहले किया था, जिसके फलस्वरूप केवलज्ञानीके अनन्त दर्शन प्रगट हुआ। इस कलशमें पहले दर्शनकी बात कही है, इसीमें केवली भगवानके अनन्तचतुष्टय का भी समावेश है।

धर्मास्तिकाय उसका गुण, और उसकी पर्याय, त्रिकाल निर्मल हैं। प्रत्येक वस्तु स्वयं अनादि अनन्त द्रव्य, गुण और पर्यायसे त्रिकाल निर्मल है। इसीप्रकार मैं भी द्रव्य-गुण पर्यायसे परिपूर्ण वस्तु हूँ। आत्मा वस्तु, उसके

ज्ञानादि गुण, और उसकी कारणपर्याय, त्रिकाल निर्मल है। आत्मा द्रव्य गुण पर्यायसे अनादिअनन्त परिपूर्ण वस्तु है, उसमें विकार नहीं है, शरीर नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, अनन्त गुणका पिंड आत्मा पवित्र है, उसकी श्रद्धा के बलसे अनन्तदर्शन प्रगट होता है।

यह सुप्रभात मांगलिक है, श्रीमद् राजचन्द्रजीने भी कहा है कि रात्रि व्यतीत होगई प्रभात हुआ निद्रासे जागृत हुए, अब मोह-निद्रा टालनेका प्रयत्न करो। निद्रासे मुक्त होनेके लिये भाव निद्राको दूर करनेका प्रयत्न करो। भाव रात्रि दूर होकर आत्माका प्रकाश हो ऐसा प्रयत्न करो।

आचार्यदेव कहते हैं कि पहले आत्माका विश्वास जमना चाहिये। जैसे धर्म विश्वास जमा रखा है, उसीप्रकार प्रतीतिके विषयमें आनेवाले अखंड आत्माका विश्वास करे तो उसके फलस्वरूप अनन्तदर्शन प्राप्त हो।

इस कलशमें आचार्यदेवने कहा है कि—चैतन्य पिंडके निर्मल, विलसित, विकासरूप जो विकसता है, अर्थात् जिसने अखण्ड चैतन्यको प्रतीति में लिया, उसे निर्मल अर्थात् बीचमें कोई आगल या विघ्न नहीं है, जिस स्वरूप को प्रतीतिमें लिया है, ज्ञानमें लिया है, उस स्वरूपको अब निर्विघ्नतया पूर्ण करेगा, केवल ज्ञान प्रगट करेगा, उसे बीचमें कहीं कोई विघ्न है ही नहीं। अनन्तकालसे जो परावलम्बी दृष्टि थी उसे स्वावलम्बी किया, स्वाश्रय किया, उससे अनन्तदर्शनका प्रकाश प्रगट होगा।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे कमलकी कली खिल उठती है उसी प्रकार सम्यक्प्रतीतिसे अखण्ड आत्माका विषय किया सो उस प्रतीतिके बलसे अनंत दर्शन विकसित होता है—खिल उठता है। प्रतीति होनेके पश्चात् आत्माकी अनन्त शक्ति प्रगट होतेहोते पूर्णतया प्रकाशित हो जाती है। यह आत्मा का सादि अनन्त सम्पूर्ण विकास है।

इसके बाद कहा है कि शुद्ध प्रकाशकी अतिशयताको लेकर वह सुप्रभात समान है। पहले दर्शनको लिया है, और फिर ज्ञानको लिया है। चैतन्यप्रकाश जगमग—जगमग करता हुआ प्रकाशित होता है। सूर्यको न तो अपने प्रकाशकी खबर होती है, और न दूसरेके प्रकाशकी। किन्तु

चैतन्य ज्ञान प्रकाश अपने प्रकाशको जानता है और अन्य–सूर्यादिके प्रकाश को जानता है। सर्व प्रकाशका प्रकाशक आत्मा स्वयं है।

जिसने सत्समागमसे सम्यग्ज्ञानके द्वारा आत्माकी भूमिकाका आश्रय लिया है। उसके निर्मल केवलज्ञान प्रकाशका सुप्रभात खिल उठता है। जहाँ सम्यग्ज्ञानने आत्मभूमिकाका आश्रय लिया वहाँ सुप्रभात विकसित हो गया, और क्रमश उसमें पुरुषार्थसे बढ़ते बढ़ते सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रकाश विस्तरित होजाता है, वह सादि - अनन्त सुप्रभात है। उस सुप्रभातका कभी भी नाश नहीं होता। आजसे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व, श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने इस सुप्रभात कलशकी रचना की थी।

जिसका आनन्दमें सुस्थित सदा अस्खलित एकरूप है ऐसे आनन्द स्वरूप आत्माको लक्षमें लिया, उसकी प्रतीति की और उसमें स्थिर हुआ कि केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

आत्म स्वरूपकी श्रद्धा की, ज्ञान किया और उसमें स्थिर हुआ, सो अनन्त आनन्द प्रगट हो गया, अनन्त स्वचतुष्टय प्रगट होगया, उसमें कोई किसी प्रकारका विघ्न नहीं कर सकता। जहाँ अपने स्व स्वभावका आश्रय किया कि वहाँ अनन्त आनन्द प्रगट होगया। वह आनन्द सदा अस्खलित है, एक रूप है। बाह्यानन्द सदा एकरूप नहीं है, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है, नष्ट हो जाता है, विकारी है, और आकुलतामय है।

चैतन्यके अखण्ड स्वभावका अवलम्बन करके जो आनन्द प्रगट हुआ वह अनन्त काल तक रहने वाला है, वह कभी न बदलने वाला सदा एक रूप है, निराकुल, निर्विकार, अस्खलित है, जो अन्तरंग स्वभावमें था वही प्रगट हुआ है। और जो अस्खलित आनन्द प्रगट हुआ है वही सच्चा सुप्रभात है।

जो आत्मज्योति प्रगट हुई है, वह अचल है, उस केवलज्ञान ज्योति का कभी नाश नहीं होता। जैसे रत्नदीपककी ज्योति पवनके झोंकेसे कभी नहीं हिलती उसीप्रकार जो आत्मज्योति प्रगट हुई है, वह सदा अकम्प रहती है। अग्नि दीपककी ज्योति हवासे बुझ जाती है,—उसीप्रकार आत्मज्योति प्रगट

होने पर न तो हिलती है न झुकती है वह सदा अचल है।

महासंवर्तक वायुसे भी मेरुपर्वत नहीं हिलता, इसी प्रकार जिसने आत्माका आश्रय ग्रहण करके मेरुकी भाँति अचल केवलज्ञान-ज्योति प्रगट की है, वह किसी भी प्रबलतम कारणसे चलायमान नहीं होती क्योंकि वह अनन्त बल को लेकर प्रगट हुई है। इस कथन में बलका निरूपण किया है।

आत्माका आश्रय लेनेसे अचल ज्योति प्रगट होती है,—उदयको प्राप्त होती है। वह आत्मा उदित हुआ सो हुआ, वह फिर अस्त नहीं होता। आत्म प्रतीति करके उदित होनेवाला सुप्रभात है। आत्म प्रतीतिके प्रगट होने पर उसमेंसे केवलज्ञान अवश्य प्रगट होना है। जहाँ वह केवलज्योति प्रगट हुई सो वह सुप्रभात है।

सम्यक्दर्शन होने पर आनन्द गुणकी आंशिक पर्याय प्रगट होती है, और चारित्रके होने पर विशेष प्रगट होती है। आनन्दगुण तो आनन्द गुणरूप ही है, किंतु वह आनन्दगुणकी पर्याय सम्यक्दर्शन होने पर भी प्रगट होती है और चारित्रके होनेपर भी प्रगट होती है। आत्माका यथार्थ परिचय करके, उसकी प्रतीति करके, स्थिर होनेसे अनन्तानुबन्धी कषायके दूर होने पर आंशिक स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होना है। आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, उसमें बारबार लक्ष करके स्थिर होनेसे विशेष स्वरूप रमणताके प्रगट होनेसे, पाँचवाँ, छट्ठा, और सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, और क्रमश आगे बढ़ते बढ़त केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है, उस समय आत्माकी पर्याय में जो सम्पूर्णतया आनंद प्रगट होता है, सो वही सच्चा सुप्रभात है।

केवलज्ञानकी ज्योतिको लेकर आत्मा उदित होता है, वह केवलज्ञान ज्योति आत्माकी प्रतीतिसे प्रगट होती है। सत् समागमके बिना और आत्म विचारके बिना केवलज्ञानका उदय नहीं हो सकता, और आत्मप्रतीतिके बिना केवलज्ञानका उदय नहीं होता। और जब केवलज्ञानका उदय होता है सो वह सुप्रभात है। पद्मनंदि पंचविंशतिकामें भी सुप्रभातका एक अधिकार है, उसकी पहली गाथा इसप्रकार है—

निश्शेषावरणद्वयस्थिति निशाप्रान्ते तरायक्षयो
द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरत ।
सम्यग्ज्ञानदृग्क्षियुगममितो विस्फारित यत्र त
ल्लब्ध यैरिह सुप्रभातमचल तेभ्यो यतिभ्यो नम ॥ १ ॥

अर्थ —दोनों निशेषावरण, अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण की जो स्थिति है, सो वह रात्रि है, उसका तथा अतरायकर्मका नाश होने पर प्रकाश होनेसे और मोहनीयकर्मके द्वारा होनेवाली निद्राके भारसे शीघ्र ही दूर होनेसे, जो सुप्रभातमें सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञानरूपी, दोनों नेत्र उन्मीलित हुए (खुले) उस अचल सुप्रभातको जिन मुनियों ने प्राप्त कर लिया है, उन मुनियोंके प्रति हमारा नमस्कार है ।

रात्रिका अन्त होने पर प्रभात उदित होता है, इसीप्रकार भगवान आत्मा निर्मलज्ञान-दर्शनमय है, उसमें दर्शनावरण, ज्ञानावरणरूपी रात्रिके अधकारका जिसने अन्त किया है, और स्वय चैतन्यज्ञान स्वभावको प्रगट करके उस आवरणको हटा कर सूर्योदय किया है, वह सुप्रभात है ।

जैसे एक ओरसे जलते हुए कडेको किसी टोकरीसे ढँक दिया जाये तो वास्तवमें वह अग्नि ढँकी नहीं है, किन्तु उस टोकरी तक उसकी लौ नहीं पहुँचती, इसलिये वह ढँकी हुई कहलाती है, वास्तवमें तो वह अग्नि ढँकी नहीं है, इसलिये वह धीरे धीरे बढ़ती जाती है, और सारा कडा प्रज्व लित होकर वह टोकरी भी जल जाती है । इसीप्रकार आत्माका सपूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ, किन्तु संपूर्ण स्वभावकी प्रतीति हुई है, जिससे उसका एक कोना प्रगट हुआ कहलाता है । इसप्रकार चैतन्यका अल्प प्रकाश प्रगट होने पर उसमें एकाग्रता करके संपूर्ण प्रकाश या ज्वाला प्रगट होने पर ज्ञानावरणीय आदि कर्म भस्म हो जाते हैं ।

जब तक आत्मा जागृत नहीं हुआ, तब तक निमित्त रूपसे आवरण कहलाता है, वास्तवमें कर्मोंने उसे हीन नहीं किया है किन्तु स्वय अपनी शक्ति को स्वीकार नहीं किया इसलिये स्वय अपना परिणमन कम कर रखा है, किन्तु जब चैतन्यका जाज्वल्यमान प्रकाश प्रगट होता है, तब ज्ञानावरणीय और

दर्शनावरणीयरूपी रात्रिका नाश करके केवलज्ञान केवलदर्शनरूपी सूर्य उदित होता है। केवलज्ञानका सुप्रभात प्रगट होना है।

अनन्त बलके प्रगट होनेसे अतराय कर्मका नाश हुआ, और मोहनीय कर्मके नाश होनेसे दोनों नेत्र खुल गये, जिस प्रकार रात्रिका अन्त होने पर सोते हुए जाग उठते हैं, और उनकी दोनों आँखें खुल जाती हैं, उसी प्रकार मोहरूपी निद्राका नाश करके, जिनके सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र खुल गये हैं ऐसे मुनियोंको हमारा नमस्कार हो।

जैसे लड़का लड़की किसी दूसरे गाँव जा रहे हों किन्तु उन्हें विदा करनेमें कोई बुरा दिन या अशुभ मुहूर्त आता हो तो माता पिता प्रस्थान विधि कर देते हैं, इसीप्रकार पद्मनंदि आचार्यने केवलज्ञानको नमस्कार करके यह केवलज्ञान मुझे चाहिये है इस भावनरूपी अग्रिम प्रस्थान विधि की है।

महावीर स्वामी मोक्ष पधारे, और सतोंके नायक गौतम गणधरने केवलज्ञान प्रगट किया। ज्ञानावरणीय आदि रात्रिका नाश करके केवलज्ञानरूपी प्रभात प्रगट किया। ऐसे केवलज्ञानियोंको हमारा नमस्कार हो।

> यत्सच्चक्रसुखप्रद यदमल ज्ञानप्रभाभासुर
> लोकालोकपद प्रकाशनविधिप्रौढ प्रकृष्ट सकृत्।
> उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्त पर प्राणिभि
> त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सतत तत्सुप्रभात स्तुवे ॥ २ ॥

अर्थः—त्रिलोकीनाथ श्री जिनेन्द्र भगवानके इस सुप्रभात स्तोत्रको मैं नमस्कार करता हूँ, जो समस्त जीवोंको सुख दाता है, तथा सब प्रकारके मलोंके रहित होनेसे अमल है, और ज्ञानकी प्रभासे दैदीप्यमान है तथा समस्त लोकालोकको प्रकाश करनेवाला है, और जो अत्यंत महान है, तथा जिसके एक बार उदित होनेपर प्राणियोंको ऐसा मालूम होता है कि उन्हें उत्कृष्ट जीवनकी प्राप्ति हुई है। अर्थात् वे अपने जीवनको धन्य मानते हैं।

त्रिलोकीनाथ श्री जिनेन्द्र भगवान हैं। त्रिलोकीनाथका अर्थ रक्षक नहीं किन्तु त्रिलोकका ज्ञाता है। वे सब प्राणियोंको सुख देनेवाले हैं। जिन श्री जिनेन्द्र भगवानने सुप्रभातरूप आत्मदशा प्रगट की है उन्हें मेरा नमस्कार हो।

श्री जिनेन्द्र भगवानने सब विकारोंसे रहित वीतरागदशा प्रगट की है, उनका स्मरण करना सो आत्मस्वभावका स्मरण है। स्वभावकी सम्यक्वाका स्मरण समस्त अपराधोंको दूर करनेवाला है। समस्त लोकका प्रकाशक केवलज्ञान जहाँ प्रगट हुआ कि वहाँ समस्त लोकके जीव अपनेको धन्य धन्य समझते हैं वही सुप्रभात है। जब सम्यग्ज्ञानी जीवोंको आत्मप्रतीति होती है, तब वे अपनेको धन्य धन्य समझते हैं।

श्री आनंदघनजी कहते हैं कि —

अहो ! अहो ! हुँ मुजने कहुँ, नमो मुज नमो मुज रे।

अमित फल दान दातारनी, जेहनी भेट थइ तुज रे॥

स्वयं अपने ही आत्माको वंदन करता है। अहो! धन्यकाल! अहो! धन्यभाव! मुझे केवलज्ञान प्रगट होगा, ऐसा प्रभात हो चुका है, उसका क्या वर्णन करूँ? मेरे आत्माको नमस्कार हो! नमस्कार हो! गृहस्थाश्रममें रहनेवाले आत्मप्रतीतिको प्राप्त जीव तथा संत आचार्य भी ऐसी भावना भाते हैं, स्वयं अपनेको नमस्कार करते हैं।

कोई यह सकता है कि क्या कोई अपनेको भी नमस्कार करता है? परन्तु जो देव, गुरु, शास्त्रको नमस्कार करता है, वह कहीं दूसरेको नमस्कार नहीं करता, परन्तु सब अपने अनुकूल को ही नमस्कार करते हैं उसमें देव गुरु शास्त्र बीचमें आ जाते हैं। जहाँ परिपूर्ण आत्माकी प्रतीति हुई, वहाँ अपने आत्माकी अपूर्व महिमा होती है।

जहाँ आत्मप्रतीति होती है वहाँ अमित फलदान दातार अर्थात् अपार फलके दानकी भेट जिसको ही होती है। लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मर्यादित हैं, और यह तो मर्यादा रहित अपार स्वरूप प्रगट हुआ है। आत्मप्रतीति होने पर अमित फल दान दातारकी भेट हुई। मोतियोंसे स्वयं अपना स्वागत करता है। यदि सांसारिक धनवान किसीको पुत्र देते हैं तो वह दस, पाँच वर्ष तक चल सकता है, किन्तु यह तो तुझे अनादि निधान आत्मनिधि स्वरूपकी भेंट हुई है, जो कि सादि अनंत काल रहनेवाली है। जिस भावसे आत्माका परिचय हुआ है, उसी भावसे केवलज्ञान दशा प्रगट होगी इसप्रकार अपने भावको

नमस्कार करता है, और अपनेको धन्य धन्य मानता है। इसमें अभिमान नहीं, किन्तु अपने आत्माके स्वभावका अपूर्व महात्म्य है, और पूर्ण दशा प्रगट करने की भावना है, इसलिये स्वाभाविक नमस्कार हो जाता है। अपने स्वभावकी पर्याय प्रगट हुई सो उसे धन्य धन्य कहता है।

आनन्दघनजी कहते हैं कि —

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रग शु,
भग न पड़शो प्रीत, जिनेश्वर,
बीजो मनमंदिर आणु नहिं,
अे अम कुलवट रीत जिनेश्वर। धर्म०

आनन्दघनजी महाराज धर्म जिनेश्वर भगवानके गुणगान करते हुए अपने आत्माके ही गुणगान कर रहे हैं, अपने आत्मस्वभावका ही स्तवन कर रहे हैं। बाहरसे तो धर्मनाथ भगवानकी स्तुति कर रहे हैं किन्तु भीतरसे धर्म मूर्ति-स्वय अपने आत्माकी स्तुति करते हैं।

हे धर्ममूर्ति! जिसमें अपार गुण भरे हुए हैं, ऐसे आत्माके गुण-गान रुचि रग पूर्वक गानेके लिये तत्पर हुआ हूँ, हे वीतराग! हे आत्मन्! मेरी प्रीत, तेरी रुचि, और तेरी प्रतीतिमें जो मै आत्माके गुणगान करने निकला हूँ उसमें भग न पड़े—विघ्न न आये, त्रिकालमें भी कोई बाधा न आये हे जिनेन्द्र! हे चिदानन्द आत्मा! तेरी जो प्रीति हुई है, उसमें भग न पड़े।

यहाँ मात्र प्रीति—भगकी भावना ही नहीं की है, किन्तु साथ ही महान उत्तरदायित्व स्वीकार किया है कि-'बीजो मन मदिर आणो नहिं,' अर्थात् अपने मनमदिरमें किसी दूसरेको—कुगुरु, कुदेव, कुधर्मको नहीं आने दूँगा। अर्थात् अपने स्वभावकी प्रतीतिमें उनका आदर नहीं होने दूँगा, यह गुणकी प्रीतिमें जागृत होकर उठा है, और कहता है कि एक मात्र चैतन्यके अतिरिक्त पुण्य पाप स्त्रीकुटु-म्बादिके पर भावोंको अपनेमें नहीं आने दूँगा, पर पदार्थका आदर नहीं होने दूँगा। इस संपूर्ण उत्तरदायित्वके साथ कहता हूँ कि हे जिनेन्द्र! आपकी प्रीतिमें और मेरे आत्मस्वभावमें कोई भग न पड़े। हे भगवान! आत्माके अनुमोदनमें दूसरेका आदर नहीं हो सकता। हे नाथ! जो आनरिक प्रीति जागृत हुई है, उसमें आजसे

लेकर अनन्त कालमें भी भंग न पड़े। मैं इस शपथ पूर्वक यह उत्तरदायित्व स्वीकार करता हूँ, कि अपने आत्माके अतिरिक्त अन्य पुण्य पापादिके भावका आदर नहीं होने दूँगा।

सती स्त्री अथवा ब्रह्मचारी पुरुषके हृदयमें अन्य पुरुष या स्त्री नहीं आती, इसीप्रकार धर्मात्मा पुरुष कहता है कि हे चैतन्य! तेरे स्वभावसे प्रीति हो गई है, मैं जागृत हो गया हूँ, अब अपनेमें दूसरेका आदर नहीं होने दूँगा। दूसरेको आदर न होने देना हमारे कुलकी रीति है। हे नाथ! हम तीर्थंकरकी जाति और कुल के हैं। तीर्थंकर भगवान जिस भावसे आगे बढ़े सो बढ़े वे कभी पीछे नहीं हटते। सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ सो केवलज्ञान होकर ही रहता है। हमारे कुलकी यह रीति है कि बीचमें दूसरा भाव नहीं आने दूँगा, जो भाव लेकर आगे बढ़ा हूँ उससे अब केवलज्ञान लेकर ही रहूँगा। हे नाथ! हमारे कुलकी यह रीति है कि हमने जो प्रयाण किया है सो अब पीछे नहीं देखेंगे। वे तीर्थंकर हमारे कुलके हैं। वे जिस मार्गसे गये हैं, वह मार्ग हमारा है, इसलिये उसमें भङ्ग नहीं हो सकता। शुभाशुभभावका आदर नहीं होने दूँगा। इस उत्तरदायित्वके साथ कह रहा हूँ कि इसमें अब भङ्ग नहीं पड़ने दूँगा। वीतराग भगवानने दूसरे भावको नहीं आने दिया। इसलिये मैं भी परभावको नहीं आने दूँगा यह हमारे कुलकी रीति है।

लोग अपने कुलकी टेकके लिये मरते फिरते हैं, तो हे आत्मन्! तेरा कुल तो तीर्थंकरोंकी टेक पर चल रहा है, इसलिये अब जागृत हुआ सो हुआ अब पुनः असावधान नहीं हो सकता। महा पुरुषोंके मुखसे जो वचन दत्तवाक्य निकलते हैं उन्हें वे पूरा करके ही रहते हैं, इसीप्रकार धर्मात्मा पुरुष कहते हैं कि हमने जो कुछ कह दिया सो वह भी होकर रहेगा। हमने तीर्थंकर देवकी टेक पकड़ी है, अब हम जागृत हो चुके हैं इसलिये असावधान नहीं रहेंगे। अब आगे कलशरूप काव्य कहते हैं —

(वसंत तिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे,

शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।

किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयं परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६८ ॥

अर्थः—जिसका तेज स्याद्वादके द्वारा जगमग, जगमग करता हुआ प्रदीप्त हुआ है, और जो शुद्ध स्वभावरूप महिमामय ज्ञान प्रकाश मुझमें उदित हुआ है, वहाँ बन्ध मोक्षके मार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या प्रयोजन है? जिसका नित्योदय रहता है, ऐसा यह (अनन्त चतुष्टयरूप) केवल स्वभाव ही मुझमें स्फुरायमान हो।

स्याद्वादके द्वारा अर्थात् आत्मा अपनी अपेक्षासे है और परकी अपेक्षासे (शरीर, मन, वाणी, और पुण्य पापके भावरूपसे) नहीं है, ऐसी प्रतीति करके अपने स्वरूपमें स्थिर होनेसे जिसका तेज प्रकाशमान हो रहा है, ऐसा ज्ञान-प्रकाश उदयको प्राप्त होता है।

चैतन्यप्रकाश झिलमिल करता हुआ प्रगट होता है, आत्मामें यह जड़रूपी द्रव्योंका तेज नहीं है, परन्तु ज्ञानप्रकाशका तेज है। जहाँ आत्मस्वभावकी प्रतीति करके स्थिर हुआ कि वहाँ ज्ञान प्रकाश प्रगट हो जाता है। उस शुद्ध स्वभावकी महिमा अपूर्व है। शुभाशुभ आदि अन्य भावोंकी महिमा नहीं किन्तु शुद्ध स्वभावकी ही महिमा है। जहाँ शुद्ध प्रकाश प्रगट होता है, वहाँ मानों प्रकाशमान सूर्य ही उदय होता है, या स्वर्ण प्रभात ही होता है।

चैतन्यमूर्तिके अतिरिक्त समस्त बाह्य सुख आपदारूप हैं, वे सुख नहीं हैं, दुःख हैं, कल्पना मात्र हैं। चैतन्यमूर्तिका अवलम्बन लेनेसे जो सुख प्रगट होता है, और जो आनन्द होता है वही सुख और आनन्द हमें प्राप्त हो, अन्य कुछ नहीं चाहिये। जिसके शुद्ध स्वभावकी अपूर्व महिमा है वही ज्ञान प्रकाश मुझमें प्रगट हुआ है, तब फिर बन्ध और मोक्षके विकल्पोंका मुझे क्या काम है? बन्ध ऐसा था और मोक्ष यों होगा, ऐसे विकल्पोंसे मुझे क्या काम है। पुण्यका परिणाम ऐसा होता है, और मोक्षका परिणाम ऐसा होता है, ऐसे रागमें रुकनेमें मुझे क्या प्रयोजन है? ऐसे विकल्पोंमें उलझनेसे विकल्प टूटकर निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिये ऐसे विकल्पोंसे मुझे क्या प्रयोजन है? जिसका उदय नित्य बना रहता है, वैसा स्वभाव ही मुझमें स्फुराय

मान रह ! मेरे स्वभावकी प्रतीतिमें अप्रगट भाव प्रगट हुआ है वह सदा स्फुरायमान रहे ! केवलज्ञानादि अनंत स्वचतुष्टय मेरे स्वरूपमें सादि अनन्त काल तक स्फुरायमान रह ! इसप्रकार आचार्यदेवने अपने स्वभावमें स्वचतुष्टय प्रगट हों ऐसी भावना भायी है। यह सुप्रभात मांगलिक है।

आत्माका वास्तविक स्वभावमें पर संयोगसे जो भाव दिखाई देते हैं वह आत्माका मूल स्वभाव नहीं है, जो स्वभाव आत्मामें त्रिकाल रहता है वह आत्माका स्वभाव कहलाता है, पर संयोगी भाव सदा स्थायी नहीं है, इसलिये वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

जिसे कल्याण करना हो उस भली भाँति यह समझना होगा कि कल्याण स्वरूप आत्मा कैसा है। यदि समझनेमें समय लगे तो कोई हानि नहीं है। किन्तु यदि उसे अपनी दृष्टिसे मान लेगा तो समझमें नहीं आयेगा। जिज्ञासा भावसे ही समझमें आ सकता है, किन्तु आकुलता और खेद करना तो मात्र कषाय है। यदि निराकुलतासे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ करके समझना चाहे तो अवश्य समझमें आ जायेगा।

जिसे आत्माका कल्याण करना हो उसे वस्तुस्वरूपको यथावत् समझना होगा। जो यह मानता है कि यह शरीर वाणी और मन मेरा है वह उनके ममत्वके दूर करनेका प्रयत्न कैसे करेगा ? और आत्मामें होनेवाले विकारी भावों को जो अपने भाव मानता है वह उन्हें छोड़नेका क्यों प्रयत्न करेगा ?

यह मेरा पुत्र है, यह मेरी सम्पत्तिकी रक्षा करेगा, यह जानकर उसका रक्षण करना है, किन्तु यदि कोई शत्रु पुत्र या डाकू घरमें घुस जाये तो उसे भगानेका प्रयत्न करता है। यदि डाकूको स्वयं अकेले ही भगानेकी हिम्मत न हो तो दूसरोंको बुलाकर उसे निकाल भगायेगा। यदि इसमें कुछ विलम्ब हो जाय तो भी उसे रखनेकी रुचि नहीं है। इसीप्रकार मैं कौन हूँ ? मेरा सम्पत्ति मुझमें ही किस उपायसे रह सकेगी ? मैं आत्मा क्या वस्तु हूँ ? और यह क्षणिक वस्तु क्या है ? इसके विवेक बिना अपनी वस्तुकी रक्षा नहीं होसकती और परभावको छोड़नेका प्रयत्न नहीं हो सकता।

विकार क्या है ? और निर्विकार क्या है ? यह विचार कर। जगत

में जो शब्द हैं वे या तो द्रव्य हैं या गुण हैं या पर्याय हैं, ऐसा वाच्यवाचक सम्बंध है। वाचक तो शब्द हैं और वाच्य पदार्थ हैं।

ऐसा मनुष्य भव प्राप्त करके आत्माका निर्णय न किया तो फिर यह आयु पूर्ण होनेके बाद कहाँ जायेगा ? परसे भिन्न आत्माका निर्णय किये विना चौरासीका चक्कर नहीं मिट सकता। मरण समय कौन शरण होता है ? चाहे जैसी प्रतिकूलतामें भी आत्माका निर्णय हो सकता है। बाह्य प्रतिकूलता या अनुकूलताके उदयके संयोगको आत्मा नहीं टाल सकता, किन्तु मोहनीय आदि घातिया कर्मोंके उदयमें स्वयं युक्त होता है, सो उसे आत्मा अपने पुरुषार्थके द्वारा दूर कर सकता है। आत्माकी पर्यायमें जो राग - द्वेष और भ्रांतिरूप विपरीत मान्यता होती है, उसे आत्मा पुरुषार्थके द्वारा दूर कर सकता है। बाह्य अनुकूल प्रतिकूल संयोग आत्माको लाभ - हानि नहीं करते, किन्तु आत्माकी पर्यायमें विपरीत पुरुषार्थके द्वारा होनेवाली विपरीत मान्यता और राग - द्वेष ही हानि कारक हैं। इसलिये वस्तु स्वरूपको यथावत् समझनेका प्रयत्न कर, चारों पहलुओंमें विचार कर, स्वोन्मुख होकर निज बलसे निर्णय कर। मनका अवलम्बन बीचमें उपस्थित रहता है, किन्तु अपनी ओरके अवलम्बनके वीर्यका बल है, इसलिये उसने आत्मासे ही निर्णय किया है। मनसे—परसे निर्णय नहीं किया किन्तु अपने ही द्वारा निर्णय किया है। मनका अवलम्बन होने पर भी मनका निषेध करके स्वोन्मुख होकर आत्म बलसे निर्णय किया है। आत्माको पहिचान कर प्रतीति किये बिना कहाँ स्थिर होगा, तत्वको जाने विना तत्वमें कैसे स्थिर होगा ? आत्माको पहिचान कर, उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिर होनेसे बुद्धि पुरस्सर मनका अवलम्बन भी छूट जाता है,—बुद्धि पूर्वकताके विकल्प छूट जाते हैं, रागसे अलग होकर अपने स्वरूपका अनुभव करता है, और फिर स्थिरताके बढ़ने पर चारित्र प्रगट होता है, और चारित्रके बढ़ने पर केवलज्ञान प्रगट होता है।

पहले पाँच शरीरोंकी व्याख्या करके यह बताया जा चुका है कि इनमेंसे कोई शरीर आत्माके नहीं है वे आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। शरीर केवल जड़ पिंड है। शरीरकी कोई भी क्रिया आत्माके हितरूप नहीं है।

जो यह मानता है कि मुझे परसे लाभ होता है, वह मानों यह मानता है कि मुझमें कोई सत्व नहीं है, और दूसरेने मेरी सहायता की, इस मान्यताका

भय यह हुआ कि हम दोनों मिलकर एक हो गये। तीनकाल और तीनलोक में भी एक वस्तु दूसरी वस्तुकी सहायता नहीं कर सकती। पर पदार्थोंका आत्मा में अभाव है, इसलिये वह आत्माका हानि लाभ नहीं कर सकते। यह मार्ग संसारसे सर्वथा निराला है।

अपनी वस्तु परसे भिन्न होकर रहती है इसलिये अलग है। जो पर रूप नहीं होती, वह निज रूप होती है, किन्तु जो पर रूप नहीं होती वह अपने रूपसे भी न हो ऐसा नहीं हो सकता, और अपने रूपसे हो तथा पर रूप से भी हो ऐसा नहीं हो सकता, इसलिये जो अपने रूपसे होती है वह पर रूप से नहीं होती, यह अबाधित सिद्धांत है।

जैसे हाथमें ली हुई कलम हाथसे भिन्न है, यह बात ज्ञान करने वालेको बतलाती है, और मैं लकड़ी रूप हूँ किन्तु हाथ रूप नहीं हूँ, इसप्रकार लकड़ी स्वयं ही अपनेको दूसरेसे भिन्न बतला रही है, इसीप्रकार आत्मा निज रूपसे है, ऐसा पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने पर साथमें यह भी आ जाता है कि वह पर रूप नहीं है। अस्तिके स्वीकार करने पर साथमें नास्ति भी आ जाती है। मैं स्वतः स्वभावसे परिपूर्ण वस्तु हूँ। मेरे द्रव्य गुण पर्याय दूसरेमें और किसीके द्रव्य गुण पर्याय मुझमें प्रविष्ट नहीं होते।

शरीर आत्मारूप नहीं है, शरीरके रजकण शरीरमें हैं आत्मामें नहीं, आत्मा, आत्मामें है, वह शरीर रूप नहीं है। जो निजरूपसे नहीं है वह अपनी सहायता कैसे कर सकता है? यह कोई सूक्ष्म या गहन बात नहीं है किन्तु सब से पहली इकाई है। मनुष्य भव प्राप्त करके यदि इसे न समझ सका तो यहाँ से जाकर फिर चौरासीके चक्करमें जा गिरेगा। मनुष्य भवमें जो पुण्य फलित हुआ है, वह सब सूख जाने वाला है, वह सदा स्थायी नहीं है। परकी क्रिया से मुझे लाभ होगा अथवा परकी सहायतासे मुझे धर्म प्राप्त होगा ऐसा मानने वाला आत्माकी त्रैकालिक स्वतंत्रताकी हत्या करने वाला, और स्वतंत्र न्यायके प्रति, अन्याय करने वाला है।

प्रश्न —पूर्ण वीतराग होनेपर भले ही दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता न हो, किंतु उससे पूर्व तो होती ही है?

उत्तर — न तो पूर्णतामें किसीकी सहायता होती है और न अपूर्णता में ही। क्योंकि जो पूर्णता में होता है, वही प्रारम्भ में भी होता है। पूर्णतामें स्वाधीन धर्म हो और अपूर्णतामें पराधीन धर्म हो ऐसा स्वरूप नहीं हो सकता। जो पूर्णतामें होता है उसी प्रकारका अंश यदि प्रारम्भमें हो तभी उसे प्रारम्भ कहा जाता है, अन्यथा वह प्रारम्भ ही नहीं है पहले स्वाधीन स्वभावकी श्रद्धा होती है, और फिर स्थिरता होती है।

सम्पूर्ण वस्तुएँ अपने रूपसे हैं और पर रूपसे नहीं हैं। जब कि दो वस्तुयें भिन्न भिन्न हैं तब फिर एक दूसरेकी सहायता कहाँ रही? शरीर शरीरमें है, आत्मामें नहीं। इसी प्रकार आत्मा शरीरमें नहीं किंतु आत्मामें है। यदि शरीर और आत्मा एकत्रित हो जायें तो फिर वे अलग नहीं हो सकते। शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहकर भी परमार्थसे अलग अलग हैं।

जिसे यह प्रतीति है कि अपना चैतन्य दल परसे सर्वथा भिन्न है, वह किसी महायुद्ध में स्थित हुआ हो या राज काजमें पड़ा हो तथापि उसे अल्प बंध होता है। परसे अपना स्वरूप भिन्न मानने, और परका स्वामित्व अन्तरंगसे छूट जानेकी प्रतीति होने पर भी भरत चक्रवर्तिने छह खण्डका राज्य किया, किन्तु उनके ऐसा विवेक बना हुआ था, कि अन्तरंगमें अपना सम्पूर्ण चैतन्य दल अलग ही विद्यमान है, और इसप्रकार पृथक् प्रतीति थी कि न तो पर पदार्थ मेरी सहायता कर सकते हैं और न मैं उनकी ही सहायता कर सकता हूँ। इस प्रकार ज्ञायककी प्रतीतिमें ज्ञातारूपसे रहकर सम्यग्दर्शन सहित करोड़ों वर्ष राजकाजमें व्यतीत किये, तथापि उनका एक भी भव नहीं बढ़ा। यह आंतरिक प्रतीतिकी महिमा है।

ज्ञानी गृहस्थाश्रममें रहता हुआ व्यापार, राज पाट इत्यादिकी क्रियामें लगा रहे, तथापि वह उनका कर्ता नहीं होता, वह भली भाँति जानता है कि एक रजकण भी परिवर्तित होता है, सो वह उसीसे परिवर्तित होता है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण शुभभाव या अशुभभावमें युक्त हो जाता है। वह दान देनेके कार्यमें भी प्रवृत्त होता है, और शारीरिक उपचार भी करता है, किन्तु वह परकी क्रियाका या विकल्पका कर्ता नहीं होता।

मात्र पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण वैसे भाव हो जाते हैं।

अज्ञानी जीव अपनेको जड़की क्रियाका कर्ता मानता है, विकल्पका भी कर्ता मानता है। रुपये-पैसेका मिलना, प्रतिकूलताका दूर होना, निरोगता का होना-यह सब पुण्योदय पर निर्भर है। इन सब अनुकूलताओंके होनेमें पुण्योदय हो तो उस उदयके अनुकूल निमित्त स्वतन्त्रतया अपने अपने कारणसे विद्यमान होते हैं आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

दूसरोंको दानादि देनेके जो भाव होते हैं सो वह स्वतन्त्र कारणसे होते हैं, और दूसरोंको जो दान इत्यादि मिलना है सो वह भी स्वतन्त्र कारणसे मिलता है। दूसरेको दान देनेके भाव जब होते हैं जब तृष्णा कम करके पुरुषार्थके द्वारा स्वयं शुभभावमें प्रवृत्त होता है। और प्रस्तुत जीवको उस प्रकार की अनुकूलता उसके अघातिय कर्मके उदयानुसार होती है। दोनों कार्य स्वतंत्र होते हैं, तथापि दोनोंका कभी कभी मेल हो जाता है, इसलिये अज्ञानी जीव परका कर्ता बनता है, कि मैंने इसे दान दिया, मैंने इसे सुखी किया है। शरीर के हलन चलन और बोलने इत्यादिकी क्रिया स्वतन्त्र होती है तथापि उस इच्छाके अनुकूल उदयके कारण इच्छानुसार होता हुआ देखकर अज्ञानी जीव मानता है कि यह क्रिया मेरे द्वारा होती है। परन्तु इच्छा होती है सो आत्मा स्वयं प्रवृत्त होता है, इसलिये अपनी पर्यायमें विकार होता है और शरीरकी जो अनुकूल क्रिया होती है, सो वह भिन्न कारणसे होती है। अनुकूल उदय के कारण इच्छा और शरीरकी हलन चलनादि क्रियाका-दोनोंका लगभग सम्बन्ध होता है, इसलिये अज्ञानी मानता है कि जड़ की क्रिया मेरे द्वारा होती है। किन्तु यदि हो सकता हो तो जब लकवा मार जाता है, तब इच्छित क्रिया क्यों नहीं कर सकता ? जो एक समय कर सकता है वह सर्वदा कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि कोई किसीकी क्रिया नहीं कर सकता, जड़ चैतन्य दोनों त्रिकाल स्वतन्त्र और पृथक् पदार्थ है, इसलिये दोनोंकी क्रिया भी स्वतन्त्र अलग अलग है। जड़की क्रिया ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी कर ही नहीं सकता किन्तु अज्ञानी जीव अज्ञान अवस्थामें शुभाशुभ परिणामका कर्ता होता है।

ज्ञानी शुभाशुभ परिणामके भी कर्ता नहीं होते, तथापि वे अशुभभाव

को दूर करनेके लिये दान पूजादिके शुभभावोंमें युक्त होते हैं। वीर्यकी मन्दताको लेकर ज्ञानीका वीर्य अस्थिरतामें प्रवृत्त होता है, इसलिये वह बाहरसे कर्ता मालूम होता है, किन्तु वास्तवमें तो वह मात्र ज्ञाता है, कर्ता नहीं। ज्ञानीके यदि व्यापार या राजकाज करनेके विकल्प होते हैं तो भी वह उन विकल्पोंका मात्र ज्ञाता होता है। जिस समय राग द्वेष इत्यादिके भाव होते हैं उसी समय ज्ञानी उन्हें जानता है। उसी क्षण वह उनका ज्ञाता है, किन्तु कर्ता नहीं। वीर्यकी मन्दताके कारण वह युक्त हो जाता है, उससे रागद्वेष भी हो जाता है, किन्तु उसके स्वामित्व बुद्धि नहीं होती। ज्ञानीके बाह्य शरीरादिकी क्रिया और आंतरिक विकल्प होते हैं किन्तु स्वामित्वबुद्धि नहीं होती। राग-द्वेष हो जाता है किन्तु कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। ज्ञानीके परसे भिन्न निराली आत्मप्रतीति सहज ही वर्तमान रहा करती है। वह समझता है कि यह राग पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण है, और वह राजसिंहासन पर बैठा हुआ अपनेको विष्टाके ढेरपर बैठा हुआ मानता है। यदि इसी क्षण पुरुषार्थ प्रगट करके वीतराग हुआ जा सकता हो तो ज्ञानी ऐसी भावना भाता कि यह मुझे कुछ नहीं चाहिये। ऐसे आंतरिक प्रतीतिवान धर्मात्मा संसारमें थे किन्तु वे एकावतारी हो गये हैं।

१ अज्ञानी पुरुष ऐसी प्रतीतिके बिना त्यागी हुआ, नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, राजपाट छोड़ा, रानियोंका त्याग किया और त्यागी होकर अरबों वर्ष तक जङ्गलमें रहा, और वह इतना विरक्त रहा कि उसे यह भी ध्यान न हुआ कि मेरी कौन वंदना कर रहा है, एक एक वर्षके उपवास किये तथा ऐसे विविध पुण्य परिणाम किये किन्तु साथ ही वह यह मानता रहा कि परमेंसे मेरा गुण प्रगट होता है, और उसने यह नहीं माना कि मुझमें अनन्त गुण भरे हुए हैं उसमेंसे गुणोंकी पर्याय आती है। और इसप्रकार यह मानकर कि परसे मुझे गुण - लाभ होता है, ऐसी शल्य पूर्वक त्यागी हुआ, तथापि वह बिना इकाईके शून्य समान ही रहा। स्वरूप प्रतीतिके न होनेसे उसका एक भी भव कम नहीं हुआ।

२ जबकि पहले धर्मात्मा अज्ञानी था तब निर्धन था और फिर ज्ञानी होनेके बाद बाह्य संयोग अच्छे हो गये हों और राजकाजमें संलग्न हो तथापि

उसे यह प्रतीति होती है कि मै अपने आत्मामें दृष्टि डालनेसे बढ़ता हूँ, बाह्य सयोगोंके बढ़नेसे मै नहीं बढ़ता और न उनसे मेरे आत्मामें कोई हानि ही होती है। बाह्य सयोगोंके बढ़ जाने पर भी ज्ञानीको यह प्रतीति होती है कि एक रजकण भी मेरी वस्तु नहीं है, पर पदार्थसे मुझे कोइ सहायता नहीं मिलती, मै परसे निराला चिदानन्द आत्मा हूँ, जो ऐसे आत्माकी प्रतीतिमें विराजमान है वह मुक्तिके मार्गमें जा पहुँचा है, और वह अल्प कालमें ही मुक्ति प्राप्त करेगा। ज्ञानाके बाह्य सयोग बढ़ गये हो और अज्ञानी सब कुछ छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि हो गया हो किन्तु उसके भीतर यह शल्य विद्यमान है कि मैने इन बाह्य पदार्थोंका त्याग किया है, इसलिये मुझे गुण लाभ होगा, और यह प्रतीति नहीं है कि मुझमें अनन्त गुण विद्यमान हैं, उन गुणों पर दृष्टि डालनेसे गुण-पर्याय प्रगट होगी, इसलिये उसका एक भी भव कम नहीं होता।

श्रेणिक राजाको मात्र आत्मप्रतीति थी, स्थिरता प्रगट नहीं हुई थी तथापि वे एकावतारी हो गये हैं यह सम्यक्दर्शनकी महिमा है। श्रेणिक राजा का जीव आगामी चौबीसीमें प्रथम तीर्थंकर होगा। सम्यक्दर्शन होनेके बाद सम्यक्दर्शनकी भूमिकामें अपूर्ण दशा है, इसलिये जो शुभराग विद्यमान हो उससे तीर्थंकर गोत्र बधता है। पर वस्तु मेरी नहीं है, ऐसी प्रतीति हो कि तत्काल ही समस्त पर वस्तुयें छूट जायें ऐसा नियम नहीं है। क्रमश रागके छूटने पर वस्तु भी छूट जाती है। ऐसा राग और पर वस्तुका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

चतुर्थ गुणस्थानमें रहनेवाले सम्यग्दृष्टिको परसे भिन्न आत्मस्वरूपकी प्रतीति होती है। जैसा अनुभव सिद्ध भगवानको होता है, वैसा आशिक अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिको होता है। और वह जब चौथे गुणस्थानसे पाचवें गुणस्थानमें आ जाता है, तब स्वरूप रमणता विशेष बढ़ती है। वहाँ जितने अशमें स्वरूप स्थिरता बढ़ती है उतने अशमें राग छूट जाता है, और उतने ही प्रमाणमें पर वस्तुका सबन्ध भी छुट जाता है, तथा व्रतके शुभ परिणाम होते हैं, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। व्रत के परिणाम पुण्य बन्धके कारण हैं, और अन्तरगमें जो पुरुषार्थके द्वारा सहज दशा बढ़ी और आशक्ति छूटी सो वह निर्जराका कारण है। पचम गुणस्थान

के बाद पुरुषार्थके द्वारा, सहज दशाके बढ़ने पर छट्ठा गुणस्थान होता है। छट्ठे गुणस्थानमें पुरुषार्थके द्वारा सहज दशा बहुत बढ़ जाती है, और राग बहुत कम हो जाता है, जिससे वहाँ वस्त्र भी छूट जाते है, और नग्न दिगम्बर मुनि हो जाता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

उस मुनित्वकी भूमिकामें स्वरूप रमणता अधिकाधिक बढ़ती जाती है, और वह मुनि अंतर्मुहूर्तमें छट्ठे और अंतर्मुहूर्तमें सातवें गुणस्थानमें झूलते रहते हैं। जब वे छट्ठे गुणस्थानमें होते हैं तब उपदेश, स्वाध्याय, शास्त्र रचना, भगवानके दर्शन, स्तुति, और आहारादिके विकल्प होते हैं, तथापि वे छट्ठे गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रहते। क्षण भरमें चैतन्य पिंड रागसे अलग होकर स्वरूपमें लीन होता है। जब मुनिराज आहार करते विहार करते हों, या उपदेश देते हों उस समय भी प्रतिक्षण चैतन्य पिंड परसे अलग होकर स्वरूपमें लीन होता है, इसप्रकार मुनि छट्ठे, सातवें गुणस्थानमें झूलते रहते हैं। उन मुनिके पूर्ण वीतराग दशा प्रगट नहीं हुई है, इसलिये उपदेश इत्यादिके और पंच महाव्रतके जो शुभ परिणाम होते हैं वे पुण्य बन्धके कारण हैं और जो अंतरंग दशा प्रगट हुई है, वह मोक्षका कारण है।

आत्मप्रतीतिके बिना किये जानेवाले व्रत तप आदि बालव्रत और बाल-तप कहलाते हैं, तप दो प्रकार हैं, एक पण्डिततप, और दूसरा बालतप। जो तप आत्मप्रतीतिके बिना किया जाता है, वह बालतप है और जो आत्मप्रतीतिके बाद आंतरिक एकाग्रता होनेसे वृत्ति छूट जाती है सो पण्डिततप है, आनन्दमूर्ति आत्मा में स्थिर होनेसे इच्छाका टूट जाना या अतीन्द्रिय आनन्द रसका स्वाद लेनेसे इच्छाका टूट जाना ज्ञानीका तप है, और आत्मप्रतीति रहित जो तप है सो अज्ञानीका तप है।

अब सातवीं बात कहते हैं—समचतुरस्र संस्थान आत्मामें नहीं है, छह प्रकारके शरीरका आकार आत्मामें नहीं है।

१—समचतुरस्र-संस्थान-पद्मासन स्थित मनुष्यके शरीरको नापा जाये, और वह चारों ओरसे एक समान ही आये। ऐसा जड़का आकार आत्मामें नहीं है, आत्मा उससे भिन्न है, आत्मामें अपने असंख्यात प्रदेशोंका

अरूपी आकार है ।

२—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान—पेटसे ऊपरका भाग वटवृक्षकी भाँति लम्बा चौड़ा और नीचेका भाग छोटा हो । यह सब शरीरका आकार है, यह अरूपी आत्माका आकार नहीं है ।

३—स्वातिसंस्थान—शरीरके नीचेका भाग स्थूल हो और ऊपरका भाग पतला या छोटा हो । यह सब जड़का आकार है, आत्मामें ऐसी आकृति नहीं है ।

४—कुब्जक संस्थान—शरीर कुबड़ा हो, कूबड़ निकल आयी हो । यह आकार भी शरीरका है आत्माका नहीं ।

५—वामन संस्थान—शरीर अत्यन्त ठिगना हो । यह आकार भी शरीरका है, आत्माका नहीं ।

६—हुंडक संस्थान—शरीरका आकार और अंगोपांग बेडौल हों । यह भी आत्माका आकार नहीं है ।

यह छहों आकृतियाँ जड़की हैं आत्माकी नहीं । जो तुझमें नहीं है, उनका आश्रय या अवलम्बन मत मान, किन्तु आत्मा अखण्ड, पूर्ण स्वाधीन तत्व है, उस पर दृष्टि लगा तो आत्मस्वभाव प्रगट होगा ।

अब यहाँ आठवीं बात संहननके संबंधमें कहते हैं । हड्डियोंकी सुदृढ़ताको संहनन कहते हैं यह छह प्रकारका है ।

वज्रऋषभनाराच संहनन - अत्यन्त सुदृढ़ होता है । जब केवलज्ञान होता है, तब यह संहनन होता है । कोई कहता है कि धर्म साधनके लिये वज्रऋषभनाराच संहनन आवश्यक है, उसके बिना न तो धर्म होता है, और न केवलज्ञान ही प्रगट होता है । उसके समाधानार्थ कहते हैं कि यह शरीर तो पुद्गलका पुतला है, जो कि आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो सकता । फिर यह आत्मा के लिये कैसे सहायक हो सकता है ? जब केवलज्ञान होता है तब शरीरकी हड्डियोंकी ऐसी सुदृढ़ता होती है । हड्डियोंकी यह सुदृढ़ता उस समय मात्र विद्यमान होती है, वह आत्माको धर्म नहीं करवा देती या यह केवलज्ञान प्रगट नहीं करवा देती । एक तत्वके भीतर दूसरा तत्व प्रवेश हो ही नहीं सकता, तब फिर वह आत्माको लाभ या सहायता कैसे पहुँचा सकता है । जहाँ यह कहा

कि केवलज्ञानके समय हड्डियोंकी ऐसी सुदृढ़ता होती है, वहाँ वह उन हड्डियोंको ले बैठा ! किन्तु मैं परके आश्रय या आधारसे रहित हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं है, मेरी हानि - लाभ मुझसे ही होता है, ऐसे स्वतन्त्र तत्वकी जिसे खबर नहीं है यह चौरासीके अवतारमें खो जायेगा, और जहाँ मरण समय आयेगा वहाँ हाहाकार करने लगेगा। करोड़ों रुपया हो तथा शरीर अच्छा, सुन्दर, सुदृढ़ हो तो भी मरण समय आत्मप्रतीतिके बिना कोई शरण नहीं हो सकता। इस प्रथम संहननवाले अनन्त जीव नरकमें भी गये हैं। ऐसा अनन्त बार मिला तथापि आत्माका कल्याण नहीं हो सका आत्मकल्याण तो आत्मप्रतीतिसे ही होता है। अनन्तबार ऐसा संहनन प्राप्त करके भी आत्मप्रतीति नहीं की इसलिये कोई लाभ नहीं हुआ। यदि संहनन ही लाभ कारक हो तो वज्रवृषभनाराच-संहननवाले नरकमें न जायें, सबको मोक्ष ही जाना चाहिये। किन्तु इस संहननवाले अनन्त जीव नरकमें गये हैं ऐसे अनेक शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संहनन आत्माके लिये लाभ कारक नहीं है, किन्तु अपने पुरुषार्थके द्वारा आत्मप्रतीति और स्थिरता करे तो आत्माको लाभ हो।

संहनन जड़ है, और आत्मा चैतन्य है, इसलिये संहनन आत्माका स्वरूप नहीं है, छहों संहनन अनुक्रमसे एक दूसरेसे हीन हैं, संहननके छह प्रकार हैं—वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन। इन संहननोंसे आत्मा भिन्न है, आत्मा ज्ञानज्योति है, उसकी श्रद्धा करके स्थिरता करे तो केवलज्ञान प्राप्त होता है। संहनन जड़ पुद्गल द्रव्यकी रचना हैं, इसलिये वे आत्मानुभवसे भिन्न हैं।

अब नवमीं बात कहते हैं—राग आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्मा तो वीतराग स्वरूप है। जितने भी रागके प्रकार हैं उनमेंसे कोई भी जीवके स्वभावमें नहीं हैं, अशुभरागको दूर करनेके लिये देव, गुरु धर्मका शुभराग हुए बिना नहीं रहता किन्तु धर्मात्मा, उस रागको अपना स्वरूप नहीं मानते। पुण्य राग या पाप राग दोनों आत्माके स्वभाव नहीं हैं। जो प्रीतिरूप राग है सो आत्माका स्वरूप नहीं है। अशुभ रागसे पाप बन्ध, और शुभरागसे पुण्य बन्ध होता है, किन्तु त्रिकालमें भी उनसे धर्म नहीं होता। यदि रागसे अलग

न हो तो वीतराग नहीं हो सकता, और वीतराग हुये बिना सतन्त्र नहीं हो सकता। रागकी ओरका झुकाव क्षणिककी ओर चैतन्यकी ओरका झुकाव अविनाशीकी ओर होता है। रागको तोड़नेकी शक्ति सत्‌की शक्तिकी प्रतीतिमें आ जाती है। राग आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माकी पर्यायमें राग होता है किन्तु वह जड़ है क्योंकि चैतन्यके अनुभवसे रागका अनुभव भिन्न है।

जीवोंको ऐसा लगता है, कि जो राग है, सो मैं हूँ, मैं राग रहित हो सकता हूँ ? किन्तु अरे भाई ! विकारी राग कहीं तेरा स्वरूप हो सकता है ? यदि वह तेरा स्वरूप हो तो सदा तेरे साथ रहना चाहिये। किन्तु राग तो क्षणिक है, वह क्षण क्षणमें बदल जाता है। यदि कोई शत्रु आ जाये तो उस पर द्वेष होता है, और उसी समय यदि अपना मित्र आ जाये तो द्वेष मिटकर राग हो जाता है। इसप्रकार राग द्वेष बदलते रहते हैं। यदि राग-द्वेष अपना स्वरूप हो तो चाहे जिस अवसर पर रागरूप या द्वेषरूप ही बना रहना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये वह अपना स्वभाव नहीं है।

जो लड़की पन्द्रह वर्ष तक अपने माँ बापके घर रहकर वहीं रागको केन्द्रित किये हुई थी, वही विवाहके बाद ससुराल जाकर अपने रागको उस ओर बदल देती है। इसप्रकार क्षणभरमें रागमें परिवर्तन हो जाता है। राग पुण्यका हो या पापका, किन्तु दोनों आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। राग चिर-काल आत्माके स्वरूपमें है ही नहीं क्योंकि वह रूप नहीं रहता। जिसे ऐसे स्वरूप की खबर नहीं है, वह कौनसा मार्ग ग्रहण करेगा ? यदि सच्चे मार्ग को न जानकर विपरीत मार्ग पर चल देगा तो सत्य मार्ग और भी दूर होता जायगा। राग आत्माकी पर्यायमें होता है किन्तु वह दुःख रूप है, इस लिये आत्माका स्वरूप नहीं है, किन्तु जड़ है।

अब दूसरी बात कहते हैं—द्वेष भी आत्माका स्वभाव नहीं है। वह क्षणिक है। द्वेष बदल कर राग रूप हो जाता है, यदि द्वेष आत्माका स्वभाव हो तो वह एक सा ही बना रहना चाहिये, किन्तु वह एक रूप नहीं रहता। द्वेष दुःख रूप है, इसलिये वह आत्माका स्वभाव नहीं है। जब किसी व्यक्तिके

त्त्व अर्थ है, भ्रान्तिका भाव। आत्माका स्वभाव भूलकर सयोगी भावको अपना मानना मिथ्यात्व है, वे सब पुद्गलके परिणाम हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु चैतन्यके अविकारी अनुभवसे उनका अनुभव भिन्न है, इसलिये वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़ हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग यह चारों प्रत्यय अर्थात् आस्रव जीव के नहीं हैं। आत्मामें जो मलिन पर्याय होती है वह और मलिनताका कारण प्राप्त करके जो नवीन कर्म आते हैं सो आस्रव है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, इन्द्रपद, देवपद इत्यादिमें सुख मानना, और अपनेमें जो सुख है उसे भूल जाना सो मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व जड़की अवस्था है। मिथ्यात्व अपने चैतन्यकी अवस्थामें होता है, और जड़में वे भाव नहीं होते। मिथ्याभाव आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये जो सयोगी भाव होता है वह उसीका है इसलिये जड़का है। वह अपने चैतन्यका स्वभाव नहीं है ऐसा जानना, मानना और उसमें स्थिर होना स्वतन्त्र सुखका उपाय है।

"ते नरा सुख मिच्छन्ति, नेच्छन्ति सुख कारण"

सब जीव सुख चाहते किन्तु सुखके कारणोंको ढूँढनेकी इच्छा नहीं करते, सुख तो आत्माके पवित्र स्वभावमें है किन्तु लोग परमें सुखकी कल्पना करते हैं। आत्मा द्रव्य क्या है, उसका गुण क्या है, उसकी पर्याय क्या है? यह जानकर उसकी प्रतीति कर। जो द्रव्य है उसमें गुण, और पर्याय भी होती है, तथा जो गुण होता है सो अपना प्रयोजन भूतकार्य किया करता है, जैसे-ज्ञान गुण जाननेका, और चारित्र गुण रमणताका कार्य करता है, इसी प्रकार अनन्त गुण अपना अपना कार्य करते रहते हैं, वह पर्याय है। सिद्धों में भी अनन्त गुणकी अनन्त पर्यायें प्रति समय होती ही रहती हैं, प्रत्येक गुण अपना अपना कार्य किया करता है, आत्मा ज्ञान आनन्द आदि अनन्त गुणों का पिंड है उसका परिचय कर, सुख तेरे आत्मामें है परमें नहीं। आत्मा टंकोत्कीर्ण सच्चिदानन्द मूर्ति है, इसका विश्वास न करके परका विश्वास करना सो मिथ्यात्व है। देहमें विराजमान चैतन्य प्रभुका अनादर करके परका आदर करना है, अर्थात् पिताके शत्रुसे मेल रखकर पिताका अनादर करना है। इसी

प्रकार चैतन्यमूर्ति परमात्म स्वभावका अनादर करके विरोधी तत्वके साथ मेल रखना उसे अपना मानना सो शत्रुके प्रति करनेके समान है संयोगी भावका अनादर करना सो पिताका अनादर करनेके समान है।

अविरतिका अर्थ है अत्याग भाव। ज्ञानीको विषयोंका रुचि नहीं होती किन्तु रुचिके छूट जाने पर भी कुछ आसक्ति रह जाती है, वही अविरति भाव है। अज्ञानीको त्रिकाल पर वस्तुके प्रति रुचि रहती है, और ज्ञानी को नही रहती, किन्तु अस्थिरताके कारण वर्तमानमें क्षणिक आसक्ति रहती है।

ज्ञानी होनेके बाद जब तक पूर्ण वीतराग नहीं होता तब तक बीच में साधक स्वभाव होता है। आत्मस्वभावके समझ लेने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु पुरुषार्थ करना पड़ता है। राग द्वेष, हर्ष-शोक को दूर करते हुए अस्थिरताके कारण कुछ लचक आ जाती है,—कुछ आसक्ति रह जाती है। ज्ञानी समझता है कि संयोगजनित पुण्य पापादि मुझे शरण नहीं हैं, किन्तु मेरा चैतन्यमूर्ति स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। ऐसी प्रतीति होने पर भी अल्प आसक्ति रह जाती है। अनन्तानुबन्धी कषायके दूर हो जानेसे अल्प आसक्ति रह जाती है। वह अल्प आसक्ति क्रमशः स्थिरताके द्वारा दूर करके केवलज्ञानको प्राप्त कर लेगा। अत्यागभाव आत्माकी पर्यायमें होता है, किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्माका अनुभव अत्यागभावसे भिन्न है, इसलिये वह आत्माका स्वरूप नहीं है किन्तु जड़ है। आसक्तिमें मेरा त्रिकाल स्वभाव नहीं है ऐसी दृष्टिके बलसे वह छूट जाती है, इसलिये जड़ है।

आत्माकी पहिचानके बिना कोई शरणभूत नहीं है। मरते समय आँख की पलक भी नहीं हिला सकता, अर्थात् वह आँख भी शरणभूत नहीं होती, शरीरका कोई अंग शरणभूत नहीं होता, बड़े बड़े वैद्य और डाक्टर भी शरणभूत नहीं होते, दवा औषधोपचार भी शरणभूत नहीं होते, व्यर्थ ही कॉडलिवर जैसी अपवित्र औषधियाँ खाकर दुर्गतिमें चला जायेगा, किन्तु वे औषधियाँ तुझे नहीं बचा सकेंगी, कोई पर वस्तु तुझे शरण नहीं हो सकती, मात्र भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। पर, परके, परमाणु, परमाणुके, और चैतन्य चैतन्यके, घर है, इसप्रकार विभाजन करके स्थिर होना ही शरणभूत है। मेरा आत्मा ही

मुझे उत्तर देगा, इसके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी और श्वास आदि कोई भी शरणभूत नहीं है। भगवान आत्माके अतिरिक्त कोइ भी तुझे शरणभूत नहीं है, ऐसा जानना, मानना और उसमें स्थिर होना ही शरणभूत है।

कषायके चार प्रकार हैं—क्रोध, मान माया, और लोभ। इनमेंसे क्रोध और मान द्वषमें, तथा माया और लोभ रागमें समाविष्ट होते हैं। चारों कषाय आत्माके नहीं हैं वे पुद्गलके परिणाम हैं। उनका अनुभव चैतन्यके अनुभव से भिन्न है। कषाय चैतन्यकी अवस्थामें होती है किन्तु चैतन्यका स्वभाव नहीं है, इसलिये वह पुद्गलके परिणाम हैं।

जब पिता पुत्रको साथमें रखना चाहता है तब बड़े प्यारसे 'मेरा पुत्र मेरा पुत्र' कहा करता है, और जब अलग करना चाहता है तब भाव बदल जाते हैं, मानों वह उसका पुत्र ही नहीं है। इसीप्रकार आत्मा अज्ञानावस्थामें कषायोंको अपना मानता है, किन्तु जहाँ ज्ञान हुआ कि भावोंमें भेद आ जाता है कि यह क्रोधादिक मेरे नहीं हैं।

अज्ञानी जीव अज्ञानवश यह मानता है कि यह मेरा ग्राम है, यह मेरा मुहल्ला, यह मेरी गली है, और यह मेरा मकान है, किन्तु हे भाई! क्या यह सब कभी किसीके हुए हैं? जैसे 'घी का घड़ा' मात्र बोलनेकी एक रीति है, कहीं घड़ा घीका नहीं होता इसीप्रकार आत्मा शरीरवान है यह भी एक बोलनेकी रीति है, आत्मा कभी शरीरी नहीं होता। क्रोधादि कषाय भी आत्मा के नहीं हैं क्योंकि वे सब पुद्गलके परिणाम हैं। यह द्रव्यदृष्टिसे कथन है। वह आत्माकी पर्यायमें होती है किन्तु द्रव्यके स्वभावमें नहीं होती इसलिये जड़ कहा है। क्रोधादिका विकार त्रिकाल मेरे स्वभावमें नहीं है ऐसी दृष्टिके बलसे वह छूट जाता है, इसलिये उसे जड़ कहा है।

योग = आत्मप्रदेशोंके कम्पनको योग कहते हैं। जहाँ प्रदेशोंका कम्पन होता है, वहाँ कर्मके रजकण आत्मामें प्रवेश करते हैं। जब आत्म प्रदेश अस्थिर होते हैं तब कर्मके रजकण आत्मप्रदेशमें ग्रहण होते हैं। केवलज्ञानियोंके भी आत्मप्रदेशोंका कम्पन होता है, इसलिये वहाँ भी एक समय का बन्ध होता है।

जब घीमें मैल होता है तब घी मलिन दिखाई देता है, किंतु उसके दूर हो जाने पर निर्मल दिखाई देता है, इसीप्रकार आत्मामें जब आस्रवका मैल होता है तब वह मलिन दिखाई देता है, किन्तु उसे दूर करने पर निर्मलता प्रगट हो जाती है। वे सब मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योगरूप आस्रव पुद्गलके परिणाम हैं व आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं। आत्माके वेदनसे वह वस्तु भिन्न है। आत्मानुभवके समय वे आस्रव छूट जाते हैं, अनुभवके समय उस आस्रवकी कोई वस्तु साथमें नहीं आती, इसलिये आत्माके वेदनसे वे सब वस्तुएँ भिन्न हैं।

जब जन्म हुआ तब शरीरका कोई नाम नहीं था, किन्तु माँ-बापने शरीरका नाम रख दिया और उसे यह मालुम हो गया कि यह मेरा नाम है, फिर वह उस नामका ऐसा अभ्यासी हो गया कि जहाँ उसे किसीने बुलाया कि पन्नालाल! तो तत्काल दृढ़ता पूर्वक उत्तर देता है कि 'जी'! किन्तु यदि कोई उसके आत्माको बुलाये कि हे आत्मन्! तो उसका कोई उत्तर नहीं देता, क्योंकि उसे यह खबर ही नहीं कि स्वयं कौन है। वह अपनेको भूला हुआ है, और पर शरीरके नामका अभ्यासी हो गया है। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू अपनेको भूल गया सो क्या यह तेरा लक्षण है? जैसे यदि पुत्रके बुरे लक्षण हो गये हों तो उसे पिता समझाते हुये कहता है कि बेटा! तुझे ऐसे उल्टे लक्षण शोभा नहीं देते। इसी प्रकार आत्मा, यह शरीर मेरा है, प्रतिष्ठा मेरी है, राग मेरा है, इत्यादिरूपसे परको अपना मानकर विपरीत मान्यता, अविरति और कषाय इत्यादिके विपरीत लक्षण में रत हो रहा है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि यह तेरे आत्माका लक्षण नहीं है, भगवान आत्मा ज्ञान लक्षणयुक्त जागृतज्योति चैतन्यस्वरूप है, और मिथ्यात्व, अविरति कषाय, तथा योग यह चारों आस्रव पुद्गलके परिणाम हैं, इसलिये जड़ हैं यह आस्रव चैतन्यके अनुभवसे भिन्न है, चैतन्यका अनुभव चैतन्य स्वरूपसे शुद्ध है।

अब तेरहवीं बात कहते हैं—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र

और अन्तरायरूप जो आठ कर्म हैं, सो वे भी जीवके नहीं हैं। आठों कर्म आत्मासे बाह्य हैं, वे आत्माके भीतर प्रविष्ट नहीं हैं, परन्तु वे बाह्य निमित्तरूप अवश्य हैं। यदि बाह्य निमित्तरूप न हों और ज्ञानकी हीनादिक अवस्था न होती हो तो समस्त जीवोंमें ज्ञानके विकासका जो अन्तर दिखाई देता वह नहीं दिखना चाहिये।

ज्ञानावरणीय कर्म—

किसी मनुष्यकी बुद्धि ऐसी तीव्र होती है, कि वह जो कुछ एक बार पढ़ लेता है, वह सबका सब याद हो जाता है, और किसीकी बुद्धि इतनी मन्द होती है कि वह वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी अक्षर ज्ञान नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि तीव्र बुद्धि मनुष्यने पहले कषाय कम की थी इसलिये उसके ज्ञानावरणीय कर्मका कम बन्ध हुआ, और इसीसे वर्तमानमें ज्ञान का विकास अधिक दिखाई देता है, और मन्दबुद्धि - मनुष्यने पहले कषाय अधिक की थी इसलिये ज्ञानावरणीय कर्मका अधिक बन्ध हुआ था जिससे उसके ज्ञानका विकास बहुत कम दिखाई देता है। श्री मद्राजचन्द्र किसी भी पुस्तकको एकबार पढ़कर याद कर लेते थे, उन्होंने मात्र सोलह वर्षकी आयु में 'मोक्ष माला' आदि की ऐसी सुन्दर रचना की थी कि पचास वर्षका साधु भी नहीं कर सकता। उनका ऐसा बहुत अच्छा ज्ञानका विकास था, इसप्रकार कम बढ़ विकास होना पूर्व कृत ज्ञानावरणीय कर्मके अधिक या कम बन्ध पर आश्रित है। सम्यक्ज्ञान प्रगट करना अपने वर्तमान पुरुषार्थके आधीन है। सम्यक्ज्ञान पूर्वकृत विकासके अनुसार नहीं होता किन्तु अपने वर्तमान पुरुषार्थ से ही होता है।

सबके ज्ञानका विकास एक सा नहीं किन्तु कम-बढ़ दिखाई देता है इससे ज्ञानावरणीय कर्म सिद्ध होता है। जब अपने ज्ञानकी अवस्था हीन परिणमित होती है तब ज्ञानावरणीय कर्मको निमित्त कहा जाता है, किन्तु वह कर्म आत्माके स्वभावमें नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म—

दर्शन सामान्य एकरूप देखना है। वह चेतनसे अभिन्न है, और भिन्न है,

इस भेद करके अर्थात् विशेष करके न देखे किन्तु एक सामान्य एकरूप अभेद रखे सो दर्शन है। यह प्रतीति रूप दर्शनावरण कर्म नहीं, किन्तु अवलोकनरूप दर्शनावरण कर्म है। ऐसा दर्शनका व्यापार ज्ञानी, अज्ञानी सबके होता है।

(१) जैसे किसी बालकको बचपन से अँधेरे भौंयरे में रखा हो, और उसे बाहरकी वस्तुओंका कुछ भी ज्ञान न हो, पश्चात् उसे बाहर निकाले, तो उसको यह ज्ञान नहीं हो सकता कि यह सब क्या है, पहले तो उसे सब सामान्य एक रूप मालूम होगा, बादमें जब कोई उससे कहेगा, तब उसे मालूम होता है कि यह समस्त वस्तुयें भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं, इसप्रकार भेद पूर्वक ज्ञान होता है।

(२) जब बालकका जन्म होता है, तब तत्काल ही उसे सब एक सा मालूम होता है, साथ ही भेद किये बिना सब एक समान मालूम होता है, किन्तु जब उसे पालनेमें सुलाते हैं तब उसे उसके स्पर्शका अनुभव होता है, और वह रोने लगता है, इसप्रकार उसे भेद रूप ज्ञान होता है।

(३) जब कोई व्यक्तिका नाम लेकर बुलाता है तब उसे जाननेसे पूर्व उस ओर उन्मुख होता है, यह सामान्य-दर्शन है, तत्पश्चात् यह जान लिया कि कौन बुला रहा है, सो यह विशेष ज्ञान है।

इन दृष्टांतोंसे यह ज्ञात होता है, कि एक वस्तुको जानते हुये उस ओरसे दूसरी वस्तुको जाननेकी ओर जो उपयोग जाता है, उसमें उस दूसरी वस्तुको जाननेसे पूर्व होनेवाला उपयोगका व्यापार दर्शनोपयोग है। एक विचार में से दूसरे विचारकी ओर उपयोग जाते हुए दूसरे विचारमें उपयोग पहुँचनेसे पूर्व होनेवाला जीवका व्यापार दर्शन उपयोग है। पर विषयसे रहित मात्र आत्मा का व्यापार दर्शनोपयोग है। ऐसा सामान्य उपयोगका व्यापार ज्ञानी या अज्ञानी दोनोंके होता है। सामान्य एकरूप चैतन्य व्यापार दर्शन है, और विशेष भेद करके जानना सो ज्ञान है। दर्शनगुणको आवरण करनेवाला दर्शनावरणीय कर्म है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

वेदनीय कर्म—साता और असाताके भेदसे वेदनीय कर्मके दो प्रकार हैं। पूर्वभवमें हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके अशुभ परिणाम हुए हों तो

और अन्तरायरूप जो आठ कर्म हैं, सो वे भी जीवके नहीं हैं। आठों कर्म आत्मासे बाह्य हैं, वे आत्माके भीतर प्रविष्ट नहीं हैं, परन्तु ये बाह्य निमित्तरूप अवश्य हैं। यदि वह निमित्तरूप न हों और ज्ञानकी हीनादिक अवस्था न होती हो तो समस्त जीवोंमें ज्ञानके विकासका जो अन्तर दिखाई देता वह नहीं दिखना चाहिये।

ज्ञानावरणीय कर्म—

किसी मनुष्यकी बुद्धि ऐसी तीव्र होती है, कि वह जो कुछ एक बार पढ़ लेता है, वह सबका सब याद हो जाता है, और किसीकी बुद्धि इतनी मन्द होती है कि वह वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी अक्षर ज्ञान नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि तीव्र बुद्धि मनुष्यने पहले कषाय कम की थी इसलिये उसके ज्ञानावरणीय कर्मका कम बंध हुआ, और इसीसे वर्तमानमें ज्ञान का विकास अधिक दिखाई देता है, और मन्दबुद्धि मनुष्यने पहले कषाय अधिक की थी इसलिये ज्ञानावरणीय कर्मका अधिक बंध हुआ था जिससे उसके ज्ञानका विकास बहुत कम दिखाई देता है। श्री मद्राजचन्द्र किसी भी पुस्तकको एकबार पढ़कर याद कर लेते थे, उन्होंने मात्र सोलह वर्षकी आयु में 'मोक्ष माला' आदि की ऐसी सुन्दर रचना की थी कि पचास वर्षका साधु भी नहीं कर सकता। उनका ऐसा बहुत अच्छा ज्ञानका विकास था, इसप्रकार कम बढ़ विकास होना पूर्व कृत ज्ञानावरणीय कर्मके अधिक या कम बंध पर आश्रित है। सम्यग्ज्ञान प्रगट करना अपने वर्तमान पुरुषार्थके आधीन है। सम्यग्ज्ञान पूर्वकृत विकासके अनुसार नहीं होता किन्तु अपने वर्तमान पुरुषार्थ से ही होता है।

सबके ज्ञानका विकास एक सा नहीं किन्तु कम बढ़ दिखाई देता है इससे ज्ञानावरणीय कर्म सिद्ध होता है। जब अपने ज्ञानकी अवस्था हीन परिणमित होती है तब ज्ञानावरणीय कर्मको निमित्त कहा जाता है, किन्तु वह कर्म आत्माके स्वभावरूप नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म—

दर्शन सामान्य एकरूप रहता है। यह चेतन अभिन्न है, और भिन्न है,

एसे भेद करके अर्थात् विशेष करके न देखे किन्तु जब सामान्य एकरूप अभेद देखे सो दर्शन है। यह प्रतीति रूप दर्शनकी बात नहीं, किन्तु अवलोकनरूप दर्शनकी बात है। ऐसा दर्शनका व्यापार ज्ञानी, अज्ञानी सबके होता है।

(१) जैसे किसी बालकको जन्मसे अँधेरे भोयरे में रखा हो, और उसे बाहरकी वस्तुओंका कुछ भी ध्यान न हो, पश्चात् उसे बाहर निकाले, तो उसको यह ज्ञात नहीं हो सकता कि यह सब क्या है, पहले तो उसे सब सामान्य एक रूप मालूम होगा, बादमें जब कोई उसको कहेगा, तब उसे मालूम होता है कि यह समस्त वस्तुऐं भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं, इसप्रकार भेद पूर्वक ज्ञान होता है।

(२) जब बालकका जन्म होता है, तब तत्काल ही उसे सब एक सा मालूम होता है, सामान्य भेद किये बिना सब एक समान मालूम होता है, किन्तु जब उसे पालनेमें झुलाते हैं तब उसे उसके स्पर्शका अनुभव होता है, और वह रोने लगता है, इसप्रकार उसे भेद करके ज्ञान होता है।

(३) जब कोई अपनेको नाम लेकर बुलाता है तब उसे जाननेसे पूर्व उस ओर उन्मुख होना है, यह सामान्य-दर्शन है, तत्पश्चात् यह जान लिया कि कौन बुला रहा है, सो यह विशेष ज्ञान है।

इन दृष्टांतोंमें यह ज्ञात होता है, कि एक वस्तुको जानते हुये उस ओरसे दूसरी वस्तुको जाननेकी ओर जो उपयोग जाता है, उसमें उस दूसरी वस्तुको जाननेसे पूर्व होनेवाला उपयोगका व्यापार दर्शनोपयोग है। एक विचार में से दूसरे विचारकी ओर उपयोग जाते हुए दूसरे विचारमें उपयोग पहुँचनेसे पूर्व होनेवाला बीचका व्यापार दर्शनोपयोग है। पर विषयसे रहित मात्र आत्मा का व्यापार दर्शनोपयोग है। ऐसा सामान्य उपयोगका व्यापार ज्ञानी या अज्ञानी दोनोंके होता है। सामान्य एकरूप चैतन्य व्यापार दर्शन है, और विशेष भेद करके जानना सो ज्ञान है। दर्शनगुणको आवरण करनेवाला दर्शनावरणीय कर्म है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

वेदनीय कर्म—साता और असाताके भेदसे वेदनीय कर्मके दो प्रकार हैं। पूर्वभवमें हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादिके अशुभ परिणाम हुए हों तो

उनके निमित्तसे असाता वेदनीय कर्मका बंध होता है, और फिर जब असाता वेदनीय कर्म उदयमें आता है, तब द्वेषमें युक्त होना या न होना आत्माके हाथकी बात है। असाता वेदनीय कर्म प्रतिकूल संयोग कराता है, किन्तु उस प्रतिकूलताका स्वीकार करना या न करना आत्माके हाथकी बात है। उस प्रतिकूलताके संयोगको इन्द्र नरेन्द्र या धरणेन्द्र कोई भी बदलनेको समर्थ नहीं है।

पूर्वभवमें दया, दान या सत्य इत्यादिके शुभभाव किये हों तो उसके निमित्तसे साता वेदनीय कर्मका बन्ध होता है। साता वेदनीय कर्म साताका संयोग कराता है, किन्तु उसमें अनुकूलता मानना या न मानना आत्माके हाथकी बात है। नींव खोदते हुये यदि भण्डार निकल आये तो वह पुण्यका संयोग है, किन्तु उसमें हर्ष मानना आत्माके गुणका अनादर है। साता, असातारूप वेदनीय कर्म आत्माका स्वभाव नहीं है, वह तो पुद्गलका परिणाम है। धर्मात्माको भी कभी बाहरसे असाताका और कभी साताका संयोग होता है, किन्तु यह सब पूर्वकृत कर्मानुसार होता है। महापापीको भी रोग न हो, और धर्मात्माको रोग हो तो यह सब पूर्व कृत कर्म प्रकृतिका संयोग है। सनत्कुमार चक्रवर्तिको मुनि होने पर भी सात सौ वर्ष तक गलित कोढ़का भयङ्कर रोग रहा था, किन्तु वे ऐसी प्रतीति पूर्वक आत्म समाधिमें—आत्मानन्दमें लीन रहे कि रोग मेरा स्वरूप नहीं है, यह शरीरमें नहीं हूँ, मैं तो पर से भिन्न चिदानन्द आत्मा हूँ। ऐसे भान पूर्वक आत्माकी समाधि, आनन्द, लीनताको रोग नहीं रोक सकता। इसप्रकार धर्मात्मा चक्रवर्तिके शरीरमें मुनि होते हुए भी भयङ्कर रोग था और उधर नित्य पशुवध करनेवाले कसाईका शरीर निरोग हो सकता है, यह पापानुबन्धी पुण्यका फल है। पूर्वभवमें कषायों को कुछ मन्द किया और उसमें अभिमान किया था जिसके फलस्वरूप कषायों को मन्द करनेसे मनुष्य हुआ और निरोग शरीर मिला किन्तु वह मरकर नर्क में जानेवाला है सो यह पापानुबन्धी पुण्य है। साता और असाता—वेदनीय कर्म आत्मामें नहीं है, वह संयोगी वस्तु है, आत्माका स्वभाव नहीं है।

मोहनीय कर्म—इस कर्मकी २८ प्रकृतियाँ हैं जब आत्मा भ्रान्ति की अवस्थामें प्रवृत्त होता है, तब यह कर्म निमित्त होता है। काम, क्रोधादि

के भाव क्षय करता है, तब यह कर्म निमित्त होता है, किन्तु वास्तवमें मोहनीय कर्म आत्मामें नहीं है। और जो आत्मामें नहीं है, वह आत्माको हानि कैसे करेगा? आत्मामें मोह कर्म नहीं है, तथापि यह माने कि मुझे मोह कर्म हानि पहुँचाता है—तो ऐसी विपरीत मान्यताके लिये भी जीव स्वतन्त्र है। किन्तु वास्तवमें मोहनीय कर्म आत्मामें है ही नहीं, इसप्रकार मोहका विश्वास न करना और आत्माका विश्वास करना ही आत्माका स्वरूप है।

आयुकर्म—शरीरकी स्थितिका नाम आयु है। आयुकर्म भी आत्मा के नहीं है, वह तो अक्षयस्थिति स्वरूप है। शरीरकी स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा उससे अलग हो जाता है, उसके बाद वह एक समयको भी नहीं रुक सकता। जितनी शारीरिक स्थिति (आयु) पहलेसे लेकर आया है उसमें एक पलभरकी भी घटा बढ़ी कोई नहीं कर सकता। चाहे जितना उपाय किया जाये किन्तु शरीरकी स्थिति जो बँध जाती है, उसी प्रकार रहती है, उसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता।

कुछ लोग कहा करते हैं कि पर्वतकी अमुक गुफामें ५०० या ७०० वर्षके योगी विद्यमान हैं, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है, वर्तमानमें इतनी आयु नहीं होती। कुछ लोग कहा करते हैं कि श्वासनिरोध करके बैठनेसे मरण नहीं होता, किन्तु यह भी व्यर्थ है। चाहे जितना श्वासनिरोध करे, किन्तु जब आयु स्थिति पूर्ण होना होगी, तब वह पूर्ण हुए बिना नहीं रहेगी। आयु कोई कम-बढ़ नहीं कर सकता। जब सर्प काटता है और मनुष्य मर जाता है तब लोग यह समझते हैं कि बेचारा बे मौत मर गया, किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि जब आयु पूर्ण हो रही हो तो विष चढ़ जाता है और वह मर जाता है, यदि आयु शेष होती है तो विष उतर जाता है, और वह जीवित रहता है, इस प्रकार आयुकी स्थितिके अनुसार ही सब कुछ होता है।

आयुकर्मके चार प्रकार हैं–मनुष्यायु, देवायु, तिर्यंचायु और नरकायु। यह आयुकर्म भी आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गलका परिणाम है। ऐसे पृथक आत्माकी श्रद्धा कर, यही तेरा स्वरूप है।

नामकर्म—शारीरिक बाह्य संयोगोंका मिलना, शरीरादिकी रचना

का होना, अच्छा कण्ठ मिलना, शरीरकी हड्डियोंका सुदृढ़ होना, यश अपयश का होना, शरीरके विविध आकारोंका होना, इत्यादि सब नामकर्मका फल है। नामकर्मकी ९३ प्रकृतियाँ हैं। वह सब पुद्गलके परिणाम हैं, आत्माका स्वरूप उनसे भिन्न है।

गोत्रकर्म—ऊँच नीच कुलमें जन्म लेनेमें गोत्र कर्म कारण हैं। किसीका जन्म भंगीके यहाँ होता है, तो किसीका ब्राह्मणके यहाँ। वह गोत्र-कर्म आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मा भंगी या ब्राह्मण नहीं है। यह सब गोत्रकर्मके कारण प्राप्त बाह्य फल है, यह पुद्गलके परिणाम हैं मैं आत्मा तो ज्ञानानन्द हूँ, ऐसा विश्वास कर। गोत्र तो अनन्तबार आये और गये, किन्तु आत्मप्रतीतिके बिना गोत्रको अपना माना इसलिये चौरासीमें भ्रमण करना पड़ा इसलिये संयोगी दृष्टिका त्याग कर और चिदानन्द भगवान आत्मा पर ही दृष्टि रख, तथा उसीकी श्रद्धा कर।

अंतराय कर्म—जो कर्म दानादिक करनेमें विघ्न डालता है, सो वह अंतराय कर्म है। इसके पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्त-राय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। यह अन्तराय कर्म भी तुझमें नहीं है। तेरा स्वरूप आनन्दघन, अनन्त वीर्यसे परिपूर्ण है, यह विचारकर पुरुषार्थ करके वीतरागता प्रगट कर। अन्तराय कर्म जड़ है, वह तुझमें नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारे पास सम्पत्ति तो है, किन्तु दाना-न्तराय टूटे तो दान दिया जाय? किन्तु यह सब व्यर्थ है। यदि तू तृष्णा कम करे तो दानान्तराय बाधक नहीं हो सकता। स्वयं पुरुषार्थ करके आत्मा की यथार्थ प्रतीति करना सो स्वयं अपनेको दान देना है, यह अभ्यन्तर दान है।

लाभान्तराय कर्मका उदय आत्मामें नहीं है, लाभान्तराय कर्मका उदय हो तो बाह्य वस्तु न मिले किन्तु अंतरंग आत्मामें लाभ लेनेमें लाभान्तराय कर्म बाधक नहीं होता। किंतु बाह्यमें रुपया पैसा न मिले, बाह्य अनुकूलता न मिले इत्यादि सब लाभान्तराय कर्मका उदय है। आत्माका परिचय करके निजा-नन्द स्वरूप प्रगट करनेमें लाभान्तराय कर्म बाधा नहीं देता। लाभान्तराय कर्म जड़ है, वह आत्मामें नहीं है।

जिसका एकबार भोग किया जाय वह भोग है। भोगांतराय कर्म

आत्माके पुरुषार्थ करनेमें बाधा नहीं देता, और यह आत्माका आनन्द लेनेमें भी बाधक नहीं होता, किन्तु वह बाह्य संयोगोंमें बाधक होता है। महान सम्पत्तिशाली होने पर भी शारीरिक रोगके कारण दो रोटियाँ भी न खा सके तो यह भोगान्तराय कर्मका उदय है। उसके उदयके समय शांति रखनेमें भोगान्तराय कर्म बाधा नहीं डालता।

जो बारबार भोगा जा सके वह उपभोग है। आत्माके एक गुणकी अनन्त पर्यायें होती हैं, इस अपेक्षासे गुण बारम्बार भोगा जाता है। उपभोगान्तराय कर्म आत्माके आनन्दको बारम्बार भोगनमें बाधा नहीं देता, आत्माके आनन्दका बारम्बार भोग करना सो उपभोग है। बाह्य वस्तु बारबार न भोगी जा सके सो उपभोगान्तराय कर्मका उदय है, किन्तु वह उपभोगान्तराय कर्म आत्मस्वरूपको बारबार भोगनेसे रोकता नहीं है। स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता तब उपभोगान्तराय कर्मको निमित्त कहा जाता है।

वीर्यान्तराय कर्म जड़ है। यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो वह बाधक नहीं होता, किन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ न करे तो वीर्यान्तराय कर्मको निमित्त कहा जाता है। अन्तराय कर्म तेरा स्वरूप नहीं है।

संसारी जीवके साथ आठ कर्म लगे हुए हैं, उनकी १४८ प्रकृतियाँ हैं, एक एक प्रकृति अनंत परमाणुओंका पिंड है। आत्माके आवृत होनेमें आत्मासे विरुद्ध प्रकारके रजकण ही निमित्त होते हैं।

आचार्यदेवने ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म कहकर, आठों कर्म हैं ऐसा व्यवहार कहा है। यद्यपि वे सब कर्म हैं अवश्य, किन्तु वे आत्मामें नहीं हैं। और उन कर्मोंके निमित्तसे आत्मामें होनेवाली ज्ञानादि गुणकी अपूर्ण अवस्था भी है, परंतु वह आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

अब चौदहवीं बात कहते हैं—

जो पर्याप्ति योग्य और तीन शरीरके योग्य वस्तु (पुद्गल स्कन्ध) रूप नोकर्म है सो सब जीवके नहीं है। क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न है। आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन यह छह पर्याप्तियाँ हैं। जब जीव माताके उदरमें आता है,

तब पर्याप्ति बँधती है, इसलिये वह पुद्गलका स्वरूप है, आत्माका स्वरूप नहीं इसप्रकार शरीर, आहार ग्रहण, भाषाका बोलना इत्यादि सब आत्माका स्वरूप नहीं है। भीतर जो आठ पँखुड़ियोंके कमलके आकार मन है, वह भी पुद्गलकी रचना है आत्माकी नहीं। आत्माके अतिरिक्त बाहरका जो जो सयोग मिलता है, वह सब पुद्गलका स्वरूप है आत्माका नहीं। इसप्रकार ज्ञान, श्रद्धा, और स्थिरता करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।

आहार लेना, श्वासोच्छ्वास लेना, भाषा बोलना, इत्यादि छह पर्याप्तियाँ प्रत्येक सैनीपचेन्द्रियके बँधती हैं, जो कि सब पुद्गलकी रचना है, वे पर्याप्तियाँ आत्मामें नहीं हैं। आत्मा आहार नहीं लेता, श्वासादिको नहीं हिलाता, भाषा नहीं बोलता, आत्माके लिये मन सहायक नहीं है, आत्माके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। आत्माका स्वरूप ऐसा निराला है, किन्तु जो अभिमान करता है कि—यह सब मेरा है, मैं इसका कर्ता हूँ, सो मिथ्यात्व है। मात्र जो वस्तु संबंध रूपसे पाई जाती है, उसे अपने रूप माने तब तक हित नहीं होता। संयोगी वस्तुके साथ आत्माका वास्तवमें सबंध है ही नहीं। परवस्तु स्वतन्त्र परिणामी द्रव्य है, उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये अपने स्वाधीन तत्वकी श्रद्धा ज्ञान करके उसमें रमणता करना सो यही मोक्षका कारण और हितका उपाय है।

पहले जो पाँच शरीरोंकी बात आयी थी, उसमें शरीरकी बात कही गई है, और इस पर्याप्तिके कथनमें, औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीर योग्य पुद्गलोंको लिया है। छह पर्याप्ति योग्य और तीन शरीर योग्य, वस्तुरूप नोकर्म है, ऐसा कहा है। पहले माताके उदरमें शरीर, इन्द्रिय इत्यादिके सूक्ष्म पुद्गल बँधते हैं। छह पर्याप्तियाँ और तीन शरीर बँधते हैं यह कहकर आचार्यदेवने व्यवहार कहा है, और छह पर्याप्ति योग्य होनेकी चैतन्य की अवस्था भी है ही। इसप्रकार चैतन्यकी अशुद्ध अवस्थाका व्यवहार बताया है, परन्तु यह सारा ही आत्माके नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

अब पन्द्रहवीं बात कहते हैं—जो कर्मोंके रसकी शक्तियोंके (अविभाग प्रतिच्छेदोंके) समूहरूप वर्ग है, वह सब जीवके नहीं है, क्योंकि वह

पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न है।

जब आत्मा शुभाशुभभाव करता है, तब कर्म बन्ध होता है। कर्म-परमाणुओंमें जो रस देनेकी (फल देनेकी) शक्ति बँधती है, उसे अनुभाग–(रस) कहते हैं। प्रत्येक कर्मके रजकणमें फल देनेकी शक्ति है। जिन रज कणोंमें समान फल देनेकी शक्ति होती है, उसे अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। उन अविभाग प्रतिच्छेदोंके समूहको वर्ग कहते हैं। अनुकूलताका मिलना और प्रतिकूलताका दूर होना इत्यादि सब कर्म रसका फल है। कर्मोंके रसकी शक्ति परमाणुकी अवस्था है, जड़की अवस्था है। आत्मा इनसे भिन्न है, इस प्रकारकी प्रतीतिका होना हित और सुखका मार्ग है।

कर्मरसके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें यह कहा गया है कि कर्म रस आत्मा को अनुभव रस लेनेसे रोकता नहीं है, किन्तु तू अपने पुरुषार्थकी मदतासे अटक जाता है। यद्यपि कर्म रसके अविभाग प्रतिच्छेद हैं अवश्य, किन्तु वे किसीको पुरुषार्थ करनसे नहीं रोकते। कर्म रस कहकर आचार्यदेवने सर्वज्ञ भगवानके श्री मुख से निकला हुआ व्यवहार बताया है। यह सारा कथन करके आचार्यदेवने जैन दर्शनका सम्पूर्ण व्यवहार उपस्थित किया है। सर्वज्ञ भगवानके श्रीमुखसे विनिर्गत ऐसा व्यवहार जैनदर्शनके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

अब सोलहवें कथनमें कहते हैं कि—उन वर्गोंके समूहरूप वर्गणा जीवके नहीं है।

समान शक्तिवाले वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। भगवान आत्मा वर्गणाके समूहरूप नहीं है, वर्गणा पुद्गल द्रव्यकी रचना है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिर होना सो मोक्षका उपाय है।

सत्रहवें कथनमें स्पर्धककी बात है। मन्द तीव्र रस युक्त कर्म दलोंके विशिष्ट न्यासरूप (वर्गणाओंके समूहरूप) स्पर्धक जीवके नहीं हैं। यहाँ न्यास (जमाव) कहकर यह कहा है कि कोई तीव्र रससे कोई मन्द रससे या ऐसे ही अनेकानेक प्रकारसे भिन्न भिन्न कालमें बाँधे गये कर्म सब एक साथ उदयमें आ जायें, सो उसे न्यास कहते हैं। इन परमाणुओंके स्पर्धक रूपी हैं और भगवान आत्मा अरूपी है। वे स्पर्धक पुद्गल द्रव्यकी रचना हैं। भगवान

आत्मामें वे स्पर्धक नहीं हैं, वे सब पुद्गलके समूह आत्मामें नहीं हैं। आत्माका अनुभव उससे भिन्न है।

अब अठारहवें कथनमें अध्यात्मस्थानकी बात है। जब स्व-परके एकत्व अध्यास हो, तब विशुद्ध चैतन्यपरिणामसे पृथक् व जिनका लक्षण है, ऐसे अध्यात्मस्थान जीवके नहीं हैं।

अध्यात्मस्थान अर्थात् अध्यवभाव, और अध्यवसाय अर्थात् विकारी भाव। मूल पाठमें जो विशुद्ध शब्द है, उसका अर्थ शुभ परिणाम नहीं है। किन्तु वहाँ शुद्ध स्वभावकी बात है। उस विशुद्ध परिणामसे भिन्न जो पुण्य, पाप शरीर, वाणी और मनकी क्रिया है उसे और अपने आत्माको एकरूप माननेका अध्यवसाय विपरीत अध्यवसाय है।

शरीर, वाणी और बाह्य निमित्त मेरी सहायता करेंगे, ऐसा भाव अध्यवसाय है। जब तक वह भाव होता है, तब तक कर्म बन्ध करता है और संसारमें परिभ्रमण करता है। स्व-परके एकत्वका भाव अध्यवसाय है। निर्मल पवित्र स्वभावको भूलकर परको अपना मानना सो विपरीत पुरुषार्थ है, कृत्रिम भाव हैं। आत्मा आनन्दघन, टंकोत्कीर्ण अकृत्रिम स्वरूप है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणताको भूलकर परमें एकत्वकी बुद्धि करना सो अध्यवसाय है, वह अध्यवसाय आत्माके स्वभावमें नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। अध्यवसाय अपनी चैतन्यकी अवस्थामें होता है, किन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है।

स्व-परके एकत्वके अध्यासवाले विकारी परिणामोंसे चैतन्यके निर्मल परिणाम भिन्न हैं। विकारी परिणामी लक्ष्य है, और निर्मल परिणामसे भिन्न उसका लक्षण है। आत्मा लक्ष्य है, और निर्मल पर्याय उसका लक्षण है। चैतन्यके निर्मल परिणामसे अध्यवसायका भिन्न लक्षण है। वे सभी अध्यवसायस्थान जीवके नहीं हैं। स्व परके एकत्वकी बुद्धिको ही मुख्यतया अध्यवसाय कहते हैं। अस्थिरताके अध्यवसायको मुख्यतया अध्यवसाय नहीं कहते। आचार्यदेवने पृथकत्व लक्षण बताकर यह बताया है कि अध्यवसानस्थान अवश्य हैं, और इसप्रकार व्यवहार बताया है, किन्तु वे परिणाम आत्माके निर्मल परिणामोंसे भिन्न हैं, यह कहकर परमार्थ बताया है। अध्यवसाय चैतन्यकी

अध्यवसानमें होता है, पुद्गलके परिणामोंमें नहीं, किन्तु उस अध्यवसानका पुद्गलकी ओर झुकाव है, इसलिये उसे पुद्गल परिणाम कहा है।

परको अपने रूप माने और परसे अपनेको लाभ होना माने सो यह वीतराग मार्ग नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानमूर्ति स्वतन्त्र स्वभाव है, उसका परसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध मानना सो भगवान सर्वज्ञका परमार्थ मार्ग नहीं है, किन्तु वह अपनी स्वच्छन्दतासे माना हुआ मार्ग है। भीतर एक भी पुण्य पापकी वृत्ति उत्पन्न हो वह मेरी है, और मैं उसका हूँ इसप्रकार एकमेक रूप से मानना सो मिथ्या अध्यवसाय है, विपरीत शल्य है, वह भगवान आत्माका स्वभाव नहीं, और वह वीतरागका मार्ग नहीं है। सम्यक्दर्शन और सम्यक् ज्ञानके होने पर अपना स्वभाव ही अपना माना जाता है, और परका स्वभाव पर ही माना जाता है। अपने स्वभावको पररूप और परके स्वभावको अपने रूप न माने सो ऐसी निर्मल श्रद्धा ज्ञान ही मोक्षका सर्व प्रथम उपाय है।

अब उन्नीसवीं बात कहते हैं—भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके रसका परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे अनुभागस्थान समस्त जीवोंके नहीं हैं, अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्ति। भिन्न प्रकृतियोंमें भिन्न भिन्न रस होता है। किसी कर्मकी स्थिति कम और रस अधिक होता है, किसी प्रकृतिका रस कम और स्थिति अधिक होती है। जैसे— शरीरमें कहीं छोटीसी फुन्सी हुई हो, और उसकी पीड़ा अधिक किन्तु स्थिति कम हो। और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनकी स्थिति अधिक, और रस थोड़ा हो, वे सब प्रकृतियाँ विपरीत मान्यता के कारण कषाय भावसे बँधती हैं वह सब रजकणकी अवस्था है, वह सारी राग पर्याय शरीरमें होती है, आत्मामें नहीं। फल देनेकी शक्ति कर्ममें होती है, आत्मामें नहीं। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, और अनुभागबन्ध पुद्गल की रचना है, आत्म स्वभावकी नहीं। आत्माके स्वभावकी रचना ज्ञान और आनन्द है। जैसे पुद्गलमें अनुभाग है उसी प्रकार आत्मामें भी है। आत्माका अनुभाग अर्थात् आत्मामें आनन्द रस है, वह रस परसे भिन्न अलौकिक है, वह पुद्गलके जड़ अनुभागसे सर्वथा भिन्न है। पुद्गलका अनुभाग जड़ है।

अब बीसवीं बात कहते हैं—काय वर्गणा वचन-वर्गणा और मनो

वर्गणाओंका कम्पन जिसका लक्षण है, ऐसे योगस्थान भी समस्त जीवोंके नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं।

आत्मामें योगके निमित्तसे कम्पन होना है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाका जो कम्पन कहा है सो निमित्तकी ओरसे कहा है, वास्तवमें तो, उन तीनों योगके आलम्बनसे आत्म प्रदेशोंका कम्पन होता है। प्रदेशोंका कम्पन होना भी आत्माका स्वभाव नहीं किन्तु विकारी भाव है।

चक्कीके ऊपरका पाट घूमता है, तब उस पर बैठी हुई मक्खी भी घूमती हुई मालूम होती है, किन्तु वास्तवमें मक्खी अपने क्षेत्रको नहीं बदलती, पाटके घूमनेसे ही वह भी घूमती हुई दिखाइ देती है। इसीप्रकार आत्मा हिलता नहीं है, किन्तु मन, वचन, कायके योगका पाट फिरता है—काँपता है, इसलिये साथ ही आत्मा भी हिलता हुआ काँपता हुआ प्रतीत होता है, और उसका क्षेत्रांतर होता हुआ दिखाई देता है। कम्पन आत्माका स्वरूप नहीं है। मन, वचन कायका कम्पन पर है, उसके निमित्तसे आत्म प्रदेशोंका कम्पन होता है, वह आत्माका मूल स्वरूप नहीं, किन्तु पर निमित्तसे होनेवाला विकार है। प्रदेशोंका कम्पन आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु जड़के निमित्तसे होनेवाला विकार है, इसलिये वह जड़ है, आत्माके घरका नहीं है। जिसे निराला आत्मस्वरूप जानना हो, वह इस भिन्नताको जाने बिना सत्के मार्ग पर नहीं जा सकेगा।

अब इक्कीसवीं बात कहते हैं—भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा बंधस्थान सभी जीवोंके नहीं हैं, भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम होनेका कारण जीवमें होनेवाले विविध प्रकारके विकारी परिणाम हैं। जीवमें जैसे भिन्न भिन्न प्रकारके परिणाम होते हैं, वैसे जड़में भी भिन्न भिन्न प्रकारके प्रकृतिके परिणाम होते हैं, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई किसीका कर्ता नहीं सब अपने अपने कारणसे स्वतन्त्र परिणमित होते हैं। भिन्न भिन्न प्रकारकी प्रकृतियाँ - सब पुद्गलमय हैं और जीवके विकारीप रिणाम भी पुद्गलकी ओरके हैं, इसलिये वे भी पुद्गलके परिणाम कहे गये हैं।

प्रकृतिका बंध पुद्गलमें होता है। बंध आत्मामें नहीं होता। बंध

होना पुद्गलका स्वभाव है, आत्माका नहीं। बंध और आत्माकी विकारी पर्याय का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध भी आत्माकी स्वभाव दृष्टिसे नहीं है। वह बंध पुद्गलका स्वभाव है। और भाव बंध जीव पर्याय की योग्यता है आत्माका अनुभव उस बंधसे अलग है।

बाईसवाँ कथन —अपने फलको उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्म अवस्था जिनका लक्षण है, ऐसे उदयास्थान भी जीवके नहीं हैं, किन्तु वे रजकणोंमें फलते हैं, आत्मामें नहीं। वे कर्म अपनेमें फल उत्पन्न करनेको समर्थ हैं, पर में नहीं। उनकी शक्ति आत्मामें फल उत्पन्न करनेकी नहीं है। कर्म स्वयं अपनी अवस्थाएं उत्पन्न करते हैं आत्माकी नहीं। कर्मोंके फलका आत्मामें कोई असर नहीं होता। एक तत्वका फल दूसरे तत्वमें कभी नहीं हो सकता। कर्म की अवस्था न तो आत्मामें आ सकती है, और न आत्माकी कार्यमें, यदि वस्तु दृष्टिसे देखा जाये तो दोनोंकी अवस्थायें भिन्न भिन्न हैं। १४८ प्रकृतियों के उदयकी अवस्था सब जड़की है। अज्ञानी मान रहा है कि कर्म फल देते हैं, तब राग-द्वेष होता है, किन्तु कर्मका फल जड़में होता है, और राग-द्वेष तेरे आत्माकी पर्यायमें होते हैं, इसलिये कर्म फल तुझे राग-द्वेष नहीं कराता, किन्तु तू ही विपरीत मान्यतामें युक्त हो जाता है, तब राग द्वेष होता है। जब राग द्वेष आत्माकी अवस्थामें होता है, तब कर्म फल मात्र निमित्तरूपसे विद्यमान होता है, इसलिये यदि वस्तु दृष्टिसे देखा जाये तो कर्मका फल आत्मा में नहीं आता कर्मका फल आत्माका लक्षण नहीं किन्तु ऐसे पृथक तत्वका श्रद्धान्-ज्ञान करना आत्माका लक्षण है। आत्माका ज्ञान आनन्द रमणता इत्यादि स्वरूप आत्मामें है, ऐसा भेद ज्ञान करना ही मुक्तिका उपाय है।

तेईसवाँ कथन —गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सञ्ज्ञा और आहार जिनका लक्षण है, वे मार्गणा स्थान भी समस्त जीवोंके नहीं हैं क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय हैं, इसलिये आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं। इन चौदह मार्गणाओंका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है —

गतिका फल जड़में होता है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं गति

पाँचों प्रकार आत्मामें नहीं हैं। साधक दशामें एक पर्यायसे दूसरी प
निर्मलतया बढ़ती जाती है, सो वह कर्मकी अपेक्षा रखती है। कर्मकी अपेक्
विना ज्ञानमें भी भग नहीं पड़ता। यद्यपि यह पाँचों भग चैतन्यकी पय
होते हैं, किन्तु वे कर्मकी अपेक्षाके विना नहीं होते, इसलिये वे जड़
अखड आत्मामें वे पाँचों भग नहीं हैं, इसलिये वे पुद्गलके हैं ऐसा कहा

केवलज्ञानकी प्राप्तिमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कार्य करता
बीचमें किसीके अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान होता है और किसीके
दोनोंके हुए विना ही, सीधा केवलज्ञान हो जाता है।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा जानता है, श्रुतज्ञानमें
निमित्त है, अवधि और मन पर्ययज्ञानमन और इन्द्रियोंके विना सीधे
आत्माके द्वारा मर्यादित रूपसे पर पदार्थोंको जानते हैं, और केवलज्ञान
आत्मासे प्रत्यक्ष रूपसे समस्त लोकालोकको जानता है। ऐसे पाँच प्र
ज्ञानके भेद भी अखड आत्माका स्वरूप नहीं हैं। ऐसा सम्यक्दर्शनका वि
है। अखड आत्मा को लक्षमें लेना ही सम्यक्दर्शन है। पाँचों ज्ञान, ज्ञ
गुणकी पाँच अवस्थाएँ हैं। मोक्ष मार्गको सिद्ध करनेमें मतिज्ञान और
ज्ञानकी पर्याय बीचमें आती है, परन्तु उन भगों पर लक्ष देनेसे राग
है। भग दृष्टिका विषय नहीं है, किन्तु दृष्टिका विषय अभेद है।

एक पर्यायसे दूसरी पर्याय अधिक प्रगट हुई, उसमें कर्मकी अ
होती है। मात्र ज्ञायकका प्रकार लिया जाये तो उसमें भङ्ग नहीं होता
निरपेक्ष आत्माको लक्षमें लेनेकी यह बात है। ज्ञानकी पाँच पर्यायोंमें नि
के सद्भावकी और अभावकी अपेक्षा होती है। ज्ञानकी उन पाँचों पर्या
मेदसे रहित निरपेक्ष आत्माको *लक्षमें लेना, सम्यक्दर्शनका विषय है।*
ज्ञानकी पर्यायें आत्मामें न हों, सो बात नहीं है, क्योंकि पाँचों प्रकारकी प
आत्मामें होती हैं। परन्तु उन पर लक्ष देनेसे राग होता है, अखण्ड
पर दृष्टि डालनेसे राग नष्ट हो जाता है। पाँच ज्ञानकी पर्यायोंको सम्यग्
जानता है, किन्तु दृष्टिका विषय अखण्ड आत्मा ही है। दृष्टि उन पाँच
के पर्याय मेदको स्वीकार नहीं करती, पाँच पर्यायोंके भेदों पर लक्ष देनेसे

होता है, और अखण्ड आत्मा पर जो दृष्टि होती है, उसके बलसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पाँच प्रकारके भेद दृष्टिका विषय नहीं हैं और उनमें परकी अपेक्षा आती है, इसलिये वे आत्माका स्वरूप नहीं किन्तु पुद्गलके परिणाम हैं। तीर्थंकर देवने आत्माके स्वभावकी घोषणा करते हुए कहा है कि आत्माका एक प्रकार है, उसमें पाँच ज्ञान गुणकी अवस्थाओं पर लक्ष देना परमें लक्ष देनेके समान है। अभेद एक प्रकारसे आत्माको लक्षमें लेनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है, भेद पर लक्ष देनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

अखण्ड एक आत्मामें शरीरके रजकण, आठ कर्मोंके प्रकार और राग, द्वेष की विकारी अवस्था तो क्या, किन्तु ज्ञान गुणके पाँच भेद भी नहीं हैं। यद्यपि पाँच प्रकारकी पर्यायें आत्मामें होती हैं किन्तु वे दृष्टिका विषय नहीं हैं। उनमें परकी अपेक्षा होती है, इसलिये पाँच प्रकारके भेद आत्मामें नहीं हैं। अभेद अखण्ड आत्मा पर दृष्टि डालनेसे पाँचों ज्ञानकी निर्मल अवस्था प्रगट होती है, किन्तु यदि पाँच प्रकारके भेदों पर लक्ष दिया जाये तो वह पाँच प्रकारकी अवस्था प्रगट नहीं होती।

आत्मामें ज्ञान गुण संपूर्ण अनादि अनन्त है, उसमें अवधिज्ञान इत्यादि पाँच प्रकारकी दृष्टि करना सो भेद दृष्टि, खण्ड दृष्टि और पुद्गलके आश्रयकी दृष्टि है, तथा अभेद दृष्टि, स्वाश्रयी दृष्टि है।

मतिज्ञानके द्वारा पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे विचार होता है। यद्यपि यह विचार अपने द्वारा होता है, किन्तु उसमें इन्द्रियों और मनका निमित्त होता है। मैं शांत हूँ, समाधिस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, इत्यादि जाने सो श्रुत ज्ञान है। अवधिज्ञान अमुक प्रकारसे मर्यादाको लेकर इन्द्रिय और मनके बिना प्रत्यक्षरूपसे पदार्थोंको जानता है, परन्तु वह उपयोगके लगानेपर ही जानता है, एक ही साथ सब कुछ नहीं जानता। मनःपर्ययज्ञान भी इन्द्रियों और मनकी सहायताके बिना दूसरेकी मनोगत पर्यायोंको जानता है, किन्तु वह ज्ञान भी जब उपयोग डालता है तभी जानता है, एक साथ सबको नहीं जानता, क्रमशः ज्ञान होनेसे यह ज्ञान भी अपूर्ण है, पराधीन है, इसमें कर्मका निमित्त है। यह मनःपर्ययज्ञान छट्ठे–सातवें गुणस्थानोंमें झूलते हुए नग्न दिगम्बर मुनियोंके ही होता है। केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञान है। इस ज्ञानमें समस्त स्व पर पदार्थ उपयोगके बिना सहज ही प्रत्यक्ष

ज्ञात होते हैं। इन पाँच प्रकारके भेदों पर लक्ष देनेसे केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह अखण्ड आत्मा पर लक्ष देनेसे प्रगट होती है।

मार्गणाका अर्थ है आत्माको ढूँढनेके प्रकार, वे सब जीवके नहीं हैं, ज्ञानकी पाँच पर्यायोंसे आत्माको ढूँढना आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा एक अखण्ड ज्ञायक है, यदि उसे खण्डमें ढूँढने जायें तो अखंड ज्ञायक नहीं मिलता, अखण्ड आत्माका वास्तविक स्वरूप हाथमें नहीं आता, और इससे पूर्ण केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होती। यदि आत्माको ढूँढना हो तो मति श्रुत ज्ञान आदिकी पर्यायमात्ररूपसे ढूँढनेसे अखण्ड आत्माका मूल स्वरूप नहीं मिलेगा, इसलिये भेदकी दृष्टिसे आत्माको ढूँढना छोडकर अभेद–सामान्य दृष्टि से आत्माकी प्रतीति कर। भेद पर दृष्टि न डालकर सामान्य पर दृष्टि डाल तो पूर्ण पर्याय प्रगट होगी।

आत्मा केवलज्ञान स्वरूप है, इसप्रकार केवलज्ञान पर्यायसे आत्माको ढूढनेके जो परिणाम हैं सो राग है, और जो राग है सो अपना स्वभाव नहीं, इसलिये वे पुद्गलके परिणाम हैं। केवलज्ञान पर्याय है, अखण्ड सामान्य गुण नहीं, उस पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड आत्मा पर लक्ष देनेसे केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। आत्माको पाँच प्रकारके भेदोंमें ढूढनेके जो परिणाम हैं सो राग है, और जो राग है सो आत्माका स्वभाव नहीं है। किन्तु वह पुद्गलके परिणाम हैं, इसलिये ज्ञान मार्गणा भी पुद्गलका परिणाम है। मार्गणा अर्थात् ढूंढना। ज्ञानके भेदोंमें आत्माको ढूढनेसे रागके परिणाम होते हैं, और वे पर निमित्तसे होने वाले परिणाम हैं इसलिये वे दूसरेके हैं।

जैसे बादल सूर्यके आडे आ जाते हैं, और फिर वे ज्यों ज्यों हटते जाते हैं त्यों त्यों सूर्यका प्रकाश प्रगट होता जाता है। इसप्रकार न्यूनाधिक प्रकाशमें जैसे बादलोंकी अपेक्षा होती है, इसीप्रकार इस चैतन्यज्योतिमें पुरुषार्थके द्वारा निर्मल - निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है, इसमें कर्मके बादल कम होते जाते हैं, इसलिये वह परके अभावकी अपेक्षा रखती है। मात्र अखण्ड चैतन्यप्रकाश आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है। उसमें जो न्यूनाधिक पर्याय होती है,

उसमें परकी अपेक्षा होती है। पाँच प्रकारके भेदों पर लक्ष जानेसे जो राग होता है, *वह राग परमार्थदृष्टिके विषयमें स्वीकार्य नहीं है, जब तक राग है,* तब तक निर्विकल्प पर्याय प्रगट नहीं होती। चैतन्य भगवान स्वयं सामान्य ज्ञान प्रकाश बिम्ब है, उसमें पाँच प्रकारके भेद परमार्थदृष्टिके विषयमें नहीं होते। सातवीं गाथामें जैसी मात्र ज्ञायककी बात कही थी, वैसी ही यहाँ है। सातवीं गाथामें यह कहा है कि गुणके भेद आत्मामें नहीं हैं और यहाँ यह कहा है कि *गुणकी अवस्था आत्मामें नहीं है।*

अनादिकालसे तूने अपने स्वरूपका अभ्यास ही नहीं किया, और जितना अभ्यास किया है वह सब बाहरकी ही क्रिया है। यथार्थ तत्वकी प्रातिकी प्रीति नहीं की, और यह बात भी नहीं सुनी कि यथार्थ तत्व क्या है? तब फिर सुन बिना विचार भी कहाँ से आ सकता है? तथा विचार किये बिना ज्ञान कहाँसे हो सकता है। और ज्ञानके बिना उसमें लीनतारूप चारित्र कहाँसे हो सकता है। एवं चारित्रके बिना मुक्ति भी कहाँसे हो सकती है? मेरे स्वरूपमें वेद विकार या कषाय नहीं है, ऐसा जानने और माननेके बाद स्वरूप लीनताका प्रयत्न होता है। उस प्रयत्नको व्यवहार कहते हैं, किन्तु वह व्यवहार, जो कि यह अखण्ड स्वरूप–निश्चय स्वरूप कहलाता है, वह दृष्टिमें आनेके बाद होता है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञानकी पर्याय स्वयं ही व्यवहार है, किन्तु दृष्टिके विषयमें अखण्डस्वरूप होनेके बाद स्वरूपलीनतारूप चारित्रके प्रयत्नका व्यवहार होता है।

मान्यताके बदल जाने पर, राग द्वेषको छोड़नेका इच्छुक होता हुआ वह यह मानता है कि–मेरे स्वरूपमें राग द्वेष या शुभाशुभ भाव नहीं हैं। ऐसा समझनेके बाद वह राग-द्वेषसे नहीं चिपटता, किन्तु उससे मुक्त होता जाता है। जिसने अपने स्वभावको नहीं जाना–माना, वह राग द्वेषसे चिपकता ही रहता है, जब कि शुभाशुभ भावको अपना मान रखा है तब उनसे कैसे मुक्त हो सकता है? मेरे स्वभावकी शक्ति ही अलग है, इसप्रकार अपने त्रिकाल अखंड स्वभावकी स्वीकृतिके बिना, विकारीकी स्वीकृति नहीं छूट सकती। मैं आनन्दकन्द हूँ ऐसे स्वभावकी शक्तिको जिसने स्वीकार किया है, वह कहता

है कि मेरे स्वभावमें पुण्य-पाप नहीं है, जो पर्यायमें होता है, उसका नाश करनेके लिये मैं तैयार हुआ हूँ। वह नाश करनेके लिये तैयार हुआ तब कह लाया जा सकता है, कि वह आत्म स्वरूपको स्वीकार करे। वह मनसे नहीं, श्रवणसे नहीं, शास्त्रसे नहीं, रागसे नहीं, किन्तु आत्मासे आत्माको स्वीकार करे तब कहलाता है कि वह राग द्वेषको—शुभाशुभ भावको नाश करनेके लिये, और गुणोंको प्रगट करनेके लिये तैयार हुआ है। अपने ध्रुव और अविनाशी स्वभावकी सामर्थ्य देख कर उसके बलसे कहे कि–मुझमें राग-द्वेष नहीं है वह राग द्वेषको दूर करनेका इच्छुक है। किन्तु पहले जैसे राग द्वेषके भाव करता हो, वैसेके वैसे ही करता रहे, किसी भी प्रकारकी मन्दता न हो और कहे कि मेरे स्वभावमें राग द्वेष नहीं है, तो ऐसा कहने वाला सर्वथा मिथ्या है, वह स्व भावको समझा ही नहीं। इसप्रकार कह कहकर क्या कुछ किसीको बताना है? जिसे अपने स्वभावकी श्रद्धा जम गई है, उसका राग द्वेष कम हुए बिना नहीं रहता। मेरे स्वभावमें राग द्वेष नहीं है, ऐसी श्रद्धा हुई कि उसके बलसे वह राग द्वेषका नाश अवश्य करेगा। ज्ञानी समझता है कि परोन्मुखता मुझे हित-कारी नहीं है, परो मुखतामें शुभाशुभ भाव होते हैं, इसलिये परोन्मुखता मुझे हितकारी नहीं है, किन्तु स्वसन्मुखका झुकाव ही हितकारी है क्योंकि उसमेंसे मात्र समाधि ही प्रवाहित होती है। सम्यक्‌दर्शनका उत्कृष्ट परिणमन ही मुक्ति है।

परोन्मुख जीवोंको मात्र परमें ही रुचि हो रही है, उसमें कभी ऐसा स्वप्न तक नहीं आया कि आत्मा मुक्त हो गया है। वह भाव कहाँसे आ सकता है? क्योंकि जितने गीत गाये हैं वे सब परके ही गाये हैं। आत्माके प्रेमके गीत नहीं गाये, उसकी रुचि नहीं की, श्रद्धा नहीं की, मैं निर्विकल्प वीतराग स्वरूप हूँ, इसप्रकार जाना माना नहीं, और फिर कहता है कि मेरे स्वप्नमें विमान आया था, और मैं उसमें बैठा था, इसलिये अब मेरी भी कोई गिनती होनी चाहिये। किन्तु भाई! तू अनन्त बार स्वर्गमें हो आया फिर भी कल्या ण नहीं हुआ तब यदि स्वप्नमें विमान आगया तो क्या हो गया? तूने आत्मा के स्वभाव माहात्म्यकी बात सुननेके भावसे नहीं सुनी इसलिये इन व्यर्थकी दूसरी बातोंमें महिमा मालूम होने लगती है, इसलिये आत्माके स्वभावकी बात

इसप्रकार ढूंढना सो ज्ञान मार्गणा है, जीवका स्वरूप नहीं। यह यथार्थ वस्तु दृष्टिकी बात है। दृष्टिका विषय क्या है यह बात है। दृष्टि ज्ञान भेदको स्वीकार नहीं करती किन्तु ज्ञानमें वे भेद ज्ञात अवश्य होते हैं, तथापि दृष्टिका विषय भेद नहीं है।

मोक्ष पर्यायके प्रगट करनेमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, पाँच शरीर, संस्थान, संहनन, अष्टकर्म, पर्याप्ति, तत्त्वकी अप्राप्ति रूप मोह, योगका कम्पन, गति, इन्द्रियाँ, कषाय, शुभराग, देव, गुरु, शास्त्र, और पूजा भक्तिका शुभ विकल्प इत्यादि कोई भी धर्मका आधार नहीं है, इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानके पाँच भेद भी धर्मके आधार नहीं है, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी निर्मल अवस्था भी धर्मका आधार नहीं है, वह दृष्टिका विषय नहीं है। वह निर्मल अवस्था एकरूप सदा स्थायी पूर्ण सामर्थ्यवान द्रव्यमें से आती है, प्रवाहित होती है। समस्त अवस्थाओंकी सम्पूर्ण शक्तिवाला जो मैं हूँ उसकी श्रद्धा करनेसे धर्म प्रगट होता है। सम्यक्दर्शन स्वयं पर्याय है, जो कि धर्मका आधार नहीं है, किन्तु उस दृष्टिसे किया गया सम्पूर्ण द्रव्यका विषय धर्मका आधार है।

आत्मामें जो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, की जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, उस अवस्थाकी दृष्टि करनेसे भी निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती, क्योंकि निर्मल अवस्था भी निर्मलतारूपसे प्रतिक्षण बदलती रहती है, और द्रव्य एक रूप ध्रुवस्वभाव है, सम्पूर्ण अवस्थाओंकी शक्ति द्रव्यमें भरी पड़ी है,—इसलिये द्रव्य पर दृष्टि पात करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। जो निरंतर बदलता रहे उस पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। इसप्रकार परिपूर्ण वस्तुका विषय करनेसे उस विषयके बलसे प्रथम मोक्ष मार्ग और अंतिम केवल ज्ञान प्रगट होता है। धर्मके प्रारम्भमें भी दृष्टिका विषय है, और अंतमें केवल ज्ञानको प्रगट करनेवाला भी वह है।

श्रद्धाका विषय स्थायी होता है, किन्तु श्रद्धाकी और रमणताकी पर्याय बदल जाती है। उस श्रद्धा और रमणताकी जाति भले ही एक हो, किन्तु वह दूसरे क्षण बदल जाती है। जो बदलती है, अर्थात् जिसका उत्पाद - व्यय होता है, उसका आधार पर्याय नहीं है। पर्यायका आधार पर्याय नहीं होती, किन्तु वस्तु होती है। जो प्रतिक्षण बदल जाती है, उसमें यह शक्ति नहीं है, कि

वह पूर्ण पर्यायको प्रगट कर सके। साधक अवस्थाकी अपूर्ण पर्यायमें से पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह वस्तुमेंसे प्रगट होती है। मैं एक शुद्ध ज्ञायक हूँ ऐसी दृष्टिके बलसे पूर्ण पर्याय प्रगट होती है।

विकारी अवस्थाका नाश करके सम्पूर्ण निर्विकार अवस्था प्रगट करनी हो तो उसका कारण ढूँढ़े। सम्पूर्ण अवस्थाके प्रगट होनेमें कौन कारण है? क्या शरीरादि उसके कारण हैं? पुण्य पापके भाव उसके कारण हैं, अथवा अपूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी पर्याय उसका कारण है? अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्थाके प्रगट करनेमें कदापि कारण नहीं हो सकती, अवस्थामेंसे अवस्था कभी भी प्रगट नहीं होती, किन्तु भीतर जो पूर्ण स्वभाव विद्यमान है, उस पर दृष्टिका बल लगानेसे पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी अपूर्ण अवस्था केवलज्ञानकी पूर्ण अवस्थाका अनन्तवाँ भाग है। उस अनन्तवें भागकी पर्यायमें शक्ति नहीं है कि वह अनन्त गुनी पर्यायको प्रगट कर सके। मोक्ष मार्गकी अवस्था अनन्तवाँ भाग है, और केवलज्ञानकी पूर्ण अवस्था उससे अनन्त गुनी है। अनन्तवें भागकी अवस्थामेंसे अनन्त गुनी अवस्था प्रगट नहीं हो सकती। जब पूर्ण अवस्था प्रगट होती है, तब शरीर और विकारादि तो क्या किन्तु अपूर्ण अवस्था भी नहीं रहती, मात्र पूर्ण अवस्था रहती है, जिसका नाम मोक्ष है। जब अपूर्ण अवस्था मिटती है, तब पूर्ण अवस्था उत्पन्न होती है, इसलिये अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्थाका कारण नहीं है, किन्तु पूर्ण अवस्था प्रगट होनेसे पूर्व अपूर्ण अवस्था बीचमें आती है। अपूर्ण अवस्थाके बिना पूर्ण अवस्था प्रगट नहीं होती, इतना अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थाके साथ सम्बन्ध है, किन्तु अपूर्ण पर्याय पूर्ण पर्यायकी साधक नहीं है, हाँ, वह बीचमें आती है इसलिये अपूर्ण पर्यायको पूर्णताकी साधक पर्याय कहा जाता है, वह व्यवहार है। परन्तु वास्तवमें अन्तरंगमें जो परिपूर्ण स्वभाव भरा हुआ है, उस पर दृष्टिका बल लगानेसे संपूर्ण पर्याय प्रगट होती है।

पर्याय प्रगट होती है, वस्तु नहीं, क्योंकि वस्तु तो अनादि अनन्त प्रगट ही है, उसे कोई प्रगट नहीं करना चाहता, किन्तु पर्यायको प्रगट करना चाहता है। लोग कहते हैं कि विकार नहीं चाहिये इसका अर्थ यह हुआ कि

निर्विकार अवस्था चाहिये है। वस्तु अनादि अनन्त प्रगट है, जो है, उसका नाश नहीं होता, और जो नहीं है, वह नवीन नहीं होती। मात्र रूपान्तर होता है–पर्याय बदलती है।

जो पर्याय प्रगट होती है, वह वस्तुमेंसे होती है, क्यों पर्यायमेंसे पर्याय प्रगट नहीं होती। चतुर्थ गुणस्थानकी दशामें तेरहवें गुणस्थानकी दशा प्रगट करनेकी शक्ति नहीं है, किन्तु सम्यक् श्रद्धाकी (चतुर्थ गुणस्थानकी) पर्यायसे किये गये विषयमें वह शक्ति है। सम्यक्श्रद्धा तो पर्याय है, उसने अखण्ड वस्तुका श्रद्धान किया है, इसलिये अखण्ड वस्तु सम्यक्श्रद्धाका विषय है, उस वस्तुके विषयमें तेरहवें गुणस्थान प्रगट करनेकी शक्ति है, क्योंकि वस्तुमें से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये वस्तुका विषय करने पर उसमें से *पर्याय प्रगट हो जाती है, पर्यायमें से पयाय प्रगट नहीं होती। सम्यक्श्रद्धा* द्रव्य नहीं गुण नहीं किन्तु पर्याय है, और द्रव्य अनन्त गुणोंका पिंड है। श्रद्धागुण अनादि अनन्त है, उसकी दो अवस्थाएँ हैं,–सम्यक्श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा। इसलिये सम्यक्दर्शन पर्याय है, और पर्याय व्यवहार है। विपरीत मान्यताका नाश होनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं होता, क्योंकि नाशमें से उत्पाद नहीं होता। नाशको उत्पादका कारण कहना व्यवहार है। किन्तु वास्तवमें जो अस्ति स्वभाव भरा पड़ा है, उसमें से सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। सामान्य एकरूप स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट होना है।

चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यक्दर्शन, पाँचवेंमें श्रावकत्व और छट्ठे–सातवें गुणस्थानमें मुनित्व होता है, सो वह भी गुण नहीं किन्तु पर्याय है, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यकचारित्र, भी गुण नहीं किन्तु पयाय है, क्योंकि वह प्रगट होती है। पर्याय, पर्यायका कारण नहीं होती, नाश उत्पादका कारण नहीं होता। चौथा गुण बदलकर पाँचवाँ होता है, इसलिये चौथा गुणस्थान पाँचवें गुणस्थानका कारण नहीं है, क्योंकि नाश उत्पत्तिका कारण नहीं होता, किन्तु उत्पत्ति का मूल कारण सामान्य स्वभाव है। केवलज्ञानका मूल कारण भी सामान्य रूप वस्तु है। सम्यक्दर्शनकी पर्यायके बलसे, केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु वह सामान्यरूप वस्तुके बलसे प्रगट होता है। सम्यक्दर्शनकी पर्याय

भी, मैं एक संपूर्ण पदार्थ वर्तमानमें हूँ--इसका विषय करनेसे प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शनका विषय सम्यग्दर्शनकी पर्याय नहीं किन्तु अखण्ड द्रव्य है। सम्यग्दर्शनका आश्रय भूतार्थ है। देव, गुरु, शास्त्र तो क्या किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान आदिकी निर्मल पर्याय भी सम्यग्दर्शनका आश्रय नहीं है। निर्मल पर्याय पर भी लक्ष देनेसे राग होता है, और अखण्ड द्रव्य पर लक्ष देनेसे राग छूटता है, इसलिये सम्यग्दर्शनका आश्रय अखण्ड द्रव्य है। एक गुणका लक्ष करना भी सम्यग्दर्शनका विषय नहीं, किन्तु अनन्त गुणोंकी पिंड रूप वस्तु सम्यग्दर्शनका विषय है।

जब हम क्षायिक पर्याय पर विचार करते हैं, तो--क्षायिक पर्यायके प्रगट होने पर उस पर लक्ष देनेकी आवश्यक्ता नहीं रहती, और उसके प्रगट होनेसे पूर्व, लक्ष कहाँ दिया जावे ? जिसका अस्तित्व ही प्रगट नहीं उस पर लक्ष देना कैसा ? इसलिये लक्ष देना द्रव्य पर ही सम्भव है। अभेद स्वभाव की अपेक्षासे भेद अभूतार्थ है। यहाँ अभूतार्थका अर्थ यह नहीं है कि पर्याय के भेद सर्वथा हैं ही नहीं। पर्याय है अवश्य, किन्तु उस पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये वह लक्ष हेय है, और एक मात्र सम्यग्दर्शनका विषयभूत द्रव्य ही आदरणीय है।

दृष्टिका विषय सामान्य है। वह दृष्टि प्रगट या अप्रगटके भेदको स्वीकार नहीं करती। उस दृष्टिके विषयमें वस्तु प्रगट ही है। पर्याय दृष्टिके *विषयमें वस्तुकी पर्याय प्रगट है या अप्रगट, ऐसा भेद - विकल्प होता है,* किन्तु वस्तुदृष्टिका विषय पारिणामिक भाव है। अपेक्षित पर्याय पर्यायार्थिकनय का विषय है।

वस्तुदृष्टि पर्यायभेदको स्वीकार नहीं करती, इसलिये मति, श्रुत, केवल ज्ञानादिकी पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं, क्योंकि वह पर्याय है, और ज्ञान उसे जानता है। ज्ञान दृष्टिके विषयको जानता है, और पर्यायको भी जानता है, वह प्रमाणज्ञान है। द्रव्य स्वयं वर्तमानमें ही परिपूर्ण है। ऐसे व्यक्त अव्यक्त के भेदसे रहित द्रव्यके परिपूर्ण अभेदको विषय न करे तो श्रद्धा मिथ्या है, और जो पर्याय प्रगट है, या अप्रगट है, उसे न जाने तो ज्ञान मिथ्या है।

जो ज्ञान श्रद्धाके अखण्ड विषयको जानता है, वह अपूर्ण पर्यायको भी जानता है, इसलिये पुरुषार्थ चालू रहता है। ज्ञान पूर्ण और अपूर्ण दोनोंको जानता है। जाननेके विषयमें सब कुछ है, किन्तु आदरणीयमें एक है।

मति, श्रुत या केवलज्ञानकी पर्याय, दृष्टिके विषयमें आदरणीय नहीं है किन्तु उसे जानता है। मति, श्रुतज्ञानकी खण्डरूप पर्यायको अपनी ओर उन्मुख किये बिना तत्त्वको नहीं समझा जा सकता। यद्यपि वस्तुके समझनेमें वह बीचमें आती है, परन्तु वह वस्तु दृष्टिका विषय नहीं है। मति - श्रुत ज्ञान की अपूर्ण पर्याय हैं, परन्तु उस पर लक्ष देनेसे राग होता है। मति, श्रुत, अवधि इत्यादिकी अपूर्ण पर्याय पर दृष्टि डालनेसे अथवा उसके ढूँढनेका विकल्प करनेसे मोक्ष प्रगट नहीं होता। मोक्ष मार्ग भी व्यवहार है, इसलिये वह भी परमार्थतः मोक्षका कारण नहीं है, किन्तु दृष्टिका विषय - द्रव्य ही मोक्षका कारण है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान पर्याय हैं, इन पर दृष्टि रखनेसे केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड पिंड वस्तु पर दृष्टि रखनेसे प्रगट होता है। केवलज्ञान भी एक पर्याय है, और सामान्य अखण्ड पिण्डरूप वस्तु तीनों कालकी पर्यायोंका पिण्ड है, इसलिये केवलज्ञान भी एक अवस्था है, अतः वह व्यवहार है। सिद्धोंमें भी समय समय पर पर्याय होती रहती है, और जो पर्याय है, सो व्यवहार है, इसप्रकार सिद्धोंमें भी व्यवहार है। सिद्ध की पर्याय भी साधक जीवोंके अखण्ड वस्तु पर लक्ष देनेसे प्रगट होती है, पर्याय पर लक्ष देनेसे नहीं।

सम्यक्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्योंकि दर्शनगुण एकरूप अनादि अनन्त है, और सम्यक् तथा मिथ्यात्व उसकी पर्यायें हैं। जो स्थिरता प्रगट होती है, वह भी एक पर्याय है, क्योंकि चारित्र गुण अनादि - अनन्त एकरूप है, और उसकी स्थिर तथा अस्थिर दो पर्यायें होती हैं, इसलिये, सामान्य स्वभावमें से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अनन्त गुणोंकी पिण्डरूप अभेद वस्तु पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पर्यायमें से पर्याय प्रगट नहीं होती।

ज्ञायक स्वभावकी शक्ति और ऐश्वर्य एक समयमें परिपूर्ण विद्यमान हैं, उस पर दृष्टिका भार देनेसे चतुर्थ, पचम, और छट्ठा आदि गुणस्थान तथा केवलज्ञान प्रगट होता है। यही एक मार्ग है। इसे चाहे आज समझे, कल समझे, इस भवमें समझे, दूसरे भवमें समझे या पाँच - दस भवोंके बाद समझे, किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। "एक होय त्रय कालमें परमारथको पथ", अर्थात् त्रिकालमें परमार्थका एक ही पथ होता है, दो नहीं।

कुमति, कुश्रुत, और विभङ्ग अवधि, यह तीन अज्ञान, और पाँच ज्ञान, यह आठ प्रकारकी ज्ञान मार्गणा हैं, उन मार्गणाओंमें आत्माको ढूँढनेका प्रकार है, वह जीवोंके नहीं है। मैं किस अवस्थामें हूँ, इसप्रकार मति - श्रुत इत्यादि अवस्थाके ढूँढनेकी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह मोक्ष कारण नहीं है, क्योंकि उसमें अपने कर्मोंके आश्रयकी अपेक्षा आती है, और आत्मा द्रव्य से, गुणसे, तथा पर्यायसे निरपेक्ष है।

जब कि द्रव्य स्वय निरपेक्ष है, तब उसकी पर्याय भी निरपेक्ष होनी चाहिये। त्रैकालिक शुद्ध द्रव्य सामान्य है, उस सामान्यका विशेष भी होना चाहिये। त्रिकालद्रव्यका विशेष, उस द्रव्यका वर्तमान है, और जो वर्तमान है सो पर्याय है। इसप्रकार सामान्य विशेष मिलकर सम्पूर्ण द्रव्य है। द्रव्य अनादि अनन्त है, उसी प्रकार द्रव्यका वर्तमान भी अनादि - अनन्त एकरूप द्रव्याकार है। वर्तमानके बिना द्रव्य नहीं होता, और द्रव्यका वर्तमान अपूर्ण नहीं होता। यदि पर्याय अपूर्ण हो तो वस्तुकी पूर्णता नहीं होती, इसलिये द्रव्य पूर्ण है, तथा उसकी पर्याय भी पूर्ण है। इसप्रकार द्रव्यमें निरपेक्ष पर्याय अनादि अनन्त है। यदि निरपेक्ष पर्याय न मानी जावे तो वस्तु परिपूर्ण सिद्ध नहीं होती। और यदि अपेक्षित पर्याय न मानी जाये तो संसार और मोक्ष सिद्ध नहीं होते। जो राग - द्वेषादि विकारी पर्याय होती है, वह अपेक्षित है। और केवलज्ञान इत्यादि निर्मल पर्यायकी उत्पत्ति ही अपेक्षित है, इसलिये द्रव्यमें निरपेक्ष पर्याय अनादि अनन्त है। द्रव्य, गुण, और कारणपर्याय तीनों निर्मलरूपसे अनादि - अनन्त एकरूप हैं। यहाँ दृष्टिका विषय है, और दृष्टि सम्पूर्ण निरपेक्ष द्रव्यको लक्षमें लेती है। अखण्ड द्रव्य पर दृष्टिका बल होनेसे पर्याय प्रगट होती है। यदि वास्तविक

दृष्टिसे देखा जाये तो एक पर्याय प्रगट होनेका कारण दूसरी पर्याय नहीं, किन्तु उसका सच्चा साधन अखण्ड द्रव्य है। पर्याय पर दृष्टि डालना साधन नहीं, किन्तु आत्मा पर दृष्टि रखना साधन है–कारण है।

यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम विकारी अवस्थाका विश्वास न करे, अर्थात् उसे अपना न माने, तथा यह विश्वास भी न रखे कि–मैं निर्मल पर्याय जितना ही हूँ, किन्तु अखण्ड द्रव्यका ही विश्वास रखे। जिसने केवल ज्ञान प्रगट किया है, उसने अखण्डद्रव्य पर सुदृढ़ दृष्टि रखकर ही प्रगट किया है।

ज्ञानगुण त्रिकाल एक रूप है, और अवस्था एक समयमें एक, दूसरे समयमें दूसरी, तथा तीसरे समयमें तीसरी होती है। इस प्रकार क्रमशः अनन्त अवस्थाएँ होती हैं वे सब एक अवस्थामें नहीं, किन्तु सदा स्थायी गुण में होती हैं, इसलिये सदा स्थायी द्रव्य पर लक्ष देनेसे, सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट होता है। पूर्णकी श्रद्धाके विना पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती।

लोग कहते हैं कि आप तो सारे दिन आत्मा ही आत्माकी बात करते हैं, किन्तु ऐसा कहने वालोंसे हम पूछते हैं कि तुम सब, सारे दिन क्या करते रहते हो? खाना, पीना, व्यापार और नौकरी - इत्यादि ही तो सारे दिन किया करते हो? जिसके आदि, मध्य और अवसानमें दुःख ही दुःख पाया जाता है, उसमें तुम पचास–पचास वर्ष व्यतीत कर देते हो, फिर भी उसमें प्रीति बनी रहती है, और अकुलाहट नहीं होती, किन्तु आत्माकी यह बात कभी भी प्रीति पूर्वक नहीं सुनी। यदि कोई एक बार भी आत्माकी बात प्रीति पूर्वक सुनले तो वह मुक्तिका भाजन है, ऐसा पद्मनन्दि आचार्यने कहा है। तात्पर्य यह है कि यह तत्वकी बात अंतरंगसे प्रीति और रुचिपूर्वक सुन ले तो मुक्ति प्राप्त हुए विना नहीं रहे। सत्श्रवणकी भावनाकी प्रबलतामें सत्के ही निमित्त विद्यमान होते हैं। आचार्य पद्मनन्दिने यह कहा है, कि तत्वकी बात नहीं सुनी, किन्तु यह नहीं कहा कि तत्वकी बात नहीं पढ़ी तात्पर्य है कि–यदि सत्समागमके विना स्वयं ही पढ़े–स्वाध्याय करे तो उसे क्या समझेगा? इसलिये सत्समागमके द्वारा पहले सत्स्वरूपकी बात प्रीति पूर्वक सुननी चाहिये।

जो जीव प्रसन्न चित्त पूर्वक सुनता है, और फिर विचार करता है कि अहो ! मेरे गुण पराश्रय रहित हैं, मैं निरपेक्ष आत्मा हूँ, तो वह निकट भविष्यमें ही मोक्षका भाजन होता है। सुननेवालेकी अमुक पात्रता तो होती ही है, तभी यह बात अंतरंगमें जमती है, और उस पात्रताके होने पर ही, इस बातकी आंतरिक प्रीति जागृत होती है। ब्रह्मचर्यका रंग अमुक प्रकारसे कषायोंकी मन्दता तथा नीति, न्याय इत्यादिकी पात्रता होनी ही चाहिये। यदि इतनी पात्रता न हो, तो यह बात सुननेके लिये भी योग्य नहीं है।

वर्तमानमें होनेवाली अवस्था शरणभूत नहीं है, किन्तु अखण्ड अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण आत्मा ही एक मात्र शरण है। यह बात चैतन्यमें अंकित कर लेने योग्य है। जिसके हृदयमें यह बात अंकित हो जाती है, उसे केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। केवलज्ञान भी गुण नहीं किन्तु पर्याय है, क्योंकि यह सादि अनन्त अवस्था है, और गुण अनादि-अनन्त एकरूप होता है। इसलिये, समल, निर्मल पर्याय पर लक्ष देनेसे केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु अखण्ड द्रव्यपर लक्ष्य देनेसे केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। यह सम्यग्दर्शनका ध्येय है, और सम्यग्दर्शनका विषय है। मोक्ष कैसे हो सकता है उसका उपाय बतानेवाली अंतिमसे अंतिम बात कही गई है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञान, सम्यक् होते हैं, यह उनकी अवस्था है। इन ज्ञानोंकी अवस्था न होती हो सो बात नहीं है, किन्तु उन पर दृष्टि रखनेसे यह अवस्थाएँ प्रगट नहीं होतीं। परन्तु सम्पूर्ण वस्तु पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त ध्रुव, निश्चल विद्यमान है, इस दृष्टिके बलसे मति, श्रुत और पूर्ण केवलज्ञान अवस्था प्रगट होती है।

जैसे–कोई मनुष्य गर्म पानीको ठण्डा कर रहा है, इस समय उसे यह ध्यान है कि पानीमें सम्पूर्ण शीतल स्वभाव सामान्यतया विद्यमान है, इसी विश्वाससे वह गर्म पानीको ठंडा कर रहा है, किन्तु वह ऐसे लक्षके बलसे पानी को ठण्डा नहीं कर रहा है कि थोड़ी थोड़ी उष्णता चली गई है, और थोड़ा थोड़ा पानी ठण्डा हो गया है, किन्तु वह पानीमें सम्पूर्ण शीतलता विद्यमान होनेके विश्वास पूर्वक पानी ठण्डा कर रहा है पानी के गर्म होने में अग्निका

निमित्त था क्या वह इस विश्वास पर पानी ठंडा कर रहा है? अथवा थोड़ा थोड़ा पानी ठंडा होता जाता है, इस विश्वास पर पानीको ठंडा कर रहा है? या पानीमें संपूर्ण शीतल स्वभाव भरा हुआ है इस लक्षके बल पर पानीको ठंडा कर रहा है? इनमें से तीसरी बात सही है, पानीमें अखण्ड शीतलस्वभाव भरा है, उसके लक्षके बलसे वह पानीको ठण्डा कर रहा है। पानीमें जो वर्तमान शीतल अवस्था है, उस वर्तमान अवस्था में संपूर्ण शीतल गुण भरा हुआ नहीं है, इसीप्रकार वर्तमान समयकी अवस्थामें, त्रिकाल अवस्थाकी शक्ति नहीं है, कुछ शीतल अवस्थामें, सम्पूर्ण शीतलता नहीं है, अर्थात् उस अपूर्ण अवस्थामें संपूर्ण शीतल अवस्था नहीं है।

इसीप्रकार सम्यक्‌दृष्टिका लक्ष्य अभेदरूपसे आत्माके सामान्य स्वभाव पर है, उस सामान्यरूप वस्तुकी दृष्टिके बलसे, मति, श्रुत, केवल इत्यादिकी पर्याय प्रगट होती है। अमुक अंशमें निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उस पर लक्ष देनेसे पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु संपूर्ण अवस्थाकी शक्ति द्रव्यमें एक समय में, संपूर्ण विद्यमान है, उस पर दृष्टिके बलसे पूर्णता प्रगट होती है। उसके बलसे मोक्ष मार्ग प्रगट होती है, उसके बलसे मुक्ति प्रगट होती है। इस प्रकार अवस्था प्रगट होती है, द्रव्य नहीं, क्योंकि, द्रव्य तो सदा प्रगट ही है, किन्तु जो अवस्था प्रगट होती है, क्या वह कर्मके निमित्तपर दृष्टि रखनेसे होती है? अमुक अंशमें निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, क्या उस पर दृष्टि रखने से प्रगट होती है? अथवा जो अखण्ड स्वभाव भरा है, उस पर दृष्टि रखनेसे प्रगट होती है? जिसे निर्मल अवस्था प्रगट करनी है, उसे पूर्ण अखण्ड स्वभाव त्रिकाल अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि जमानेसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है। यह सम्यक्‌श्रद्धाका विषय है, इसलिये अवस्थामें से ढूँढना छोड़ दे और वस्तुमें दृष्टि डाल, तब ही अवस्था प्रगट होगी, अवस्थामें ढूँढने से राग होता है, और राग विकार है, इसलिये ज्ञान मार्गणा पुद्गलका परिणाम है।

आचार्यदेवने 'जिनके लक्षण हैं' कहकर ज्ञान मार्गणा और ज्ञानकी पाँच पर्यायें हैं अवश्य-इसप्रकार व्यवहार बताया है, परन्तु साथ ही वे अखंड आत्माका स्वरूप नहीं हैं यह कहकर परमार्थ बताया है। इसी प्रकार सभी २६

कथनोंमें समझ लेना चाहिये। ज्ञानमार्गणा लक्ष है, और भेद उसका लक्षण है, यह सब आत्माके नहीं हैं, क्योंकि अभेद आत्माका वह लक्ष और लक्षण नहीं हैं, इसलिये ज्ञान मार्गणा भी जीवके नहीं हैं।

अब संयम मार्गणाके सम्बन्धमें कहते हैं। संयमके सात भेद हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम, और असंयम। अविरतभावको असंयम कहते हैं। आत्माकी प्रतीति न हो, और जो आसक्ति है सो मैं हूँ, वह मेरा भाव है, ऐसी मान्यता मिथ्या दृष्टिके होती है। आसक्ति तो है ही, और मान्यता भी विपरीत है, इसलिये वह मिथ्यात्वका असंयम है, और जिसे आत्माकी प्रतीति है, वह आसक्तिके परिणाम मेरा स्वरूप नहीं हैं ऐसा मानता है, उसे आसक्तिकी रुचि नहीं है, तथापि आसक्तिके परिणाम छूटे नहीं हैं, यह चौथी भूमिकाका असंयम है।

पाँचवें गुणस्थानमें आसक्तिका आंशिक त्याग होता है, और कुछ अंशोंमें आसक्ति रह जाती है, उसे संयमासंयम कहते हैं। सामायिक, चारित्र छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती नग्न दिगम्बर मुनिके होता है। वे संतमुनि ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी रमणतामें लीन होते हैं, वह सामायिक चारित्र है।

नग्न दिगम्बर मुनि स्वरूप-रमणतामें अत्यंत लीन रहते हैं, किन्तु कभी कहीं, अल्प वृत्तिमें कुछ शिथिलता हो जाये तो वे गुरुके पाससे छेद अर्थात् प्रायश्चित लेते हैं, और स्वयं स्थिर हो जाते हैं, यह छेदोपस्थापना चारित्र है।

जिन संत मुनियोंको संयमलब्धि प्रगट हुई हो, जिसके कि वे वनस्पति और पानी इत्यादि पर चलते हैं, फिर भी उनके शरीरसे हिंसा नहीं होती, यह उनका परिहारविशुद्धि चारित्र है, परिहार विशुद्धि चारित्रमें ऐसी लब्धि होती है।

दसवें गुणस्थानवर्ती संत मुनिके सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है। चारित्रकी विशेष निर्मल पर्याय हो गई हो, और लोभका अंतिमसे अंतिम अत्यंत अल्पांश रह गया हो, ऐसी विशेष चारित्र की दशाको सूक्ष्म सांपराय चारित्र कहते हैं।

जैसा चारित्रका स्वरूप है, वैसा सम्पूर्ण प्रगट हो जाये सो यथाख्यात

चारित्र है। इस चारित्रमें कषायका सर्वथा अभाव होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें उपशम यथाख्यात होता है, और बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें क्षायिकयथाख्यात होता है।

आत्मामें चारित्र गुण सदा त्रिकाल विद्यमान है, उसमेंसे वह अवस्था प्रगट होती है, परन्तु संयमकी अवस्थाको ढूंढनेसे या उस पर दृष्टि रखनेसे राग रहता है, इसलिये संयमके भेदमें संयमको ढूंढनेसे संयमकी अवस्था प्रगट नहीं होती। किन्तु मैं आत्मा, अभेदरूपसे वीतराग स्वरूप हूँ। अनन्त गुणों का पिण्ड अभेद आत्मा है, ऐसी अभेद दृष्टिके बलसे वीतराग पर्याय प्रगट होती है। यदि असंयमका त्याग करूँ तो संयम प्रगट हो ऐसे विकल्पसे संयम प्रगट नहीं होता, किन्तु मेरा स्वभाव सदास्थायी समस्वरूप है, वीतराग स्वरूप है, ऐसी उस पर दृष्टि रखनेसे संयम प्रगट होता है। गुण गुणीका भेद भी वस्तुदृष्टिका विषय नहीं है, किन्तु वास्तवमें तो अनन्त गुणोंकी पिण्डरूप वस्तु ही दृष्टिका विषय है।

मैं परिपूर्ण हूँ, ऐसी आत्माकी पहिचान हो, कि तत्काल ही संयम नहीं हो जाता। चतुर्थ गुणस्थान हो और गृहस्थाश्रममें राजपाट कर रहा हो, तत्पश्चात् पुरुषार्थके बढ़ने पर पंचम गुणस्थान और मुनित्व आता है। पुरुषार्थके बढ़ने पर रागके घटाते घटाते और संयममें बढ़ते बढ़ते आगे आगे की पर्याय प्रगट होती जाती है। मैं अखंड हूँ ऐसी दृष्टिके बलसे राग कम होता जाता है, और निर्मल चारित्रकी अवस्था प्रगट होती है।

संयमके भेद आत्मामें नहीं हैं। संयमके भेदोंमें आत्माको ढूंढनेसे राग होता है, और राग विकार है, तथा विकार अपना स्वभाव नहीं, इसलिये जड़ है, इस अपेक्षासे संयम मार्गणा भी पुद्गलका परिणाम है। संयमकी पर्याय चैतन्यकी अवस्थामें होती है, कहीं जड़में नहीं होती, किन्तु उस न्यूनाधिक पर्यायमें परकी अपेक्षा होती है, इसलिये उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। *दृष्टि संयमके भेदको स्वीकार नहीं करती।* दृष्टिका विषय अभेद है, ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है, वह चैतन्यके अभेद स्वरूपको, और चैतन्यमें होनेवाले संयमके भेदोंको भली भाँति जानता है, किन्तु दृष्टि उन भेदोंको स्वी

कार नहीं करती, और उसमें परकी अपेक्षा होती है, इसलिये सयम मार्गणा पुद्गलपरिणाम है ।

सयमके परका आधार नहीं है । क्या सयमको शरीरका आधार है, या कर्म, विकारी पर्याय, अथवा निर्मल पर्यायका आधार है ? किसीके आधार पर सयम नहीं है, किन्तु सयम अर्थात् आंतरिक स्थिरतारूप चारित्र गुण भरा हुआ है, और चारित्र गुण अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा है, उसके आधारसे वह प्रगट होता है । पच महाव्रतोंके शुभ परिणामके आधारसे भी संयम नहीं होता । जब संयम प्रगट होता है, तब शुभ परिणाम बीचमें आते हैं, किन्तु उनके आधारसे सयम नहीं होता, और सयमकी प्रगट होनेवाली स्थिर पर्यायके आधार पर भी सयम प्रगट नहीं होता, किन्तु त्रिकाल स्थिरता के बिम्ब, आत्मा पर दृष्टिके बलसे स्थिरता प्रगट होती है । संयमके प्रकार गुण नहीं किन्तु पर्याय हैं, क्योंकि वे भेद हैं और प्रगट होते हैं, इसलिये जो त्रैकालिक द्रव्य विद्यमान है उस पर दृष्टि डालनेके बलसे सयम प्रगट होता है । इसलिये संयममार्गणा सभी आत्माओंके नहीं होती ।

चन्द्रमा स्वय सोलह कलाओंसे परिपूर्ण है । उसमें राहु निरा आड़े आता है, और वह ज्यों ज्यों हटता जाता है, त्यों त्यों चन्द्रमाकी एक एक कला प्रगट होती जाती है । चन्द्रमामें द्वितीया, तृतीया और चतुर्थीकी कलाके भेद स्वत नहीं हैं, क्योंकि चन्द्रमा तो सदा सम्पूर्ण है, किन्तु राहु उसके आड़े आता है, और वह क्रमश हटता जाता है, इसलिये, दूज तीज, चौथ इत्यादि की कला प्रगट होनेमें निमित्तकी अपेक्षा होती है । इसीप्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान है, उसमें जो पाँचवें छट्ठे, सातवें इत्यादि गुण स्थानके भेदोंकी कलायें हैं, वे अखण्ड आत्माकी अपेक्षासे नहीं हैं, किन्तु कर्मरूपी राहु आड़े आता है, जो पुरुषार्थके द्वारा हटता जाता है, इसलिये सयमकी कलाके भेद हो जाते हैं, किन्तु अभेद आत्माकी अपेक्षासे वे भेद नहीं होते । उपरोक्त गुणस्थानोंके सयमकी जो कला प्रगट होती है, उस पर दृष्टि न डालकर सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि रखना ही सम्पूर्ण कलाओंके प्रगट होनेका कारण है । इसलिये सयमके भेदोंमें आत्माको ढूँढना, विकल्पका कारण

है । अत मुझे सामायिक या छेदोपस्थापनादि चारित्र है, इसप्रकार संयमके भेदों में ढूंढनेसे संयम पर्याय प्रगट नहीं होगी, किन्तु सम्पूर्ण द्रव्यमें दृष्टि डालनेसे संयम पर्याय प्रगट होती है, इसलिये दृष्टिके विषयकी अपेक्षासे संयम मार्गणा भी आत्माके नहीं है । आचार्यदेवने संयममार्गणा कह कह सर्वज्ञ भगवान कथित जैन दर्शनका व्यवहार स्थिर रखा है, किन्तु यह अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है । ज्ञान और संयमके भेदों पर लक्ष देना आत्माकी एकताको तोड़नेवाला है । इसलिये भेद पर लक्षकी एकता पुद्गलकी ओर जाती है, अत पुद्गलमय है ।

गति मार्गणासे लेकर यहाँ पुनः कहा जा रहा है—

पहले चार गतियाँ कही गई हैं, उसमें सिद्ध गति मिलाकर कुल पाँच गतियाँ भी कही जाती हैं । इन पाँच प्रकारोंमें से ढूंढना, सो राग मिश्रित विचार है । आगेकी, अभेदकी श्रद्धाके बिना राग दूर नहीं होता । सिद्ध गति भी एक पर्याय है । उस पर्यायमें आत्माको ढूंढनेसे सिद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु परिपूर्ण अभेद आत्मा पर दृष्टि डालनेसे प्रगट होती है ।

मद्य, माँसादिका भक्षक नरकमें जाता है, मायाचारके परिणामोंसे तिर्यंच गतिमें जाता है, सरल और मंद मध्यम परिणामवाला मनुष्य गतिमें जाता है, दया, दानादिके शुभ परिणामोंकी मुख्यतावाला देव गतिमें जाता है, और आत्माकी सम्पूर्ण निर्मल दशा प्रगट करनेवाला सिद्ध गतिमें जाता है ।

पाँच गतियोंके प्रकारसे आत्माको पाँच गतिवाला मानना यथार्थ दृष्टि नहीं है, आत्माका सच्चा स्वरूप नहीं है । संसार अवस्था अनादि शांत है, और सिद्ध दशाका प्रगट होना सादि अनन्त है, तथा आत्मा वस्तु अनादि अनन्त है । अनादि अनन्त वस्तु स्वभाव पर दृष्टि डालना सच्ची दृष्टि है, यह आत्माका मूल स्वरूप है, आत्माके भेद करना आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है, अखण्ड स्वरूप नहीं है । आत्मा अनादि - अनन्त वस्तु है, उस पर दृष्टि डालनेसे सम्पूर्ण मुक्त दशा प्रगट होती है ।

एक आत्माको पाँच प्रकारसे ढूँढना सो राग मिश्रित - कषाय - मिश्रित भाव है । उस रागमें रुकनेसे राग भाव दूर नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे

मरे हुए आत्मा पर दृष्टि रखनेसे राग दूर होता है ।

आत्मा - अनादि अनन्त एकरूप अभेदरूप वस्तु है, उस आत्मा का पाँच गतियोंसे - पाँच प्रकारसे विचार करना सो ऐसे भेद वास्तवमें एक स्वरूप आत्मामें नहीं हैं । पाँच प्रकारसे विचार करने पर राग मिश्रित विचार नहीं छूटता । निर्विकार मोक्ष पर्याय पर लक्ष जाये तो भी राग मिश्रित विचार के भेद होते हैं, इसलिये अनादि अनन्त एकरूप पारिणामिक भावसे वर्तमान समयमें जो आत्मा है, उस पर दृष्टि डालनेसे वीतराग दशा प्रगट होती है । आत्मामें सिद्ध पर्याय तथा चारों प्रकारकी गतियोंकी पर्याय होती है, किन्तु उस अवस्था पर लक्ष जानेसे राग मिश्रित भेद होता है, और राग आत्माका स्वरूप नहीं है । इसलिये गति मार्गणा भी आत्माके नहीं है ।

आत्मा सबसे अधिक समय निगोदमें रहता है, उससे कम समय देव गतिमें, उससे कम नरक गतिमें और उससे कम समय मनुष्य गतिमें तथा सबसे अधिक समय — अनन्त काल सिद्ध गतिमें रहता है । जीवने आज तक सबसे कम भव मनुष्यके धारण किये हैं, यद्यपि मनुष्य भव भी अनन्तबार धारण कर चुका है, फिर भी वह सबसे कम अनन्त हैं । उससे असंख्यात गुना समय नरकोंमें और उससे भी असंख्यात गुना समय देवोंमें, तथा उससे भी अनन्त गुना समय तिर्यंच और निगोदमें गया, एवं सबसे अधिक अनन्तानन्तगुना काल सिद्धोंमें है, और सबसे अनन्त गुना कम काल मनुष्योंमें है ।

पाँच प्रकारकी गतियोंके विचारमें लगना सो कषाय मिश्रित विचार है, इसलिये पाँचों प्रकारसे रहित आत्माकी श्रद्धा करना सो सम्यक्‌दर्शन है, जैसे सोनेके भिन्न भिन्न गहने बनकर अनेक भेद हो जाते हैं किन्तु उस भेद दृष्टिको कुछ ढीला करके सोनेके अभेद पिंड पर दृष्टि डालें तो एक मात्र अभेद शुद्ध सोना ही दिखाई देता है, और भेद पर दृष्टि डालनेसे गहनोंके भिन्न भिन्न भेद दिखाई देते हैं, इसीप्रकार आत्माको उपरोक्त पाँचों गतियोंके भेदसे देखने पर उसमें भेद दिखाई देते हैं, किन्तु अनन्त गुणोंके पिंड - अभेद आत्मा पर दृष्टि डालनेसे अभेद आत्मा ही दिखाई देता है । पाँच प्रकार की गतियोंके आकारके विचारमें लगनेसे एक प्रकारकी श्रद्धा नहीं होती । आत्मा पाँच प्रकार

का है ऐसी मिथ्या दृष्टिके द्वारा अखण्ड सामान्य पर दृष्टि नहीं जाती। पाँचों प्रकारकी गति मार्गणाएँ आत्माके नहीं हैं। पाँच प्रकारके गतियोंके परिणाम पुद्‌गलके परिणाम हैं, क्योंकि वे रागके परिणाम हैं, वे रागके परिणाम चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं किन्तु वे अपना स्वभाव नहीं हैं, परोन्मुख भाव हैं, इसलिये वे पुद्‌गलके परिणाम हैं, इसलिये गति मार्गणा आत्माके नहीं हैं।

भगवान आत्मा सामान्य एकरूप है, ऐसी श्रद्धा करना सो सर्वप्रथम धर्मकी इकाई है। गति इत्यादिके विचार साधकदशामें बीचमें आते हैं किन्तु उस भेदरूप आत्माका स्वरूप माननेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु परम पारिणामिक भावों पर दृष्टि रखनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है, दृष्टि भेदको स्वीकार नहीं करती, इसलिये गतिमार्गणा आत्माके नहीं है। यहाँ अखंड आत्माकी श्रद्धा करनेकी बात है।

एक इन्द्रिय, - दो इन्द्रिय, - तीन इन्द्रिय, - चार इन्द्रिय और पचेंन्द्रियता आत्मामें नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु केवलज्ञान होता है तब जो अतिन्द्रियता आत्मामें प्रगट होती है, यह भी एक अवस्था है, भेद है। अभेद आत्मामें ऐसे भेदों पर दृष्टि करनेसे राग होता है, वह राग आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये इन्द्रियमार्गणा आत्माके नहीं हैं। इन्द्रियोंमें अनिन्द्रियताका भेद भी आ जाता है। आत्मा अनिन्द्रिय केवलज्ञान अवस्था जितना ही नहीं है, इसलिये वह आत्मामें नहीं है, ऐसा कहा है। जो प्रगट होती है, सो अवस्था है, वह पर्यायदृष्टिका विषय है। द्रव्यदृष्टिमें प्रगट अप्रगटका भेद नहीं है। अनादि अनन्त अभेद वस्तु द्रव्यदृष्टिका विषय है।

आत्मप्रतीति होनेके बाद, स्वभावमें स्थिर होने पर केवलज्ञान हुआ और तब अनिन्द्रिय हुआ, उसके बाद वहाँ इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जाना जाता। केवलज्ञानी - अरहंतों और सिद्धोंमें इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता, इसलिये वहाँ अनिन्द्रिय अवस्था होती है।

पचेंन्द्रियाँ और एक अनिन्द्रिय इसप्रकार छह भेदोंका आश्रय लेने पर एक प्रकारका आश्रय नहीं रहता, और एक प्रकारके अभेदके आश्रयके बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती। सची श्रद्धा ही धर्मकी सबसे पहली इकाई है,

अपूर्ण दशामें भेदके विचार आते हैं, परन्तु यदि यथार्थ दृष्टि न करे और मात्र भेदमें ही लगा रहे तो धर्म प्रगट नहीं होता। सच्ची दृष्टिके बलके बिना अनिंद्रिय अवस्था प्रगट नहीं होती।

आचार्यदेवने पाँच इन्द्रियोंकी बात कहकर व्यवहार बताया है। यदि कोई यह कहे कि एकेन्द्रियता और पचेन्द्रियता नहीं है, उससे कहा है कि व्यवहार ऐसा ही होता है, किन्तु वे सब भेद तेरे आत्माका स्वरूप नहीं हैं। ऐसा कहकर परमार्थ बताया है। इन्द्रियाँ लक्ष्य हैं और उनके छह भेद लक्षण हैं। वे अभेद आत्माका लक्ष्य और लक्षण नहीं हैं, इसलिये इन्द्रिय मार्गणा आत्माके नहीं है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, और अकाय, इन सात प्रकारके भेदोंके रागमें लगना दृष्टिका विषय नहीं है, परन्तु ज्ञानमें वे भेद ज्ञात होते हैं, अपूर्ण दशामें उनके विचार भी आते हैं, परंतु वस्तु दृष्टि उन भेदोंको स्वीकार नहीं करती। उन भेदों पर लक्ष जाने से राग होता है। यद्यपि राग चैतन्यकी अवस्थामें होता है, किन्तु वह अपना स्वभाव नहीं है। राग परोन्मुखभाव है, इसलिये वह परका है, अतः कार्य मार्गणा आत्माके नहीं है।

खानमें से तत्काल निकाले गये पत्थरके टुकडेमें असंख्यजीव होते हैं वह पृथ्वीकायिक है। तालाव, नदी, इत्यादिके पानीकी एक बूँदमें असंख्य जीव होते हैं वह जलकायिक है। अग्निके एक कणमें असंख्यजीव हैं, वह अग्निकायिक है। वायुमें जीव है, और वनस्पतिमें भी जीव है, तथा त्रस कायमें भी जीव हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रियको त्रस काय कहते हैं। और छह काय रहित अकाय मोक्ष है। मोक्षमें कोई काय नहीं है। उन सात प्रकारके कायोंमें भेदका विषय छोड़कर एक अभेद आत्मा को विषय करके उसमें लग जाना सम्यग्दर्शन है। पर की छहकायोंसे मेरा क्या प्रयोजन है? आत्मामें प्रगट होनेवाली अकाय अवस्थाके भेद पर लक्ष करके रुकनेसे मेरा क्या प्रयोजन है? चैतन्यमें जो अवस्था होती है, उतना मात्र सम्पूर्ण चैतन्यका स्वरूप नहीं है। सात प्रकारके कायोंका विचार राग

मिश्रित परिणाम है, और काय मार्गणामें आत्माको ढूँढना सो आत्माका वास्त विक स्वरूप नहीं है।

पन्द्रह प्रकारके योग और अयोग मिलाकर सोलह प्रकारके भेदका राग आत्माके एक प्रकारका विषय करनेमें सहायक नहीं होता, उन सोलह प्रकारके भेदोंमें लगनसे आत्माका निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। योग आत्मा की वैभाविक अवस्था है, और अयोग आत्माकी स्वाभाविक अवस्था है। योगों के भेदमें लगनेसे राग होता है, और राग परोन्मुखताका भाव है, इसलिये वह पुद्गलका परिणाम है, अत वे सोलह प्रकारकी मार्गणाओंके विचार आत्मा के नहीं हैं।

स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद, और अवेद, आत्माके नहीं हैं। स्त्री-वेद और पुरुषवेदकी वासनाका होना सो वेद है। तीनों वेदोंका नाश होने पर अवेद होता है। यह अवेद अवस्था नवमें गुणस्थानमें होती है। तीन प्रकारके वेद और चौथे अवेदमें आत्माको ढूँढना सो रागमिश्रित विचार है। चैतन्यभगवान सामान्यस्वरूपसे ज्ञायकज्योति है। इसे चार प्रकारके भेदोंमें लगानेसे अभेद अवस्था प्रगट नहीं होती। अवेद अवस्थापर लक्ष देनेसे भी अवेद अवस्था प्रगट नहीं होती, किन्तु उसमें रागमिश्रित परिणाम होते हैं। अखण्ड ज्ञायक बिम्ब पर दृष्टि डालनेसे अवेद अवस्था प्रगट होती है, इसलिये वेदमार्गणा आत्माके नहीं है।

चार प्रकारकी कषाय और अकषाय पाँचों भेद आत्माके नहीं हैं। एकरूप स्वभावमें इन पाँचों प्रकारके भेदोंके विषयका महत्व नहीं है, किन्तु वे गौण हैं। अवस्था पर दृष्टि डालनेसे अवस्थाकी अशुद्धता दूर नहीं होती किन्तु जो चैतन्य अखण्ड ज्ञायकबिम्ब है, उस पर दृष्टि डालनेसे अनन्त निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है।

स्वर्णके एक पाट पर दृष्टि करनेसे उसके समस्त आभूषणोंके भेदों का उसमें समावेश हो जाता है, उसी प्रकार एक ज्ञायकपर लक्ष करनेसे चैत न्यकी समस्त पर्यायके भेद उसमें समा जाते हैं।

कषाय और अकषायके भेद अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं हैं, वे सब

पर्यायें चैतन्यकी अवस्थामें होती हैं, किन्तु एक समय एक पर्याय होती है। क्रोधके समय क्रोध, मानके समय मान, मायाके समय माया, और लोभके समय लोभ होता है, तथा अकषायकी अवस्थाके समय कषायकी अवस्था नहीं होती। इन समस्त क्रमोंके प्रकारमें लगना आत्माका धर्म नहीं है। अक्रम स्वभावकी दृष्टि करके उसमें स्थिर होना सो धर्म है। पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी बात है। सम्यग्दर्शन हुए बिना, सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्चारित्र नहीं होता, सम्यग्चारित्रके बिना, केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता।

आत्मप्रतीति होनेके बाद अनादि-अनन्त अभेद आत्माकी श्रद्धा होने पर क्रमशः स्थिरता बढ़ती जाती है, और कषाय दूर होती जाती है। यह सब संयमकी पर्याय पूर्णता प्राप्त होनेसे पूर्व बीचमें होती है, परन्तु उस क्रम अवस्था पर लक्ष देनेसे संयमरूप स्थिर पर्याय प्रगट नहीं होती।

ज्ञानके पाँच भेदोंमें लगना भी राग है। रागमें रुकनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। ज्ञानके सम्बन्धमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है।

संयम-असंयमके सात भेदोंके सम्बन्धमें भी पहले कहा जा चुका है, असंयमके भेदके अतिरिक्त छह प्रकारका संयम आत्माकी प्रतीति होनेके बाद प्रगट होता है। अखण्ड एक आत्माके लक्षमें लेनेमें वे सात प्रकारके भेद सहायक नहीं हैं। बीचमें भेद आते अवश्य हैं, किन्तु वे सहायक नहीं होते। एक असंयमका भेद सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व मिथ्यात्वीके भी होता है। वह राग द्वेष और विषय-कषायको अपना मानता है, और उसकी विषय कषायकी आसक्ति भी दूर नहीं हुई इसलिये उसके असंयम और मिथ्यात्व दोनों होते हैं।

सम्यग्दृष्टिको आत्माकी प्रतीति होती है, कि मैं चैतन्यमूर्ति अखंड आत्मा हूँ। सिद्ध भगवानको जैसा आत्माका अनुभव होता है वैसा आंशिक अनुभव सम्यग्दृष्टिको होता है, तथापि राग-द्वेष विषय कषाय उसकी अस्थिरतामें से दूर नहीं हुए। राग द्वेष और विषयोंमें उसकी रुचि नहीं है, किन्तु अस्थिरताके कारण अल्प आसक्ति विद्यमान है। यह चतुर्थ गुणस्थानकी असंयमिता है।

पाँचवें गुणस्थानमें आंशिक आसक्तिका त्याग होता है। यहाँ पचेन्द्रियके विषयोंकी आसक्ति और छहकायकी हिंसाकी आसक्तिका आंशिक त्याग होता है। यहाँ जितना त्याग होता है, वह अतरगसे होता है।

छट्ठे गुणस्थानमें पचेन्द्रियके विषयोंकी आसक्तिका, तथा छहकायके जीवोंकी हिंसाकी आसक्तिका सरथा त्याग होता है। आंतरिक आसक्ति छूटने पर बाहरसे भी त्याग हो जाता है, और आतरिक स्वरूपरमणता बढ़ जाती है। संयमके भेद पर दृष्टि डालनेसे राग होता है। चैत य अखण्ड सामान्य अनत गुणोंका पिंडरूप चारित्रमूर्ति है, ऐसा एक प्रकार श्रद्धामें लेना सो सर्वप्रथम मोक्षका उपाय है, यद्यपि भेदके विचार अपूर्ण दशामें आते हैं, किन्तु वे अखण्ड श्रद्धाके विषयमें नहीं हैं, इसलिय सयम मार्गणा भी आत्माके नहीं है।

दर्शनमें सामा य व्यापार है। दर्शनोपयोगके व्यापारमें पर विषयका ग्रहण नहीं है। ज्ञानोपयोग एक विषयसे दूसरे पर जाता है, वहाँ ज्ञान उपयोग एक विषयसे छूटकर दूसरे विषय तक पहुँच नहीं पाया कि वह बीचका व्यापार दर्शनका व्यापार है। ज्ञानोपयोग वस्तुका भेद करके जानता है, और दर्शनोपयोग भेद किये विना सामान्यरूपसे देखता है।

दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुदर्शन अर्थात् आँखसे देखनेकी ओर होनेवाला सामा य व्यापार। अचक्षुदर्शन अर्थात् आँखके अतिरिक्त अ य चार इन्द्रियोंसे देखनेकी ओर होनेवाला सामान्य व्यापार। अवधिदर्शन अर्थात् मन और इन्द्रियोंके विना मर्यादितरूपसे पदार्थोंको देखनेकी ओर होनेवाला सामा य व्यापार। और केवलदर्शन अर्थात् आत्मासे सम्पूर्णतया - प्रत्यक्षरूपसे पदार्थोंको देखनेका सामा-य व्यापार। चारों दर्शनके भेद अखण्ड आत्मामें नहीं हैं। यह भेददृष्टि एक प्रकारकी श्रद्धा करनेमें विघ्नरूप है। दर्शनकी यह चार अवस्थाएँ आत्मामें होती ही नहीं सो बात नहीं है, क्योंकि यह अवस्थाएँ चैत यमें होती हैं, किन्तु उन अवस्थाओंके भङ्ग - भेदवाला ही आत्माको माननेसे एक अखण्ड स्वभावकी श्रद्धा नहीं होती, और एक अखण्ड स्वभावकी श्रद्धा करने पर भङ्ग - भेदकी श्रद्धा छूट जाती है। यद्यपि यह अवस्थाएँ ज्ञानमें मालूम होती हैं, किन्तु वे श्रद्धाका विषय नहीं हैं।

दृष्टा गुण आत्मामें सदा त्रिकाल विद्यमान है, उसकी चार अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं पर दृष्टि न रखकर सामान्य एकरूप आत्मा पर दृष्टि रखना सो सम्यक्‌दर्शन है। सम्यक्‌दर्शनका विषय अभेद एकरूप आत्मा है।

धर्मकी पहली सीढ़ी कैसी होती है, यह जाने बिना, यह मानले कि मैं तो ऊपरकी सीढ़ी पर पहुँच गया सो इससे कहीं ऊपरकी सीढ़ी प्राप्त नहीं हो जाती।

जो अकेला स्वभावभाव है सो मैं हूँ, अनादि - अनन्त एक प्रकार मैं हूँ, दर्शनगुण मेरा एक अखण्ड परिपूर्ण है, इस प्रकार पूर्ण गुणोंकी प्रतीतिके बिना गुणोंकी पूरी अवस्था प्रगट नहीं होती। पूर्ण आत्माकी प्रतीतिके बिना पूर्णको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ नहीं होता, और ऐसे पुरुषार्थके बिना चारित्र या केवलज्ञान नहीं होता।

इस गाथामें मात्र स्वभावमात्रकी अलौकिक बात कही है। यदि इसके सुननेमें कुछ समय तक भली भाँति ध्यान रखे तो ऐसा उच्च प्रकारका शुभभाव हो सकता है कि जो सामायिक, प्रतिक्रमण आदि की क्रियामें भी नहीं हो सकता। यदि इस पर ठीक ध्यान रखे तो उससे जो शुभ भाव हो उससे उच्च पुण्य बन्ध होता है। यदि इसे अन्तरंगसे समझकर स्वीकृति आये तो निर्जरा होती है। इसे सुनकर यथार्थ निर्णय करे कि अहो! यह तो अपूर्व बात है, चैतन्यस्वरूप तो भिन्न अद्‌भुत और अपूर्व है, बस मेरा स्वरूप ऐसा ही है, इसमें स्थिर होनेसे मैं अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लूगा ऐसा स्वविषय लक्ष्यमें आ जाये और अन्तरगसे स्वीकृति आये तो उसका फल अवश्य प्राप्त होता है।

इसे सुनते समय यदि इधर-उधर ध्यान चला जाता है तो आत्माका स्वभाव अज्ञान सा मालूम होता है, किन्तु यह तो तेरे आत्माका ही विषय चल रहा है, यह सम्यक्‌दर्शनकी बात चल रही है, और मुक्ति प्राप्त करनेकी पहली सीढ़ी की बात चल रही है। यह बात अक्षर ज्ञान वालोंकी ही समझमें आये ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह अनक्षरी ज्ञान है, इसलिये इसे अपढ़ व्यक्ति भी समझ सकता है। भगवानके समवशरणमें हिरन, शेर, चीता इत्यादि एक ही साथ बैठकर उपदेश सुनते हैं और वे भगवानकी दिव्यध्वनि सुनते सुनते जहाँ आ-

म स्वरूपमें एकाग्र हो जाते हैं, वहाँ उनमें से अनेकोंको सम्यक्दर्शन प्रगट हो जाता है, अखण्ड स्वरूपकी श्रद्धा हो जाती है, आत्मानुभव प्रगट हो जाता है, और अनेकोंको जातिस्मरण हो जाता है। किसी किसीको अवधिज्ञान भी हो जाता है, इसप्रकार जब पशुओंके भी निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है, फिर मनुष्योंका तो कहना ही क्या, उन्हें तो और भी विशेष प्रगट हो सकती है। उनमें से किसीके मुनित्व, किसीके मन पर्यय ज्ञान, किसीके विविध लब्धियाँ, और किसीके चौदह पूर्वका ज्ञान, किसीके केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। भगवानके समवशरणमें कितने ही जघाचरण और विद्याचरण मुनि आकाशमें उड़ते हुए भगवानकी दिव्य ध्वनि सुननेको आते हैं। और अनेक विद्याधर तथा देवगण भी आते हैं। जैसे बीन नादसे साँप डोल उठते हैं वैसे ही भगवानकी दिव्यध्वनि सुनती हुई बारह सभायें डोल उठती हैं। वर्तमानमें भी महा विदेह क्षेत्रमें सीमंधर भगवानके समवशरणमें बारह प्रकारके जीव दिव्यध्वनि सुनते हैं।

शास्त्रकारों ने इस पंचमकालके शास्त्रोंमें जो बात लिखी है वह इस कालके जीवोंको समझमें आयेगी इसलिये लिखी है। इन २९ प्रकारकी बातों में आचार्यदेव ने मानों रत्न ही भर दिये हैं, उसमें महा मणिरत्न विद्यमान हैं। यहाँ सामान्य परिणामिक भावकी बात कही है, मात्र स्वभाव भाव बताया है।

लेश्याके छह प्रकार हैं,—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। यह छह प्रकारके परिणाम हैं, जो कि सभी जीवोंके न्यूनाधिक रूपसे होते हैं, कई लोग अत्यन्त कषायवान होते हैं, और कई शान्त परिणामी होते हैं, जिनकी जैसी परिणामोंकी तीव्रता और मन्दता होती है, तदनुसार उनके लेश्या होती है। सांसारिक अनुकूलता प्रतिकूलताके प्रसंगमें जैसे जैसे भाव होते हैं, उसी प्रकार उनमें लेश्या होती है। यह छह लेश्यायें सातवाँ अलेश्यापनका भेद आत्मामें नहीं है। अलेश्यापन चौदहवें गुणस्थानमें और सिद्धोंमें होता है। तेरहवें गुणस्थानमें उपचारसे शुक्ल लेश्या कही गई है। उपरोक्त सात प्रकारके भेदों पर लक्ष देनेसे रागका विकल्प होता है, उस विकल्पसे निर्विकल्प श्रद्धा नहीं होती। पहले श्रद्धामें सात प्रकारके भेदोंका राग दूर करे तो निर्विकल्प अनुभव हो, किन्तु अस्थिरताका जो राग विद्यमान रहता है, उसे स्थिरता द्वारा दूर करे, स्वरूपकी विशेष रमणता द्वारा टाल दे तो वीत-

राग हो जाये।

पहले अभेद अखण्ड आत्माकी यथार्थ प्रतीति करना सो मुक्तिकी पहली सीढ़ी है। यदि पहले प्रतीतिमें सम्पूर्ण आत्माको लक्षमें ले तो अस्थिरता का राग दूर करके वीतराग हो सकता है। यदि प्रथम प्रतीतिमेंसे ही भेदके लक्षको दूर न कर सके तो फिर अस्थिरताको दूर करके वीतराग कहाँसे हो सकेगा? इसलिये यहाँ पहले यथार्थ प्रतीति करनेकी बात कही है। यद्यपि उपरोक्त सात प्रकारके भेद होते हैं किन्तु वे अखंड स्वभावकी प्रतीतिमें सहायक नहीं होते इसलिये लेश्यामार्गणा आत्माके नहीं है। आत्मामें अवस्था भेद पर दृष्टि न रखकर एक सामान्य चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखी जाये तो वह अखंड स्वरूप है।

भव्य मार्गणा—भव्य अर्थात् योग्य, और अभव्य अर्थात् अयोग्य। यह दोनों भेद दृष्टिके विषयमें स्वीकार नहीं है, इसलिये यह भेद आत्माके नहीं हैं।

अभव्यका अर्थ मोक्ष प्राप्तिके लिये अयोग्य जीव है, ऐसे अभव्य जातिके जीव अनादि अनन्त हैं। यद्यपि वे थोड़े ही हैं—भव्योंसे अनन्तवें भाग हैं, तथापि वे अनन्त हैं, अर्थात् भव्य जीव अभव्योंसे अनन्तानन्त गुने हैं। अभव्य जीव चार गतियोंके दुःखोंमें पिसे जा रहे हैं किन्तु उनपर सच्चे उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता उसी प्रकार अभव्य जीवके हृदयमें सत्का उपदेश स्पर्श ही नहीं करता। अभव्य जीव आत्म स्वरूप, को समझनेके लिये अयोग्य होते हैं, और भव्य जीव उसके लिए योग्य होते हैं। अभव्यजीव विपरीत वीर्य वाले होते हैं, उनका परिणमन चक्र कभी नहीं बदलता।

आचार्यदेव कहते हैं कि—भव्य, अभव्यके भेदका विचार छोड़, रागके विकल्पको छोड़, और अभेद आत्माकी श्रद्धा कर। जहाँ अभेद आत्माकी श्रद्धा हुई वहाँ तू योग्य ही है, भव्य ही है, इसलिये तू भेद - भङ्गमें मत पड़। तू अंतरंगसे जिज्ञासु होकर, हमारा मार्ग समझनेके लिये आया है, इसलिये तू अभव्य हो ही नहीं सकता। किन्तु तू भव्य ही है। अब तू दो प्रकारके राग के भेदोंमें मत पड़, और उनके रागको छोड़कर यह प्रतीति कर कि मैं, ज्ञायक

ही हूँ, यही मोक्षका मार्ग है। तू भव्य - अभव्यकी मार्गणाओंके भेदमें अपने को ढूँढना छोड़ दे क्योंकि उसमें राग है, और राग तेरा स्वरूप नहीं है। भव्य - अभव्यकी मार्गणा आत्माके नहीं है, एक मात्र अभेद आत्माकी श्रद्धा करके उसीमें लीनता कर, यही मोक्षका उपाय है।

इस देहमें रहनेवाला आत्मा देहसे भिन्न है। आत्माका जिसे कल्याण करना हो उसे यह जानना चाहिये कि कल्याणका मुख्य उपाय क्या है, शरीर वाणी इत्यादि पर वस्तु है, वह पर वस्तु आत्माको सहायता दे या लाभ करे ऐसा त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। आत्मा आत्मारूपसे है, और पररूप से नहीं है, तथा जो जिसरूप स्वय नहीं है वह अपनी सहायता कैसे करेगा? आत्माकी पर्यायमें क्रोध मान माया लोभ इत्यादि जो विकारी भाव हैं वे आत्म कल्याणमें सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि जो बन्धनमें सहायक होते हैं वे अबन्धनमें सहायता कैसे कर सकते हैं? मुक्तस्वरूप द्रव्य है, उस पर दृष्टि रखे तो मुक्त अवस्था प्रगट हो।

दूधके रजकण मीठे होते हैं, उसीमेंसे खट्टे हो जाते हैं, यह उनकी एक अवस्था है। आम खट्टा था, उसमेंसे मीठा हो गया, यह भी उसकी एक अवस्था है। खट्टी और मीठी दोनों अवस्थाओंके समय रसगुण सदा बना रहता है। एक परमाणुमें भी वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। उसकी वर्तमान समयमें एक पर्याय होती है, अन्य सब अनन्त पर्यायें द्रव्यमें शक्तिरूपसे भरी पड़ी हैं। पहले अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं, और भविष्यमें अनन्त पर्यायें होंगी, यह सब पर्यायें द्रव्यमें भरी पड़ी हैं। यह सब पुद्गलकी दशा दशामें होनेवाली अवस्थाएँ है। उन सब अवस्थाओंमें गुण सदा विद्यमान होता है।

जैसे परमाणु अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है उसी प्रकार आत्मा भी अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है। उन गुणोंमें से वर्तमान एक गुणकी एक अवस्था होती है। वर्तमान समयमें अनन्त गुणोंकी होकर अनन्त अवस्थाऐं होती हैं। आत्माकी जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, वह वर्तमान समयकी होनेवाली पर्याय पर दृष्टि डालनेसे प्रगट नहीं होती किन्तु अनन्त गुणोंके पिण्डभूत

आत्मा पर दृष्टि डालनेसे प्रगट होती है ।

दूधमें मिठास पर्यायका नाश होकर खटासकी उत्पत्ति होती है, किन्तु खटासकी उत्पत्ति उस नाशमें से नहीं होती किन्तु भीतर जो रस गुण विद्यमान है, वह खटासकी उत्पत्तिका कारण है। जिस समय खटासकी पर्याय है, उस समय मिठासकी नहीं है, तब जो नहीं है, वह उत्पत्तिका कारण कैसे हो सकता है । इसलिये सामान्य रस गुण ही उत्पत्तिका कारण है ।

शरीरमें जो यह रक्तकी अवस्था है, वह पहले अपनी दूसरी पानी इत्यादिकी अवस्था थी, वह बदलकर यह रक्तकी अवस्था हुई है, इसप्रकार प्रत्येक पदार्थमें प्रति समय पर्याय हुआ करती है, ऐसा वस्तुका स्वभाव है। उस पर्यायके प्रगट होनेका कारण द्रव्य है, क्योंकि पर्यायमें से पर्याय प्रगट नहीं होती। आत्मामें भी प्रतिसमय पर्यायें होती रहती हैं। यदि पर्यायोंमें परिवर्तन न हो तो ससार अवस्थाका नाश होकर मोक्ष पर्याय न हो, अथवा विपरीत मान्यताका नाश होकर सीधी मान्यता न हो। तात्पर्य यह है कि आत्मामें अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। किन्तु जो अवस्था नाश हो चुकी है, वह उत्पत्तिका कारण नहीं होती, किन्तु जो अखण्ड गुण है, वही उत्पत्तिका कारण होता है। पर्याय उत्पत्तिका कारण नहीं होती।

सम्यक्त्व मार्गणा—इसमें मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इत्यादि सब पर्यायें हैं, भेद हैं। दृष्टिका विषय इन भेदोंको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि द्रव्य पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है ।

मैं विकारी हूँ, यह विकारी मेरा नहीं है, इसप्रकार अविकारीके बल से विकारका नाश होता है। यदि भीतर वीतराग सुखरूप स्वभाव सदा न हो तो विकारका नाश किसके आश्रयसे होगा ? अविकारी स्वभावके अस्तित्व पर दृष्टि हो तब ही विकारका नाश होता है।

शरीरादिकी सहायता, स्वभावकी पर्याय प्रगट करनेमें काम नहीं आती। जो शुभाशुभ विकल्प होते हैं, विकार होते हैं, वे अविकारका कारण कहाँसे हो सकते हैं ? अब रही निर्मल अवस्था सो वह भी मोक्षका कारण

परमार्थसे नहीं होती, परन्तु मै सदास्थायी गुणमूर्ति आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि करने से मोक्ष मार्ग, और फिर मोक्ष प्रगट होता है। ज्ञानीके प्रतिक्षण जो निर्मल पर्याय होती है, वह मोक्ष माग है, और जो पूर्ण निर्मल अवस्था होती है सो मोक्ष है।

सम्यक्दर्शन आदि गुणकी पर्याय है, वह मेरे आधारसे प्रगट होती है। मै न तो शरीररूप हूँ, न शुभाशुभ विकाररूप हूँ। इतना ही नहीं किन्तु जो क्रमश निर्मल अवस्था होनी है, उतना भी मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं तो अनत गुणोंसे परिपूर्ण हूँ, इसकी श्रद्धा करनेसे पर्याय प्रगट होती है, गुण नहीं। गुण नया नहीं आता, किन्तु पर्याय नई होती है।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक सम्यक्त्व यह सब पर्यायें कर्मके सद्भाव और अभावकी अपेक्षा रखती हैं।

वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसा न मानकर विपरीत मानना सो मिथ्यात्व है। शरीर, वाणी, मन और शुभाशुभ विकल्प जितना ही मैं हूँ, ऐसा मानना सो महा मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व अवस्था है।

मिथ्यात्व मोह, अपरिमित मोह है, क्योंकि अपरिमित आत्माके स्वभाव के लक्षको चूक गया इसलिये पर विषयमें अपरिमितता होगई है। शरीर मेरा है, पर पदार्थ मेरे हैं, वर्तमानमें जितने पर द्रव्य हैं, वे सब मेरे हैं, भूत-भविष्यमें जितने पर द्रव्य हैं वे सब मेरे हैं, इसप्रकार तीनकाल और तीनलोकके समस्त पदार्थोंको अपना मानकर मिथ्यात्व मोहसे पर द्रव्योंमें और पर भावोंमें अपरिमितता-अमर्यादितता की है, इसप्रकार मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है, और सम्यक्दर्शन होनेके बाद जो अल्प अस्थिरता रहती है,—चारित्र मोह रहता है, सो वह परिमित मोह है। क्योंकि वह वर्तमान अस्थिरता पर्यंत मर्यादा को लिये हुए युक्त होता है, इसलिये वह परिमित मोह है। सम्यक्दर्शन होने के बाद पदार्थोंके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं रहती, किन्तु पुरुषार्थकी मन्दता से राग द्वेष हो जाता है। आत्मा अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण अनन्त गुणोंका पिण्ड है, जो कि सम्यक्दर्शनका विषय है। सम्यक्दर्शनका विषय भी अपरिमित है। सम्यक्दृष्टि जीव वर्तमान अस्थिरता पर्यंत मर्यादाको लिये हुए युक्त

होता है, इसलिये उसके परिमित मोह है। मिथ्यादृष्टि जीव अपने अनन्त गुणोंकी शक्तिकी अनन्तताको चूकवर परमें अनन्तता मानता है, इसलिये मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके बाद यदि कोई जीव गिर जाये, तो गिरते गिरते–मिथ्यात्व अवस्था तक पहुँचनेसे पूर्व बीचकी अवस्थाको सासादन कहते हैं। यह बीचकी अवस्था अत्यन्त अल्प समयकी होती है।

अनन्तानुबन्धी कषायकी चौकड़ी और मिथ्यात्व मोहकी प्रकृतियाँ, जब जीव उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब उपशांत हो जाती हैं, स्थिर हो जाती हैं, दब जाती हैं। जैसे पानीमें मिट्टी आदि मिली हो, और वह जब पानीके नीचे बैठ जाती है, तब पानीकी निर्मल अवस्था दिखाई देती है, इसी प्रकार जब आत्मामें उपशम सम्यग्दर्शन होता है, तब कर्म कादव नीचे बैठ जाता है। उपशम सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व मोह प्रकृतिके तीन भाग हो जाते हैं–मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, और सम्यक्त्वमोहनीय। इनमेंसे मिथ्यात्वमोहनीयका प्रथम गुणस्थानमें, मिश्रमोहनीयका तीसरे गुणस्थानमें और सम्यक्त्वमोहनीयका चौथे गुणस्थानसे क्षयोपशमसम्यक्त्वके समय उदय होता है। जब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है तब एक सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिका किंचित उदय रहता है, उसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी नीचे नहीं गिरता। चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शन मोहनीयकी–कुल सात प्रकृतियोंका क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। वह क्षायिक सम्यग्दर्शन भी एक अवस्था है।

आत्मा ध्रुवस्वरूप एकरूप है, उसमें अवस्थाके भेदोंमें अपनेको ढूंढने जाये कि मैं उपशमसम्यक्त्वी हूँ या क्षायोपशम सम्यक्त्वी हूँ, अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ तो यह सब रागमिश्रित परिणाम हैं। अरागी आत्माकी आत्माकी पर्याय प्रगट करनेमें रागमिश्रित परिणाम सहायक नहीं होते। पूर्ण होनेसे पूर्व बीचमें ऐसे विचार आते हैं किन्तु वे रागमिश्रित परिणाम हैं वे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट करनेमें सहायता नहीं करते, किन्तु अभेद आत्मा पर दृष्टि डालनेसे ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

परमार्थसे नहीं होती, परन्तु मै सदास्थायी गुणमूर्ति आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि करने से मोक्ष मार्ग, और फिर मोक्ष प्रगट होता है। ज्ञानीके प्रतिक्षण जो निर्मल पर्याय होती है, वह मोक्ष मार्ग है, और जो पूर्ण निर्मल अवस्था होती है सो मोक्ष है।

सम्यक्दर्शन आदि गुणकी पर्याय है, वह मेरे आधारसे प्रगट होती है। मैं न तो शरीररूप हूँ, न शुभाशुभ विकाररूप हूँ। इतना ही नहीं किन्तु जो क्रमश निर्मल अवस्था होनी है, उतना भी मै नहीं हूँ, किन्तु मैं तो अनंत गुणोंसे परिपूर्ण हूँ, इसकी श्रद्धा करनेसे पर्याय प्रगट होती है, गुण नहीं। गुण नया नहीं आता, किन्तु पर्याय नई होती है।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक सम्यक्त्व यह सब पर्यायें कर्मके सद्भाव और अभावकी अपेक्षा रखती हैं।

वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसा न मानकर विपरीत मानना सो मिथ्यात्व है। शरीर, वाणी, मन और शुभाशुभ विकल्प जितना ही मैं हूँ, ऐसा मानना सो महा मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व अवस्था है।

मिथ्यात्व मोह, अपरिमित मोह है, क्योंकि अपरिमित आत्माके स्वभाव के लक्षको चूक गया इसलिये पर विषयमें अपरिमितता होगई है। शरीर मेरा है, पर पदार्थ मेरे हैं, वर्तमानमें जितने पर द्रव्य हैं, वे सब मेरे हैं, भूत-भविष्यमें जितने पर द्रव्य हैं वे सब मेरे हैं, इसप्रकार तीनकाल और तीनलोकके समस्त पदार्थोंको अपना मानकर मिथ्यात्व मोहसे पर द्रव्योंमें और पर भावोंमें अपरिमितता-अमर्यादितता की है, इसप्रकार मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है, और सम्यक्दर्शन होनेके बाद जो अल्प अस्थिरता रहती है,—चारित्र मोह रहता है, सो वह परिमित मोह है। क्योंकि वह वर्तमान अस्थिरता पर्यंत मर्यादा को लिये हुए युक्त होता है, इसलिये वह परिमित मोह है। सम्यक्दर्शन होने के बाद पदार्थोंके प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं रहती, किन्तु पुरुषार्थकी मन्दता से राग द्वेष हो जाता है। आत्मा अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण अनन्त गुणोंका पिण्ड है, जो कि सम्यक्दर्शनका विषय है। सम्यक्दर्शनका विषय भी अपरिमित है। सम्यक्दृष्टि जीव वर्तमान अस्थिरता पर्यंत मर्यादाको लिये हुए युक्त

होता है, इसलिये उसके परिमित मोह है। मिथ्यादृष्टि जीव अपने अनन्त गुणोंकी शक्तिकी अनन्तताको चूककर परमें अनन्तता मानता है, इसलिये मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके बाद यदि कोई जीव गिर जाये, तो गिरते गिरते–मिथ्यात्व अवस्था तक पहुँचनेसे पूर्व बीचकी अवस्थाको सासादन कहते हैं। वह बीचकी अवस्था अत्यन्त अल्प समयकी होती है।

अनन्तानुबन्धी कषायकी चौकड़ी और मिथ्यात्व मोहकी प्रकृतियाँ, जब जीव उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब उपशांत हो जाती हैं, स्थिर हो जाती हैं, दब जाती हैं। जैसे पानीमें मिट्टी आदि मिली हो, और वह जब पानीके नीचे बैठ जाती है, तब पानीकी निर्मल अवस्था दिखाई देती है, इसी प्रकार जब आत्मामें उपशम सम्यग्दर्शन होता है, तब कर्म कादव नीचे बैठ जाता है। उपशम सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व मोह प्रकृतिके तीन भाग हो जाते हैं–मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, और सम्यक्त्वमोहनीय। इनमेंसे मिथ्यात्वमोहनीयका प्रथम गुणस्थानमें, मिश्रमोहनीयका तीसरे गुणस्थानमें और सम्यक्त्वमोहनीयका चौथे गुणस्थानसे क्षयोपशमसम्यक्त्वके समय उदय होता है। जब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है तब एक सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिका किंचित उदय रहता है, उसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी नीचे नहीं गिरता। चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शन मोहनीयकी–कुल सात प्रकृतियोंका क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। वह क्षायिक सम्यग्दर्शन भी एक अवस्था है।

आत्मा ध्रुवस्वरूप एकरूप है, उसमें अवस्थाके भेदोंमें अपनेको ढूंढने जाये कि मैं उपशमसम्यक्त्वी हूँ या क्षायोपशम सम्यक्त्वी हूँ, अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ तो यह सब रागमिश्रित परिणाम हैं। अरागी आत्माकी आत्माकी पर्याय प्रगट करनेमें रागमिश्रित परिणाम सहायक नहीं होते। पूर्ण होनेसे पूर्व बीचमें ऐसे विचार आते हैं किन्तु वे रागमिश्रित परिणाम हैं वे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट करनेमें सहायता नहीं करते, किन्तु अभेद आत्मा पर दृष्टि डालनेसे ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

परमार्थसे नहीं होती, परन्तु मै सदास्थायी गुणमूर्ति आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि करने से मोक्ष मार्ग, और फिर मोक्ष प्रगट होता है। ज्ञानीके प्रतिक्षण जो निर्मल पर्याय होती है, वह मोक्ष माग है, और जो पूर्ण निर्मल अवस्था होती है सो मोक्ष है।

सम्यक्‌दर्शन आदि गुणकी पर्याय है, वह मेरे आधारसे प्रगट होती है। मैं न तो शरीररूप हूँ, न शुभाशुभ विकाररूप हूँ। इतना ही नहीं किन्तु जो क्रमश निर्मल अवस्था होती है, उतना भी मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं तो अनंत गुणोंसे परिपूर्ण हूँ, इसकी श्रद्धा करनेसे पर्याय प्रगट होती है, गुण नहीं। गुण नया नहीं आता, किन्तु पर्याय नई होती है।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक सम्यक्त्व यह सब पर्यायें कर्मके सद्‌भाव और अभावकी अपेक्षा रखती हैं।

वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसा न मानकर विपरीत मानना सो मिथ्यात्व है। शरीर, वाणी, मन और शुभाशुभ विकल्प जितना ही मैं हूँ, ऐसा मानना सो महा मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व अवस्था है।

मिथ्यात्व मोह, अपरिमित मोह है, क्योंकि अपरिमित आत्माके स्वभाव के लक्षको चूक गया इसलिये पर विषयमें अपरिमितता होगई है। शरीर मेरा है, पर पदार्थ मेरे हैं, वर्तमानमें जितने पर द्रव्य हैं, वे सब मेरे हैं, भूत-भविष्यमें जितने पर द्रव्य हैं वे सब मेरे हैं, इसप्रकार तीनकाल और तीनलोकके समस्त पदार्थोंको अपना मानकर मिथ्यात्व मोहसे पर द्रव्योंमें और पर भावोंमें अपरिमितता अमर्यादितता की है, इसप्रकार मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है, और सम्यक्‌दर्शन होनेके बाद जो अल्प अस्थिरता रहती है,—चारित्र मोह रहता है, सो वह परिमित मोह है। क्योंकि वह वर्तमान अस्थिरता पर्यंत मर्यादा को लिये हुए युक्त होता है, इसलिये वह परिमित मोह है। सम्यक्‌दर्शन होने के बाद पदार्थोंके प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं रहती, किन्तु पुरुषार्थकी मन्दता से राग द्वेष हो जाता है। आत्मा अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण अनन्त गुणोंका पिण्ड है, जो कि सम्यक्‌दर्शनका विषय है। सम्यक्‌दर्शनका विषय भी अपरिमित है। सम्यक्‌दृष्टि जीव वर्तमान अस्थिरता पर्यंत मर्यादाको लिये हुए युक्त

होता है, इसलिये उसके परिमित मोह है। मिथ्यादृष्टि जीव अपने अनन्त गुणोंकी शक्तिकी अनन्तताको चूककर परमें अनन्तता मानता है, इसलिये मिथ्यात्व मोह अपरिमित मोह है।

सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेके बाद यदि कोई जीव गिर जाये, तो गिरते गिरते–मिथ्यात्व अवस्था तक पहुँचनेसे पूर्व बीचकी अवस्थाको सासादन कहते हैं। वह बीचकी अवस्था अत्यन्त अल्प समयकी होती है।

अनन्तानुबन्धी कषायकी चौकड़ी और मिथ्यात्व मोहकी प्रकृतियाँ, जब जीव उपशम सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है, तब उपशान्त हो जाती हैं, स्थिर हो जाती हैं, दब जाती हैं। जैसे पानीमें मिट्टी आदि मिली हो, और वह जब पानीके नीचे बैठ जाती है, तब पानीकी निर्मल अवस्था दिखाई देती है, इसी प्रकार जब आत्मामें उपशम सम्यक्दर्शन होता है, तब कर्म कादव नीचे बैठ जाता है। उपशम सम्यक्दर्शन होने पर मिथ्यात्व मोह प्रकृतिके तीन भाग हो जाते हैं–मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, और सम्यक्त्वमोहनीय। इनमेंसे मिथ्यात्वमोहनीयका प्रथम गुणस्थानमें, मिश्रमोहनीयका तीसरे गुणस्थानमें और सम्यक्त्वमोहनीयका चौथे गुणस्थानसे क्षयोपशमसम्यक्त्वके समय उदय होता है। जब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है तब एक सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिका किंचित उदय रहता है, उसे क्षयोपशम सम्यक्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यक्दृष्टि कभी नीचे नहीं गिरता। चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शन मोहनीयकी–कुल सात प्रकृतियोंका क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्दर्शन होता है। वह क्षायिक सम्यक्दर्शन भी एक अवस्था है।

आत्मा ध्रुवस्वरूप एकरूप है, उसमें अवस्थाके भेदोंमें अपनेको ढूंढने जाये कि मैं उपशमसम्यक्त्वी हूँ या क्षायोपशम सम्यक्त्वी हूँ, अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ तो यह सब रागमिश्रित परिणाम हैं। अरागी आत्माकी आत्माकी पर्याय प्रगट करनेमें रागमिश्रित परिणाम सहायक नहीं होते। पूर्ण होनेसे पूर्व बीचमें ऐसे विचार आते हैं किन्तु वे रागमिश्रित परिणाम हैं वे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट करनेमें सहायता नहीं करते, किन्तु अभेद आत्मा पर दृष्टि डालनेसे ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

अनन्त गुणोंका पिण्ड जो आत्मा है उस पर लक्ष देनेसे निर्मल अवस्था प्रगट होती यही मुक्तिके मार्गका स्वरूप है।

आचार्यदेवने सम्यक्दर्शनमार्गणा कहकर सम्यक्दर्शनके समस्त प्रकार बताकर व्यवहार कहा है। जो इन छह प्रकारोंको नहीं मानता, उसके गृहीत मिथ्यात्व भी नहीं छूटा, और जो छह प्रकारके भेदोंमें ही अटक रहा है उसके अगृहीत मिथ्यात्व भी नहीं छूटा। यहाँ सम्यक्दर्शनके प्रकार बताकर गृहीत मिथ्यात्वको छोड़नेकी बात कही है, और इसप्रकार व्यवहार बताया है, किन्तु वे छह प्रकार अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं है यह कहकर परमार्थ बताया है, और अगृहीत मिथ्यात्वको छोड़ने की बात कही है।

मार्गणा लक्ष्य है, और मार्गणाके भेद उसके लक्षण हैं। वे भेद-रूप लक्ष्य-लक्षण आत्मासे भिन्न हैं, आत्माके लक्ष लक्षण अभेद हैं। भेद पर लक्ष देनेसे आत्माकी एकता भङ्ग होती है। भेदके लक्षकी एकता पुद्गल की ओर जाती है, इसलिये मार्गणाके भेद पुद्गलके परिणाम हैं। सम्यक्-दर्शन और केवलज्ञान इत्यादिकी जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह चैतन्य द्रव्यमें मिल जाती है,–वह चैतन्य द्रव्यमें एकमेक होकर अभेद हो जाती है इसलिये उसे चैतन्यका परिणाम कहा है, किन्तु उन भेदों पर लक्ष जानेसे राग होता है, जो कि पुद्गलके परिणाम हैं।

सैनी, असैनी–मन सहित जीवोंको सैनी, और मन रहित जीवोंको असैनी कहते हैं, इनका दूसरा नाम सञ्ज्ञी, असञ्ज्ञी है। यह दोनों प्रकार आत्मामें नहीं हैं, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और कोई कोई पंचेंद्रिय जीव भी असैनी होते हैं, और मन सहित पंचेंद्रिय जीव सैनी होते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा मनसहित है या मनरहित ऐसे भेदमें अपनेको ढूंढनेसे राग होता है। उस रागसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह अखण्ड आत्मा पर दृष्टि रखनेसे होती है।

आहार मार्गणा—आहारक और अनाहारक दोनों अवस्थाओं में कर्मोंके निमित्तकी अपेक्षा होती है, इसलिये वे भी आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं हैं। आहारके भाव, और अनाहारक अवस्था आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं है। दोनों पर्यायें आत्मामें होती हैं किन्तु उन पर लक्ष देनेसे

राग होता है। और राग आत्माका स्वरूप नहीं है, इसलिये आहारक और अनाहारकका भेद आत्मामें नहीं है।

यह अपूर्व बात है। ऐसी अपूर्व बात जीवोंने अनन्तकालमें अंतरंग से कभी नहीं सुनी। अन्तरंगसे सुने बिना आंतरिक विचार जागृत नहीं होते, आंतरिक विचार जागृत हुये बिना अपूर्व माहात्म्य प्रगट नहीं होता, अपूर्व माहात्म्य प्रगट हुये बिना यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता, यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानके बिना, यथार्थ चारित्र और चारित्रके बिना केवलज्ञान तथा मोक्ष नहीं होता। इस मार्गणाके द्वारा परम पारिणामिक भावका वर्णन किया है, और परम पारिणामिक भाव पर दृष्टि रखनेको आचार्यदेवने कहा है।

अब यहाँ २९ प्रकारोंमें से २४ वाँ प्रकार कहते हैं—

भिन्न भिन्न प्रकृतियोंका अमुक समय तक एक साथ रहना जिनका लक्षण है, ऐसे स्थितिबन्धस्थान समस्त जीवोंके नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं।

आत्म प्रदेशोंके साथ कर्मोंकी प्रकृतियाँ होती हैं। उन प्रकृतियोंके फलस्वरूप शरीरमें अकस्मात् रोग आ जाता है, मरण हो जाता है, रुपया पैसा एकत्र हो जाते हैं, या चले जाते हैं, इसी प्रकार अन्य अनेक अनुकूलतायें प्रतिकूलतायें हुआ करती हैं। यह सब होनेका कारण तत्सम्बन्धी कर्म प्रकृतिका उदय है। उसकी जितनी स्थिति होती है, उस प्रकार रहकर छूट जाता है। इसप्रकार कर्म प्रकृतियोंका अमुक समय तक आत्माके साथ रहना सो स्थितिबन्ध है, जो कि आत्माका स्वभाव नहीं है। उन कर्मप्रकृतियोंकी स्थिति कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम होती है। जिसका काल सात चोवीसियोंके बराबर होता है। यह सब स्थितिबन्धके प्रकार पुद्गलके परिणाम हैं, आत्म स्वभाव नहीं।

२५ वाँ कथन—कषायोंके विपाककी अतिशयता जिनका लक्षण है, ऐसे संक्लेशस्थान जीवके नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय हैं, इसलिये आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं।

संक्लेश भाव अर्थात् अशुभभाव आत्माका स्वभाव नहीं है। हिंसा,

क्रोध, मान, विषय, इत्यादिके अशुभ परिणाम आत्मामें नहीं हैं, ऐसे निराले आत्माकी श्रद्धा करनेसे अशुभ पर्याय छूटकर निर्मल पर्याय होती है। अशुभ परिणाम आत्माकी पर्यायमें होते हैं, जड़में नहीं, किन्तु वे आत्माका स्वभाव नहीं हैं, इस अपेक्षासे उन्हें जड़का कहा है। उन अशुभ परिणामों पर लक्ष रखनेसे वे छूटते नहीं, किन्तु अखण्ड आत्मस्वभावकी श्रद्धा करनेसे छूटते हैं। अशुभ परिणामोंकी शरण लेनेसे नहीं किन्तु अखण्ड आत्माके शुद्ध स्वभावकी शरण लेनेसे हित होता है।

२६ वां कथन—कषायोंके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है, ऐसे सभी विशुद्धिस्थान जीवोंके नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके परिणाममय हैं, इसलिये आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं।

विशुद्धिस्थान अर्थात् कषायोंकी मन्दता, और कषायोंकी मन्दता अर्थात् शुभ परिणाम–दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि। यह सब आत्माके नहीं हैं, क्योंकि वे विकार हैं, और विकार आत्माका स्वभाव नहीं होता, इसलिये शुभ परिणाम आत्माके नहीं हैं। अशुभ परिणाम दूर करनेके लिये शुभ परिणाम होते हैं किंतु वे विकार हैं, उनसे आत्माको लाभ नहीं होता। शुभ परिणाम का आश्रय विकारका आश्रय है, उससे आत्माका हित नहीं होता, आत्मस्वरूपका आश्रय लेनेसे आत्माको लाभ होता है। शुभभावकी पर्याय आत्मामें होती है, किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये वह पुद्गलका परिणाम है।

२७ वा कथन—चारित्र मोहके विपाककी क्रमश निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे सभी सयम लब्धिस्थान जीवके नहीं हैं।

आत्माकी प्रतीति होनेके बाद अस्थिरताकी क्रमश निवृत्ति होकर स्थिरता बढ़े ऐसे समस्त प्रकार भी आत्माका स्वभाव नहीं हैं। क्रमश स्थिरताकी जो निर्मल पर्याय बढ़ती है, एसे क्रमके प्रकार आत्माके अखण्ड स्वभावमें नहीं हैं। सयमकी निर्मल पयाय थोड़ी थोड़ी बढ़ती है, उसमें कर्मोंकी अपेक्षा होती है, इसलिये वह आत्माका स्वभाव नहीं है। अस्थिरताको दूर करूँ, और स्थिर होऊँ ऐसे रागके विकल्पमें भटक जाना आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माके अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि डालनेसे संयमकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आत्माकी निर्मल

अवस्थाके प्रगट करनेमें आत्माके स्थायीपनका आश्रय होता है। सयमकी पर्याय स्थिरता आदि अनंत गुणोंके पिण्ड आत्माके आश्रयसे प्रगट होती है, परन्तु स्थिरताकी पर्यायके आश्रयसे भी स्थिरताकी पर्याय प्रगट नहीं होती।

मैं अखण्ड स्वभावसे परिपूर्ण हूँ एसी श्रद्धा करनेसे गुणोंकी निर्मल पर्याय प्रगट होगी किन्तु अवस्था पर लक्ष रखनेसे विकल्प किया करेगा तो अवस्था निर्मल नहीं होगी। निर्मल अवस्था प्रगट करनेका आश्रय द्रव्य है। अस्थिरताको क्रमशः दूर करके स्थिरता हो सो वह भी आत्माका अखण्ड स्वभाव नहीं है। भीतर थोड़ी थोड़ी सयम पर्याय बढ़ती जाये उस पर लक्ष देनेसे सयम प्रगट नहीं होता, किन्तु अखण्ड द्रव्यके आश्रयसे प्रगट होता है। सयम की क्रमशः पर्याय बढ़ती जाती है, उसमें कर्मोंकी निवृत्तिकी अपेक्षा होती है, इसलिये वे सयम लब्धिस्थान आत्माके नहीं हैं। इससे पूर्व मार्गणाके कथनमें सयमके छह भेद बताये गये हैं, और यहाँ सयम लब्धिस्थानमें सयमके क्रमशः बढ़ते हुए परिणाम लिये गये हैं। सयमके स्थान असंख्यात भी हैं, और अनंत भी हैं। वे सब संयमके प्रकार चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, जड़में नहीं, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग विकार है, और विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये सयम लब्धिस्थान आत्माके नहीं हैं।

सब अपनी अपनी कल्पनासे माने हुए धर्मको मानते हैं, किन्तु इससे वह सच्चा धर्म नहीं हो जाता। जैसे बालक मिट्टीके हाथीको सच्चा हाथी मानते हैं, इसलिये वह सच्चा हाथी नहीं हो जाता। वस्तुका स्वभाव जैसा है, वैसा जाने बिना ही मान ले तो उससे कहीं उसका फल यथार्थ नहीं होता, किन्तु वस्तुके स्वभावको यथावत् माने तो उसका सच्चा फल होता है।

२८ वाँ कथन—पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और सैनी तथा असैनी पचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे सभी जीवस्थान जीवके नहीं हैं।

पर्याप्तिके छह प्रकार हैं, उनके कारण आहार लिया जाता है, बोला जाता है। उपरोक्त छह प्रकार सबमें पूर्णतया बंधे सो पर्याप्ति और अपूर्णतया बंधे सो अपर्याप्ति है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, यह सब बादर और सूक्ष्म होते हैं। इनमेंसे जो सूक्ष्म हैं वे समस्त लोकमें सर्वत्र भरे हुए हैं। ऐसे सूक्ष्म शरीरमें तू अनन्त बार हो आया, जो कि तेरी ही भूलका कारण है, एकेन्द्रियादि समस्त जीवोंमें तू अनन्त बार हो आया है। आत्मा ज्ञायकमूर्ति, निर्मल, ज्ञानघन है। उसके यह चौदह प्रकारके जीवस्थान नहीं हैं, वे जीवस्थान कर्मके संयोगको लेकर हैं। इसलिये वे पुद्गलके परिणाम हैं, वे आत्मामें नहीं हैं।

२१ वाँ बोल—इसमें गुणस्थानोंका स्वरूप कहा है। आत्माकी पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होनेसे पूर्व चौदह अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं। इनमेंसे अंतिम ध्येय तक पहुँचनेकी सच्ची सीढ़ी चतुर्थ गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। उन १४ गुणस्थानोंका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है।

१–मिथ्यात्व गुणस्थान—शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभभाव को अपना माने, तथा अपने स्वभावको अपना न माने, सो मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह आत्माका स्वरूप नहीं है।

२–सासादन—सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके बाद जब पुनः गिरता है तब मिथ्यात्व गुणस्थानमें पहुँचनेसे पूर्व बीचकी अवस्थाको सासादन गुणस्थान कहते हैं। उस सासादन गुणस्थानमें अत्यंत अल्प समयकी अवस्था होती है। जैसे पका हुआ आम डालसे गिरे और पृथ्वीको स्पर्श करनेसे पूर्व बीचमें जितना समय लगता है, उतना बीचका अल्पकाल है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनसे छूटकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें पहुँचनेके पूर्व आमकी भाँति कुछ समय लगता है, उतना काल सासादन सम्यक्त्वीका है। सासादन गुणस्थान भी आत्माका स्वभाव नहीं है।

३–मिश्र—मिश्र गुणस्थानके भी अत्यंत सूक्ष्म परिणाम होते हैं, इसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्तकी है। वे मिश्र गुणस्थानके परिणाम सम्यक् मिथ्यात्वरूप होते हैं, यह गुणस्थान भी आत्माका स्वरूप नहीं हैं।

४–अविरत सम्यक्दृष्टि—आत्मा परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप एकरूप है, यह राग द्वेषादि विकार मेरा स्वरूप नहीं हैं। मेरा तो सम्पूर्ण चिदानंद

स्वरूप है, ऐसी प्रतीति चतुर्थ-गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिको होती है, किन्तु ऐसी पृथक् प्रतीति होने पर भी पचेंद्रियके विषयोंकी, हिंसादिकी, और कीर्ति प्रतिष्ठादिकी आसक्ति नहीं हटती, क्योंकि उनके इतनी स्वरूप स्थिरता प्रगट नहीं हुई है, इसलिये अभी वहाँ आसक्ति और अविरति विद्यमान है, इसीलिये इस गुणस्थानको अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। सम्यग्दर्शन भी एक अवस्था है, इसलिये उस अवस्थाके आश्रयसे पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट नहीं होता। पर्यायके आश्रयसे नहीं किन्तु वस्तुके आश्रयसे आगे बढ़ा जा सकता है। पर्याय जितना ही अखण्ड आत्मा नहीं है, इसलिये चौथा गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है।

५-देश विरत—आत्मा विज्ञान स्वरूप है, ऐसी प्रतीति होने पर चतुर्थ गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हो जाती है और यहाँ पाँचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यान कषायकी चौकड़ी दूर हो जाती है। आत्मा परसे भिन्न है, ऐसी प्रतीति होनेके बाद पंचेंद्रियके विषयोंका और हिंसादिका सहज ही एक देश त्याग हो जाता है। आत्मस्वभावका सहज स्वाद लेने पर विषय कषाय और हिंसादिकी आसक्ति एक देश कम हो जाता है। इसे पाँचवाँ देशव्रत गुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, जो कि द्रव्याश्रयसे प्रगट होती है। अवस्था पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग आत्माका स्वरूप नहीं है, इसलिये गुणस्थान भी आत्माका स्वरूप नहीं है। यद्यपि गुणस्थानकी पर्याय आत्मामें होती है, जड़में नहीं, किन्तु उस अवस्था जितना ही आत्मा नहीं है। उस अवस्था पर लक्ष देनेसे राग होता है और राग परोन्मुख भाव है, इसलिये परका है, इस अपेक्षासे कहा है कि पाँचवा गुणस्थान भी आत्माके नहीं हैं।

६ ७-प्रमत्ताप्रमत्तविरत—मुनि दशा प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयतके भेदसे दो प्रकारकी होती है। मुनि दशामें ऐसी सम्पूर्ण बाह्य नग्नता होती है, जैसी माताके उदरसे तत्काल जन्मे हुए बालककी होती है। मुनि दशामें एक भी वस्त्रका ताना बाना नहीं होता। जब मुनि छट्ठ गुणस्थानमें होते हैं तब उनके शास्त्र स्वाध्याय उपदेश और आहार ग्रहण आदिका विक

ल्प होता है, और जब वे सातवें गुणस्थानमें होते हैं, तब आत्माके निर्विकल्प अनुभवका स्वाद लेते हैं, तब चैतन्य पिंड पृथक होकर अपने स्वभावका अनुभव करता है। आत्मानंदमें बाहरका किसी भी प्रकारका विचार नहीं होता। इसप्रकार स्वरूप ध्यानमें लीन मुनिके सातवाँ गुणस्थान होता है। इस समय मुनि क्षणमें अप्रमत्त और क्षणमें प्रमत्त गुणस्थानमें हजारों बार आना-जाना करते रहते हैं। यह मुनित्वकी आंतरिक दशा है। जब वे प्रमत्त दशामें होते हैं, तब उपदेश देने, महाव्रतोंको निर्दोष पालने, और आहार ग्रहण करने, इत्यादिके विकल्प उठते हैं, इसी प्रकार वे क्षणभर बाहर रहकर पुनः अप्रमत्त ध्यानमें लीन होकर निर्विकल्प आनंदमें झूलने लगते हैं।

इसप्रकार मुनिदशामें स्वरूपध्यान विशेष होता है, केवलज्ञान प्राप्त करनेकी निकटताका साक्षात् कारण भी यहाँ होता है। छट्ठे गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरणीय चौकड़ीका अभाव होता है। छट्ठा और सातवाँ गुणस्थान दोनों अवस्थाएँ हैं, इसलिये वे आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं हैं। आत्मा पर दृष्टि डालनेसे अवस्था प्रगट नहीं होती किन्तु अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि डालने से प्रमत्त और अप्रमत्त मुनि दशा प्रगट होती है। उसके प्रगट होने पर उसमें कर्मोंके अभावकी अपेक्षा आती है, इसलिये वह निरपेक्ष आत्माका स्वरूप नहीं है। मात्र निरपेक्ष दृष्टिके विषयमें ऐसे परापेक्षाके भेद लागू नहीं होते, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है। केवलज्ञानकी सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होनेसे मुनित्वकी साधकदशा बीचमें आती है, गुणस्थानकी सपूर्ण पर्याय आत्मामें होती है, और गुणस्थान चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं जड़में नहीं, तथापि उस अवस्थाभेद पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग विकार है, विकार परनिमित्तसे चैतन्यकी पर्यायमें होता है, और इसीलिये उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। चौदह गुणस्थान कहकर आचार्यदेवने जैनशासनका सपूर्ण व्यवहार बनाये रखा है। सर्वज्ञ भगवान कथित ऐसा अपूर्व व्यवहार अन्यत्र कहीं भी नहीं है, यह बताया है। गुणस्थानकी पर्याय बीचमें आती है, यह कहकर व्यवहार बनाया है, और वह पर्याय आत्माकी अखण्ड स्वरूपकी दृष्टिके विषयमें नहीं है, यह कहकर परमार्थ बनाया है। दृष्टि गुणस्थानके भेद

को स्वीकार नहीं करनी, इसलिये गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है।

८—अपूर्व करण—इस गुणस्थानमें अत्यत विशेष ध्यान होता है। यहाँ भी बाह्य लक्ष्य नहीं होता, और परिणामोंकी निर्मल धारा बहती है, जो कि दो प्रकारकी है-एक धारा कषायका समूल क्षय करती है, जिसे क्षपकश्रेणी कहते हैं, और दूसरी धारा कषायका उपशम करती है, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं। इन दोनों श्रेणियोंके जितना ही अखण्ड आत्मा नहीं है। यह गुणस्थान भेदका लक्षण है, अभेद आत्माका लक्षण नहीं है। गुणस्थानके भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है।

९—अनिवृत्तिकरण—निर्मल परिणाम धारा पर चढ़ता चढ़ता, पीछे न गिरे सो अनिवृत्ति है। यहाँ भी निर्मल परिणामकी दो धाराएँ होती हैं। जो कषायको मूलमें से दूर करती है, सो क्षपक धारा है, और जो कषाय को शात करती है, वह उपशम धारा है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, इसलिये आत्माका अखण्डस्वरूप नहीं है।

१०—सूक्ष्म सांपराय—यहाँ सूक्ष्म लोभका थोड़ासा उदय रहता है। इस गुणस्थानमें वीतरागताकी निर्मलता और ध्यानकी विशेषता अधिक होती है, किंतु सूक्ष्मसापराय (कषाय) अबुद्धिपूर्वक उदय होता है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, जो कि अखण्ड वस्तु पर दृष्टि रखनेसे प्रगट होती है, किन्तु इससे राग होता है। और राग आत्माका स्वरूप नहीं है। गुणस्थान भेदका लक्षण है, वह अभेद आत्माका स्वरूप नहीं है, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं हैं।

११—उपशान्तमोह—इस गुणस्थानमें परिणाममें वीतरागता होती है, और कषाय सर्वथा उपशान्त होती है, वह उपशान्त मोह गुणस्थान भी एक अवस्था है, और जो अवस्था है सो भेदका लक्षण है, अभेद आत्माका नहीं, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है। गुणस्थानकी पर्याय चेतनकी अवस्थामें होती है, जड़में नहीं, किन्तु गुणस्थानके भङ्गमें पर निमित्तकी अपेक्षा होती है, इसलिये उसे अन्यका कहा है।

१२—क्षीणमोह—इस गुणस्थानमें जैसीकी तैसी निर्मल वीतराग

दशा प्रकट होती है, और मोहका सर्वथा मूलमें से क्षय होता है। इस गुणस्थानमें पहुँचा हुआ जीव फिर नीचे नहीं जाता, वह तो अन्तर मुहूर्तमें केवल ज्ञान प्राप्त करके ही रहता है। यह गुणस्थान भी एक अवस्था है, इसलिये अभेद आत्माका लक्षण नहीं है।

१३–सयोगकेवली–इस गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट होता है, जिससे समस्त तीन काल और तीन लोक हस्तमालकवत् प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञान युक्त देह धारी को सयोगकेवली कहते हैं। जब भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त करके यहाँ विहार कर रहे थे तब वे सयोग केवली कहलाते थे, और वर्तमान में विदेह क्षेत्र में सीमंधर भगवान सयोगकेवली की अवस्थामें विराजमान हैं। केवलज्ञान भी एक अवस्था है, उस केवलपर्याय जितना ही आत्मा नहीं है केवलपर्याय सादिअनन्त है, और आत्मा अनादि अनन्त इसलिये केवल पर्याय भी भेदका लक्षण है, अभेद आत्माका नहीं। अतः गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है। तेरहवाँ गुणस्थान योगोंके कम्पनको लेकर होता है, और कम्पन विकार है, तथा विकार पुद्गल का परिणाम है, इस अपेक्षा से तेरहवें गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है।

१४–अयोगकेवली—यहाँ मन, वचन, कायके योगका कम्पन रुक जाता है, और अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँचों अक्षरोंके बोलने में जितना समय लगता है, मात्र उतने ही समयकी देहकी स्थिति रह जाती है, यह गुणस्थान भी एक विकारी अवस्था है। चौदहवें गुणस्थान में प्रतिजीवी गुण का परिणमन होता है, जो कि विकार हैं, और विकार पौद्गलिक परिणाम हैं, इसलिये इस अपेक्षा से इस गुणस्थानको भी पुद्गल परिणाम कहा है।

उपरोक्त सभी गुणस्थानोंकी अवस्था भेदका लक्षण है, अभेद आत्मा का नहीं। गुणस्थान चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं जड़की पर्यायमें नहीं, किन्तु उसके भेद पर लक्ष देनेसे राग होता है, जो कि आत्माकी पर्यायमें होता है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। राग पर निमित्त से होनेवाला विकार है, परोन्मुखभाव है, इसलिये वह पर है, इसीलिये गुणस्थानके पर्यायके भेदोंको भी पुद्गलका परिणाम कहा है। अखण्ड वस्तुदृष्टि गुणस्थानके भेदोंको स्वीकार

नहीं करती, इसलिये, उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। आचार्यदेवने 'गुणस्थान जिनका लक्षण है', कह कर यह सिद्ध किया है कि—गुणस्थान हैं, यदि कोइ गुणस्थानोंको सर्वथा न मानता हो तो उससे कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान कथित जैनशासनका गुणस्थान इत्यादि का व्यवहार है। ऐसा अपूर्व व्यवहार अन्यत्र कहीं नहीं है, यह सिद्ध करके व्यवहार बताया है। परन्तु उस भेदपर लक्ष देनेसे राग होता है, जो कि अभेद आत्माका लक्षण नहीं है, इसलिये गुणस्थान आत्माका स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है, और भेद से दृष्टि हटाकर अभेद पर दृष्टि रखनेको कहा है।

इन समस्त कथनोंमें 'लक्षण' है, यह कहकर आचार्यदेवने जैनशासन का समस्त व्यवहार बतलाया है। जो इस व्यवहारको नहीं मानता वह महा मिथ्यात्वी है। गुणस्थान इत्यादि लक्ष्य है, और उसके भेद लक्षण हैं। यद्यपि वे सब भेद हैं अवश्य, किन्तु अखण्ड वस्तुकी दृष्टि उन्हें स्वीकार नहीं करती। उन भेदों पर दृष्टि डालनेसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। उन भेदों जितना ही अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं है, यह कहकर परमार्थ बताया है।

चौदह गुणस्थान मोह और योगके कारण उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे पुद्गलके परिणाम हैं, यह बात इस अध्यात्म शास्त्रमें ही नहीं, किन्तु व्यवहारनयके शास्त्र श्री गोम्मटसार इत्यादिमें भी यही कहा है। मोह और योग विकार हैं, विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये गुणस्थान पुद्गलके परिणाम हैं।

गुणस्थानमें जो निर्मल पर्याय होती है, वह चैतन्यमें मिल जाती है, स्वमें अभेद होती है उसे पुद्गलका परिणाम नहीं कहा है, किन्तु गुणस्थान मोह और योगके कारण उत्पन्न होते हैं, इसलिये उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा है।

इस वस्तु तत्वको धैर्य पूर्वक समझना चाहिये। ऐसा दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त करके भी यदि सत्की शरण न ली तो फिर अनन्तकालमें यह मनुष्य भव मिलना दुर्लभ है। यहाँ तेरा कोइ शरणभूत नहीं है, एक मात्र अखण्ड पूर्ण स्वभाव ही शरणभूत है। केवल पर्याय पर लक्ष देनेसे भी, केवलपर्याय

नहीं होती, किन्तु वह सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि लगानेसे ही प्रगट होती है। और सिद्ध दशा प्रगट हो जाती है, आचार्यदेवने २६ बातोंमें अद्भुत कथन किया है। द्रव्य पर दृष्टि लगाने और उससे अनन्तकालके परिभ्रमणको मिटाकर, अनन्त आनन्द प्रगट करनेकी अचिंत्य बात कही है। सम्पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि लगानेसे ही सच्चा मार्ग प्राप्त होगा, इसके लिये कोइ दूसरा प्रकार साधक नहीं हो सकता।

अब यहाँ उपरोक्त गाथाओंके अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंस ।
तेनैवांतस्तत्त्वत पश्यतोऽमी
नो दृष्टा स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

अर्थः—जो वर्णादिक, अथवा राग मोहादिक भाव कहे हैं वे सब इस पुरुषसे (आत्मासे) भिन्न हैं, इसलिये अन्तर्दृष्टिके द्वारा देखने वालेको वे सब दिखाई नहीं देते और एक मात्र सर्वोपरि तत्व ही दिखाइ देता है—केवल एक चैतन्य भाव स्वरूप अभेद आत्मा ही दिखाई देता है।

धर्म, धर्मी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखता है, बाह्य जड़ पदार्थोंके साथ, तथा विकारी भावोंके साथ नहीं। आत्मामें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं हैं, तथा विकारी भाव भी नहीं हैं। कोई यह कहता है कि धर्म आत्मामें नहीं है, इसलिये बाह्यमें धर्म करनेका मन होता है, किन्तु भाई धर्म तो आत्मामें ही है, इसीलिये धर्म करनेका मन होता है, किन्तु तू अन्तर्दृष्टिको भूला है, इसलिये शरीर, वाणी इत्यादि जड़ पदार्थोंमें धर्म ढूँढ रहा है, किन्तु वहाँ धर्म नहीं है। यदि अन्तर्दृष्टि करे तो धर्म अंतरगमें ही विद्यमान है।

समस्त विकारी भाव आत्माके नहीं हैं। हिंसा, दया, पूजा व्रतादिकी वृत्ति होती है, तब ज्ञान हिलता है—संक्रमण करता है, और रागकी ओर जाता है तब ज्ञान अस्थिर होता है, इसलिये राग आत्माका मूल स्वभाव नहीं, किंतु विकारी भाव है, नवीन होनेवाला क्षणिक भाव है। हिंसाके भावमें से दयाका

और वज्रनीके भावमें से दानका, अर्थात् अशुभभावमें से शुभका भाव करता है, इसलिये वह-भाव क्षणिक है। अशुभमें से शुभ भाव पुरुषार्थके द्वारा होता है, किन्तु वह तीव्र राग और मन्द राग आत्मामें भरा नहीं है, वह उसमें से नहीं आता, किन्तु पर निमित्तसे होनेवाला विकारी भाव है। यद्यपि वह भाव चैतन्यकी अवस्थामें होता है, किन्तु वह अपना स्वरूप नहीं है, और वह परो मुखभाव है इसलिये परका है। कोई भी विकारी भाव, आत्मा-पुरुषके नहीं है। यहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदकी बात नहीं है, किन्तु भगवान आत्मा को ही पुरुष कहा है। यह वर्णादिक २९ बातें परमार्थतः भगवान आत्माके नहीं हैं इन २९ बातोंमें अन्य सैकड़ों बातोंका समावेश हो जाता है।

चतुर्थ गुणस्थानमें अन्तर्दृष्टिसे देखने पर वे वर्णादिक और मोहादिक भाव दिखाई नहीं देते, मात्र सर्वोपरि तत्व ही दिखाई देता है। आत्मा आनन्द मूर्ति, अनन्त गुणोंका रसकन्द है, ऐसी अन्तदृष्टिसे देखने वालेको पुण्य-पाप के भाव स्वभावमें दिखाई नहीं देते, किन्तु एक मात्र सर्वोपरि चैतन्य तत्व ही दिखाई देता है। विकारी भाव स्वभावमें नहीं हैं इसलिये दिखाई नहीं देते। वे अवस्था में क्षणभर के लिये होते हैं, इसलिये उनकी गिनती नहीं है। अनन्त गुणोंका पिण्ड अखण्ड अभेद आत्मा वर्तमान में ही पूर्ण है, ऐसी अन्तर्दृष्टिसे देखनेवाले को एक चैतन्य तत्व ऊपर ही ऊपर दिखाई देता है।

बहिर्दृष्टिवाले को मात्र शुभाशुभभाव और शरीरादि ही दिखाई देते हैं, आत्मा नहीं। और अन्तर्दृष्टिसे देखनेवालेको मात्र आत्मा ही मुख्य दिखाई देता है। सम्यग्दृष्टि को अस्थिरता के कारण अल्प राग-द्वेष होता है, किन्तु वह उसका कर्ता या स्वामी नहीं होता। विकारीभाव गौण हैं, वे अपने स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये दिखाई नहीं देते। यह धर्म की सबसे पहली इकाई है। अशुभभाव दूर करके शुभभाव करे तो उसमे पुण्यबन्ध होता है, स्वर्गादिक की शुभगति मिलती है, किन्तु अन्तरस्वभाव की प्रतीति के बिना जन्म मरण दूर नहीं होता।

अन्तर्दृष्टिसे देखने वाले सम्यग्दृष्टिको अभी केवलज्ञान नहीं हुआ इसलिये शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वे अन्तरंग स्वभावमें एक मेक होते हुए

दिखाई नहीं देते। वे विकारी भाव पर निमित्तसे अपनी अवस्थामें, पुरुषार्थकी मन्दतासे क्षण मात्रके लिये होते हुए दिखाई देते हैं। वे शुभाशुभ विकारी भाव चैतन्यके निर्विकार स्वभावमें से प्रगट नहीं होते, वे चैतन्यके स्वभावमें हैं ही नहीं। मै केवलज्ञान अवस्था प्राप्त करूंगा, सिद्ध अवस्था प्राप्त करूंगा, ऐसे राग मिश्रित विचार भी चैतन्य स्वभावमें नहीं हैं। इसप्रकार एक सर्वोपरि तत्व ही सम्यग्दृष्टिको दिखाई देता है। अखण्ड परिपूर्ण तत्व पर दृष्टि रखनेसे केवलज्ञान और सिद्ध पर्याय प्रगट होती है, किन्तु उस अवस्था पर लक्ष देनेसे अवस्था प्रगट नहीं होती।

ज्ञानी अर्थात् भगवानके भक्तको एक सर्वोपरि तत्व ही दिखाई देता है, कि-*अंतरंग एकाकार स्वरूप ही मेरा ज्ञान है, वही मेरा दर्शन चारित्र और* सुख है। सम्यग्दृष्टिको अन्तरदृष्टि में देखने पर ज्ञानबिम्ब चैतन्य ही सर्वोपरि तत्व दिखाई देता है। जिसे साधक स्वभाव-आंतरिक लीनता हो वही भगवान का भक्त है। जब अतरंग में स्थिर नहीं हुआ जा सकता तब अशुभ भाव दूर करने के लिये शुभभाव होने पर गुणों का बहुमान होता है, और तब वह देव गुरु शास्त्र की भक्ति इत्यादि में लग जाता है। यद्यपि ज्ञानी इस प्रकार पूजा व्रत दयादि के शुभ भावों में युक्त होता है, किन्तु उसकी यह आन्तरिक दृष्टि जागृत रहती है कि भीतर अकृत्रिम चैतन्यस्वरूप शाश्वत् विद्यमान है, उसमें जो नवीन नवीन कृत्रिमभाव होते हैं, वे चैतन्य का स्वरूप नहीं हैं।

अन्तरंगदृष्टि से आत्मा को पहिचाने विना यदि किसी को दान दे दे तो भी धर्म नहीं होता। मानादि का कोई भाव न हो और शुभभाव हो तो पुण्यबन्ध होता है, परन्तु आत्मप्रतीति के विना यथार्थ तृष्णा नहीं छूटती। मैंने दूसरे को जो वस्तु दी है, उसका स्वामीभाव रखकर अर्थात् यह वस्तु मेरे अधिकार की है, मैं इसका स्वामी हूँ अर्थात् मैं और यह वस्तु एक है, ऐसी दृष्टि से यथार्थ तृष्णा नहीं छूटती। यथार्थ तृष्णा तो तब छूटती है, जब ऐसी प्रतीति हो जाये कि पर वस्तु पर मेरा कोई अधिकार नहीं, मैं उस का-स्वामी नहीं हूँ, राग का एक अंश भी मेरा स्वभाव नहीं है, अनन्त संतोष मेरा स्वरूप है, जो पर है मैं नहीं हूँ, रागादिक भी मैं नहीं हूँ, मैं तो मात्र

वीतराग स्वरूप हूँ, इत्यादि ।

परमार्थनय अमेद ही है, इसलिये उस दृष्टिसे देखने पर भेद नहीं दिखाई देता, उस नयकी दृष्टिमें पुरुष चैतन्य मात्र ही दिखाई देता है, इसलिये वे सब वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुषसे भिन्न ही हैं ।

आत्माको रागयुक्त जानना सो व्यवहारनय है, मात्र चैतन्यस्वभाव शुद्ध है ऐसा जानना सो परमार्थनय है । आत्मामें शरीर, वाणी, मन नहीं हैं, और प्रतिक्षण जो राग-द्वेषकी अवस्था होती है, उसे भी परमार्थदृष्टि स्वीकार नहीं करती । चैतन्य अमेद धातु है, उसमें राग-द्वेष नहीं है, और श्रावक, मुनि, केवली तथा सिद्धकी अवस्थाके भेदोंको भी परमार्थदृष्टि स्वीकार नहीं करती । 'चैतन्यधातु तो चैतन्य ही है,' 'वह है सो है,' इसमें परमार्थदृष्टि अवस्थाके भेदोंको स्वीकार नहीं करती ।

जैसे सोना, सोना ही है, ऐसा लक्ष्में लेने पर उसके आकार भी उसमें आ जाते हैं, इसी प्रकार अमेद चैतन्य धातु चैतन्य ही है, वह अपने अस्तित्वरूपसे स्वतसिद्ध जैसी है, सो वैसी है, ऐसा स्वीकार करने पर समस्त पर्यायके आकार उसमें अमेदरूपसे समा जाते हैं । यह परमार्थदृष्टिका विषय है । तीर्थंकरदेवने भेद अमेदके स्वरूपका ज्योंका त्यों वर्णन किया है ।

वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव हैं, उनका विशेषस्वरूप जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे ज्ञात करना चाहिये ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—यदि यह वर्णादिक भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त ग्रन्थोंमें ऐसा क्यों कहा है कि वे जीवके हैं ?

समाधान—जिन शास्त्रोंमें कर्मोंके निमित्तकी अपेक्षाका कथन मुख्यतासे होता है, वे व्यवहारनयके शास्त्र कहलाते हैं, और जिनमें मुख्यतासे आत्माके परमार्थ स्वरूपका कथन होता है वे निश्चयनयके शास्त्र कहलाते हैं । आत्माकी अवस्था, तथा पुण्य पाप स्वर्ग नर्क इत्यादिको बतानेवाले व्यवहार नयके शास्त्र हैं । अशुद्ध अवस्था आत्मामें होती तो है किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये अभूतार्थ है । पर्यायको बतानेवाला नय व्यवहारनय है, और उसे बतानेवाले शास्त्र व्यवहारनयके शास्त्र हैं । पर निमित्तकी अपेक्षा

से जो भेद होते हैं, उन्हें गौण करके मात्र अभेद आत्माका स्वरूप बताने वाला नय परमार्थनय है, और उसे बतानेवाले शास्त्र परमार्थनयके शास्त्र हैं। परमार्थदृष्टिसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है, और मुक्ति प्राप्त होती है।

अब यहाँ शिष्यके प्रश्नकी उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं —

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

अर्थ—वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव कहे गये हैं, वे व्यवहारनयसे तो जीवके हैं, परन्तु निश्चयनयके मतमें उनमेंसे कोई भी जीवके नहीं हैं।

यह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शसे लेकर गुणस्थानपर्यंतके भाव व्यवहारनयसे आत्माके हैं। जैसे पानीका घड़ा व्यवहारसे कहा जाता है, क्योंकि पीतलके घड़ेके साथ पानीका सम्बन्धरूप व्यवहार है, किन्तु वास्तवमें घड़ा तो पीतलका ही है, वह पानीका नहीं होता, इसी प्रकार वर्णादिक और मोहादिक भावोंका आत्माके साथ पर्याय मात्रका सम्बन्ध है, उस अपेक्षासे वे भाव आत्माके हैं, ऐसा व्यवहारनयसे कहा जाता है, परन्तु यदि आत्माके स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो वे कोई भाव आत्माके नहीं हैं, अर्थात् निश्चयनयसे वे भाव आत्माके नहीं हैं।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, इसलिये जैसे सफेद रूईसे निर्मित वस्त्र लाल रंगसे रँगा गया हो, तो वह लाल रंग उस वस्त्रका औपाधिक भाव कहलाता है, इसी प्रकार पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे जिसकी बन्ध पर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीवके औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन करके प्रवर्तमान होता हुआ (व्यवहारनय) दूसरेके भावको दूसरेका कहता है।

सफेद वस्त्रको सफेद ही जानना सो सच्ची दृष्टि है, किन्तु उसके रंगे जाने पर उसे रंगीन मानना व्यवहारनय है। क्योंकि सफेद वस्त्रको रंगकी उपाधिवाला जाना इसलिये यह व्यवहारनय है। वास्तवमें वह रंग वस्त्रका स्वरूप नहीं है, इसलिये वह पर्यायाश्रित व्यवहार है। वस्त्रमें जो लाल रंग

सो औपाधिक भाव है, वह वस्तुका सहज स्वभाव नहीं है। लोग प्राय निश्चय और व्यवहारमें गड़बड़ा जाते हैं किन्तु यदि उसका ज्ञान करे और जो अपेक्षा है, उसे भली भाँति समझे तो सारी गड़बड़ी मिट जाये।

आत्माका स्वभाव सफेद वस्त्रकी भाँति स्वच्छ, निर्मल, और परमात्मा की भाँति शुद्ध है। जैसे स्वच्छ-सफेद वस्त्रपर रंग चढ़ गया है, उसी प्रकार आत्मामें कर्मोंकी उपाधिका रंग चढ़ा हुआ है, किन्तु यह रंग क्षणिक है, स्थायी नहीं है, कृत्रिम है, वर्तमान समय तक ही सीमित है, वह आत्माका स्व भाव नहीं है। अनादि संयोग वश यह बंध पर्याय प्रसिद्ध है, इसका कारण यह है कि अज्ञानीकी दृष्टि बंधपर ही है, इसलिये उसे प्रसिद्ध कहा है, किन्तु वह बंध पर्याय संयोगवश है, आत्मामें मिली हुई-एकमेक नहीं है। सम्बंधके कारण प्रसिद्ध है आत्माका स्वभाव नहीं है। मैं पशु हूँ, मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, इत्यादि संयोगवश होनेवाला औपाधिक भाव है। औपाधिक भावके अवलम्बन से प्रवर्तमान व्यवहारनय दूसरेके भावको दूसरेका कहता है।

मैं रागी हूँ मैं द्वेषी हूँ, इसप्रकार जड़के संयोगसे होनेवाले औपाधिक भाव प्रसिद्ध हैं, और इसप्रकार अनादिकालसे बन्धपर्याय प्रसिद्ध है। वस्त्रके रंग में और आत्माके कर्म संयोग में इतना अन्तर है कि—स्वच्छ वस्त्र पर नया रंग चढ़ाना पड़ता है, और आत्माके साथ कर्मका संयोग अनादिकालसे चला आरहा है। ऐसा नहीं है कि आत्मा पहले वस्त्रकी भाँति सर्वथा स्वच्छ था और फिर उसपर कर्मका रंग चढ़ गया है। किन्तु जो यह शरीर है सो मैं हूँ, राग मैं हूँ, और मैं ही बोलता चालता हूँ, इसके अतिरिक्त आत्मा और क्या हो सकता है? ऐसी भ्रांति अनादिकालसे संयोगवश बनी हुई है, अर्थात् स्वयं संयोगाधीन हो गया है, यहीं कर्मके संयोगने आत्माकी पर्यायको बलात् अशुद्ध नहीं किया है। राग द्वेष, हर्ष-शोकादि करके, अनादिकालसे स्वयं संयोग वश हो रहा है, कहीं परवस्तु ने अपने आधीन नहीं किया है। जैसे वट और बीज में से पहले कौन था, ऐसा विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि—अनादिकालसे दोनों एक साथ हैं, और खानमेंसे सोना पत्थर दोनों एकही साथ

निकलते हैं इसी प्रकार अनादिकालसे आत्मा और कर्मबन्धका सयोग आदि चला आ रहा है।

आत्माको परकी उपाधिके कारण व्यवहारसे राग, द्वेष, शरीर, मन, वाणीवाला कहा जाता है। जैसे वस्त्रको रगवाला कहना परका उपाधि भाव है, वस्त्रका वास्तविक स्वभाव नहीं है, इसी प्रकार राग-द्वेषादि भावको आत्मा का कहना, परकी उपाधिके कारण होता है, वह अपने स्वभावके अवलम्बनसे नहीं होता, इसलिये वह व्यवहार है, वह दूसरेके भावको दूसरेका कहता है, अर्थात् राग-द्वेष सयोगी भाव है, कर्मनिमित्तक भाव है, उसे दूसरेका अर्थात् आत्माका कहना भी व्यवहार है। जो व्यवहारनय कहता है, वह वस्तुका सच्चा स्वरूप नहीं है।

शास्त्रोंमें व्यवहारिक दृष्टिसे ऐसा कथन आता है कि–तूने ऐसे पाप किये इसलिये तू नरकमें गया, चार गतियोंमें परिभ्रमण किया, और वहाँ ऐसी प्रतिकूलता पाई कि तेरे दु ख देखकर दूसरोंको भी रोना आ गया, तथा कभी पुण्यके कारण बड़ा राजा हुआ, कभी लाखों करोड़ों रुपये कमाये, कभी देव गतिमें गया जहाँ अनेक अनुकूल सामग्री प्राप्तकी इत्यादि। किन्तु यह सब निमित्तकी ओरकी बात है, वह आत्माके मूल स्वभावकी बात नहीं है। रगको वस्त्रका रग कहना यथार्थ दृष्टि नहीं है, क्योंकि वास्तवमें वह रंग वस्त्रका नहीं, किन्तु व्यवहारसे उस पर्यायमें रग लगा हुआ है। व्यवहार सर्वथा मिथ्या नहीं होता। यदि आत्मामें व्यवहारसे भी विकार न हुआ हो तो विकारका निषेध करके आत्माको अलग बतानेकी बात ही न रहे, इसलिये व्यवहार है अवश्य। जैसे वस्त्रका रग वस्त्रमेंसे उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु बाहरसे आकर लगा है, उसी प्रकार विकार आत्मामेंसे उद्भूत नहीं हुआ किन्तु निमित्तके आश्रयसे आया है। वह आत्माका मूल स्वभाव नहीं किन्तु परकी उपाधि है। यदि पुण्य पापके भाव आत्मामें न हुए हों तो फिर यह कैसे कहा जायेगा कि यह भाव तेरे नहीं हैं? इसलिये व्यवहारसे वे भाव आत्मामें हुए हैं किन्तु वे उसका स्वभाव नहीं हैं, इसलिये उन्हें परका कहा है। यद्यपि राग द्वेष होते अवश्य हैं किन्तु वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं।

संसार आत्माकी पर्यायमें है, स्त्री पुत्रादिमें नहीं। पर पदार्थोंको अपना माननेकी जो अरूपी विकारी अवस्था है, सो संसार है। अवस्थादृष्टिसे आत्माकी पर्यायमें संसार है, आत्माके मूलस्वभावमें वस्तुदृष्टिसे संसार नहीं है।

यदि ध्यान लगाकर इसे समझे तो बालक भी समझ सकता है, क्यों कि यह अपने ही घरकी बात है, किन्तु धर्मके नामपर लोग बहुत चक्कर में पड़ गये हैं तथापि यदि वे समझनेका प्रयत्न करें तो यह अपनी ही–निज की बात है।

जैसे हाथीके दाँत दो प्रकारके होते हैं, उनमेंसे बाहरके यह बड़े दाँत बाह्य दिखाव और बनाव शृङ्गार के लिये होते हैं, तथा भीतरके दाँत चबानेके काममें आते हैं, इसीप्रकार चैतन्यभगवान आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले पुण्य–पापके भाव जो कि बाहरसे दिखाई देते हैं, आत्माकी शांति के काम नहीं आते, किन्तु वे बाह्य बातों के अथवा भव धारण करनेके काम आते हैं, पर अनुकूलता प्रतिकूलता तथा शरीर मन, वाणी इत्यादिके काम आते हैं, किन्तु चैतन्यतत्वका मूल स्वरूप ऐसा नहीं है, यह सब परकी उपाधि है, उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हो सकता। जैसे हाथी के भीतरके दाँत चबानेके काम आते हैं, उसी प्रकार आत्माके सम्पूर्ण अखंड स्वभावकी प्रतीति आत्माकी शाँति प्रगट करनेके काम आती है।

निश्चय अर्थात् सत्य, और व्यवहार अर्थात् आरोप। वास्तवमें परा श्रय भावको अपना कहना सो व्यवहार है। जो अपनी वस्तु है वह अपनेसे अलग नहीं हो सकती, जिस भावसे स्वर्ग मिलता है, जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बंधता है, वह भाव भी विकार है, वह तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये चैतन्य भगवान आत्मा को पहिचान।

जिसने पहले आत्मा को नहीं जाना उससे कहते हैं जो कि यह जो राग-द्वेष और हर्ष-शोकके भाव होते हैं सो वे तेरी अवस्थामें होते हैं, और फिर तत्काल ही आत्मा का स्वरूप बताकर कहते हैं कि वे तेरे स्वभाव में नहीं हैं, किन्तु वे पर के हैं, जड़के हैं।

पहले यह कहकर कि राग द्वेष, हर्ष - शोक आदिके भाव तेरी अव

स्था में होते हैं —आँगन में लाकर खड़ा कर दिया है, और फिर तत्काल ही समझाया है कि वास्तवमें वे भाव तुझमें नहीं हैं।

अब निश्चयनयकी बात करते हैं। निश्चयदृष्टि, यथार्थदृष्टि, नित्यदृष्टि, सत्यदृष्टि और परमार्थदृष्टि आदि एकार्थवाची हैं। निश्चयनय द्रव्याश्रय होनेसे मात्र एक जीवके स्वाभाविक भावका अवलम्बन करके प्रवर्तमान होता हुआ दूसरेके भावको किंचितमात्र भी दूसरेका नहीं कहता, निषेध करता है।

निश्चयनय अपने अखड पूर्ण त्रिकाल स्वरूप को जानता है, अपने भाव को ही अपना भाव जानता है, परके भाव को किंचित्मात्र भी अपना नहीं जानता। यह दृष्टिमात्र आत्माके आश्रित है। उसमें पर का आश्रय किंचित्मात्र भी नहीं है। यह दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है, इसीसे आत्मा का हित और लाभ है।

जैसे दूसरे से माँगकर पहने हुए गहने से अपनी शोभा मानता हुआ भी उस गहने को अपना नहीं मानता, इसी प्रकार आत्मा पुण्य-पाप शरीर इत्यादि को अपना मान रहा है किन्तु जिसे जड़ चैतन्यके पृथक्त्वका विवेक है, वह जीव समझता है, कि यह पुण्य पापादिके भाव मेरे नहीं, किन्तु दूसरे के हैं।

आत्मा में अपनी निज की सम्पत्ति भरी पड़ी है, किन्तु उसका भान न होनेसे पर द्रव्यको अपनी सम्पत्ति मान रहा है, और व्यवहारसे राग द्वेष तथा शुभाशुभ विकल्पों को आत्मा का मान रहा है, किन्तु निश्चयदृष्टिसे वे आत्माके नहीं हैं।

आत्मामें जो चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, वह भी व्यवहार है, क्योंकि उसमें पर निमित्त के सद्भाव—अभाव की अपेक्षा होती है, इसलिए वे गुणस्थान अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं हैं। यदि ऐसी सच्ची परमार्थदृष्टि करे तो आत्माके सुख की प्राप्ति हो। वह परमार्थदृष्टि मात्र एक जीवके ही भाव का अवलम्बन करता हुआ दूसरेके भाव को दूसरे का किंचितमात्र भी नहीं कहता, प्रत्युत निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता है, किन्तु व्यवहारनय निश्चयनय का निषेध नहीं करता क्यों कि व्यवहार क्षणभर का होता

है, और जो क्षणभर का होना है, वह किसका निषेध करेगा ? निश्चयनय का विषय तो त्रिकाल है, इसलिए वह व्यवहारनय का निषेध करता है। व्यव हारनय मात्र इतना बतलाता है कि वर्तमान पर्याय है।

प्रश्नः—अनादिकालसे अकेला व्यवहारनय है, इसलिए उस व्यवहार के द्वारा अनादिकालसे निश्चयनय का निषेध किया गया कहलाया या नहीं ?

उत्तर—वास्तव में वह व्यवहारनय ही सच्चा कहाँ है ? निश्चयनय प्रगट होने के बाद ही सच्चा व्यवहारनय कहलाता है। निश्चयनय व्यवहार नय की अपेक्षा नहीं, किन्तु उपेक्षा करता है।

इस गाथा में व्यवहारनय और निश्चयनय की तुलना की है, कि—व्यवहारनय पर्यायाश्रित है तो निश्चयनय द्रव्याश्रित है। व्यवहारनय औपाधिक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है तो निश्चयनय केवल एक जीवके स्वभावमात्रका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है। व्यवहारनय दूसरेके भावको दूसरेका कहता है, तो निश्चयनय दूसरेके भावको किंचितमात्र भी दूसरे का नहीं कहता, किन्तु वह उल्टा निषेध करता है। परमार्थदृष्टि आत्माके अखण्ड स्वरूप को वर्तमानमें बताती है। उसका विश्वास कर तो संसार समुद्र से पार हो जायेगा।

वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत जो २९ बातें कही गई हैं वह सब व्यवहारसे जीवकी हैं, किन्तु निश्चयसे जीवकी नहीं हैं। इन कथनोंमें पर निमित्तके सद्भाव-अभाव की अपेक्षा होती है, इसलिए व्यवहारनय दूसरेके भाव को दूसरे का कहता है, ऐसा कहा है। गुणस्थानों की पर्याय आत्माकी अवस्थामें होती है, जड़में नहीं, किन्तु परमार्थदृष्टिसे वह आत्माका अखण्ड स्व रूप नहीं है परमार्थदृष्टि उस भेद को स्वीकार नहीं करती। वर्णादिक भाव जीव के कहे हैं सो वे भी पर निमित्त की उपाधिसे कहे हैं, वे निश्चयसे जीवके नहीं हैं। इसप्रकार भगवान का स्याद्वाद कथन योग्य है।

जो परकी अपेक्षासे प्रवृत्त हो सो व्यवहार है, और स्व अपेक्षासे प्रवृत्त हो सो निश्चय है, निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है, यह २९ कथन पर के कहे हैं, जो कि पर निमित्तकी अपेक्षासे पुद्गलके परिणाम हैं, और

उस भगपर लक्ष देने से राग होता है, इसलिए भी उन्हें पुद्‌गलका परिणाम कहा है, और इसप्रकार कहकर आचार्यदेवने **परम पारिणामिक भाव** बताया है। यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाये तो आत्मा अकेला, चैतन्य, निर्मल, सहज, परम पारिणामिकभावसे परिपूर्ण, परापेक्षासे, और प्रगट अप्रगटकी अपेक्षासे रहित सामान्य निरपेक्ष तत्व ज्ञात होता है। जो पर्याय होती है, उसे ज्ञान जानता है, ज्ञान सामान्य और विशेष दोनोंको जानता है।

यदि सोनेके किसी गहनेमें लाख या मोम भरा हो, और उसमें से यदि मात्र सोने की ही तौल करना हो तो काँटे के (तराजूके) जिस पलड़ेमें गहना रखा हो, उसे यदि पानीमें रखकर तौला जाये तो लाख या मोम की तौल नहीं आती, किन्तु मात्र सोने की लगभग तौल आ जाती है, इसी प्रकार ज्ञानमूर्ति चैतन्य आत्माको बाह्यदृष्टिसे तौला जाये, अर्थात् व्यवहारसे तौला जाये तो हिंसा, दयादि की जो शुभाशुभ वृत्तियाँ होती हैं, वे आत्मामें होती हैं, ऐसा मालूम हो, अर्थात् ऐसी तौल आ जाये, किन्तु यदि परमार्थदृष्टिसे तौला जाये तो मात्र निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव की ही तौल आयेगी। उसमें राग-द्वेषादि भग भेद की तौल नहीं आती। यदि आत्माकी अखण्ड तौल प्रतीतिमें आगई तो निर्मल अवस्था हुए बिना नहीं रहती। आत्मा अखण्ड त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसका मनन कर, अभ्यास कर, परिचय कर तो भवभ्रमणसे छुटकारा मिल जायेगा और आत्म सुखकी प्राप्ति होगी।

आत्मा निर्मल स्वभावी है, उसमें राग-द्वेषका औपाधिक भाव कहना सो व्यवहारनय है। व्यवहारनय यह बताता है कि पर्याय है, परन्तु निश्चयनय व्यवहारका निषेध करता है। सम्यक्‌ज्ञान व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों के विषय को जानता है। जो ज्ञान श्रद्धाके विषय को और पर्याय को भली भाँति जानता है, वह ज्ञान यथार्थ और प्रमाण ज्ञान कहलाता है।

आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव ही सम्यक्‌दर्शन का विषय है, उसके अतिरिक्त अपूर्ण या विकारी पर्याय सम्यक्‌दर्शन का विषय नहीं है। श्रद्धा में विकारी पर्याय का ही नहीं किन्तु निर्मल पर्याय का भी आदर नहीं है, किन्तु जो पदार्थ अखण्ड परिपूर्ण है, वही सम्यक्‌दर्शनका विषय है।

ऐसे परिपूर्ण स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान होने के बाद भी जहाँतक साधक दशाकी निम्न भूमिका है, वहाँ तक व्यवहारके भग होते हैं। किन्तु उन्हें वह हेय मानता है, आदरणीय नहीं। उनसे अपनेको लाभ होना नहीं मानता किन्तु यह जानता है कि अभी अवस्था अपूर्ण है। यदि व्यवहार को भी आदरणीय माने तो व्यवहार और निरचय दोनों एक हो जायें, क्योंकि दोनों को आदरणीय माननेसे दोनों का स्वरूप एक हो गया, दोनों अलग नहीं रहे, इसलिए निरचय व्यवहार का निषेध करता है। व्यवहारका स्वरूप, ज्ञान जैसा है वैसा जानता है। अपूर्ण अवस्था है, पूर्ण होना शेष है, इसप्रकार ज्ञान सब कुछ जानता है। यदि ज्ञान जैसेको तैसा न जाने तो वह मिथ्या कहलाता है। अपूर्ण अवस्था है, ऐसा ज्ञान जाने तो उसे दूर करनेका पुरुषार्थ जागृत हो, ऐसा सम्बन्ध है, तथापि वास्तवमें वीर्य को जागृत करने वाली दृष्टि है। उस निरचयदृष्टिके बलसे अपूर्ण अवस्था दूर होकर पूर्ण अवस्था प्रगट होती है।

मैं अखण्ड परिपूर्ण हूँ, ऐसी दृष्टिका विषय साध्य है, जिसके बलसे सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होना है। श्रद्धा साधन है, और श्रद्धाका लक्ष्य बिन्दु साध्य है। साध्य को लक्ष्यमें लेनेसे साधन प्रगट होता है, किन्तु साधन से साध्य प्रगट होता है, यह कहना सो व्यवहार है। पूर्ण अवस्थाके प्रगट करनेमें लक्ष्य बिन्दुरूप जो साध्य है, वह निरचय साधन है और सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान चारित्र की पर्याय व्यवहार साधन है। क्योंकि अपूर्ण अवस्था पूर्ण अवस्था की सहायक नहीं होती, इसलिये निरचय साधन दृष्टि का विषय है।

वर्ण, गधसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भेद कहे गये हैं, उन भेदों के विचार निम्न दशामें-मोक्ष मार्गमें साधक दशामें आते हैं, किन्तु वे विचार राग मिश्रित हैं इसलिए उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है, क्योंकि आत्मामें वैसे भग नहीं हैं। जो ऐसे स्वरूपको समझता है, वही सच्चा जैन है। जैन कोई गोल या परिकर नहीं है, किन्तु जिसे अज्ञान, राग द्वेष जीतना है, उसे ऐसे अखण्ड स्वरूप की श्रद्धा अवश्य करनी होगी, इसीसे राग द्वेष जीते जायेंगे, उन्हें जीतने वाला ही सच्चा जैन है, और भगवान का सच्चा भक्त है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत

जो भेद कहे हैं, वे निश्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं ? इसका कारण क्या है ? उसके उत्तर स्वरूप आचार्यदेव कहते हैं कि —

एएहि य संवधो जहेव खीरोदय मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥५७॥

अर्थ'—इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध जल और दूध के एकक्षेत्रावगाहरूप सयोग सम्बन्ध की भाँति समझना चाहिये। वे जीवके नहीं हैं, क्योंकि जीव उनसे उपयोग गुणसे अधिक है, अर्थात् वह उपयोग गुणके द्वारा अलग ज्ञात होता है।

वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंतके जो भाव हैं, उन सब भावोंका आत्म के साथ दूध और पानी की भाँति एक ही स्थानमें रहने का सम्बन्ध है। जैसे जल मिश्रित दूध का जलके साथ परस्पर एक ही क्षेत्रमें रहनेका सम्बन्ध है, तथापि दूध अपने स्वलक्षणभूत व्याप्त होनेके कारण जलसे अधिकरूप–पृथक प्रतीत होता है। दूध और पानीके एक ही क्षेत्रमें एकत्रित रहने पर भी दोनों मूल स्वभावसे भिन्न हैं। उस जल मिश्रित दूध को उबालनेसे पानी जल जाता है, और दूध का मावा बन जाता है। दूध और पानी एक ही स्थानमें रहने पर भी दूध का लक्षण दूध को बतलाता है, दूधका लक्षण दूधमें व्याप्त है, इसलिये दूध अपने दूधके गुणसे टिका हुआ है। जैसा अग्नि'का उष्णता के साथ तादात्म्य सबध है, वैसा ही दूध का पानीके साथ संबध न होनेसे निश्चयसे पानी और दूध एक नहीं हैं।

इसी प्रकार वर्णादिके साथ जीवका एक ही स्थानपर रहनेरूप सबध है' तथापि उपयोग गुण द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सब द्रव्योंसे पृथक् प्रतीत होता है, वर्णादिक २९ कथनोंको पुद्गलका परिणाम कहा है। मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, और गुणस्थानके भेद इत्यादि–सब अवस्थाके भेद कर्मके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है, परन्तु वे मतिज्ञानादिक सम्पूर्ण निर्मल अवस्थाएँ चैतन्य में होती हैं इसलिये उन्हें चैतन्यका परिणाम कहा है, वे पुद्गलके परिणाम

नहीं हैं, किन्तु उन भेदों पर लक्ष जानेसे राग होता है, इसलिये उस रागको पुद्गलका परिणाम कहा है। क्योंकि आत्माके अखण्ड स्वभावमें अवस्थाके भेद नहीं होते इसलिये-भेद उन कर्मोंके निमित्तसे होते हैं, अतः उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है।

आचार्यदेवने टीकामें कहा है कि स्वलक्षणभूत उपयोगगुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सब द्रव्योंसे अधिकतया प्रतीत होता है। यहाँ स्वलक्षणभूत उपयोग गुण कहकर त्रैकालिक उपयोग कहना चाहते हैं। आत्मा, उसके गुण और उसकी पर्याय तीनों अखण्ड हैं। स्वभावभूत उपयोग कह कर यह बताया है कि वह त्रिकालमें रहनेवाला है, द्रव्य उसका गुण और उसकी वर्तमान पर्याय यह तीनों विद्यमान हैं, परिपूर्ण हैं, द्रव्यकी उपयोगरूप पर्याय भी परिपूर्ण है, यदि द्रव्यकी वर्तमान द्रव्यरूप पर्याय परिपूर्ण न हो तो द्रव्यकी अखण्डता सिद्ध नहीं होती, इसलिये द्रव्यकी पर्याय अनादि अनन्त परिपूर्ण है, निरपेक्ष है। द्रव्य, गुण, और उसकी पर्याय भी निरपेक्ष है। उन तीनों निरपेक्षोंको लेकर द्रव्य अखण्ड सिद्ध होता है। अधिकरूपसे अर्थात् सभी द्रव्योंसे अलग कहा है। वह समस्त पर द्रव्योंकी अवस्थासे भी भिन्न है। जब कि अन्य द्रव्यसे अधिक कहा है, तब अधिक पूरा होगा या अधूरा? अधिक कहकर परिपूर्णता ही सिद्ध की है, वह द्रव्य गुण और पर्याय सभी प्रकार से परिपूर्ण है। इसप्रकार उपयोग गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सब द्रव्यों से अधिकतया प्रतीत होता है। कुन्दकुन्दाचार्यने मूल पाठमें भी 'उवओग गुणाधिके' कहा है। इसमें अत्यन्त रहस्य भर दिया है।

आत्मा उपयोग लक्षणसे व्याप्त है, इसलिये वह कभी भी पर अवस्थाके द्वारा व्याप्त नहीं हुआ। जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादिकके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है इसलिये निश्चय से वर्णादिक पुद्गल परिणाम आत्माके नहीं हैं। गुणस्थान और मार्गणास्थान जीवके नहीं हैं। सिद्ध पर्याय या केवलपर्याय प्रगट होती है सो वह आत्मामें अभेदरूप होती है, किन्तु उन पर्यायों पर लक्ष देनेसे राग होता है, जो कि पुद्गलके परिणाम हैं। सिद्ध जीवोंके सिद्ध पर्याय प्रगट हो गई है,

इसलिये उन्हें किसी पर्याय पर लक्ष देनेकी आवश्यक्ता नहीं रहती, निम्न भूमिकावालोंको ही पर्याय पर लक्ष देना होता है, इसलिये उनके राग होता है, अतः उन्हें समझाते हैं कि पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग पुद्गलके परिणाम हैं, इसलिये पर्यायका लक्ष छोड़ो। सिद्ध जीवोंकी सिद्ध पर्याय द्रव्यमें मिली हुई है, इसलिये वह चैतन्य परिणाम है, और निम्न साधक दशा वालोंके भी अपने द्रव्यकी ओर उन्मुख होने पर जो ज्ञान दर्शन चारित्रके परिणाम होते हैं वे चैतन्यरूप ही है, उन्हें पुद्गलका परिणाम नहीं कहा। किन्तु भेदकी ओर लक्ष जाने पर राग होता है, और राग पुद्गलकी ओर उन्मुख होनेवाला भाव है, इसलिये गुणस्थान इत्यादिको पुद्गलका परिणाम कहा है, और इसप्रकार उन्हें *आत्मानुभूतिसे भिन्न कहा है।*

सम्यक्दर्शन पर्यायके भेदोंको स्वीकार नहीं करता। यह बारहवें गुणस्थानकी नहीं किन्तु चतुर्थ गुणस्थानकी बात है, यहाँ सम्यक्दर्शनका स्वरूप बताया है, और यह बताया है कि सम्यक्दर्शनको किसका आधार होता है। सम्यक्दर्शनको परिपूर्ण चैतन्य भगवानका आधार है। सम्यक्दर्शन हुआ कि आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकरूप—विशिष्ट प्रतीत होता है। अभी तो यह प्रतीतिकी बात है। स्थिरता तो पुरुषार्थके द्वारा उसके बाद होती है।

सम्यक्दर्शन हुआ कि अंशतः परमात्मा हो गया, भगवानका लघुनन्दन *हो गया।* अपने स्वरूपको *जाना, माना और* उसमें अंशतः स्थिर हुआ कि आंशिक कृतकृत्य हो गया। सम्यक्दर्शनमें समस्त निर्मल पर्यायोंसे भी द्रव्य अधिकरूप प्रतीत होता है। यह प्रतीति आनन्दका मार्ग है। यह श्रद्धा मोक्षका उपाय है, यह त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी आराधनाका मार्ग है। इस प्रतीतिके बीज बहुत गहराईमें हैं। लोग कहते हैं कि धर्मके बीज बहुत गहराईमें हैं, इसी प्रकार यह प्रतीतिरूपी धर्मके बीज ऐसी गहराईमें हैं कि जिनमेंसे मोक्ष अंकुरित होगा और पुण्य पापके भावोंमें धर्म मानना वह दीवार पर उत्पन्न हुए घासके समान है। फिर जो बढ़ेगा तो नहीं किन्तु वहीं अल्प कालमें सूख जायेगा। इसलिये त्रिलोकीनाथ देवाधिदेवके मार्गकी या आत्मस्वरूपकी प्रतीतिकी शरण लिये बिना कभी छुटकारा नहीं होगा।

सर्वज्ञका धर्म सुशर्ण जानो, आराध्य आराध्य प्रभाव मानो।
अनाथ एकान्त सनाथ होगा, इसके विना कोइ न बाह्य होगा॥

सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कथित धर्म ही शरणरूप है, उसकी आराधना कर! आराधना कर! उस धर्मकी शरणके अतिरिक्त तेरा हाथ पकड़ने को कोई भी समर्थ नहीं है। तेरी बाहरकी चतुराइ और कला काम नहीं आ सकती। इस वस्तुकी प्रतीति बिना शुभाशुभभाव करके उसीमें धर्म मानकर अनन्तकाल व्यतीत कर दिया किन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ। आत्माका जैसा स्वरूप है वैसी प्रतीति करने पर अनन्त भव कम हो जाते हैं। आत्मा प्रत्येक रजकण और विकारी पर्यायसे सर्वथा भिन्न है। निर्मल पर्याय जितना भी अखण्ड आत्माका स्वरूप नहीं है। परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य है, ऐसी प्रतीति करने पर अनन्त भव नष्ट हो जाते हैं।

दूध और जल सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु वे बाह्यमें एकसे प्रतीत होते हैं। यदि दूध और पानी एक होता तो जैसे दूधके उबालने पर पानी भाप बनकर उड़ जाता है, उसी प्रकार उसके साथ ही दूध भी उड़ जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा राग-द्वेषके भावोंसे सर्वथा भिन्न है। यदि उन भावोंके साथ आत्मा एकमेक होता तो राग द्वेषके भावों का नाश होने पर आत्माका भी नाश हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता, प्रत्युत आत्मा प्रतीति करके पुरुषार्थमें स्थिर हुआ कि स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है, और राग-द्वेषकी मलिन पर्यायका नाश हो जाता है। वर्णादिकसे लेकर गुणस्थान पर्यन्तके भङ्ग भेदके रागका नाश होता है, और निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसलिए आत्मा और राग द्वेषरूप विकारी पर्याय दूध और जलकी भाँति एक क्षेत्रमें रहने पर भी सर्वथा भिन्न भिन्न हैं। यदि वह भिन्न न हों तो अलग नहीं हो सकती—नष्ट नहीं हो सकती।

यहाँ शिष्य पूछता है, कि प्रभो! इस प्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनयमें विरोध आता है, सो अविरोध क्योंकर होगा? क्योंकि व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों सर्वज्ञ कथित शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, इसलिये दोनों नय अविरोध कैसे हैं? इसका उत्तर निम्न लिखित तीन गाथाओंमें दृष्टान्त द्वारा कहते हैं —

पथे मुस्सत पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥

अर्थ —जैसे मार्गमें चलने वाले को लुटता हुआ देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुट रहा है, किन्तु यदि परमार्थसे देखा जाये तो मार्ग नहीं लुटता, मात्र मार्गमें चलने वाला मनुष्य ही लुटता है, इसीप्रकार जीवमें कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर जिनेन्द्रदेवने व्यवहारसे यह कहा है कि 'यह जीवका वर्ण है'। इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि सब व्यवहारसे निश्चयके देखनेवाले कहे गये हैं।

आचार्यदेव दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि–मार्गमें चलनेवाले–पथिक को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन कहने लगते हैं कि मार्ग लुट रहा है। अर्थात् जिस मार्गमें मनुष्य लुटते हों, उसे ऐसा कहा जाता है कि–यह मार्ग अच्छा नहीं है, यह मार्ग लुटता है, किन्तु वास्तवमें मार्ग नहीं लुटता मनुष्य लुटते हैं। मार्गमें जाता हुआ संघ घड़ी दो घड़ीको मार्गमें रुक गया उसे लुटता देखकर व्यवहारीजन यह कहने लगते हैं कि यह मार्ग लुट रहा है, किन्तु वास्तवमें मार्ग तो जैसा का तैसा है, मार्ग कहीं लुटता नहीं है, किन्तु संघ कुछ समयके लिए वहाँ रुक गया इसलिए उस पर यह आरोप आता है कि मार्ग लुट रहा है। वैसे माग तो आकाश का भाग है वह कहीं लुट नहीं सकता।

इसीप्रकार जीवोंमें अल्पकाल की स्थितिप्राप्त कर्म, नोकर्म, पुण्य पाप के भाव इत्यादि को देखकर अरहंतदेवने कहा है कि–'यह वर्ण इस जीव का है'। आत्मा अनादि अनन्त विद्यमान है, उसमें अल्पकालके लिये यदि शरीर, वाणी, मन, और रागद्वेष इत्यादि रहे, तो इससे क्या हो गया? पुण्य

पापके भाव भी क्षणिक हैं, उन्हें आत्माका कहना सो व्यवहार है, वह उपाधि भावकी दृष्टिसे कहा गया है, किन्तु परमार्थदृष्टिसे तो आत्मा जैसा है, वैसा ही है, जैसे कि मार्ग जैसा है वैसा ही है, किन्तु व्यवहारसे कथनमें अन्तर आ जाता है।

शिष्यने पूछा था कि निश्चय और व्यवहारनय अविरोध कैसे हैं? उसका उत्तर देते हुए आचार्यदेवने कहा है कि शरीर, मन, वाणी अल्पकालके लिये एक क्षेत्रावगाह रूपसे रहते हैं, और अल्प समयके लिये विकारकी पर्याय होती है, इसलिये वह व्यवहार है किन्तु चैतन्यके एक अविचल स्वभावमें पर्यायके जो भग-भेद होते हैं, उन्हें निश्चयदृष्टि स्वीकार नहीं करती। व्यवहारनयकी अपेक्षा भिन्न है, और निश्चयनयकी अपेक्षा भिन्न है, इसलिये दोनों नय अविरोध हैं। प्रमाण ज्ञान दोनों नयोंका स्वरूप यथावत् जानता है। जैसा वस्तु स्वभाव है उसे वैसा ही लक्षमें लेना सो यही हित, और मोक्ष मार्ग है।

यहाँ व्यवहारनय और निश्चयनयका स्वरूप कहा गया है। आत्मा अनादि अनन्त नित्य शुद्ध स्वरूप है। उसमें जो पुण्य पापके संयोगी भाव दिखाई देते हैं, वे व्यवहारनयसे कहे जाते हैं। व्यवहारनय है, अवश्य, यदि वह न हो तो आत्मामें जो पुण्य पापके भाव होते हैं उनका भी निषेध नहीं हो सकेगा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि—जब निश्चयनय व्यवहारनयका निषेध करता है, तो फिर व्यवहारनय क्यों कहा गया है?

समाधान—आत्माकी पर्यायमें पुण्य - पापके भाव होते हैं। पाप के भाव करके जीव नरकमें जाता है, और वहाँसे पुण्यके भाव करके मनुष्य होता है फिर वहाँसे स्वर्गमें जाता है। इसप्रकार अल्पकाल के लिये चैतन्यकी पर्यायमें विकारीभाव होते हैं, इसलिये भगवानने व्यवहार कहा है। किन्तु उस व्यवहारके आश्रयसे आत्माकी निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। अनन्त गुणोंकी पिंड रूप वस्तु वर्तमानमें ही परिपूर्ण है, वह परमार्थदृष्टिका विषय है, उसके आश्रयसे मोक्ष मार्ग और सम्पूर्ण मोक्ष पर्याय दोनों प्रगट होते हैं। निश्चय और व्यवहारनयको सम्यग्ज्ञान

यथावत् अविरोध रूपसे जानता है। जिस अपेक्षासे व्यवहारनय है, उस अपेक्षा से निश्चयनय नहीं, और जिस अपेक्षासे निश्चयनय है, उस अपेक्षासे व्यवहार नय नहीं है। दोनोंकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है, इसलिये दोनों नय अविरोध हैं, और दोनोंको अविरोधसे जानने वाला ज्ञान प्रमाण ज्ञान है। व्यवहारनयसे आत्माकी पर्यायमें अशुद्धता होती है, गुणस्थान इत्यादि भेद हैं ऐसा वह कहता है। उस व्यवहारनयको यथावत् न जाने तो भी साधक दशाका पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। सम्यग्ज्ञान—प्रमाणज्ञान दोनों नयोंका स्वरूप यथावत् जानता है, इसलिये साधकता यथार्थतया सिद्ध होती है।

जैसे व्यवहारसे कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, उसी प्रकार भगवान अरहंतदेव जीवोंमें बंध पर्यायसे स्थितिको प्राप्त कर्म और नो कर्मका वर्ण देखकर, कर्म-नो कर्मकी जीवमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि 'जीवका यह वर्ण है' तथापि निश्चयसे सदा जिसका अमूर्तस्वभाव है, और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्य द्रव्योंसे अधिक है, ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है।

आत्मा एक रूप नित्य स्थायी है, उसमें परका संयोग क्षणमात्र रहता है, नित्य स्थायी आत्मामें विकारी पर्यायकी एक समयकी स्थिति है, इसलिये यह विकारी पर्याय जीवकी है, पर संयोगसे होने वाले भाव जीवके हैं यह उपचारसे कहा जाता है, आत्माके स्वभावमें से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे मार्गमें से मनुष्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु मार्गमें मनुष्योंकी स्थिति एक समय मात्रकी है, इसलिये उतने सम्बन्धसे मनुष्य लुटते हैं, तथापि उपचारसे यह कहा जाता है कि मार्ग लुट रहा है, इसीप्रकार आत्माकी पर्यायमें पर संयोगसे होने वाले भावोंकी एक समयकी स्थिति होनेसे, उतने सम्बन्धसे वे भाव उपचारसे जीवके हैं ऐसा कहा जाता है, किन्तु उन भावोंकी उत्पत्ति जीवके स्वभावमें से नहीं होती। जैसे मार्गपर मनुष्य आते जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में राग द्वेष का उत्पाद व्यय होता है, उसकी एक समय मात्र की स्थिति है, इसलिये वे आत्माके हैं, ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है, किन्तु वे आत्माके त्रिकाल अविचल स्वभाव में नहीं हैं। आत्माका सदा अमूर्त स्वभाव है, और वह उप

योग गुणके द्वारा अन्य द्रव्योंसे अधिक है। अमूर्त कहकर वर्ण-गंध इत्यादि से अलग किया है, और सम उपयोग गुणसे अधिक है, यह कहकर यह बताया है कि-वह अपूर्ण या विकारी नहीं किन्तु परिपूर्ण है। आचार्यदेवने उपयोगगुणसे अधिक कहकर आत्माको परसे भिन्न बताया है। जो परसे भिन्न होता है, वह परिपूर्ण ही होता है, अपूर्ण नहीं। आत्मा अपने द्रव्य गुण, पर्याय से परिपूर्ण है। और आत्माका स्वरूप परिपूर्ण है, इसलिये वह गुणस्थान और मार्गणास्थान की पर्याय जितना नहीं है। आत्मा एक समयकी वर्तमानमें होने वाली समल-निमल सापेक्ष पर्यायसे भिन्न है, वर्तमानमें होने वाली सापेक्ष पर्याय को भी अलग करता है। वर्तमानमें आत्माकी निरपेक्ष पर्याय परिपूर्ण है, इसलिये पर निमित्तके सद्भाव अभावकी अपेक्षासे होने वाली वर्तमान पर्यायों को भी अलग करता है, यह द्रव्यदृष्टि का विषय है।

आचार्यदेवने कहा है कि-'ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है,' इसमें जो 'कोई भी' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि सर्वार्थसिद्धि या तीर्थंकर प्रकृति बांधने का राग किसी भी आत्मामें नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। और इसी प्रकार 'यह कोई भी' शब्द सर्वत्र लगाना चाहिये, अर्थात् गुणस्थान-मार्गणा स्थान आदि कोई भी आत्मामें नहीं हैं—ऐसा समझना चाहिये।

आचार्यदेवने यह कहकर कि तू उपयोगगुणसे अधिक है, यह बताया है कि तू इस स्वरूप है, अर्थात् यहाँ अस्ति की बात कही है। और मार्गणास्थान इत्यादि तुझमें नहीं हैं यह कहकर नास्ति की बात कही है। एक समय मात्र का भाव तुझमें आये और जाये ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो द्रव्य गुण पर्यायसे परिपूर्ण ज्ञायक स्वरूप है। यह द्रव्यदृष्टि का विषय है, और सत्का शरण है। यह स्वरूप रागोन्मुखी ज्ञानके प्रकाशसे समझमें नहीं आता, किन्तु स्वसन्मुख ज्ञानके झुकावसे समझमें आता है।

जीवोंमें ज्ञानका जो विकास दिखाई देता है वह पूर्वभवमें से लेकर आया है। उस विकासके अनुकूल निमित्त जहाँ जहाँ मिलते हैं वहाँ वहाँ अज्ञानी जीवों को ऐसा मालूम होता है कि उन निमित्तोंसे ज्ञान विकसित हुआ है। अज्ञानी जीवोंके उस विकासका झुकाव रागकी ओर होता है। जैसे

अध्यापक पढ़ाता है तब रागकी ओर लक्ष होता है, और जब पुस्तक पढ़कर उत्तीर्ण होता है, इस लक्षसे पुस्तक पढ़ता है, तब भी ज्ञानका लक्ष रागकी ओर होता है, उस समय जो ज्ञानकी कला विकसित होती हुई दिखाई देती है, वह पूर्वका विकास विद्यमान है उसमें से उपयोग रूप होती है, किन्तु अज्ञानी जीवों को ऐसा मालूम होता है कि जो यह पुस्तक पढ़ी है, उसमें से ज्ञानकी कला प्रगट हुई है, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि पहले का जो विकास या प्रकाश लेकर आया है, उसमें से उस ज्ञान की कला प्रगट हुई है, यह कहीं वर्तमान चतुराईसे प्रगट नहीं हुई। ससारमें कोई नई बात सुनाने वाला मिलता है, तब उस समय जो ज्ञान होता है, उसका विकास था सो बाहर उपयोग रूप अथवा व्यापाररूप दिखाई देता है, इसलिये उसे भ्रम हो जाता है, कि मेरा यह नया ज्ञान प्रगट हुआ है। किन्तु ज्ञानका लक्ष अशुभ राग की ओर है, इसलिये वह ज्ञान पराश्रय है, और पराश्रयसे न तो ज्ञान प्रगट होता है, और न सदा टिक ही सकता है। पराश्रयो मुख ज्ञान और राग तथा निमित्त सब नाशवान हैं। राग अनित्य है, इसलिये अनित्यो मुख ज्ञान भी अनित्य है। अनित्यो मुख ज्ञानका प्रकाश नित्य नहीं रह सकता, इसलिये वह प्रगट हुआ ज्ञान पुन ढक जायेगा। ससारके ज्ञान का प्रकार ऐसा है, अब धार्मिक ज्ञान की ओर देखना चाहिये।

कोई धार्मिक ज्ञान पूर्वभवसे लेकर नहीं आता, किन्तु नवीन प्रगट होता है। देव, गुरु, शास्त्र का योग पूर्व पुण्यके कारण मिलता है। देव और गुरु धर्मोपदेश या शास्त्र सुनाते हैं किन्तु स्वय निमित्तके आश्रय की दृष्टिसे सुनता है, रागके आश्रयसे सुनता है, और उसका लक्ष रागमें है, इसलिये नित्य ज्ञानकी पर्याय प्रगट नहीं होती। किन्तु जहाँ अतरगमें अपनी ओर विचार करता है कि अरे ! यह पराश्रयता तो राग है, और मै ध्रुव स्वरूप वस्तु हूँ, मैं स्वय ही स्वत ज्ञायक हूँ, यहाँ दृष्टिमें से रागका अवलम्बन छूट जाता है, रागके साथ के अनित्य विकासका अवलम्बन छूट जाता है, देवगुरु शास्त्रके निमित्तका अवलम्बन छूट जाता है, और जो नया ज्ञान प्रगट होता है, वह टिकता है। यही सच्चा धर्म है। अन तकालसे जीवोंने धर्मकी इस रीति को नहीं पकड़

पाया और जो जितनी रीति पकड़ी है, वह सब परकी रीति है ।

परके ऊपर दृष्टि रखकर सुनता है, इसलिये वह ज्ञान अविनाशी लक्ष पूर्वक नहीं है, इसलिये वह ध्रुवमें से प्रगट हुआ ज्ञान नहीं है, फिर चाहे भले ही त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव सुनाने बैठे हों किन्तु अविनाशी आत्माके लक्षके बिना यदि रागका आश्रय लेकर सुने तो उस अनित्य की ओर के झुकाव से नित्य ज्ञान पर्याय प्रगट नहीं होगी । और स्वाश्रयोन्मुख होकर पुरुषार्थसे जो ज्ञान पर्याय प्रगट होती है, वह नित्यके लक्षसे प्रगट होती है, और वह प्रगट ज्ञान नित्य है ।

धर्मकला वर्तमान पुरुषार्थका फल है । मैं ध्रुव हूँ, अखण्ड हूँ, मेरे स्वभावको किसीका अवलम्बन नहीं है, इसप्रकार स्वाश्रयोन्मुखी पुरुषार्थ अपूर्व है, और ध्रुवके लक्षसे ध्रुवमें से होनेवाला ज्ञान भी अपूर्व है । धर्म स्व उपयोग रूपसे काम करता है । प्रभो ! तेरे ज्ञानकी बातका क्या कहना ? जब कि स्वाश्रयसे प्रगट हुये थोड़ेसे प्रकाश की महिमा ऐसे अपूर्व प्रकारकी होती है, तब फिर तेरे अखण्ड स्वभावकी ओर उसमें से प्रगट होने वाली पूर्ण ज्ञान पर्यायकी तो बात ही क्या कहना है ? श्रवण तरफका भाव पराश्रय भाव है, अनित्य है, किन्तु जहाँ उपयोगको अन्तरमें ओर झुकाया कि 'मैं' एसा त्रिकालरूप अखंड हूँ, मैं अपनेसे ही पूर्ण हूँ, वहाँ एसी श्रद्धा ही धर्मका प्रारम्भ है, और धर्मका प्रारम्भ होनेके बाद अभी अपूर्ण है, इसलिये राग रहता है, और उस रागमें देव गुरु शास्त्रका निमित्त होता है, अर्थात् श्रद्धा होनेके बाद देव, गुरु, शास्त्र को निमित्त कहा जाता है, क्योंकि देव, गुरु, शास्त्रको जो कहना है, वह स्वयं समझा तब देव, गुरु, शास्त्रके निमित्त कहा जाता है ।

वर्णमे लेकर गुणस्थान पर्यंतके भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये उन सब भेदोंसे आत्मा भिन्न है, ऐसी प्रतीति होने पर स्वावलम्बन भाव अंशतः प्रगट होता है, और यहींसे मुक्तिका मार्ग प्रारम्भ होता है । प्रतीतिमें अपने स्वावलम्बन स्वभावकी श्रद्धा होनेसे परोन्मुखताके प्रकाश, राग और रागके निमित्तादिको पर कहा है, यह अपूर्व बात है, इसे सुननेकी ओर शुभ विकल्प होगा तो भी उच्च पुण्य बंध होगा ।

भगवान अरहंतदेवने वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंतके भाव व्यवहारसे जीवके कहे हैं, तथापि उपयोग गुणके द्वारा स्वयं अधिक है, ऐसे स्वभावमें पूर्ण या अपूर्णका आश्रय नहीं है, पूर्णके आश्रयसे वह निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस भङ्ग भेदके लक्षणसे निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती।

व्यवहारनयके शास्त्रोंमें मुख्यतया व्यवहारका कथन होता है, और निश्चयनयके शास्त्रोंमें मुख्यतयासे निश्चयका कथन होता है, तथा निश्चयके कथनमें व्यवहारका, और व्यवहारके कथनमें निश्चयका कथन गौणरूपसे होता है। यहाँ गौण कहा है, सर्वथा अभाव नहीं कहा। जहाँ निश्चयकी अपेक्षासे बात चल रही हो वहाँ यदि कोई व्यवहारकी बात ला कर रखे, और शास्त्रमें जो स्वाश्रयकी अपेक्षा से बात चल रही हो उसे लक्षमें न ले तो वह परमार्थका स्वरूप समझे बिना व्यवहार को भी कुछ नहीं समझा है। क्योंकि परमार्थ स्वरूप समझनेके बाद ही व्यवहार यथार्थतया समझा जा सकता है। परमार्थके बिना समझा गया व्यवहार, व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है।

भावार्थकारने दोनोंकी संधि की है, कि—पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था सो इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु उसे कथंचित् असत्यार्थ समझना चाहिये। आत्मामें रागद्वेष है ही नहीं या गुणस्थान है ही नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु वे एक समयमात्रके लिये है, और वे त्रिकालके अखंड शक्तिसे परिपूर्ण द्रव्यमें नहीं हैं इसलिये यह कहा है कि गुणस्थान इत्यादि आत्मामें नहीं हैं। जब अभेद स्वरूपको मुख्य करके कहा जाता है तब अवस्थाभेद गौण हो जाता है। द्रव्यमें जो निर्मल पर्याय होती हैं उनसे द्रव्य अभेदरूप है, किंतु उनके भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये यह कहा है कि—उन पर्यायोंके भेद आत्मामें नहीं हैं, और आत्मा अपने अनंतगुण और अनन्त पर्यायोंसे अभिन्न एक पिंडरूप है, ऐसी अभेद द्रव्यदृष्टिमें कोई भी भेद प्रतिभासित नहीं होते इसलिये किसी प्रकारके भेद द्रव्यमें नहीं हैं इसप्रकार निषेध किया जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहारके कोई भेद हैं ही नहीं, वे हैं अवश्य किंतु वे द्रव्यदृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते।

सुवर्णकार की दृष्टि मात्र सुवर्ण पर ही होती है कि यह सौ टची है या नहीं, इसके बाद ही वह सोनेकी कारीगरी पर ध्यान देता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष सम्पूर्ण वस्तु पर होता है, उस वस्तु पर दृष्टि डालने के बाद पर्याय की कारीगरीका पुरुषार्थ तो होता ही रहता है। अवस्था कितनी प्रगट होती है, इसे स्वपर प्रकाश ज्ञान जानता है। देव गुरु शास्त्र के निमित्त की ओर का लक्ष या राग का लक्ष छूट जाता है, तब यथार्थ स्वरूपाधीन प्रतीति होती है, किन्तु यथार्थ प्रतीति पूर्वक का स्वपर प्रकाशक ज्ञान, निमित्त को, और रागको सबको जानता है।

निश्चयदृष्टिका विषय सामान्य है। स्वपर प्रकाशक स्वभाव वाला ज्ञान सामान्य-विशेष दोनोंको विषय करता है।

पहले संसार था और फिर मोक्षकी उत्पत्ति-प्राप्ति हुई, इसप्रकार के अवस्था भेद द्रव्यदृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विकारी, अपूर्ण या निर्मल अवस्थाका अस्तित्व ही नहीं है। यदि सर्वथा अवस्था न हो तो अभेद दृष्टिकी पर्याय प्रगट करनेकी आवश्यक्ता ही नहीं रहेगी। विकार अन्तकालके लिये ही है। और केवलज्ञानकी पर्याय भी अवश्य है, वह कहीं सर्वथा नास्तिरूप नहीं है। वस्तुदृष्टिका विषय अवस्था नहीं है, इसलिये यदि तू यह समझे कि अवस्था है ही नहीं, विकार है ही नहीं, और केवलज्ञान इत्यादि पर्याय है ही नहीं, तो तेरी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। *यदि सर्वथा कुछ भी न हो तो संसार अवस्था का नाश और मोक्ष* अवस्थाकी प्राप्ति इत्यादिकी कोई बात ही नहीं रहेगी। और तू यह जान कि—विकार अवस्था है, निर्मल अवस्था है, इसलिये यदि अवस्थाके रागमें अटक गया तो भी मोक्ष पर्याय प्रगट नहीं होगी। यथार्थ वस्तुदृष्टि ही मोक्षका बीज है। व्यवहारका कथन करनेवाले शास्त्र अधिक और निश्चयका कथन करनेवाले बहुत कम हैं, क्योंकि स्वरूप बहुत सूक्ष्म और गूढ है।

अपूर्ण अवस्था, विकारी अवस्था और बाह्यसंगसे रहित आत्माके स्वभावकी श्रद्धा करे तो निर्मल पर्याय प्रगट हो। अपूर्ण अवस्थामें, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय और अन्तराय-तीनों कर्म निमित्तरूपसे आ जाते हैं। विकारी

अवस्थामें मोहनीय कर्म निमित्तरूपसे आ जाता है, और बाह्य संगमें चार अघातिया कर्म आ जाते है। अपूर्ण अवस्थासे रहित अपने परिपूर्ण स्वभावकी ओर विकार रहित स्वभावकी तथा संग रहित पदार्थकी श्रद्धा करे तो धर्म हो।

यदि सर्वथा व्यवहार न हो तो देव गुरु शास्त्रको माननेकी कोई आवश्यक्ता नहीं रह जाती। देव गुरु शास्त्रको मानना, और उनका विश्वास करना सो व्यवहार है। उनके प्रति शुभ भाव करना और स्त्री कुटुम्बादि का अशुभ भाव दूर करना भी व्यवहार है। यदि व्यवहार न हो तो यह सब कुछ नहीं रह जाता।

यदि व्यवहार न हो तो परमार्थसे तो सभी आत्मा भगवान ही हैं। तब फिर गायोंको काटनेवाले कसाई और वीतराग भगवान दोनोंकी वन्दना करनी चाहिये किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। वन्दना तो उसीकी होती है, जिसकी निर्मल पर्याय प्रगट हो चुकी है। वैसे यदि मात्र द्रव्य दृष्टिसे देखा जाये तो निगोदसे लेकर सिद्धों तक सभी जीव अनादि अनन्त शुद्ध ही हैं। परन्तु द्रव्यको वन्दन करनेका व्यवहार नहीं है, लेकिन जिसकी शुद्ध पर्याय प्रगट हो गई है, उसीकी वन्दना की जाती है। मुनियोंको और वीतराग भगवानको वदन करनेका व्यवहार है। यद्यपि वाणी सबके होती है, किन्तु सर्वज्ञ भगवानकी वाणी पूज्य है, यह भी व्यवहार है। समयसारके पृष्ठ और यह लकड़ी दोनों पुद्गल हैं किन्तु इनमें से समयसारकी ही वन्दना की जाती है, इसका कारण यह है कि समयसारमें आत्माके भाव मुद्रित हैं, और वह आत्मस्वरूप को पहिचानने में निमित्त है। यदि व्यवहार न हो तो इसप्रकार व्यवहारका विवेक भी कैसे होगा? भगवानकी वाणीमें ऐसे अनेक प्रकारके व्यवहारका कथन हुआ है, इसलिये व्यवहार अवश्य है। मिर्चको हरा या लाल, आमको पीला और जामुनको काला कहना भी व्यवहार है। यदि व्यवहार न हो तो वस्तुओं को अलग अलग नहीं कहा जा सकेगा, इसलिये व्यवहार अवश्य है, व्यवहार, व्यवहारसे है, और व्यवहार हेय बुद्धिसे उपादेय है।

देव गुरु शास्त्रकी भक्ति, बहुमान और पूज्यत्व आदि सब व्यवहार, व्यवहारसे आदरणीय है, व्यवहार हेय बुद्धिसे आदरणीय है। यद्यपि सभी पुद्गल

समान हैं तथापि भगवानकी प्रतिमाकी वन्दनाकी जाती है, और पत्थरकी नहीं। इसका कारण यह है कि भगवानकी प्रतिमामें तीर्थंकरदेवके शरीरकी आकृति बनी हुई है, और उसकी भगवानके रूपमें स्थापनाकी गई है, तथा वीत राग मुद्रा, वीतराग भावके स्मरणमें निमित्त है इसलिये वह पूज्य है, और इस प्रकार व्यवहार है।

इतना ही नहीं किन्तु सम्यक्दर्शन की पर्याय भी व्यवहार है। सम्यक्‌दर्शन का विषय परिपूर्ण अखंड द्रव्य है, जो कि निश्चय है। सम्यग्दृष्टि कहता है, कि अवस्था दृष्टिसे, केवलज्ञानकी अपेक्षा मेरी पर्याय अनन्तवें भाग है, अर्थात् अनन्त गुनी अल्प है। बारहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट नहीं होता और तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, इसलिये तेरहवें गुण स्थानसे बारहवें गुणस्थानकी पर्याय अनन्तगुनी अल्प है। यह सब व्यवहार है।

वस्तु कथंचित् वचन गोचर है। यदि वह सर्वथा वचनगोचर न हो तो सर्वज्ञ देव और आचार्योंका उपदेश व्यर्थ सिद्ध होगा। वस्तुस्वरूप वचन में कुछ कहा जा सकता है,इसलिये उपदेश दिया जाता है। यदि सर्वथा वचन अगोचर हो तो फिर कुछ भी कहना ही नहीं रह जाता। इसलिये व्यवहार अवश्य है।

सर्वज्ञ भगवानकी वाणीमें अनेकानेक प्रकार का व्यवहार आता है। यदि उस व्यवहारको न माने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है, और यदि निश्चय स्वरूपको न माने तो श्रद्धा मिथ्या सिद्ध होती है। वस्तुका जैसा स्वरूप है, वैसी ही श्रद्धा ज्ञान और आचरण करनेसे मोक्ष पर्याय प्रगट होती है।

यहाँ जो २९ बातें कही गई हैं वे शुद्धनयकी दृष्टिसे कही गई हैं, और व्यवहार शास्त्रोंमें उन्हे जीवका भी कहा है। यदि निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टिसे देखा जाये तो उस व्यवहार को कथंचित सत्यार्थ भी कह सकते हैं। यदि उसे सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये, तो सर्व व्यवहार का लोप हो जाये, और सर्व व्यवहारका लोप होनेपर परमार्थका भी लोप हो जाये। इसलिये जिनेन्द्र देवका स्याद्वादरूप उपदेश समझने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है। सर्वथा एकान्त मिथ्यात्व है।

यदि व्यवहार न हो तो निषेध किसका किया जाये, और यदि आत्मा का स्वरूप क्षणिक पर्याय जितना ही हो, नित्य न हो तो धर्म किसमें किया जाये! जो यह कहा गया है कि आत्मा सर्वथा निर्विकार निरपेक्ष है, सो यह श्रद्धाका स्वरूप बताने को कहा है, परन्तु यदि निमित्त, विकार और प्रकार व्यवहार दृष्टिसे भी न हों तो वीतरागता होनी चाहिये। चैतन्यकी पर्यायमें राग होता है, यदि इसे भूल जाये या उस रागको सर्वथा न माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। यदि विकारी पर्यायको न माने तो अशुभ परिणामको दूर करके शुभ परिणाम, दया, पूजा, भक्ति इत्यादिमें रहना नहीं हो सकेगा जब महामुनि भी अप्रमत्त ध्यानसे हटकर बाहर आते हैं तब पठनपाठन और उपदेश इत्यादि के शुभ परिणामोंमें लग जाते हैं। चार ज्ञानकेधारी गणधरदेव जैसे महा पुरुष भी बारम्बार भगवानका उपदेश सुनते हैं। यदि पर्यायदृष्टिसे भी शुभा-शुभ परिणाम न होते हों तो किसी भी प्रकारका व्यवहार सिद्ध नहीं होगा।

अशुभ परिणामसे बचनेके लिये साधक दशामें बीचमें शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे शुभभाव साधकको आदरणीय नहीं है। भगवानके दर्शन इत्यादिमें ज्ञानीका प्रयोजन वीतराग भावको बढाना होता है, बीचमें जो राग भाव होता है, वह राग भावका प्रयोजन नहीं है, किन्तु धर्मीका प्रयोजन शुद्ध स्वरूपमें स्थिर होना है। शुभराग वीतराग भाव नहीं बढा देता किन्तु धर्मीका प्रयोजन वीतराग भावको बढाना है, इसलिये भगवानके निमित्तको शुद्धका निमित्त भी कहा जाता है। ज्ञानीके व्रतादिका शुभविकल्प हो तो भी उसे उस रागका प्रयोजन नहीं है, किन्तु स्वरूपमें स्थिर होनेका प्रयोजन है। जहाँ ज्ञानीके व्रतादिका शुभविकल्प उठता है, वहाँ उसके साथ ही स्वरूपमें स्थिर होनेका वीर्य भी जागृत होता है। छट्टे गुणस्थानकी स्थिरताके साथ मुनित्वके शुभ परिणाम होते हैं, इसप्रकार स्थिरताके साथ शुभ परिणामका सबध है। अशुभ परिणामसे बचनेके लिये भी शुभ परिणाम होते हैं। शास्त्र-स्वाध्याय, श्रवण, मनन, देव गुरु शास्त्रकी भक्ति, और अणुव्रत महाव्रतादिके परिणाम साधक दशामें होते हैं इसप्रकार व्यवहार है।

आत्माकी पर्यायमें यदि सर्वथा विकार न हो तो वीतरागता ही होनी

चाहिये, किन्तु सर्वत्र वीतरागता दिखाई नहीं देती, इसलिये राग है यह सिद्ध होता है। और वीतराग स्वभाव है उसकी श्रद्धा न करे तो वीतराग पर्याय प्रगट नहीं होगी। वस्तु स्वभावमें विकार नहीं है, किन्तु यदि अवस्थामें भी सर्वथा विकार न हो तो सुनना, समझना, मनन करना और समझाना इत्यादि कुछ भी न रहे।

आत्माकी पर्यायमें अच्छे - बुरेके भाव और स्वर्ग नरकक भव इत्यादि सब हैं अवश्य, अर्थात् यह सब अवस्थाएँ हैं, यह व्यवहार कथनके समय जानना चाहिये, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा सर्वथा विकारमय और अवस्था जितना ही है। तथा निर्विकार निरपेक्ष शुद्ध वस्तुके कथन समय पर्यायका भाव न हो इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि पर्याय नहीं है। विकारमात्र पर्यायमें होता है, इसे न जाने तो परमार्थ कहाँ रहा? विकार पर्याय मुझमें नहीं है, यह कहनेकी अपेक्षा ही कहाँ रही? जब विकाररूप होगा तभी तो निश्चय दृष्टिसे विकाररूप नहीं है, यह अपेक्षा होगी न? यदि अवस्था में विकार हो तभी तो निश्चय दृष्टिमें नहीं है, यह अपेक्षा होगी न?

आत्मामें मोक्ष मार्ग प्रगट होने पर, दर्शन, ज्ञान चारित्रकी अवस्था प्रगट होती है। यदि अवस्था न होती हो तो सर्वथा कूटस्थ हो जाये, इसलिये अवस्था आत्मामें होती है। क्षणिक अवस्था होती है, उसे जानना सो व्यवहार, और त्रिकाल पूर्ण द्रव्यको जानना सो निश्चय है। उन दोनों नयोंका एक साथ ज्ञान हो सो प्रमाण है।

दर्शनके साथ रहने वाले ज्ञानके दो पहलू हैं। एक तरफ सामान्य की ओर जाता हुआ ज्ञानका अंश है और दूसरी ओर अपूर्ण, पूर्ण निर्मल और विकारी पर्यायको जानता हुआ ज्ञानका अंश है। यथा 'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग' अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष मार्ग है।

यदि क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माकी अवस्थामें न हों तो संसार ही न हो। यदि विकार सर्वथा न हो तो सर्वत्र प्रगट पूर्णानन्द दशा हो, किन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये विकार अवस्था है। यह बात लक्षमें से नहीं

जाना चाहिये। व्यवहार दृष्टिसे विकारका अंश है, ऐसा ज्ञानमें जानना चाहिये। जो 'है' उसे न माने तो एकान्त हो जाये। जो 'है' उसे जान लेना चाहिये और जाननेको स्वीकार करना चाहिये, किन्तु विकार अंगीकार करने योग्य नहीं है, अंगीकार करने योग्य तो एकमात्र स्वभाव ही है, और निश्चय दृष्टिका विषय ही आदरणीय है, तथा व्यवहार जानने योग्य है। जो जानने योग्य है उसे जानने योग्यसे अधिक महत्व देनेवाला मिथ्यादृष्टि है, और जो 'है' उसे 'नहीं है' कहे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। यदि पर्यायमें विकार न हो तो परमार्थका भी नाश हो जाये। जो विकार है, उसे न माने तो विकारको दूर करना और मोक्ष मार्गकी साधक दशाको प्रगट करना आदि कुछ भी न रहे। इसलिये एक नय जानने योग्य और एक नय आदरणीय है। इसप्रकार दो पहलुओंसे वस्तु देखी जाती है। निश्चय दृष्टि व्यवहारके भंगको स्वीकार नहीं करती किन्तु विपरीतका निषेध करती है। प्रमाणज्ञान दोनों पहलुओंको जानता है। व्यवहार-नय, व्यवहारनयसे आदरणीय है, निश्चय दृष्टिसे नहीं। निश्चय दृष्टि अंगीकार करने योग्य है, और व्यवहार जानने योग्य है। व्यवहारनयसे लाभ होता है, और सहायता मिलती है, यह मान्यता मिथ्या है, और यदि निश्चय दृष्टिको आदरणीय न माने तो भी मिथ्या है।

प्रश्नः—जो राग-द्वेष होता है सो स्वभावमें कोई हानि करता है या नहीं?

उत्तरः—यदि राग द्वेषको अपना माने तो वर्तमान पर्यायमें स्वभावको हानि पहुँचाता है। आत्माको निर्मल न मानने और उसे राग द्वेष रूप मानने से अवस्थामें हानि होती है, और जो अवस्थामें हानि है सो आत्माकी ही हानि है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों एक ही हैं। अवस्थामें राग द्वेष होता है, इसलिये आनन्दगुणकी पर्यायका घात होता है, अतः यदि राग-द्वेष रूप होने वाली मलिन पर्यायको न माने तो परमार्थका ही लोप हो जाये।

जो आत्मा है, सो अपने रूपसे है, और विकाररूपसे नहीं है, ऐसा दृष्टिका विषय है। श्रद्धामें आत्माको परिपूर्ण माना और ज्ञानमें परिपूर्णता तथा अपूर्णता दोनों ज्ञात हुइ। तथा परिपूर्णको जानना निश्चय और अपूर्णको

जानना व्यवहार है। यद्यपि वस्तु दृष्टिसे परिपूर्ण है, किन्तु यदि वर्तमान अवस्थामें अपूर्ण न हो तो, रागद्वेषरूप अवस्था कहाँसे आई? इसलिये विकार अवस्था अवश्य है। यदि विकार अवस्थाको न माने तो इस परमार्थ दृष्टिका लोप हो जायेगा कि जो यह विकार है सो मैं नहीं हूँ, और जो स्वभाव है, सो वही मैं हूँ। यदि पुण्य पापकी वृत्ति पर्यायमें न होती हो तो परमार्थको समझनेकी ही क्या आवश्यकता है। आत्मा ज्ञायक है, सत् है, सो अस्ति है, और यदि अवस्था में राग-द्वेष न हो तो यह राग द्वेष मुझमें नहीं है, ऐसा नास्ति भाव कहाँ से आयेगा? और यदि अवस्थामें राग-द्वेष न हो तो परमार्थको प्रगट करना कहाँ रहा? इसलिये भगवानका उपदेश-स्याद्वाद समझने पर ही सम्यक्ज्ञान होता है।

सर्वथा एकान्तको मानना मिथ्यात्व है। जैसे आत्मा द्रव्यसे भी पवित्र है, और उसकी पर्याय भी पवित्र है, और आत्मा द्रव्यसे भी मलिन है, तथा उसकी पर्याय भी मलिन है। ऐसा माननेसे एकान्त हो जाता है यदि मलिनता न होती तो अभी तक भवभ्रमण कैसे हुआ? और यदि आत्मा मलिन स्वरूप ही हो तो शुद्ध अवस्था कहाँसे प्रगट हो? इसलिये आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, और उसकी पर्यायमें मलिनता है। उस मलिनताको दूर करके शुद्ध अवस्था प्रगट की जा सकती है।

अब एकान्त-अनेकान्तकी व्याख्या करते हैं—

चैतन्यमें एक वर्तमान अवस्था प्रगट है, शेष सब सामर्थ्य सम्पूर्ण ध्रुवरूपसे विद्यमान है। अखण्ड परिपूर्ण ध्रुवको दृष्टि लेना सो सम्यक्दर्शन है, और अवस्थाको पूर्ण, और अपूर्ण या मलिन जानना सो व्यवहार है। द्रव्य और पर्याय दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्रमाणज्ञान है। यदि द्रव्य और पर्यायमेंसे एकको न जाने तो एकान्त कहलाता है।

पहली बात यह है कि मेरे स्वभावमें रागद्वेष नहीं है, किन्तु मेरी पुरुषार्थकी असक्तिसे पर्यायमें राग-द्वेष होता है। यदि पर्यायमें भी राग द्वेष न हो तो वीतरागता प्रगट दिखाई देनी चाहिये। यदि कोई कहे कि राग-द्वेषके विकारी भावोंसे मुझे लाभ होता है, तो वह एकान्त है, क्योंकि इसमें

स्वभाव और राग द्वेष दोनों एक हो गये। स्वभाव पवित्र नहीं है, और आत्माको विकारी अवस्थाके समान मान लिया, सो यह एकान्त दृष्टि है।

एकान्त दृष्टि होनेके बाद स्वभावकी श्रद्धा होने पर अभी अपूर्ण है इसलिये विकल्प आये विना नहीं रहेगा, देव, गुरु, शास्त्रकी प्रभावना आदि का विकल्प आये विना नहीं रहेगा। विकल्प आने पर भी धर्मात्मा जीव यह नहीं मानता कि उस विकल्पसे या शुभभावसे मुझे लाभ होता है। विकल्प आये यह बात अलग है, किन्तु देखना यह है कि उसकी श्रद्धा रुचि बल किस ओर है।

आत्मा स्वयं त्रिकाल ज्ञायक पवित्र शुद्धस्वरूप है। ऐसे निर्दोष स्वभावकी श्रद्धा करने पर आत्मा सदोषरूप नहीं है, ऐसा मानना सो अनेकान्त है। जो दो विरोधी शक्तियोंका प्रकाश करता है सो अनेकान्त है। मैं निर्दोष रूप हूँ, विकाररूप नहीं हूँ इसप्रकार दो स्वभावोंकी प्रतीति करना सो अनेकान्त है। समयसारके अंतमें अनेकान्तकी बहुत सुंदर व्याख्याकी गई है, जो इस प्रकार है—एक वस्तुमें वस्तुत्वको उत्पन्न करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है।

वस्तु, वस्तुकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। वस्तु, वस्तुकी अपेक्षासे नित्य, और वस्तुकी ही अपेक्षासे अनित्य हो ऐसा अनेकान्त नहीं हो सकता। वस्तु अपनी अपेक्षासे सत् और परकी अपेक्षासे असत् है, यह अनेकान्त है, किन्तु अपनी अपेक्षासे सत्, और अपनी ही अपेक्षासे असत् हो ऐसा अनेकान्त नहीं होता। स्वभावसे शुद्ध और स्वभावसे ही अशुद्ध हो ऐसा नहीं हो सकता। स्वभावसे शुद्ध और पर्यायसे अशुद्ध मानना सो अनेकान्त है। मैं स्वभावसे हूँ, और सदोषरूप नहीं हूँ, यह अस्ति नास्तिरूप अनेकान्त है। आत्माको अपने स्वभावका अवलम्बन है, और पर का अवलम्बन नहीं है, यह अनेकान्त है, एक समय मात्रकी अवस्था विकारी है, त्रिकाल द्रव्य विकारी नहीं है, यह अनेकान्त है। यह एकान्त-अनेकान्त का भेद बहुत सूक्ष्म है।

किसी अपेक्षासे सम्यक् एकान्त भी कहलाता है। समयसारकी चौद

इवीं गाथाकी टीकामें कहा है कि जो एकान्त बोधबीजरूप स्वभाव है, उसके निकट जाकर अनुभव करने पर संयुक्तना अभूतार्थ - असत्यार्थ है। स्वरूपमें उन्मुख होनेके लिये विकारी पर्यायका निषेध किया जाता है वह सम्यक् एकान्त स्वयं अपनेमें उन्मुख होनेके लिये है। यदि स्वोन्मुख होनेके लिये भी सम्यक् एकान्त न हो तो फिर कहाँ उन्मुख हुआ जाये? द्रव्यदृष्टि पर्यायका निषेध करती है। द्रव्यदृष्टि स्वरूपोन्मुख होनेके लिये है, वह सम्यक्एकान्त है, किन्तु पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं है। पर्यायको लक्ष्में न रखे और अपूर्णता में पूर्णता मान बैठे सो भी यथार्थ नहीं है, किन्तु वस्तुस्वरूपको यथावत् समझना सो यथार्थ अनेकान्त है।

अपने आत्माकी बात चल रही हो वह ग्राह्य न हो ऐसा कैसे हो सकता है? समझनेकी जिज्ञासा हो और केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनि खिरे तब पात्र जीव ऐसा समझ लेता है। भगवानकी वाणीमें स्वतन्त्र स्वरूप आया वहाँ जीव समझ गया कि अहो! मेरा शांति स्थल मुझमें ही है! मेरे तरनेका उपाय - तीर्थ मुझमें ही भरा है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—वर्णादि के साथ जीवका तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है, इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि —

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

अर्थ—संसारमें स्थित जीवोंके, संसारमें वर्णादिक होते हैं, और संसारसे मुक्त हुए जीवोंके निश्चयसे वर्णादिक कोई भी (भाव) नहीं होते। (इसलिये उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।)

परमाणुका वर्ण, गंध आदिके साथ सम्बन्ध है, आत्माके साथ नहीं। संसारदशामें वर्णादि भाव जीवके होते हैं, किन्तु मोक्ष दशामें किंचित् मात्र भी नहीं होते। इसलिये जो उसका हो वह कैसे दूर हो सकता है? अर्थात् यदि वर्णादिक जीवके हो तो वे कभी भी अलग नहीं हो सकते किन्तु मोक्ष होनेके साथ ही वे अलग हो जाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि जीवके साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

जो निश्चयसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें यद् आत्मसे अर्थात् स्वरूप-रूप से व्याप्त हो और जो आत्मभावसे, अर्थात् उस स्वरूप रूपकी व्याप्तिसे रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओंमें जिस भाव स्वरूप हो और किसी अवस्थामें उस भाव स्वरूपता को न छोड़े उस वस्तुका उन भावोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है।)

वस्तु अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें व्याप्त होती है, किसी अवस्थामें व्याप्त न हो ऐसा नहीं होता, इसे *तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं।* यद्यपि जीव ससार अवस्थामें किसी अपेक्षासे वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त होता है, तथापि वह मोक्ष अवस्था में सर्वथा वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त नहीं होता। ऐसे जीवका वर्णादिके साथ किसी भी प्रकारका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंतके भावों का पुद्गलके साथ तादात्म्य सबध कहा है।

प्रश्नः—क्या केवलज्ञान भी इसमें आजाता है? तब क्या केवलज्ञान का भी पुद्गलके साथ तादात्म्य संबध कहा जायेगा? वह तो जीवकी स्वाभाविक पर्याय है?

उत्तरः—केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें प्रगट होता है, जिसे सयोग केवली गुणस्थान कहते हैं, क्योंकि वहाँ योगका कम्पन होता है, और वह योगका कम्पन परकी ओर का भाव है, इसलिये उसे पुद्गलका परिणाम कहा है। किन्तु केवलज्ञानकी पर्याय द्रव्यकी निर्मल पर्याय रूप हो गई है, इससे उसे पुद्गलका परिणाम नहीं कहा। इसप्रकार चौदहवें गुणस्थानमें भी अकम्पनता प्रगट होती है, जो कि द्रव्यरूप अवस्था है, किन्तु वहाँ चार कर्म और शरीर इत्यादि विद्यमान है, इसलिये चौदहवें गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है। चौदहवें गुणस्थानमें जीव शरीर और कर्मोंके कारण नहीं रुका है, क्योंकि वे पर द्रव्य हैं, इसलिये पर द्रव्यके कारण स्वय नहीं रुकता। यदि वह पर द्रव्यके कारण रुकता हो तो स्वय पराधीन हुआ कहलायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। वह प्रतिजीवी आदि गुणोंके विकारके कारण चौदहवें गुणस्थानमें रुका हुआ है। योग और मोहके कारण चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, वे दोनों परोन्मुखी भाव है इसलिये गुणस्थान पुद्गलके परिणाम कहे गये हैं। जो केवलज्ञान पर्या-

य प्रगट हुई है वह अपने द्रव्यके साथ तादात्म्य सम्बन्धवाली है, किन्तु यहाँ जो कम्पन है सो परका भाव है, इसलिये उसका पुद्गलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान पर्याय और सिद्ध पर्याय आदिका चैतन्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, और राग परकी ओर का भाव है, इस अपेक्षासे उन सब पर्यायोंको भी पुद्गलका परिणाम कहा है। सम्यग्दर्शनके भेद, केवलज्ञानकी पर्याय, और सिद्धकी पर्याय इत्यादि भेद सिद्ध या केवली नहीं किन्तु निम्न अवस्थामें साधक जीव करते हैं, और उन भेदों पर दृष्टि डालनेसे उन्हें राग होता है। जब साधक जीव यहाँ कहे गये २९ कथनों पर लक्ष देते हैं तब उन्हें राग होता है, और राग तो परोन्मुखी भाव है, इसलिये इस अपेक्षासे उन २९ कथनोंको पुद्गलका परिणाम कहा है, और इसप्रकार उन समस्त कथनोंका पुद्गलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध कहा है।

साधक जीवके राग होता है और मुक्त जीवके नहीं होता, इसलिये यह कहा है कि—संसारी जीवोंके वर्णादि भाव हैं, और मुक्त जीवोंके नहीं हैं। तथा मुक्त अवस्था प्राप्त होनेके बाद किसी भग भेद पर दृष्टि नहीं करनी है, इसलिये वहाँ वर्णादि भाव नहीं हैं। संसारमें भी जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। संसारमें वर्णादि भाव नहीं हैं इसलिये सिद्ध होने पर वे अलग हो जाते हैं। साधक जीवको भग भेद पर दृष्टि डालनेसे राग होता है, और राग परोन्मुखी भाव है, इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञान इत्यादिको भेदकी दृष्टिसे पुद्गलका परिणाम कहा है, वैसे केवलज्ञानी या सिद्धके तो केवली और सिद्धकी पर्याय अपने द्रव्यमें अभेदरूप हो गई है, उसे भग और भेद पर लक्ष देनेकी बात ही नहीं रही। वहाँ क्षायिकसम्यक्त्व और केवलज्ञानादि जो पर्यायें प्रगट हुई हैं, उनका आत्माके साथ तादात्म्य संबंध है, तेरा जो अविनाशी स्वभाव है उसकी ओर देख, उसके अतिरिक्त कोई शरण नहीं है। द्रव्य पर दृष्टि देनेसे राग छूटता है और निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस निर्मल पर्यायका चैतन्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

आत्मामें अजीवका कोई भी गुण या पर्याय नहीं है। जिसे आत्माका हित करना हो उसे यह भली भाँति जानना होगा कि हित कैसे होता है। शरीरादिक परसे आत्माको हानि लाभ नहीं होता। शरीरका वर्ण, रस, गंध, स्पर्श संहनन और आकार इत्यादि जड़की अवस्थामें प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह मान्यता मिथ्यादृष्टिकी मान्यता है, कि मुझे रखना नहीं, आया इसलिये शरीर, वाणी इत्यादि एकसे नहीं रहे, अथवा शरीरका अच्छा बना रहना मेरी जानकारी पर अवलम्बित है। संसारमें उपचारसे वर्णादि भावोंको आत्माका कहा है, किन्तु सिद्धोंमें किसी भी प्रकारसे वर्णादि भाव नहीं हैं।

प्रश्नः—सिद्ध वर्णादि भावोंसे अलग हो गये हैं, किन्तु यहाँ तो भाव इकट्ठे ही हैं?

उत्तरः—जब कि यहाँ संसार अवस्थामें वे भाव अलग हैं तब वे सिद्धोंमें अलग हो सकते हैं। जो भाव अपने होते हैं वे त्रिकाल अपने ही साथ रहते हैं, वे कभी अलग नहीं होते। इसलिये जो अलग हो जाते हैं वे अलग हैं, इसलिये अलग होते हैं। खाना-पीना हिलना चलना इत्यादि प्रवृत्ति संसारमें भी आत्माके अधीन नहीं है, किन्तु पुद्गलके अधीन है। आत्मा जो भाव करता है सो अपने अधीन है, किन्तु जो शारीरिक क्रिया होती है, वह पुद्गलके अधीन है। संसार अवस्थामें शरीरादिक जीवके साथ एक ही स्थान पर रहते हैं, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि यह शरीर, यह वर्ण या यह संहनन इत्यादि इस जीवके हैं। यद्यपि यह सब निमित्तसे–उपचारसे कहा जाता है, किन्तु जो यह मानता है कि शरीरादिसे मुझे लाभ होता है, उसने शरीर और आत्माको एक ही मान रखा है, और जो जिससे हानि लाभ मानता है, उसे वह निजरूप मानता है।

प्रश्नः—खाने-पीने इत्यादिमें आत्माको स्वाद आता है या नहीं?

उत्तरः—जो स्वाद आता है, वह जड़का है, आत्माका नहीं। आत्मा उस स्वादको जानता है। वह यह जानता है, कि यह स्वाद आमका है, और यह मिठाईका। अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे आम और मिठाई आदिके रागका स्वाद लेता है, वैसे जड़का स्वाद तो कोई ले ही नहीं सकता। एक द्रव्यका

स्वाद दूसरा द्रव्य नहीं ले सकता। आत्मा अपनी पर्यायका स्वाद लेता है। ज्ञानी ज्ञानभावसे स्वभाव पर्यायका स्वाद लेता है, और अज्ञानी अज्ञानभावसे राग पर्यायका स्वाद लेता है।

प्रश्न:—जब कि जड़ नहीं खाता और आत्मा नहीं खाता तब फिर कौन खाता है?

उत्तर:—जब आत्मा रागमें युक्त होता है, तब उसे खानेकी इच्छा होती है, यदि उस समय शरीरका इच्छानुकूल उदय हो तो शरीरकी क्रिया खानेकी होती है, और आहार इत्यादि वस्तुके मिलनेका अनुकूल उदय हो, इसलिये उस वस्तुका संयोग हो जाता है, इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक संबंध होने पर आहारकी क्रिया होती है। जड़की क्रियाका कर्ता आत्मा नहीं है। आत्माकी पर्यायमें राग होता है, किन्तु उस जड़की क्रिया आत्मा त्रिकालमें नहीं कर सकता।

प्रश्न:—खायेंगे तभी तो शरीर टिकेगा?

उत्तर:—खानेसे शरीर नहीं टिकता, किन्तु शरीरकी अवस्था शरीरके कारण टिकी हुई है। यदि खाने पीनेसे शरीर टिकता होता तो कभी कभी लोग खाते खाते ही मर जाते हैं, हाथकी रोटी हाथमें ही रह जाती है, और हृदय गति बन्द हो जाती है, ऐसा क्यों होता? किसी की खुराक बहुत कम होती है, और फिर भी शरीर टिका रहता है। देवोंकी खुराक अत्यन्त अल्प होती है, हजारों वर्षमें उन्हें आहार लेनेकी इच्छा होती है, कंठमें से अमृत झरता है, और तत्काल ही अमृतकी डकार आ जाती है, फिर भी असंख्यात वर्ष तक उनका शरीर टिका रहता है। नारकी जीवोंको अन्नका एक दाना भी नहीं मिलता फिर भी उनका शरीर असंख्यात वर्ष तक बना रहता है। जुगलिया मनुष्योंके तीन दिनमें आहारकी इच्छा होती है, और वे तीन दिनके बाद बेरके बराबर आहार लेते हैं फिर भी उनका शरीर असंख्यात वर्ष तक बना रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि खाने पीनेसे शरीर नहीं टिकता किन्तु शरीरके कारण ही शरीर टिकता है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि यदि शरीर अच्छा बना रहे तो धर्म हो,

यथा—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधन', किंतु यह भी सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि आत्मा का धर्म आत्मामें शरीरका धर्म शरीरमें होता है, इन दोनोंका कभी भी मेल नहीं खाता। तथापि अज्ञानीको यह भ्रम हो गया है कि शरीरका हम कुछ कर सकते हैं, इसलिये उसके मनमें देव, गुरु, शास्त्रकी बात नहीं जमती। चलनेके भाव और शरीरकी चलनेकी क्रियाका लगभग निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध मेल हो जाता है, इसलिये अज्ञानीको ऐसा भ्रम होता है कि मेरे द्वारा चला जा रहा है, मेरे द्वारा बोला जा रहा है, और जड़की क्रिया मैं कर सकता हूँ, किंतु यदि शरीरमें वायु हो गई हो, किसी हड्डीमें दर्द हो गया हो, अशक्ति आ गई हो या लकवा मार गया हो तो शरीरकी क्रिया रुक जाती है, और तब बहुत इच्छा होने पर भी चला फिरा नहीं जा सकता। इसीप्रकार आँखकी पलकें चलाना भी आत्माके वशकी बात नहीं है। मरते समय बोलनेकी अत्यन्त इच्छा होने पर भी जीभ तक नहीं हिला सकता और अपने हाथकी उंगली भी नहीं हिला सकता। तात्पर्य यह है कि शरीरकी कोई भी अवस्था आत्माके वशकी नहीं है। मैं शरीरको टिकाये हुए हूँ, और शरीर अच्छा हो तो धर्म किया जा सकता है, यह मान्यता निरा पाखंड और मूढ़ता है।

दया, पूजा, इत्यादि शुभ भावोंसे पुण्य बंध होता है, और हिंसा, झूठ इत्यादि अशुभ भावोंसे पाप बंध होता है, वे दोनों ही भाव मेरा स्वरूप नहीं हैं, किंतु मै निर्मल ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ ऐसी श्रद्धाके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है।

आत्मा शरीरका कुछ भी नहीं कर सकता तब फिर वह सर्वथा दूर रहने वाले स्त्री कुटुम्ब आदिका तो कहाँसे कुछ कर सकेगा ? तात्पर्य यह है कि आत्मा पर द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता।

सिद्धोंमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि कुछ भी नहीं है, इसलिये यहाँ भी वे भिन्न हैं, इसलिये छूट सकते हैं। यदि शरीर और आत्माका अग्नि और उष्णता जैसा सम्बन्ध हो तो वे कभी भी अलग नहीं हो सकेंगे। तात्पर्य यह है कि शरीर और आत्माका किसी भी प्रकार तीनलोक तीनकालमें एकरूप सम्बंध नहीं है।

अब यहाँ यह बतलाते हैं कि यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय बनाये कि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, तो उसमें दोष आता है। यथा—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि तू यह माने कि यह वर्णादिक सब भाव जीव ही है, तो तेरे मनमें जीव और अजीवका कोई भेद ही नहीं रहता।

आचार्यदेव कहते हैं कि वर्णादिक भावोंको जीव मानने वाले सब मिथ्या अभिप्राय वाले हैं। जो वर्ण गंधादिक और शरीरादिको जीव मानता है वह दो द्रव्योंको एक मानता है, अर्थात् वह दो द्रव्योंके बीच कोई भेद नहीं मानता। जो यह मानते हैं कि शरीरको जैसा रखना हो वैसा रखा जा सकता है, तो वे मिथ्या अभिप्राय हैं, शरीर पर द्रव्य है, उसकी रक्षा तू नहीं कर सकता। तू मात्र अपनी रक्षा कर सकता है, इसलिये अपनी रक्षा कर।

वर्णादिक २९ बातोंका जड़के साथ तादात्म्य सम्बन्ध बताया है, उनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुणस्थान इत्यादि सब आ जाते हैं। उन भेदों पर लक्ष देनेसे राग होता है। वह राग परोन्मुखी भाव है, इसलिये उसका पुद्गलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, किन्तु जो ज्ञान-दर्शनकी निर्मल पर्याय होती है, वह चैतन्यमें मिल जाती है, यह बात पहले कही जा चुकी है। उन ज्ञान, दर्शन-मार्गणा इत्यादिमें कर्मोंके निमित्तकी अपेक्षा होती है, इसलिये उन्हें परका कहा है। जो उस निमित्तको, रागको अपना मानते हैं, वे मिथ्या अभिप्राय वाले हैं।

वर्णादिभाव, अनुक्रमसे आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होते हुए उन-उन व्यक्तियोंके द्वारा पुद्गल द्रव्यके साथ ही साथ रहते हुए पुद्गलका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रगट करते हैं।

कर्मोंकी और शरीरकी अवस्थाका आविर्भाव अर्थात् प्रगट होना—अव्यक्तरूपसे उत्पन्न होना और तिरोभाव अर्थात् अवस्थाका अप्रगट रहना, अवस्थाका व्यय हो जाना सो यह सब पुद्गलकी अवस्था है, इसलिये पुद्गलके साथ

तादात्म्य सम्बन्ध है, पुद्गलको प्रगट करता है, उसे विस्तरित करता है। कर्मोंकी और शरीरकी एक अवस्था प्रगट होना और दूसरी अवस्था अप्रगट रहना सो सब पुद्गलके कारण है। उसका पुद्गलके साथ एकत्व है, आत्माके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा अपने ज्ञान, और स्थिरतामें आगे बढ़ता है, तथा कर्मोंकी शक्ति कम होती जाती है, इसलिये आत्मा और कर्मोंका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आत्माकी निर्मल अवस्था बढ़ती हो अर्थात् आविर्भाव होती हो, और शरीरकी अवस्था हीन होती हो–पतली होती हो–तिरोभाव होती हो, और चैतन्यकी अवस्था अज्ञान राग-द्वेषमें युक्त होनेसे हीन होती हो तिरोभावरूप होती हो, और शरीरकी अवस्था पुष्ट होती हो कर्मोंकी अवस्था पुष्ट होती हो, इसलिये आत्माका शरीर तथा कर्मोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। यह वर्णादिक २९ बातें कर्मोंके कारण हैं, इसलिये वह पुद्गल द्रव्यकी अनुक्रमसे होती हुई आविर्भाव और तिरोभावरूप अवस्था पुद्गलके ही तादात्म्य सम्बन्धको प्रगट करती है, विस्तरित करती है।

आँखकी पलकोंका ऊँचा नीचा होना, जिह्वाका चलना या न चलना कंठमें से शब्दोंका निकलना या न निकलना इत्यादि सब पुद्गलकी अवस्था पुद्गलके ही कारण आविर्भाव, तिरोभावरूप हुआ करती है। शरीरकी बाल्यावस्थाका व्यय, युवावस्थाका प्रगट होना और युवावस्थाका व्यय तथा वृद्धावस्थाका प्रगट होना इत्यादि सब पुद्गलके साथ संबंध रखता है, पुद्गल को ही विस्तरित करता है।

ज्ञानका बढ़ना–आविर्भाव होना आत्माके साथ सम्बन्ध रखता है, आत्माको विस्तरित करता है। ज्ञानका ढँकना और अज्ञान पर्यायका आविर्भाव होना–प्रगट होना विकारी पर्यायके साथ सम्बन्ध रखता है।

वर्णादिक भाव अनुक्रमसे आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होने वाले उन उन व्यक्तियोंके द्वारा जीवके साथ ही साथ रहते हुए जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रगट करते हैं—विस्तरित करते हैं, ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमें शेष द्रव्यमें जो असाधारण वर्णादि स्वरूपता है, जो कि पुद्गल द्रव्यका लक्षण है, उसका जीवके द्वारा अंगीकार किया जाता है,

इसलिये जीव पुद्गलके अविशेषका प्रसंग आता है।

शरीरकी किसी भी अवस्थाके हलन चलनका सम्बन्ध शरीरके साथ दिखाई देता है, तथा उसके साथ आत्मा एक ही स्थान पर रहता है, इसलिये वह आत्माके साथ वर्णादिका तादात्म्य सम्बन्ध प्रगट करता है, विपरीत करता है। इसप्रकार जो मानता है सो मिथ्यात्वी है, क्योंकि आत्माके साथ वर्णादिका तादात्म्य सम्बन्ध हो तो वह आत्माका लक्षण कहलाये, और इसलिये जीव और पुद्गल दोनों अलग नहीं रहते, शरीरकी अवस्थाके द्वारा जीवको अंगीकार किया इसलिये जीव और पुद्गल दोनों अलग नहीं रहते, और ऐसा होने पर जीवका अवश्य अभाव होता है।

शरीरमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि हैं उनका सम्बन्ध परमाणुके साथ है, और यदि उ परमाणुका सम्बन्ध आत्माके साथ माने तो जीव और जड़ दोनोंके एक होनेसे दोनोंके भिन्न लक्षण न रहनेसे दोनोंका अभाव हो जायेगा। शरीर अनन्त परमाणुओंका पिंड है, और वाणी भी अनन्त परमाणुओंका पिंड है। आत्मामें से वह वाणीकी अवस्था नहीं आती किन्तु जड़में से आती है। यदि आत्मामें से भाषाकी अवस्था आती तो आत्मा और जड़ दोनों एक द्रव्य हो जायें क्योंकि भाषा रूपी है, और चैतन्य अरूपी है, इसलिये दोनों द्रव्य अलग हैं उन दोनोंको एक मानने पर दोनों द्रव्योंका अभाव हो जाता है।

यदि कोई कहे कि शरीर और जिह्वा आदिका आत्माके साथ संबन्ध है, तो यह बात सर्वथा मिथ्या है। यदि आत्माके साथ वाणीका संबन्ध हो तो, जीभमें जब कुछ हो जाता है तब क्यों नहीं बोल सकता। वाणीका प्रगट होना या ढँक जाना आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं रखता। भाषाकी पर्याय का आविर्भाव परमाणुमें से होता है, आत्मामें से नहीं। शरीर और वाणीकी अवस्थाका होना जड़के आश्रित है, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्रका होना आत्मा के आश्रित है। यदि शरीरकी अवस्था आत्माके आश्रित और आत्माकी शरीर के आश्रित हो तो दोनों एक हो जायें और आत्मा जड़ हो जाये, किन्तु ऐसा नहीं है। दोनों द्रव्य भिन्न हैं। आत्माके साथ वाणी और शरीरकी अवस्थाका

का मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, दोनों द्रव्य एक नहीं है, किन्तु अलग अलग हैं। किसीकी अवस्थाका कोई कर्ता नहीं होता। भाषाकी पर्यायका आविर्भाव जड़में से होता है, आत्मामें से नहीं। अज्ञानी अहंकार करता है कि वाणी मुझमें से होती है, और मुझमें से आती है। अज्ञानी अपनेको भूलकर परको देखता है, इसलिये उसकी शक्ति अपनेको देखनेकी नहीं रही।

जो जो अवस्था होती है, उसे ज्ञानी देखता है, और जानता है। ज्ञानी जानता है कि किसी द्रव्यकी अवस्थाका कोई संचालक या प्रेरक नहीं है, सबकी अवस्था अपने आधीन होती है। ज्ञानीके वाणी, राग, और उसे जानने रूप ज्ञानकी अवस्था एक ही क्षणमें होती है, किन्तु ज्ञानी समझता है कि यह अवस्था होती है, मैं उसका मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ, कर्त्ता नहीं।

शरीर, मन, वाणी मेरा स्वरूप नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु भीतर जो शुभाशुभ विकल्प उठते हैं वे भी मेरा स्वरूप नहीं हैं। उन सब पर पर्यायोंको ज्ञातारूप रहकर जानना और स्वरूपमें स्थिर रहना सो निश्चय आलोचना है। पहले सम्यक्दर्शनकी सामायिक और फिर स्थिरताकी सामायिक होती है। पर भावसे हटकर स्वरूपमें स्थिर होना निश्चय प्रतिक्रमण है।

मेरा सुख मुझमें है, उसे भूल गया इसलिये यह मान लिया कि सुख परमें से आता है। शरीरको अपना मान लेनेसे शरीरके अनुकूल स्त्री - पुत्रादि हों तो उन पर राग हुए बिना नहीं रहता, और यदि प्रतिकूल हों तो द्वेष हुए बिना नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि शरीरके रागी पर राग और द्वेषी पर द्वेष हुए बिना नहीं रहता। क्योंकि उसने यह मान रखा है कि शरीर मेरा है, और शरीरमें से सुख प्राप्त होता है, इसलिये राग द्वेष हुए बिना नहीं रहता। कई लोग शारीरिक अनुकूलतामें और दो चार पुत्रोंमें तथा लाख दो लाख की सम्पत्तिमें सुख मान रहे हैं। किन्तु इन सबमें सुख कहाँ है? क्या वह कहीं देखा है, या मात्र कल्पना ही करली है? और यदि कल्पना ही की है, तो यह भी देखा है कि वह कल्पना कहाँ है? वह मान्यता किस प्रकारकी है? वह आँखोंमें है, हाथोंमें है या पैरोंमें है? उस मान्यतारूप भाव कहाँ टिका हुआ है, वह अरूपी है, या रूपी है? क्या यह सब कुछ देखा है?

या मात्र कल्पना ही कर रखी है? परमें सुख न देखकर भी सुखकी मान्यता कहाँ है, यह खबर न होने पर भी अनादि कालसे निःशंक होकर यही मान रहा है कि परमें सुख है। जिसकी जिसमें रुचि है, वहाँ वह यह तर्क नहीं उठाता कि यदि मुझे आँखोंसे दिखाई दे तो मानूँ! आत्मामें एक निःसंदेह स्वभाव ऐसा है, कि उसकी विपरीत पर्यायमें भी वस्तुमें सुख नहीं देखा, कल्पना नहीं की, तथापि ऐसा निःशंक हो जाता है कि किसी प्रकारके विचारका अवकाश नहीं रखता। जब कि विपरीत पर्यायमें भी ऐसा निःशंक हो जाता है, तब फिर जो आत्माका परिचय करके सम्यक् प्रतीति करता है, उसमें तो निःशंक होगा ही। मुझे परसे सुख प्राप्त नहीं होता मेरा सुख मुझमें ही है, इसप्रकार यथार्थतया माननेके बाद परका आश्रय नहीं रहता। मेरी शान्ति, सम्यग्श्रद्धा, और सम्यग्ज्ञान इत्यादि सब मुझमें है, किन्तु परमें नहीं है ऐसी यथार्थ प्रतीति परिचय करनेसे निःशंक हो जाता है। यह सारी बात अन्तरंगमें जम जाये तभी ठीक है।

प्रश्न —आप कहते हैं कि शरीर और वाणीका सम्बन्ध पुद्गलके साथ है, किन्तु जब आप ही वाणी बोलते हैं तो इसे क्या समझना चाहिये?

उत्तर —आत्मा वाणी नहीं बोल सकता, वह तो मात्र ज्ञान करनेवाला ज्ञायक है। वाणीका वक्तव्य वाणीमें है, वह मेरे चैतन्यका कर्तव्य नहीं है। चैतन्यका कर्तव्य चैतन्यमें है और वाणी पुद्गलकी अवस्था है।

प्रश्न —यदि ज्ञान और वाणी भिन्न हों तो जैसा बोलना होता है, वैसा ही कैसे बोला जाता है? अन्यथा क्यों नहीं बोला जाता?

उत्तर —ज्ञान और वाणीका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये ज्ञान जैसा परिणमित होता है, वैसी ही वाणी भी परिणमित होती है सर्वज्ञ भगवानको सम्पूर्ण ज्ञान है, इसलिये उनकी वाणी भी सम्पूर्ण रहस्यको लिये हुए निकलती है। जड़ कुछ नहीं जानता, एकमात्र आत्मा ही ज्ञाता है। श्री समयसार नाटकमें कहा है —

तनता, मनता, वचनता, जड़ता जड़ समेल।
लघुता, गुरुता, गमनता ये अजीवके खेल ॥

अर्थात् शरीर, मन और वचन तथा हलका-भारीपन और चलना फिरना इत्यादि सब अजीवके खेल हैं। उस अजीवको अपनेपनकी बुद्धिसे मानकर यदि राग द्वेष करे तो परका कर्ता होता है, इसलिये वह मिथ्यात्वी है। राग द्वेषके जो परिणाम होते हैं, उनका ज्ञाता रहे तो वह जाननेवाला है, कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि परसे भिन्न होकर अपनेमें समा जाता है, यही धर्म है। धर्म कहीं शरीर, मन, वाणीमें नहीं है।

अजीवकी जितनी अवस्था होती है वह सब मेरी-चैतन्यकी अवस्था है। जो यह मानता है कि शरीरकी अवस्थाके बदलनेसे मैं बदल जाता हूँ, वह मिथ्यात्वी है। जो शरीरकी अवस्थाकी घटा बढ़ीसे अपनी घटा-बढ़ी मानता है, और जो शरीरकी स्थिति पूर्ण होने को अपनी स्थिति पूर्ण होना मानता है, श्वासके रुँधनेसे मैं रुँध गया ऐसा मानता है--वह शरीर और आत्मा को एक मानता है। वह असाध्य होकर परभवमें परिभ्रमण करता रहेगा। जिसे जागृतज्योति चैतन्यकी खबर है, वह स्वरूपस्थ होकर, समाधिमरण करके एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

आत्मा जड़ स्वरूप नहीं, किन्तु ज्ञानादि गुण स्वरूप है। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड स्वरूप वस्तु है, और परमाणु भी अनन्त गुणोंका पिंड स्वरूप है। दोनों निराली वस्तु हैं। शरीर और आत्मा दोनों एक आकाशक्षेत्र में रहते हुए भी भिन्न हैं।

यहाँ कोई यह प्रश्न करता है कि मुक्तिमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्शका सम्बन्ध भले ही न हो किन्तु संसारमें तो है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं —

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादो।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा॥ ६३॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो॥ ६४॥

अर्थ—अथवा तेरे मनमें यह हो कि संसारमें स्थित जीवोंके वर्णादिक (तादात्म्य स्वरूप) है इसलिये संसारमें स्थित जीव रूपीपनेको प्राप्त हो गये हैं। ऐसा होने पर पुद्गल द्रव्य ही जीव सिद्ध हो गया, क्योंकि पुद्गलका ही ऐसा लक्षण है। इसलिये हे मूढ़बुद्धि ! निर्वाणको पुद्गल ही जीवत्वको प्राप्त हुआ कहलायेगा !

जो यह मानता है कि शरीरकी क्रियाओं को आत्मा करता है, वह प्रकारान्तरसे शरीर और आत्माको एक ही मानता है, क्योंकि जड़ और आत्मा के एक होने पर ही आत्मा जड़की प्रवृत्ति कर सकता है, जड़से अलग रहकर जड़की प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इसलिये शरीर और आत्मा दोनों एक हैं, यही अज्ञानीका अभिप्राय है।

जो यह मानता है कि यदि शरीर अच्छा रहे तो वह ज्ञान ध्यानमें सहायक होता है, वह शरीर और आत्मा दोनोंको एक मानता है। जैसे अग्नि और उष्णता अलग नहीं की जा सकती उसी प्रकार शरीर और आत्मा अलग नहीं किये जा सकते, यह अज्ञानीकी मान्यता है।

जो यह मानता है कि चलना-फिरना, खाना-पीना इत्यादि मुझसे होता है, वह रूपी अवस्थाको चैतन्यकी अवस्था मानता है, अर्थात् वह दोनोंको एक मानता है। आत्माकी अरूपी अवस्था और जड़की रूपी अवस्था दोनों एक ही समयमें होनेसे अज्ञानी उन दो अवस्थाओंको अलग न मानकर एक ही मान लेता है।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्शका लक्षण जड़ है, इसलिये हे मूढ़मति ! तेरी मान्यताके अनुसार तो जड़ पदार्थ ही जीव सिद्ध हुआ, और ऐसा होनेसे मुक्त होने वाला आत्मा रूपित्वको लिये हुए मुक्त हुआ, अरूपित्वको लेकर नहीं, अर्थात् पुद्गल द्रव्य ही मुक्तिको प्राप्त हुआ कहलायेगा।

जिसका यह मत है कि संसार अवस्थामें जीवका वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्य संबंध है, उसके मनमें जीव संसार अवस्थाके समय अवश्य ही रूपित्व को प्राप्त होता है। और जब कि तूने अपनी अवस्थाको रूपीके अधीनस्थ मान लिया तो तेरी अवस्था अलग नहीं रही। यदि आत्मा जड़को करे तो आत्मा उसकी अवस्थामें प्रविष्ट हो गया, और तादात्म्य सम्बंध हुआ, इसलिये आत्मा

की अवस्था अलग नहीं रही, तथा आत्मा रूपी हो गया—जड़ हो गया।

जो यह मानता है कि शरीरको सुन्दर या पुष्ट बनाना आत्माके वश की बात है वह सर्वथा मिथ्या है। रजकण सदा बने रहते हैं इसलिये उनमें विविध प्रकारकी अवस्था होती है। शरीरकी गति देखकर अज्ञानीको भ्रम होता है कि मैं गति कर रहा हूँ, किन्तु गति करना रजकणका स्वभाव है, आत्माकी अरूपी अवस्था तो उस समय भी अलग ही है। आत्मा, जो अवस्था होती है, उसका ज्ञान करता है, अथवा अभिमान करता है कि मैं परकी अवस्थाको कर सकता हूँ, किन्तु आत्मा जड़की अवस्थाको तीन काल और तीन लोकमें नहीं कर सकता।

देव, गुरु, शास्त्र शरीर और आत्माको भिन्न बताते हैं। जो ऐसे स्वरूपको नहीं जानता वह देव, गुरु शास्त्र को यथार्थतया नहीं जानता। देव-गुरु आत्मा है, देव, गुरुका शरीर और वाणी उनका आत्मा नहीं है, इसलिये जिसने देव, गुरुके आत्माको शरीर और वाणीसे भिन्न नहीं माना उसने देव, गुरु को ही यथार्थतया नहीं जाना। जो यह मानता है कि शरीरकी अवस्था को आत्मा करता है, वह प्रकारान्तरसे यह मानता है कि अनन्त रजकणों को मैं करता हूँ, और अनन्त रजकण मेरे हैं। न तो देव, गुरु किसी रजकणके कर्ता हैं और न अज्ञानी आत्मा ही—ऐसा देव, गुरु, शास्त्रोंका कथन है। जो इसे नहीं मानता वह देव, गुरु, शास्त्रको ही नहीं मानता। देव, गुरु, शास्त्रोंने बताया है कि शरीर और आत्माकी अवस्था अलग अलग है, यदि इसे माने तो देव, गुरु, शास्त्रको माना कहलायेगा।

जिसका अभिप्राय यह है कि संसार अवस्थामें जीवका वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, उसके मतमें संसार अवस्थाके समय वह जीव अवश्य रूपीपन को प्राप्त होता है, और रूपीपन तो किसी द्रव्यका, शेष द्रव्यों से असाधारण लक्षण है, इसलिये रूपीपन (लक्षण) से लक्षित जो भी हो सो जीव है। किन्तु रूपीपनसे लक्षित तो पुद्गल द्रव्य ही है। इसप्रकार पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा जीव नहीं है, यह सिद्ध हुआ। और ऐसा होनेसे यह कहलायेगा कि मोक्ष अवस्थामें भी पुद्गल द्रव्य

ही स्वयं जीव है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। इसलिये यह भाव सत्य नहीं है।

संसार अवस्थामें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श यदि जीवके हों तो जीव रूपी कहलायगा, क्योंकि वर्णादिक रूपी हैं, और रूपीपन पुद्गल द्रव्यका असाधारण लक्षण है, इसलिये जीव भी पुद्गल सिद्ध हुआ क्योंकि दोनोंका लक्षण एक ही है, और दोनोंका लक्षण एक होनेसे लक्ष्य भी एक ही सिद्ध होगा। इसप्रकार पुद्गल ही जीव सिद्ध हुआ इसलिये जीव पदार्थ ही नहीं रहा। और वर्णादि युक्त जीव ही मुक्त हुआ क्योंकि जीव और पुद्गल दोनोंमें लक्षणभेद न होनेसे पुद्गल ही मुक्तिको प्राप्त होता है यह सिद्ध हुआ। इसप्रकार पुद्गलके अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव पदार्थके अस्तित्वका अभाव सिद्ध होता है।

शरीर, मन, वाणी और आत्मा त्रिकालमें प्रतिक्षण भिन्न हैं। शरीर और आत्मामें मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है वह जानने योग्य है। गुरुदेव कहते हैं कि रूपित्व तो जड़का लक्षण है, इसलिये वह तेरे आत्माका लक्षण नहीं है। अजीवमें जीव और जीवमें अजीव नहीं है, यह नास्तिस्वभावकी अपेक्षासे कथन है, और अस्तिकी अपेक्षासे सबके स्वचतुष्टय सबमें हैं। परमाणु और आत्माके स्वचतुष्टय द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव सब सबके अपने अपने कारण से हैं, आत्माकी अवस्था जड़के आधीन नहीं है, और जड़की आत्माके आधीन नहीं है। यदि शरीर, वाणी और मन आत्माके रखे रहते हों तो जड़की अवस्था तेरे अधीन हुई कहलाई, तब फिर पृथक्त्वकी अवस्था कहाँसे होगी? और मुक्त दशा कहाँसे होगी। मुक्तका अर्थ आत्मासे अलग होना नहीं किन्तु परसे अलग होना है, विकारादिसे अलग होना है। पृथक्त्वकी श्रद्धा और ज्ञानके बिना मुक्तावस्था प्रगट नहीं होगी। जो यहाँ संसारमें जड़की अवस्थाको अपनी मानता है, उसके हिसाबसे तो मोक्षमें भी वह अवस्था साथ ही जायेगी, क्योंकि जो अपना होता है, वह त्रिकाल अपने साथ ही रहता है। इसलिये यदि यहाँ संसारमें भी शरीर, मन और वाणीकी अवस्थाको अपने कारणसे होना माने तो मोक्षमें भी पुद्गल द्रव्य स्वयं जीव सिद्ध होता है, किन्तु ऐसा नहीं है।

संसारमें हो या मोक्षमें, किन्तु मेरी अवस्था मेरे अधीन और जड़की अवस्था जड़के अधीन है,—ऐसा माने बिना मोक्ष दशाका सच्चा उपाय है ही नहीं।

यदि तुझमें और जड़में एकमेकता हो तो तू रूपी हुआ, और इस हिसाबसे मोक्षमें रहनेवाला जीव भी जड़ हुआ, क्योंकि सदा अपने स्वलक्षणसे लक्षित द्रव्य समस्त अवस्थाओंमें हानि अवस्था ह्रासको प्राप्त नहीं होता इसलिये अनादि अनंत है। ऐसा होनेसे उसके मतमें भी पुद्गलोंसे भिन्न कोई जीव द्रव्य न होनेसे जीवका अभाव अवश्यम्भावी है।

स्वलक्षणसे लक्षित द्रव्य सम्पूर्ण अवस्थाओंसे स्वयं अनादि-अनंत होता है। अवस्थामें भी हानि या ह्रासको न प्राप्त होता हुआ पर्यायोंसे भी अखंड है, इसप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने स्पष्ट बात लिखी है। इसप्रकार द्रव्य, समस्त अवस्थाओंमें अनादि अनंत-अखंड होनेसे अज्ञानीके मतमें पुद्गल द्रव्य ही जीव सिद्ध होता है।

जो वस्तु तुझसे भिन्न हो जाती है वह त्रिकालमें भी तेरे साथ एकमेक नहीं है। कोई यह कहता है कि कानोंसे सुनने और आँखोंसे देखनेसे भी तो ज्ञान होता है? यदि कान न हों तो कैसे सुनेंगे? यदि आँखें न हों तो भगवानके दर्शन कहाँसे होंगे, और शरीर अच्छा न हो तो तीर्थ यात्रा कैसे होगी? आचार्यदेव कहते हैं कि हे मूढ़मति! तेरा चैतन्य स्वरूप तेरे आधीन है, या जड़के? जब तेरी तैयारी होती है, तब कान, आँख और शरीर निमित्त कहलाता है। किन्तु तेरी तैयारी न होनेसे अनन्तबार सैनीपना मनुष्य भव प्राप्त करके और साक्षात् तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें जाकर भी चैतन्य की प्रतीतिके बिना कोई लाभ नहीं हुआ, इन शरीर, आँख, कान इत्यादिके साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु तूने मान रखा है कि यह मेरे हैं, इसलिये चौरासीके भवोंमें भ्रमण करना पड़ रहा है। शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पापसे भिन्न निर्विकल्प निर्विकार स्वरूप आत्मा भिन्न है। आत्माका किसी भी अवस्थाका कोई भाग आत्माके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी इत्यादिमें किसी भी प्रकार से प्रविष्ट नहीं होता और जड़की कोई भी अवस्था आत्मामें

प्रविष्ट नहीं होती। इसलिये जो आत्मामें प्रविष्ट नहीं होता वह आत्माको लाभ कैसे पहुँचा सकता है?

कोई कहता है कि मोक्षमें भले ही जड़ और आत्मा भिन्न हों, किन्तु यहाँ संसारमें तो दोनों एक ही दिखाई देते हैं! उससे आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! जो यहाँ एक है वह कभी भी अलग नहीं हो सकता। अजीव द्रव्य, उसके गुण और उसकी पर्याय तीनों आत्माके आधीन नहीं हैं, यदि वे आधीन हों तो कभी भी अलग नहीं हो सकते। मूर्तित्व तो जड़का लक्षण है, जड़का स्वरूप है, वह भगवान आत्माका स्वरूप नहीं है।

वर्णादिक २६ कथनोंमें जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी पर्याय है, वह आत्माके साथ वर्तमान पर्याय पर्यंत व्याप्त सम्बन्ध है, किन्तु उस पर्याय पर लक्ष देनेसे राग होता है, इसलिये इस अपेक्षासे वह पुद्गलका लक्षण है। आत्माका त्रिकाल शुद्ध लक्षण है, जो कि उस पर्याय जितना नहीं है। आत्मा त्रिकाल उसमें व्याप्त नहीं है, इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादि भाव जीव नहीं हैं। ६४।

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीयो णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहि कहं भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय, दोइंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त—यह सब नाम कर्मकी प्रकृतियाँ हैं। इन प्रकृतियोंसे जो कि पुद्गलमय प्रसिद्ध हैं—इनके द्वारा करणस्वरूप होकर रचित जीवस्थान, अर्थात् जीव समास, जीव कैसे कहे जा सकते हैं?

अब यहाँ यह कहते हैं कि शरीरमें जो एकेंद्रिय, दोइंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पंचेंद्रिय और पर्याप्त, अपर्याप्तकी जो रचना होती है, वह नाम कर्मकी प्रकृतिकी रचना है, आत्माकी नहीं। जो यह कहता है कि यह सब रचना मेरे द्वारा होती है, यह उसका अज्ञान है। अज्ञानी मानता है

कि इन्द्रियोंसे मुझे लाभ होता है, किन्तु भगवानने तो इन्द्रियोंको नाम कर्मकी प्रकृतियोंका फल कहा है, और वे पुद्गलमय हैं, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अनन्त रजकणोंका पिंड है, इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय पुद्गलमय है। पुद्गलसे त्रिकालमें भी आत्माको लाभ नहीं हो सकता। भीतर जो ज्ञाता आत्मा है, वह अपने ही द्वारा जानता है, किन्तु विकास कम होनेसे (अल्प क्षयोपशमके कारण) बीचमें इन्द्रियोंका निमित्त आ जाता है। वैसे शरीर और इन्द्रियाँ आत्माको अथवा आत्मा शरीर, इन्द्रियोंको कोई हानि-लाभ नहीं कर सकता एसा वस्तुका स्वभाव है, और वस्तु स्वभावानुसार श्रद्धा करना सत्प्रथमधर्म है।

यदि कोई कहे कि हम तो अभी मात्र सुनते ही जाते हैं, और फिर बादमें समझ लेंगे। तो उससे आचार्य कहते हैं कि भाई! सुननेका सुयोग पूर्वकृत पुण्यके कारण मिलता है, किन्तु श्रवण करते हुए वस्तुस्वभावका निर्णय करे तो उससे धर्म होता है। केवल सुनने मात्रसे धर्म नहीं होता, किन्तु उस ओर ध्यान रखनेसे संसारके अशुभ राग दूर हो जाते है और शुभ राग उत्पन्न होता है। इन्द्रियों और सुननेकी ओरके रागसे रहित निर्दोष, निराग स्वभाव ज्ञायकमूर्ति आत्मा हूँ, इसप्रकार स्वभावके सन्मुख लक्ष रखकर निर्णय करे तो धर्म हो। इसके अतिरिक्त जो यह मानता है कि कान मिले और श्रवण किया इसलिये धर्म हो गया तो वह मूढ़ है, अज्ञानी है, उसे स्वाश्रय तत्वकी खबर नहीं है तबतक धर्म नहीं होता।

निश्चयनयसे कर्म और करणकी अभिन्नता होनेसे, जो जिसके द्वारा किया जाता है, होता है, वह वही है। वास्तविक दृष्टिसे तो कारण और कार्य एकरूप ही होता है। कर्म अर्थात् कार्य, कार्य अर्थात् अवस्था और करण अर्थात् कारण, साधन या उपाय, जो कि एकरूप ही होता है, यह समझ कर (निश्चय करके) जैसे सोनेका पत्र सोनेसे ही बनता है, इसलिये वह सोना ही है, अन्य कुछ नहीं, इसी प्रकार जीवस्थान,—बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रियादिक पर्याप्त और अपर्याप्त नामक पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा होनेसे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।

इन्द्रियोंके मिलनेका कारण जड़ है, इसलिये इन्द्रियाँ भी जड़ हैं।

नामकर्मके कारण इंद्रियाँ होती हैं, इसलिये कारणके जड़ होनेसे कार्य भी जड़ है। और वैसे भी इंद्रियाँ रजकणोंका पिंड हैं, इसलिये जड़ हैं, और वे जड़ ही दिखाई देती हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि आँखें फोड़ डाली जायें तो न रूप दिखाई दे और न तत्सम्बन्धी राग हो, तथा यदि कानोंमें सीसे ठोक दिये जायें तो न शब्द सुनाई दें और न तत्सम्बन्धी राग-द्वेष हो। किन्तु भाई! राग-द्वेष तो तेरे अपने विपरीत पुरुषार्थसे होता है, जड़के कारण नहीं, जड़ कोई हानि लाभ नहीं करता। जड़के फोड़नेसे क्या होने वाला है? वास्तवमें तो आन्तरिक चैतन्यकी पर्याय बदलनी चाहिये।

इंद्रियाँ कर्मके कारण बनी हैं, इसलिये जड़ हैं। नामकर्मकी प्रकृति का फल द्रव्येंद्रिय है, और ज्ञानका विकास सो भावेंद्रिय है। ज्ञानका विकास चैतन्यकी पर्याय है, किन्तु उसके अल्प विकासमें कर्मके ओरकी अपेक्षा होती है, इसलिये उन सबको जड़ कहा है। एक ओर जड़का भाग और दूसरी ओर चैतन्यका भाग करके दोनों भाग अलग कर दिये हैं।

देव और गुरु अतींद्रिय हैं। उनका जो स्वरूप है, उन्हें जो वैसा नहीं मानता, उसे धर्मकी खबर ही नहीं।

वस्तुका स्वरूप जैसा है, उसी प्रकार प्रतीति किये बिना देव गुरु धर्मकी श्रद्धा करना कैसे कहा जा सकता है? इसे समझनेका मार्ग ही न्यारा है। आत्मा क्या है, इसे जाने बिना धर्म नहीं होता।

जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है, इससे सिद्ध हुआ कि इंद्रियादिक जड़ हैं। और नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पौद्गलिकता तो आगमसिद्ध है, तथा अनुमानसे भी जाना जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले शरीरादिके आकार जो मूर्तिकभाव हैं वे कर्म प्रकृतियोंके कार्य हैं, इसलिये कर्म प्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इंद्रियाँ जड़ हैं, यह आगम, युक्ति और अनुमानसे सिद्ध किया गया है।

पर्याप्ति भी जड़ है। पर्याप्तिमें आहार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास इत्यादिका समावेश है। वे सब कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुई वस्तुएँ हैं।

कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न वस्तुओंसे तीनकाल और तीनलोकमें धर्म नहीं हो सकता। यदि शरीर और इन्द्रियाँ तेरी सहायता करें तो वे तुझरूप हो गईं, तुझसे अलग नहीं रहीं। सभीको धर्म करना है, किन्तु वह कैसे होता है इसकी खबर नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा शरीर और इन्द्रियवाला है, इस विपरीत मान्यताको बदलकर, मैं इन्द्रियरहित स्वतंत्र स्वभावी तत्व हूँ, ऐसी स्वाश्रयी-सीधी मान्यता कर तो धर्मलाभ होगा।

जैसे सोनेका पत्र सुवर्णमय ही है, इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, मन और वाणी, इत्यादि नामकर्मकी प्रकृतिका फल है इसलिये जड़ स्वरूप ही है। और नामकर्मकी प्रकृति जड़ है यह आगम सिद्ध है। अनुमानसे भी यह जाना जा सकता है, कि यह इन्द्रियाँ जड़ हैं, इसलिये जड़का कारण जड़ ही होता है। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ इत्यादि जड़ ही हैं, इसलिये मैं चैतन्य आत्मा जड़ इन्द्रियोंसे भिन्न हूँ, ऐसा मान और श्रद्धा कर।

कोई कहता है कि शास्त्रोंमें यह बात लिखी हुई है कि यदि प्रथम संहनन हो तो केवलज्ञान होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि शास्त्रोंमें यह नहीं कहा कि हड्डियोंकी क्रिया तेरे द्वारा होती है, अथवा हड्डियोंकी अवस्था तेरे द्वारा उत्पन्न की गई वस्तु है। हाँ जब केवलज्ञान होता है, तब प्रथम संहनन विद्यमान होता है, ऐसा सम्बन्ध है, किन्तु उन हड्डियोंके कारण केवल ज्ञान होता है, ऐसा कहीं-किसी शास्त्रमें नहीं कहा। केवलज्ञान आत्मासे उत्पन्न की गई अवस्था है, हड्डियोंकी सुदृढ़तासे नहीं। शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। भिन्न द्रव्योंकी भिन्न श्रद्धा करके स्वपदार्थमें स्थिर होनेसे धर्म होता है।

आत्मा ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका पिंड है, वह अजीवस्वरूप नहीं है। अजीव पुद्गलमें रंग, रस, गंध, स्पर्श होता है, संहनन शरीर, इन्द्रिय, इत्यादि जड़की अवस्था है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। पर वस्तु आत्मामें और आत्मा परवस्तुमें नहीं है, इसप्रकार अनादि-अनन्त दोनों वस्तुयें भिन्न हैं, निराली हैं।

शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, और शुभाशुभभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो

ज्ञानादिक अनन्तगुणों की मूर्ति हूँ। ऐसी अन्तरमुख-दृष्टि और अन्तर्मुख ज्ञान आत्माकी निर्मल पर्यायके विकास होनेका कारण है। शरीर इन्द्रियादि जो जड़ वस्तु हैं, उसपर दृष्टि रखनेसे वे विकासका कारण कैसे हो सकती हैं।

लाखों बार गुरुका उपदेश सुने किन्तु वह मात्र इन्द्रियोंसे सुने तथा अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा निर्णय न करे तो श्रवणसे जो धर्मलाभ होना चाहिये वह नहीं होता। समवशरणमें जाकर भी इन्द्रियोंसे उपदेश सुना किंतु अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वरूपका निर्णय नहीं किया इसलिये भवभ्रमण ज्यों का त्यों बना रहा। आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय आत्माका निर्णय अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा हो सकता है। इन्द्रियाँ कोई लाभ या हानि नहीं कर सकती, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं, आगम भी इन्द्रियोंको जड़ कहता है, अनुमानसे भी इन्द्रियाँ जड़ प्रतीत होती हैं। मैं न तो इन्द्रियरूप हूँ, और न इन्द्रियोंकी ओरका राग भी मैं हूँ, मैं तो अतीन्द्रिय-स्वरूप आत्मा हूँ। यह निर्णय मुक्तिका मार्ग है। देव गुरु शास्त्रके दर्शन तथा सत् श्रवणमें इन्द्रियाँ बीचमें होती हैं, किन्तु यदि अतीन्द्रिय स्वरूपका निर्णय करे तो उसे निमित्त कहते हैं।

इसीप्रकार वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंसे रचित हैं, इसलिये पुद्गलसे अभिन्न हैं। वे जड़के साथ एकमेक हैं, आत्माके साथ नहीं। यहाँ जीवस्थानके कहनेसे वर्णादिक सभी कथन ले लेना चाहिये।

यहाँ इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम्॥ ३८॥

अर्थ —जिस वस्तुसे जो भाव बने वह भाव वह वस्तु ही है, किसी भी प्रकारसे अन्य वस्तु नहीं है। जैसे लोग जगतमें सोनेसे बनी हुई म्यानको सोना ही देखते हैं, किसी प्रकारसे उसे तलवार नहीं देखते।

शरीर, संहनन इंद्रिय, आदि जड़से बने हैं, इसलिये जड़ ही हैं, वे किसी भी प्रकारसे आत्मा नहीं हो सकते। शरीर इंद्रिय इत्यादि म्यान हैं तलवार नहीं। भगवान आत्मा शरीर और इंद्रियादिसे रहित है, उसका इंद्रियादिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्नः—शरीर और इंद्रियादिक साधन तो हैं, न ?

उत्तरः—आत्माका साधन आत्मासे होता है,—शरीर इंद्रियादिसे तीन लोक और तीनकालमें भी नहीं हो सकता।

पीतलके घड़ेको पानीका घड़ा कहना, उपचारसे व्यवहारसे कथन है, उसमें पानी है इसलिये वह पानीका घड़ा कहलाता है, वैसे वास्तवमें तो वह पीतलका ही है पानीका ही नहीं। इसीप्रकार आत्माको शरीरवाला या इंद्रिय वाला कहना सो उपचारसे व्यवहारसे कथन है। शरीर और इंद्रियाँ, एक क्षेत्रावगाह रूपसे साथमें रहती हैं इसलिये आत्मा शरीरवाला और इंद्रियवाला कह दिया जाता है, वास्तवमें तो आत्मा इंद्रियादिसे रहित ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे युक्त है।

जिसने आत्माको शरीर और इंद्रियादि वाला ही देखा और जाना है, तथा जिसने अभी तक आत्माको शरीर इंद्रियादिसे रहित नहीं जान पाया उसे श्रीगुरु समझाते हैं कि यह जो शरीरादि दिखाई देता है सो आत्मा नहीं, किन्तु वह तो शरीरादिसे भिन्न ज्ञानादिगुण स्वरूप है। पुद्गल, पुद्गल स्वरूप से है, वह त्रिकालमें भी आत्मारूपसे नहीं हो सकता, तथा आत्मा, आत्मा स्वरूपसे है, वह कभी भी पुद्गल स्वरूप नहीं हो सकता। पुद्गलके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा स्वरूप और आत्माके पुद्गल स्वरूप नहीं हैं, किन्तु दोनों के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव अलग ही हैं।

जैसे लोग सोनेसे बनी म्यानको सोना ही देखते हैं, किसी भी प्रकारसे तलवार नहीं देखते, इसी प्रकार शरीर इंद्रियादिक पुद्गल-रचित हैं, इसलिये ज्ञानीजन उन्हें पुद्गलमय ही देखते हैं, किसी भी प्रकार उन्हें आत्मा नहीं देखते। मात्र शरीर और आत्मा एक क्षेत्रमें साथमें रहते हैं, यह व्यवहारसे कहा है। किन्तु अज्ञानी जीवोंने व्यवहारको ही परमार्थ मान लिया है।

यह शरीर इंद्रियादिकी रचना जड़की है, आत्माकी नहीं, यह आत्मा की जातिकी नहीं है, जो आत्माकी जातिकी नहीं है, वह त्रिकालमें भी आत्मा की सहायता नहीं कर सकती। कभी भी जड़ चेतन, और चेतन जड़ नहीं हो सकता। स्वयं निजरूप है, वह पररूप त्रिकालमें भी नहीं है। और पर, पररूप है, वह अपने रूप त्रिकालमें भी नहीं है। जो जड़से बना है वह जड़ ही है, वह त्रिकालमें भी आत्मा रूप नहीं हो सकता। जो जीव स्वरूप है, वह जीव स्वरूपसे ही है, और जो जीव स्वरूप नहीं है, वह त्रिकालमें भी जीवस्वरूप नहीं हो सकता। जैसे म्यान और तलवार अलग-अलग हैं इसी-प्रकार म्यानरूपी शरीर और तलवाररूपी आत्मा दोनों ही भिन्न हैं। शरीरकी प्रवृत्ति त्रिकालमें भी तेरे हाथमें नहीं है, इसलिये तू अन्तर्मुख होकर देख।

अब यहाँ दूसरा कलश कहते हैं —

(उपजाति)

वर्णादि सामग्र्यमिदं विदंतु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्य ॥ ३९ ॥

अर्थ.—हे ज्ञानीजनों! यह जो वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव हैं उन सबको एक पुद्गलकी रचना जानो। इसलिये यह भाव पुद्गल ही हैं, आत्मा नहीं, क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानका पुंज है, इसलिये वह वर्णादिक भावोंसे अन्य ही है।

हे ज्ञानीजनों! यह शरीरके वर्णादि भावोंका तथा गुणस्थानादि भावोंको पुद्गल की रचना जानो। चिदानन्द भगवान आत्मा त्रिकालमें भी नहीं हैं। यह सब भाव पुद्गल ही हैं, आत्मा नहीं, आत्मा तो विज्ञानघन—निविड़ पिंड है। विज्ञानघन आत्मामें राग द्वेष, पुण्य पाप आदि त्रिकालमें भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। क्या आत्मामें जड़का गुण या जड़की पर्याय प्रवेश पा सकती है? क्या घन वस्तुमें कील घुस सकती है? नहीं कदापि नहीं।

यहाँ सभी २९ प्रकार ले लिये गये हैं। मैं क्षायिक सम्यक्त्वी हूँ

या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी हूँ, एसे विचार तथा पाँचों ज्ञानकी पर्यायके भेदके विचार सब रागमिश्रित विचार हैं, वह राग जड़कर्मके निमित्तसे होनेवाला विकार है, आत्मा उससे भिन्न है। जड़ वस्तु या उसके निमित्तसे होनेवाला विकार अथवा जड़का संयोग इत्यादि सब जड़ है। यह सबसे पहली इकाइ है। आत्मा परसे भिन्न है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान कर, और उसमें स्थिर हो, तथा अन्तर्मुख होकर बहिर्मुखताको छोड़! अन्तर्मुखकी प्रतीति कर!

संयोगीका अवलम्बन लूँ तो गुण प्रगट हो, या शरीर, वाणी, मन इत्यादिका अवलम्बन लूँ तो गुण प्रगट हो, ऐसी मान्यता सर्वथा अज्ञान है। क्या आत्मा ऐसी निर्माल्य वस्तु है, कि उसमें दूसरेसे गुण आते हैं? आत्मामें अनन्तगुण भरे हुए हैं, यह प्रतीति कर। जब कि आत्मामें अनन्तगुण हैं, तभी तो उसमेंसे प्रगट होंगे। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु पर्याय प्रगट होती है। मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों गुणकी पर्याय है संसार भी पर्याय है गुण नहीं। आत्माकी विकारी अवस्था संसार है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक नहीं। राग-द्वेष और परवस्तु मेरी है, इसप्रकार विपरीत मान्यतारूप संसार आत्माकी अवस्थामें होता है। संसार चौदहवें गुणस्थान तक होता है। पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्व भावका, चौथेसे दसवें तक कषाय भावका और ग्यारहवें से तेरहवें तक योगके कम्पनका संसार है, तथा चौदहवें गुणस्थानमें जो रहते हैं वह संसार है। इसप्रकार चौदहवें गुणस्थान तक आत्मा चार प्रतिजीवी गुणोंकी और उर्ध्वगमनादि स्वभावोंकी अशुद्ध अवस्था होनेके कारण संसार है।

द्रव्य और गुण अनादि-अनन्त हैं। पर्यायके दो पहलू होते हैं, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, संसार और मोक्ष इत्यादि। आत्माकी निर्मल पर्याय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र आत्माके गुणोंमें से प्रगट होते हैं, वे हाथ, कान, मन या विकार से प्रगट नहीं होते, जब तक एसी स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती तबतक सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्र नहीं होता। स्वरूपकी प्रतीतिके बिना मोक्ष प्रगट नहीं हो सकता। एक समयमें अनन्तगुणोंके रस कन्द अभेद आत्मामें भंग भेद नहीं होते, एसे अखण्ड द्रव्यकी यथार्थ प्रतीति वह अनन्तकालमें कभी भी प्रगट न हुआ-ऐसा कल्याणका अपूर्व मार्ग है।

जैसे म्यान और तलवार दोनों भिन्न हैं, इसी प्रकार आत्मा और शुभाशुभ विकार दोनों भिन्न हैं। आत्माका धर्म आत्मासे प्रगट होता है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। धर्म कहीं बाहरसे नहीं आता। जो जिसमें नहीं है, वह हो नहीं सकता, और जो है वह जा नहीं सकता, इसलिये आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिंड है, उसीमें से उसकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है, परमें से नहीं।

कोई कहता है कि ऐसे वस्तु स्वभावकी खबर न हो, किन्तु भगवानका स्मरण किया करें या णमो अरिहंताणं की जाप जपा करे तो लाभ होगा या नहीं ?

उत्तर —विभावपर्याय क्या है, और उसका नाश किस स्वभावसे होता है, यह जाने बिना अरिहंतको नमस्कार करता है या नहीं ? यह समझ लेना चाहिये। जहाँसे गुणोंका विकास करना है, वे गुण कैसे हैं और कहाँ हैं ? यह खबर नहीं है, उसके आश्रयकी खबर नहीं है, और कहता है कि हम भगवानका स्मरण करें तो लाभ होगा ? किन्तु णमो अरिहंताणं में किसको कौन हननेवाला है ? वह स्वयं हननेवाला किस स्वभावका है ? इत्यादिको जाने बिना किसे नमस्कार करेगा ? और किसका स्मरण करेगा ? राग द्वेष पर्यायमें होता है, स्वभावमें राग-द्वेषकी नास्ति है, और अपना स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन और चारित्र है, उसकी अपनेमें अस्ति है। वह अस्ति-नास्ति भाव अरिहंत भगवानके आत्मामें है, और तुझमें भी है। अरिहंत भगवानने राग-द्वेषका नाश किया है, और अपनेमें जो ज्ञानादि गुण थे उन्हें प्रगट किया है। तुझमें भी वैसा स्वभाव विद्यमान है। ऐसे अस्ति नास्ति स्वभावकी तुझे खबर नहीं है, इसलिये यथार्थतया भगवानका स्मरण नहीं हो सकता। अशुभ परिणामको दूर करनेके लिये शुभ परिणामसे भगवानकी स्तुति भले हो किंतु यथार्थ स्वरूपकी प्रतीतिके बिना भवका अभाव नहीं होता। स्वभावकी प्रतीति होने पर राग द्वेषका अभाव सहज ही हो जाता है।

शरीर या विकारभाव तेरी वस्तु नहीं है, इसलिये अब अपने चैतन्यके आँगनमें आ खड़ा हो। यह शरीरादिक जो निकट हैं, वे तुझे हानि लाभ

नहीं कर सकते तो फिर जो दूर हैं, वे कैसे पार सकते हैं ? जो तुझमें नहीं है, वह तुझे हानि लाभ कैसे कर सकता है ? जो हानि या लाभ होता है, वह तुझसे ही होता है। इसलिये अब तुझे अपने ही आँगनमें खड़े रहकर जो जैसा अच्छा या बुरा करना हो वह सब तेरे ही हाथकी बात है।

अब यहाँ यह कहते हैं कि—इस ज्ञानघन आत्माके अतिरिक्त जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन इत्यादि हैं, उन्हें जीव कहना सो सब व्यवहार मात्र है ॥ ६६ ॥

पज्जत्तपज्जत्त जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥

अर्थ—पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर आदि जितनी देहको जीव संज्ञा कही है, वह सब सूत्रमें व्यवहारसे कही है।

जीव पर्याप्तिवाला है, अपर्याप्तिवाला है, सूक्ष्म है, बादर है, मनवाला है शरीरवाला है, इत्यादि कहना सो व्यवहार है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानीने कभी मन, वाणी और इन्द्रियादि से रहित आत्माको नहीं जाना इसलिये ऐसा कहा जाता है, कि जो इन्द्रियवान है सो तू है, जो पर्याप्तिवान है सो तू है, इत्यादि। क्योंकि निमित्त साथमें है, इसलिये निमित्तसे समझाते हैं, कि वह इन्द्रियाँ और पर्याप्ति तू नहीं है, और यह कहकर यथार्थ स्वरूपका ग्रहण कराते हैं, सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय इत्यादि शरीरकी संज्ञाको जीवकी संज्ञाका नाम दिया गया है, वह परकी प्रसिद्धिके लिये घीके घड़ेकी भाँति व्यवहार है, जो कि अप्रयोजनभूत है, क्योंकि निमित्तके निकटसे कहते हैं कि—तू शरीरवाला है, तू इन्द्रियवाला है, इत्यादि, और ऐसा कहकर कहीं शरीरवाला नहीं समझाना है, इसलिये व्यवहार अप्रयोजनभूत है। शरीर है, इतना बताने मात्रके लिये व्यवहारका प्रयोजन है, किन्तु शरीर है यह कहकर आत्माको शरीरवाला नहीं बतलाना है, इसलिये व्यवहार अप्रयोजनभूत है।

जैसे किसी पुरुषने जन्मसे लेकर मात्र 'घीका घड़ा' ही देखा हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़ेको न जानता हो, उसे समझानेके लिये 'जो

यह घीका घड़ा है सो मिट्टीमय है, घी मय नहीं' इस प्रकार समझाने वालके द्वारा घड़ेमें घीका घड़ेका व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुषको घी का घड़ा ही ज्ञात है।

घीका घड़ा ही ज्ञात है, यह कहकर आचार्यदेवने यह बताया है कि—इसकी दृष्टि घीके घड़े पर ही है, इसी प्रकार अनादि संसारसे लेकर अज्ञानी अशुद्ध जीवको ही जानता है। तात्पर्य यह है, कि उसकी दृष्टि अशुद्धता पर ही है, उसका लक्ष बाह्य पर ही है, इसलिये अनादिकालसे अज्ञानी अशुद्ध जीवको ही जानता है।

जो घीसे खाली मात्र घड़ेको नहीं जानता उसे समझानेके लिये यह घीका घड़ा है, सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं, ऐसा कहा जाता है। मात्र व्यवहारका इतना प्रयोजन है। समझानेवाला घीका घड़ेका आरोप करके, घीका कहता है, क्योंकि अज्ञानीको तो घीका घड़ा ही ज्ञात है, इसी प्रकार अज्ञानी जनको अनादिसंसारसे लेकर अशुद्ध जीव ही ज्ञात है, वह शुद्ध जीवको नहीं जानता। उसे समझानेके लिये (शुद्ध जीवका ज्ञान करानेके लिये) कि जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं, इसप्रकार (सूत्रमें) जीवमें वर्णादिमानपनेका व्यवहार किया गया है, क्योंकि अज्ञानीजन वर्णादिमान जीवको ही जानते हैं।

यह व्यवहार अनादिकालीन अज्ञानी लोगोंको समझानेके लिये कहा गया है। जिसने यह नहीं जाना कि स्वतन्त्र वस्तु क्या है उसे निमित्तसे समझाते हैं।

अनादिकालसे लेकर अभी तक पर पदार्थ पर ही दृष्टि रही है, इसलिये तुझे यह कहकर समझाते हैं कि तू देव है, तू मनुष्य है इत्यादि, तब वही जैसे तैसे समझ पाता है, किन्तु वास्तवमें भीतर जागृत चैतन्य विद्यमान है, जो कि परसे भिन्न है, शरीर और इन्द्रियादिसे पर है। उसे शरीर इन्द्रियादिसे पहिचानना सो व्यवहार है।

अज्ञानीको परसे पृथक्‌ताकी प्रतीति नहीं है, इसलिये वह यही मान रहा है कि जो रागद्वेष है सो वही मैं हूँ, या अवस्था जितना ही मैं हूँ, उससे

ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा अखण्ड शुद्ध स्वभावसे परिपूर्ण है। मुझे रागद्वेषका त्याग करना है ऐसा जो भाव तेरे भीतरसे उत्पन्न होता है, उससे सिद्ध है कि भीतर अनन्त गुणोंका पिण्ड अखण्ड नित्य आत्मा विद्यमान है, जिसके बलसे यह विचार होता है कि अब रागद्वेष मुझे नहीं चाहिये, किन्तु तुझे खबर नहीं है, इसलिये तू अशुद्ध पर्यायको ही जीव मान रहा है। इसप्रकार अज्ञानीको खबर नहीं है, इसलिये उसे व्यवहारसे समझाते हैं।

आत्मामें जो अवगुण होते हैं वे एक समयमात्रके होते हैं। और वे आत्माकी पर्यायमें होते हैं। आत्मा कहीं अलग रह जाता हो और पर्याय कहीं अलग रह जाती हो सो बात नहीं है। अशुद्ध पर्याय आत्मासे अभिन्न है, परन्तु शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे देखा जाये तो वह भिन्न है। जो वस्तुस्वभावको नहीं समझता उससे कहते हैं कि आत्मा राग - द्वेषवाला है शरीर, रूप, रंग, संस्थान वाला है, इसप्रकार तू मान रहा है, किन्तु ऐसा नहीं है, वह तो ज्ञानमय है, इसप्रकार उसमें अस्ति–नास्ति दोनों स्वरूप आ जाते हैं। आत्मा ज्ञानमय है, ऐसा कहनेमें अभेददृष्टिसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों एक साथ आ जाते हैं।

वास्तविक दृष्टिसे जीवमें अज्ञान और रागद्वेष है ही नहीं। अनन्त-गुणोंका पिंड अखंड आत्मा परसे भिन्न है, ऐसी प्रतीति मोक्षका सर्व प्रथम उपाय है। जब ऐसी प्रतीति होती है, तब जीव अनादि कालीन अगृहीत मिथ्यात्वसे छूट जाता है। और जहाँ अगृहीत मिथ्यात्व छूटा कि वहाँ गृहीत मिथ्यात्व तो छूट ही जाता है। मिथ्या देव, गुरु, शास्त्रकी प्रतीति छूट जाने पर वहीं यथार्थ सम्यक्‌दर्शन गृहीत मिथ्यात्व छूट जाता है। जहाँ सच्चे देव–गुरु–शास्त्रकी प्रतीति होती है, होना है। सच्चे देव,गुरु, शास्त्रकी प्रतीति हो किन्तु यदि स्वय यथार्थ निर्णय न करे तो आत्माकी पहिचान नहीं होती, परन्तु जिसे सम्यक्‌दर्शन हो जाता है, उसे सच्चे देव, गुरु, शास्त्रकी प्रतीति होती ही है।

अज्ञानीको ऐसा लगता है कि शरीर और इन्द्रियादिकी सहायताके बिना मैं टिक नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं परके आधार बिना नहीं रह सकता। ऐसी मान्यता ही संसार है। आत्मा तो परसे निराला ज्ञान

मय है, अज्ञानीको इसकी खबर नहीं है। यह विपरीत मान्यतामें लगा हुआ है उसीमें विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण भी समाविष्ट है, और यथार्थ मान्यताके होने पर उसीमें सच्चा ज्ञान और सच्ची स्वरूपस्थिरता भी आ जाती है।

आत्मा रागवाला, शरीरवाला है, इत्यादि व्यवहार कथन है, और आत्मा रागरूप तथा शरीररूप नहीं है, किंतु ज्ञानरूप है, यह निश्चय कथन है। यदि ऐसे निश्चय कथनको समझ ले तो व्यवहार, व्यवहाररूपसे सच है, और यदि निश्चयके कथनको न समझे तो व्यवहार स्वयं ही निश्चयरूप हो गया। क्योंकि उसने व्यवहारसे भिन्न निश्चयके स्वरूपको नहीं जाना। व्यवहारका कथन निमित्तमात्र है, क्योंकि वस्तुस्वरूप व्यवहारमय नहीं है, इतना समझ ले तो निमित्त कथन भी यथार्थ है, अर्थात् व्यवहार, व्यवहारसे सच है, और यदि यह न समझे तो निश्चय तथा व्यवहार दोनों मिथ्या हैं।

यहाँ इस गाथामें व्यवहारको अप्रयोजनभूत कहा है, और बारहवीं गाथामें यह कहा था कि व्यवहारनयको जानना प्रयोजनवान है। इन दोनोंकी अपेक्षायें भिन्न भिन्न हैं। व्यवहारसे मुझे लाभ नहीं है, इसलिये वह अप्रयोजनार्थ है और बारहवीं गाथाके अनुसार उस व्यवहारकी अपेक्षा यों है कि व्यवहारको जानना प्रयोजनवान है, क्योंकि जो होता है उसे न जाने तो ज्ञान मिथ्या कहलायेगा। इसलिये व्यवहारनयको जानना प्रयोजनवान है। इसप्रकार दोनों अपेक्षाएँ भिन्न हैं।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं।

घृतकुंभाभिधानेऽपि कुंभो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ४० ॥

अर्थः—'घी का घड़ा' कहने पर भी जो घड़ा है वह घीमय नहीं है (मिट्टीमय ही है) इसी प्रकार 'वर्णादि वाला जीव' कहने पर भी जो जीव है वह वर्णादिमय नहीं है, (ज्ञानमय ही है)

जैसे घड़ा घीमय नहीं, किंतु मिट्टीमय ही है इसी प्रकार आत्मा वर्णादिमय नहीं किंतु ज्ञानमय है। जितना व्यवहारका कथन है वह निश्चय स्वरूप

नहीं किन्तु निमित्त मात्रके सम्बन्ध जितना है, जो इतना जानता है, उसने व्यवहारको जान लिया। व्यवहार निश्चयको लाभ करता है, ऐसा माननेसे व्यवहारही निश्चय हो गया, अर्थात् दोनों एक ही हो गये, इसलिये ऐसा मानना मिथ्या है। घीका घड़ा घीमय नहीं किन्तु माटीमय है, जैसे यह निश्चित हुआ उसी प्रकार यह भी निश्चय हो गया कि शरीरवान आत्मा शरीरमय नहीं किन्तु ज्ञानमय है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ निमित्तका कथन आये वहाँ यह समझना चाहिये कि उसमय नहीं है। इस प्रकार उसका अर्थ सच्चा है, और ऐसा न समझकर यदि वस्तुको निमित्तमयही माने तो उसका अर्थ सच्चा नहीं है।

व्यवहारसे जितनी बात कही है वह व्यवहार आत्माके अखण्डस्वरूप में नहीं है। निमित्तसे समझाया जाता है किन्तु आत्मा निमित्तमय नहीं है। इस प्रकार समझने वाला जीव यथार्थ समझ जाये तो वह निमित्त, निमित्तरूपसे कहलाता है। जहाँ ऐसा कथन है कि—पुस्तकसे आत्माको लाभ होता है, वहाँ यह समझना चाहिये कि वास्तवमें पुस्तक से लाभ नहीं होता, किन्तु जब स्वयं यथार्थ स्वरूपको समझता है तब पुस्तकको निमित्तका आरोप होता है। यदि समझे बिना मात्र व्यवहारको पकड़ेगा तो लाभ नहीं होगा। जीवोंकी बहिर्मुख दृष्टि होगई है, उनकी अन्तर्मुख दृष्टि करनेका यही उपाय है।

इस जगतमें जीव द्रव्य अनन्त हैं, और प्रत्येक आत्मा अनन्तगुणोंका पिंड ईश्वर है। प्रत्येक आत्मा स्वभावसे परिपूर्ण है। यह आत्मा किसीकी प्रार्थना से प्रगट नहीं होता किन्तु स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने स्वरूपकी पहिचान करके प्रतीति करे तो प्रगट होता है। कोई आत्मा किसी परपदार्थसे परतन्त्र नहीं है, किन्तु स्वयं अपने गुण पर्यायसे स्वतन्त्र है।

घीका घड़ा, आटेका घड़ा, पानीका घड़ा, और दवाकी शीशी इत्यादि बोलनेकी व्यवहारिक रीति है, वास्तवमें घीका घड़ा इत्यादि नहीं होता, इसी प्रकार आत्माको मनवाला, श्वासोच्छ्वासवाला, पर्याप्तिवाला, शरीरवाला, कहना सो मात्र एक क्षेत्रमें इकट्ठे रहनेके कारण उस प्रकारसे व्यवहारका कथन है, किन्तु वास्तवमें वह आत्माका स्वरूप नहीं है, क्योंकि उन सबसे आत्माका स्वरूप भिन्न है। जो भिन्न है वह त्रिकालमें भिन्न ही रहता है, कभी एक नहीं होता।

मात्र एकही क्षेत्रमें एकत्रित रहनेके संबंधसे आत्मा शरीरादि वाला कहलाता है, वैसे शरीरादि पुद्गलमय और आत्मा ज्ञानमय ही है।

प्रश्न —मतिज्ञान शुद्धताका अंश है किन्तु जब शुद्धताका अंश रूप मतिज्ञान प्रगट होता है तो उसमें मनका निमित्त है या नहीं?

उत्तर —यह सच है कि मतिज्ञान शुद्धताका अंश है, किन्तु वह शुद्ध अंश मन रहित प्रगट होता है। जब मतिज्ञान प्रगट होता है, तब मन विद्यमान होता है किन्तु मनसे मतिज्ञान प्रगट नहीं होता। पाँच इन्द्रियों और मनसे मतिज्ञान होता है, ऐसा कहना मात्र निमित्तम बोलनेकी रीति है। शास्त्रों में व्यवहार से जो स्वरूप कहा है, वहाँ यह समझना चाहिये कि स्वभावमें वैसा नहीं है। इस प्रकार यथार्थ वस्तुस्वभाव जैसा हो, वैसा ही समझना चाहिये, व्यवहारको निश्चय मानकर मिथ्या मान्यता नहीं करनी चाहिये। जहाँ व्यवहार की अपेक्षासे कथन होता है वहां यह कहा जाता है, कि मतिज्ञान मन और इन्द्रियोंसे प्रगट होता है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। मतिज्ञान ज्ञानसे ही प्रगट होता है ऐसा जानना सो उसका वास्तविक अर्थ है, क्योंकि मन और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, परवस्तु हैं, तब क्या जड़ और परवस्तुसे अपनी ज्ञान पर्याय प्रगट हो सकती है? कदापि नहीं। अपनी पर्याय अपनेसे ही प्रगट होती है।

प्रश्न —यदि ज्ञानसे ही ज्ञान होता हो, तो जब आँख फूट जाती है तब स्वयं क्यों नहीं देख सकता?

उत्तर —जब भीतर क्षयोपशमका विकास कम होता है तब बाहर उतने निमित्तभी कम होते हैं। जितना विकासका भाव स्वतः तैयार होता है। उतना निमित्तका भी बाहर तैयार होता है। निमित्त निमित्तके कारणसे और विकास अपने कारणसे होता है। निमित्त विकासको नहीं रोकता और विकास निमित्त को नहीं लाता, किन्तु जितना क्षयोपशम प्रगट होता है, उतना बाह्य में निमित्तका योग अपने अपने कारण से तैयार होता है। इस प्रकार एक दूसरेका निमित्त नैमित्तिक स्वतंत्र संबंध है। क्षयोपशमका विकास कम होनेसे आँख फूटनेका निमित्त आता है।

प्रश्नः—अपनी शक्ति कैसे कम हो गई ? और विकार कैसे हुआ ?

उत्तरः—अपनी शक्ति अपने विपरीत पुरुषार्थसे कम हुई है, कर्म तो मात्र उसमें निमित्त हैं। कर्म आत्माकी शक्तिको कम नहीं कर देते, क्योंकि वे तो जड़–पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल और आत्माके द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव, अपने अपनेमें अलग अलग हैं।

विकार होने की योग्यता आत्मामें निजमें है। विकारके होनेमें उपादान कारण स्वय है, और निमित्त कारण पर वस्तु है। जब स्वय उल्टा चलता है, तब परको निमित्त कहा जाता है। अपनी ज्ञान दर्शनादि अनन्त शक्तिको स्वय भूल गया इसलिये अपनी शक्तिको स्वय हीन कर लिया तब परको निमित्त कहा जाता है। आत्माके गुणोंको कर्मोंने आवृत्त कर रखा है, यह निमित्त कथन है, वास्तवमें कर्मोंने गुणोंको आच्छन्न नहीं किया है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यको नहीं रोक सकता। शास्त्रोंके पृष्ठके पृष्ठ भरे हुए हैं कि ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानगुणको रोक रखा है, किन्तु यह सब निमित्तसे कथन है ऐसा समझना चाहिए। केवलज्ञानके तेरहवें गुणस्थानमें योगका विकार है, सो क्या वह कर्मके कारण है ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। किन्तु अपना परिणामिकभाव अपूर्ण है, इसलिये योगका विकार है, वह निमित्तसे नहीं है, इसप्रकार यथार्थ निश्चय करना चाहिए। जड़, मिट्टी, अजीव परमाणु हैं, उन्हें यह खबर नहीं है कि हम क्या हैं ? कहाँ पड़े हुए हैं ? हम जगतके तत्व हैं या नहीं ? और हम कैसे परिणमित होते हैं ? इत्यादि। एक एक परमाणुमें अस्तित्व नास्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं, तथापि उन्हें उन गुणों की कोई खबर नहीं है। मुझमें इतने गुण भरे हैं, यह जाननेवाला तो चैतन्य का ज्ञान है। तब फिर यह मानना सर्वथा भ्रान्ति है कि ऐसे अजान जड़ द्रव्य आत्माके गुणोंको रोकते हैं। कोई भी परजीव अजीव द्रव्य आत्मामें या आत्मा परमें त्रिकालमें भी नहीं है। इसमें सब सिद्धान्त आ जाते हैं, कि जो उसमें नहीं है वह उसे हानि या लाभ नहीं कर सकता। आत्मा, आत्मारूपसे है और पर रूपसे नहीं है। बस, यही एक मात्र कुंजी समस्त तालोंको खोल देगी।

निश्चय अर्थात् वस्तुका स्वभाव जैसा है, वैसा जानना। और व्यवहार अर्थात् परमें परका आरोप करना। इसमें से निश्चय स्वाश्रित है, और व्यवहार पराश्रित है। आत्मा परिपूर्ण अखण्ड वस्तु है, वह परअपसे प्रगट होती है, यह कहना आमाकी हत्या करनेके समान है। निश्चय आत्माका स्वभाव है, उसपर आरूढ़ होना ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार कहो या पर कहो, निश्चय कहो या स्व कहो। परभावसे स्वभाव प्रगट नहीं होता। जितना पराश्रय भाव है, उसका फल संसार है, बन्धन है, और जितना स्वाश्रय भाव है, उसका फल मुक्ति है अबन्धन है। आत्माका स्वभाव पुण्य पापके विकल्पसे रहित है, ऐसे स्वभावमें आरूढ़ होना चाहिये। उसी मार्गसे सुख मिलता है, अन्य किसी मार्गसे सुख प्राप्त नहीं होता। ऐसी श्रद्धा करनेसे पुण्य पापके भाव उसी क्षण दूर नहीं हो जाते, किन्तु पुण्य-पापके परिणाम उच्च भूमिकामें दूर होते हैं। किन्तु मात्र चैतन्य भाव ही श्रद्धामें रखना चाहिये और पुण्य-पापके भावका आश्रय श्रद्धा में से दूर कर देना चाहिये। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद बीचमें देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति, पूजा, प्रभावना इत्यादि शुभभाव होते हैं। छट्ठ गुणस्थानमें मुख्य तथा आत्मरमणतामें प्रवर्तमान मुनिके भी जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती तबतक पचमहाव्रत आदिके शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे उन शुभपरिणामों से स्वयं लाभ नहीं मानते, इसलिये पुण्यके परिणाम का आश्रय छोड़ देना चाहिये। क्योंकि परसे पर मिलता है और स्व से स्व मिलता है, यह महान सूत्र है।

जीव बाह्य क्रियाओंके पीछे पड़े हुए हैं और कहते हैं कि धर्म करो, धर्म करो? किन्तु समझे बिना वे क्या धर्म करेंगे? आत्मा जब विपरीत चलता है तब राग द्वेष और अभिमान करता है, तथा जब सीधा होता है, तब विपरीत भावको दूर करके स्वाश्रय धर्म करता है, इसके अतिरिक्त वह परका कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्रसे तो आत्मा समझा जाता है?

उत्तरः—आत्मा अपने को अपने से ही समझमें आता है। यदि देव-गुरु समझा सकते हों तो सबको एक समान ही समझमें आना चाहिये

प्रश्नः—अपनी शक्ति कैसे कम हो गई ? और विकार कैसे हुआ ?

उत्तरः—अपनी शक्ति अपने विपरीत पुरुषार्थसे कम हुई है, कर्म तो मात्र उसमें निमित्त हैं। कर्म आत्माकी शक्तिको कम नहीं कर देते, क्योंकि वे तो जड़–पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल और आत्माके द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव, अपने अपनेमें अलग अलग हैं।

विकार होने की योग्यता आत्मामें निजमें है। विकारके होनेमें उपादान कारण स्वय है, और निमित्त कारण पर-कम है। जब स्वय उल्टा चलता है, तब परको निमित्त कहा जाता है। अपनी ज्ञान दर्शनादि अनन्त शक्तिको स्वय भूल गया इसलिये अपनी शक्तिको स्वय हीन कर लिया तब परको निमित्त कहा जाता है। आत्माके गुणोंको कर्मोंने आवृत कर रखा है, यह निमित्त कथन है, वास्तवमें कर्मोंने गुणोंको आच्छन्न नहीं किया है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यको नहीं रोक सकता। शास्त्रोंके पृष्ठके पृष्ठ भरे हुए हैं कि ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानगुणको रोक रखा है, किन्तु यह सब निमित्तसे कथन है ऐसा समझना चाहिए। केवलज्ञानीके तेरहवें गुणस्थानमें योगका विकार है, सो क्या वह कर्मके कारण है ? नहीं, नहीं, एसा नहीं है। किन्तु अपना परिणामिकभाव अपूर्ण है, इसलिये योगका विकार है, वह निमित्तसे नहीं है, इसप्रकार यथार्थ निश्चय करना चाहिए। जड़, मिट्टी, अजीव परमाणु हैं, उन्हें यह खबर नहीं है कि हम क्या हैं ? कहाँ पड़े हुए हैं ? हम जगतके तत्व हैं या नहीं ? और हम कैसे परिणमित होते हैं ? इत्यादि। एक एक परमाणुमें अस्तित्व नास्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं, तथापि उन्हें उन गुणों की कोई खबर नहीं है। मुझमें इतने गुण भरे हैं, यह जाननेवाला तो चैतन्य का ज्ञान है। तब फिर यह मानना सर्वथा भ्रान्ति है कि ऐसे अजान जड़ द्रव्य आत्माके गुणोंको रोकते हैं। कोई भी परजीव अजीव द्रव्य आत्मामें या आत्मा परमें त्रिकालमें भी नहीं है। इसमें सब सिद्धान्त आ जाते हैं, कि जो उसमें नहीं है वह उसे हानि या लाभ नहीं कर सकता। आत्मा, आत्मारूपसे है और पर रूपसे नहीं है। बस, यही एक मात्र कुंजी समस्त तालोंको खोल देगी।

निश्चय अर्थात् वस्तुका स्वभाव जैसा है, वैसा जानना। और व्यवहार अर्थात् परमें परका आरोप करना। इसमें से निश्चय स्वाश्रित है, और व्यवहार पराश्रित है। आत्मा परिपूर्ण अखंड वस्तु है, वह पर आश्रयसे प्रगट होती है, यह कहना आत्माकी हत्या करनेके समान है। निश्चय आत्माका स्वभाव है, उसपर आरूढ़ होना ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार कहो या पर कहो, निश्चय कहो या स्व कहो। परभावसे स्वभाव प्रगट नहीं होता। जितना पराश्रय भाव है, उसका फल संसार है, बन्धन है, और जितना स्वाश्रय भाव है, उसका फल मुक्ति है अबंधन है। आत्माका स्वभाव पुण्य पापके विकल्पसे रहित है, ऐसे स्वभावमें आरूढ़ होना चाहिये। उसी मार्गसे सुख मिलता है, अन्य किसी मार्गसे सुख प्राप्त नहीं होता। ऐसी श्रद्धा करनेसे पुण्य पापके भाव उसी क्षण दूर नहीं हो जाते, किन्तु पुण्य–पापके परिणाम उच्च भूमिकामें दूर होते हैं। किन्तु मात्र चैतन्य भाव ही श्रद्धामें रखना चाहिये और पुण्य–पापके भावका आश्रय श्रद्धा में से दूर कर देना चाहिये। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद बीचमें देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति, पूजा, प्रभावना इत्यादि शुभभाव होते हैं। छट्ठे गुणस्थानमें मुख्य तथा आत्मरमणतामें प्रवर्तमान मुनिके भी जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती तबतक पंचमहाव्रत आदिके शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु वे उन शुभपरिणामों से स्वयं लाभ नहीं मानते, इसलिये पुण्यके परिणाम का आश्रय छोड़ देना चाहिये। क्योंकि परसे पर मिलता है और स्व से स्व मिलता है, यह महान सूत्र है।

जीव बाह्य क्रियाओंके पीछे पड़े हुए हैं और कहते हैं कि धर्म करो, धर्म करो? किन्तु समझे विना वे क्या धर्म करेंगे? आत्मा जब विपरीत चलता है तब राग द्वेष और अभिमान करता है, तथा जब सीधा होता है, तब विपरीत भावको दूर करके स्वाश्रय धर्म करता है, इसके अतिरिक्त वह पराा कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्न —देव–गुरु–शास्त्रसे तो आत्मा समझा जाता है?

उत्तर—आत्मा अपने को अपने से ही समझमें आता है। यदि देव-गुरु समझा सकते हों तो सबको एक समान ही समझमें आना चाहीये

किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसकी जितनी तैयारी होती है, तदनुसार वह समझता है। अपने को समझनेमें देव–गुरु–शास्त्र का निमित्त होता है। स्वयं अपूर्ण है, इसलिये देव, गुरु, शास्त्रके प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता, विनय हुए बिना नहीं रहती, इसलिये देव, गुरु, शास्त्रके प्रति बहुमान पूर्वक कहता है कि प्रभो ! आपने मुझे आत्मज्ञान दिया है, आपने मुझपर अपार उपकार किया है, आपने मुझे पार लगा दिया है। इत्यादि।

आचार्यदेवने घी के घड़ेका उदाहरण देकर यह बताया है— कि यदि घी के घड़ेको वास्तवमें घी का घड़ा न समझकर मिट्टीका घड़ा समझे तो घी के घड़ेका व्यवहार सच्चा कहलाता है। इसी प्रकार वर्णवाला, पर्याप्तिवाला, जीव वास्तवमें ज्ञानस्वरूप है, वर्णादिवान नहीं, यह समझले तो वर्णादिवान या शरीरादिवानका व्यवहार भी सच्चा कहलाता है और यदि ऐसा न समझे तो उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं कहलाता, क्योंकि उसने पर्याप्ति से भिन्न जीव नहीं माना, किन्तु पर्याप्तिस्वरूप ही माना है इसलिये उसकी मान्यतामें व्यवहार स्वयं निश्चय हो गया। इसलिये निश्चय व्यवहारके स्वरूपको जैसाका तैसा यथार्थ समझे सो वह सम्यक्ज्ञान है।

लोगोंने कभी ऐसी बात प्रीति पूर्वक नहीं सुनी, इसलिये वे निश्चय की बात सुनकर बिचक उठते हैं, और कहते हैं कि निश्चय तो केवलीके या सिद्धोंके होता है, निश्चयकी बात बहुत ऊँची है, हमतो शुभभाव करते हैं, व्यवहार करते हैं, (अर्थात् आरोप या झूठी मान्यता करते हैं) और पराश्रय भाव करते हैं उसीसे निश्चय आ जायेगा। अभी तो पहले प्रथम सीढ़ी ही चढ़ना चाहिये ? ऐसा करते करते आगे पहुँच जायेंगे किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि पहली सीढी कौन सी है। —सम्यक्दर्शन होनेके बाद क्रमश स्वरूपकी स्थिरता बढती जाये, और राग द्वेष कम होता जाये सो वह मुक्ति की नसैनी है, यही चढ़नेका क्रम है। यहाँ तो पहली सीढ़ी सम्यक्दर्शन है, जिसकी बात चल रही है, यह केवली या सिद्धोंकी बात नहीं है, किन्तु केवली सिद्ध कैसे हुआ जाता है, उसके मार्गकी यह बात है। यहाँ बात तो पहली सीढीके रूपमें सम्यक्दर्शनकी चल रही है, और तू उसे सिद्धोंकी मान रहा

है तो तेरी इस विपरीत मान्यताको कौन बदल सकता है? यदि तू उसे स्वयं समझे तो बदल सकता है, अन्यथा तीर्थंकर भी उसे बदलनेके लिये समर्थ नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन होनेके बाद देव, गुरु, शास्त्रकी विनय ही तो करेगा? क्या अविनय सम्यक्ता या अनीति कर सकता है? नहीं, ऐसा आचरण तो लौकिक नीति वाले भी नहीं करते, तब फिर सम्यक्त्वी जीव तो वीतरागका भक्त, वीतरागका दास, और वीतरागका उत्तराधिकारी – लघुनन्दन है, ऐसे लोकोत्तर मार्गको प्राप्त पुरुषके ऐसा आचरण कैसे हो सकता है? तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ कषायका अभाव हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी अल्प कषाय रह जाती है, और सम्यग्दृष्टि जीव राजपाटका संचालन करता हुआ तथा विषय कषायमें लगा हुआ भी उसे मात्र उपसर्ग समझता है, और सोचता है कि अरे! यह तो मेरे अतीन्द्रिय आनन्द की लूट हो रही है, खेद है कि पुरुषार्थकी मन्दतासे ऐसे भाव होते हैं, यदि इसी क्षण पुरुषार्थ जागृत करके वीतराग हुआ जाता हो तो, मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिये। विषयोंका सेवन करते हुए ज्ञानीको ऐसा लगता है कि मानों कोई मस्तक पर तलवारके प्रहार कर रहा है! मुँहमें विष्टा जा रहा है! और वह खेद पूर्वक सोचता है कि इस उदयमें पुरुषार्थकी मन्दताके कारण लग जाता हूँ। जब वीर्य को जागृत करके वीतरागता प्रगट होगी तो वह घड़ी,–वह पल धन्य होगा। सम्यग्ज्ञानीका ऐसा हार्दिक भाव होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धोपयोगमें स्थिर नहीं हो पाता तब उसके अशुभ परिणामसे बचनेके लिये दान, पूजा, भक्ति, व्रत, स्वाध्याय इत्यादिके शुभ परिणाम भी होते हैं, किन्तु उन्हें भी ज्ञानी बाधक समझता है, उसे शुभ परिणाम की किंचित्मात्र भी रुचि नहीं होती, शुभ परिणाममें बने रहनेकी उसकी थोड़ी सी भी इच्छा नहीं होती, शुभ परिणामके आने पर भी वह शुद्धोपयोग का ही उद्यम करता है, किन्तु शुद्धोपयोगमें स्थिर नहीं हो पाता इसलिये अशुभसे बचनेके लिये शुभमें आ खड़ा होता है।

अब यह कहते हैं कि जैसे यह सिद्ध हो गया कि वर्णादि भाव

जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हो गया कि यह रागादि भाव जीव नहीं हैं।

मोहणकम्मस्सुदया दु वरिणया जे इमे गुणट्ठाणा
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

अर्थः—यह गुणस्थान मोह कर्मके उदयसे होते हैं, ऐसा (सर्वज्ञके आगममें) कहा गया है, वे जीव कैसे हो सकते हैं जो सदा अचेतन कहे जाते हैं।

६६ और ६७ वीं गाथामें यह कहा गया है कि आत्मामें जीवस्थान नहीं हैं, और अब यहाँ ६८ वीं गाथामें यह कहते हैं कि गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं। गुणस्थान चौदह हैं, उनमेंसे पहला गुणस्थान मिथ्यात्वका है, शरीर वाणी और चैतन्यकी अवस्थामें होने वाले राग-द्वेषके परिणाम मेरे हैं, यह मान्यता मिथ्यात्व है। सब आत्मा मिलकर एक आत्मा होता है, यह मिथ्यात्व मान्यता है। आत्माको किसीने बनाया है और आत्मा जगतका करता है, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानघनज्योति है। यदि मिथ्यात्व आत्माका स्वभाव हो तो वह दूर कैसे हो सकता है, इसलिये मिथ्यात्व आत्माका स्वरूप नहीं है।

दूसरा गुणस्थान सासादन है। आत्मप्रतीति होनेके बाद यदि कोई जीव वहाँसे गिरे और मिथ्यात्वको प्राप्त हो तो उससे पूर्वके परिणामको सासादन गुणस्थान कहते हैं। उसकी स्थिति अलल्प होती है। तीसरा मिश्र गुणस्थान है, उसकी स्थिति भी अलल्प होती है।

चौथा गुणस्थान सम्यक्दर्शनका है, इसे अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। वहाँ आत्माकी अपूर्व प्रतीति होती है, जो अखण्डानन्द स्वरूप चैतन्य है, उसका आंशिक अनुभव होता है। चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। यहीं से मोक्षका मार्ग प्रारम्भ होता है। वहाँ अनन्तानुबंधी कषायकी चौकड़ी दूर हो जाती है, और तीन कषाय शेष रह जाते हैं। वहाँ अभी अव्रत दूर नहीं होता इसलिये उसे अविरत सम्यक्दर्शन गुणस्थान कहते हैं।

सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वरूपकी आंशिक स्थिरता बढ़ने पर, अव्रतके परिणाम दूर होने पर पाँचवीं भूमिका प्राप्त होती है। वहाँ कषायकी दूसरी चौकड़ीका अभाव हो जाता है। यहाँ सर्वथा अव्रत दूर नहीं होता किन्तु अमुक अंशमें दूर होता है, इसलिये इसे संयमासंयम या देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

छट्ठी भूमिका परिपूर्ण स्वभावको सिद्ध करनेकी उत्कृष्ट साधक दशा है। उस भूमिकामें स्वरूप रमणता बहुत अधिक बढ़ जाती है। मुनिजन छट्ठी और सातवीं भूमिकामें हजारों बार गमनागमन करते हैं। वहाँ वीतरागता प्राप्त कर ली है, अथवा प्राप्त करनेवाले ही हैं, ऐसी दशामें मुनिजन झूलते हैं। मुनियोंके अन्तरंगसे और बाहरसे निर्ग्रन्थता नग्नता होती है। यहाँ कषायकी तीन चौकड़ियोंका अभाव हो जाता है, और मात्र एक संज्वलन कषायका ही उदय रहता है। यहाँ अव्रतका सर्वथा अभाव होता है इसलिये छट्ठे गुणस्थान को प्रमत्तसंयत कहते हैं, और सातवेंको अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। छट्ठे गुणस्थानमें शुभमें उपयोग होता है इसलिये उसे प्रमत्त संयत कहते हैं और सातवें गुणस्थानमें उपयोग स्वरूपध्यान में लीन होता है, इसलिये उसे अप्रमत्त संयत कहते हैं।

आठवेंसे दसवें गुणस्थान तक स्वरूप ध्यानमें विशेष विशेष चढ़ते जाते हैं। वहाँ उपशम और क्षपक ऐसी दो श्रेणियाँ होती हैं। उनमें से कोई उपशम श्रेणीसे और कोई क्षपक श्रेणीसे चढ़ता है। क्षपक श्रेणी वाला उसी धारासे केवल ज्ञान प्राप्त करता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें उपशम चारित्र होता है, वहाँ सर्वथा उपशम हो जाता है। बारहवें गुणस्थानमें क्षायिक चारित्र प्रगट होता है, वहाँ मोहका सर्वथा क्षय हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहाँ मात्र एक योगका कम्पन रह जाता है, इसलिये चार अघातिया कर्म टिके हुए हैं, इसे सयोगी गुणस्थान कहते हैं। चौदहवें गुणस्थानमें चार प्रतिजीवीगुण, वैभाविक-ऊर्ध्वगमनादिस्वभावों की अशुद्धता है, जिनके कारण कुछ समय चौदहवें गुणस्थानमें रहना होता

है। चौदह गुणस्थान जीवकी अवस्थामें होते हैं, किन्तु उस भगपर लक्ष जानेसे राग होता है। गुणस्थानके जो भेद होते हैं, उनमें कर्मोंके निमित्त की अपेक्षा होती है, इस अपेक्षासे गुणस्थानको पुद्गलका परिणाम कहा है। गोम्मटसारमें भी गुणस्थानों को मोह और योग निमित्तक कहा है। यह बात अखंड दृष्टि कराने या अखंड पर भार देनेको कही है। जो भग भेद हैं सो गौण हैं, इसके भारको यह बात दूर कर देती है। अखंड द्रव्य पर दृष्टि डालने से सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है। खंड पर दृष्टि देनेसे सम्यक्‌दर्शन प्रगट नहीं होता। अवस्थाके लक्षसे परिपूर्णताका लक्ष कैसे हो सकता है? इसलिये यहाँ परिपूर्णतापर दृष्टि देनेकी बात है। **आत्मामें निमित्त की अपेक्षा लक्षमें ली जाये तो बन्ध और मोक्ष दो भेद हो जाते हैं। यदि निमित्तकी अपेक्षा को लक्षमें न लें और अकेला निरपेक्ष तत्व ही लक्षमें लें तो स्वभाव पर्याय ही प्रगट होती है।** आचार्यदेव अखंडदृष्टि करानेके लिये, और अखंड द्रव्यकी ओर उन्मुख होनेके लिये यथार्थ वस्तुदृष्टिकी बात करते हैं, उसे वैसा समझे, और साधक दशाको सिद्ध करते हुए बीचमें कौन कौन सी पर्याय आती है, उसका ज्ञान करानेके लिये, और अशुद्ध पर्याय को दूर करके शुद्ध पर्याय प्रगट करानेके लिये पर्यायदृष्टिसे बात करते हैं सो उसे वैसा समझे, द्रव्यदृष्टिको पर्यायदृष्टिमें न डाले, और पर्याय दृष्टिको द्रव्य दृष्टिमें न डाले, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही समझे सो यह मोक्षका उपाय है।

आत्मा परमाणुसे शरीरादिसे और रागादिसे पृथक् तत्व है, ऐसा विश्वास हुए बिना पूर्ण होनेका प्रयास कैसे हो सकता है? सुखी कैसे हुआ जा सकता है? स्त्री, कुटुम्बादिसे सुख होगा ऐसा विश्वास जबतक रहेगा, तबतक परिपूर्ण आत्मतत्वका विश्वास नहीं जमेगा।

जीवोंको अपने स्वभावकी महिमा ज्ञात नहीं हुई, इसलिये वे पर वस्तु को एकत्रित करना चाहते हैं, सम्पूर्ण लोकालोक को एकत्रित करनेका प्रयत्न करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु यदि अनन्तानन्त लोकालोक हों तो भी उन्हें एकत्रित करना चाहते हैं, ऐसी भारी तृष्णा विद्यमान है। मुझे कुछ नहीं चाहिये, लोकालोक तो क्या किन्तु क्षणिक पुण्य पापकी पर्याय भी मुझे नहीं

चाहिये, ऐसी श्रद्धा हुई और स्वोन्मुख हुआ कि वहाँ मर्यादा आ जाती है, और जिस वस्तुको एकत्रित करना चाहता है, उसकी मर्यादा नहीं होती। जीव परोन्मुख होता है और परको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता रहता है। अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और अनन्तपुण्य-पापके भाव इसप्रकार अनन्तानन्त वस्तुओंको प्राप्त करने और उन्हें भोगनेका भाव हुआ करता है, उसमें से सुख और शांति प्राप्त करूँ ऐसे भावकी मर्यादा नहीं होती। यदि संयोगी वस्तु मिल जाती है तो उसके रागके दाहमें और यदि चली जाती है, तो उसके द्वेषके दाहमें जलता रहता है। जितने समय स्वयं रहता है उतने समय तक संयोगी वस्तु नहीं रहती, इसलिये दुःखका वेदन किया करता है। यदि वह वस्तु रहती है तो रागकी पीड़ा और नहीं रहती तो द्वेषकी पीड़ा होती रहती है। अनन्त वस्तुओंको प्राप्त करनेके भावमें एक वर्ष, दो वर्ष, दस वर्ष, और सारा जीवन यों ही व्यतीत करके दूसरे भवमें जाता है, और वहाँ भी वही भाव बना रहता है। इसप्रकार जीव यों ही अनन्त भवोंमें अनन्त काल इस दाहमें व्यतीत कर देता है।

यदि संयोगी वस्तु रहती है तो रागका दुःख और न रहे तो द्वेषका दुःख हुआ करता है। उस वस्तुमें कहीं शांति नहीं मिलती। जैसे जैसे उसे प्राप्त करने और संग्रह करने का भाव किया त्यों त्यों दाह बढ़ती गयी, और किंचित्मात्र भी शांति नहीं हुई। यह तो बाह्य वस्तुओंकी बात है, किन्तु आन्तरिक परिणामोंका भी यही हाल है। जीव आन्तरिक शुभाशुभ विकारी परिणामोंको बनाये रखनेका प्रयत्न करता है, तथापि वे नहीं रह सकते। आत्मा नित्य शाश्वत् है और पुण्य पापकी वृत्ति अशाश्वत् है। रागके छोटेसे छोटे भागको बनाये रखना चाहे तो वह नहीं रह सकता वह दूसरे ही क्षण बदल जाता है, क्योंकि वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये आन्तरिक परिणाम भी सदा नहीं टिकते। इसप्रकार कोई भी वस्तु उतने समय तक नहीं रहती, जितने समय आत्मा रहता है। इसलिये दाह ज्योंकी त्यों बनी रहती है। अनन्त कालसे ऐसा ही करता आया है, तथापि तृष्णा पूरी नहीं हुई, इसलिये परमें किसीने सुखका अनुभव नहीं किया। इसलिये विचार कर कि

परकी तृष्णामें दाहके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये अपने विचार बदल। बाहर तो कहीं भी सुख नहीं है, किन्तु जो एक मात्र आत्मा है उसमें एक साथ अनन्त गुणोंका समूह विद्यमान है, उस ओर उन्मुख हो। उसमें से शांति प्राप्त होगी।

अज्ञानीकी दृष्टि बाह्य पदार्थों पर जाती है, इसलिये वह अनन्त पर पदार्थोंको प्राप्त करना चाहता है, परन्तु एक समयमें सम्पूर्ण-अनन्त पदार्थ उसके पास नहीं आ सकते। एक आत्माने शरीर, मन, वाणी श्वासोच्छ्वास और इन्द्रियोंके रूपमें अनन्त परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण किया है, तथापि उसके द्वारा अगृहीत अनन्तानन्त परमाणु इस लोकमें ठसाठस भरे हुए है, और जिन्हें अनन्त कालमें भी ग्रहण नहीं किया जा सकेगा ऐसे अनन्त परमाणुओंका समूह स्कंधात्मक रूपसे इस जगत्में विद्यमान है। मिथ्याश्रद्धाके विषयमें बाहर लक्ष करता है, तथापि अनन्त एकत्रित नहीं हुआ, और वह एकत्रित हो भी कहाँसे ? वह पर वस्तु तेरे आधीन नहीं है, पर वस्तुमें अच्छे बुरेकी कल्पना करने वाला तू स्वयं ही है। पर वस्तुमें कुछ अच्छा-बुरा है ही नहीं। वह पर वस्तुयें तो यों ही पड़ी हुई हैं, उनमेंसे अच्छा बुरा किन्हें कहा जाये ? औरकी तो बात क्या किन्तु नर्क बुरा और स्वर्ग अच्छा है, इस प्रकार अपनी अज्ञानतासे परमें भेद कर रहा है।

अब यदि तुझे अपनी आत्माकी शक्ति प्रगट करनी हो, आत्माका सुख चाहिये हो, और अपना कल्याण करना हो तो बाहरसे हटकर अपनी ओर उन्मुख हो, और फिर देख तो तुझे ज्ञान होगा कि—पर वस्तुकी चाहसे मेरे स्वभावकी हत्या हो रही है। अरे ! मुझे पर वस्तुकी आवश्यकता ही कहाँ है ? मेरे आत्मामें एक समयमें अनन्तानन्त गुणोंका समूह विद्यमान है, उन गुणोंकी पर्यायको मैं अपने ही पुरुषार्थ द्वारा प्रगट कर सकता हूँ। ऐसा विश्वास होने पर स्वभाव पर्यायका अनुभव होता है, आत्मशांति प्रगट होती है, जो फिर कभी दूर नहीं होती। पहले बाह्य दृष्टि थी इसलिये बाहर अनन्ती कल्पनाएँ करता था, और अब अन्तर्दृष्टि होने पर अंतरंगमें अनन्त ज्ञात हुआ है। सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञानका सामर्थ्य अनन्त है। वह एक एक समय

में बढ़ता हुआ अनन्त नहीं होता किन्तु वर्तमान एक समयमें अनन्त है। सम्यक्दृष्टि अपने भीतर देखता है कि मुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्थिरता, अनन्त स्वच्छत्व शक्ति, अनन्त विभुत्व शक्ति, अनन्त प्रभुत्व शक्ति, इत्यादि शक्तियोंका अनन्तानन्त संग्रह विद्यमान है। जो सम्यक् ज्ञानी उन अनन्त गुणोंकी पर्यायोंका अनुभव करता है, उसकी शांति कोई पर पदार्थ दूर नहीं कर सकता।

जिसकी दृष्टिसे योग या पुण्य-पाप पर है, उसे कभी सुख शांति नहीं होती। लोग कहते हैं कि ऐसे तो आप सभीको छोड़ देना चाहते हैं? उनसे कहते हैं कि हाँ, चिदानद आत्माके अतिरिक्त सब कुछ छोड़ देनेकी श्रद्धा किये बिना धर्मका प्रारम्भ नहीं हो सकता। हे भाई! यह तो तेरी प्रभुता के गीत गाये जा रहे हैं। जो वस्तु तेरी नहीं है वह तुझमें नहीं रह सकती, तू उसे नहीं भोग सकता, भला उससे तुझे सुख कैसे होगा? इसलिये जो तुझमें है, तेरे भी तासग्रहात्मक रूपसे विद्यमान है, जिसमे भेट हो सकती है, और जिसका अनुभव हो सकता है, उसका अनुभव कर। शांतिकी यह सबसे पहली बात है, सम्यक्दर्शनकी बात है, यह कहीं छट्ठे गुणस्थानकी बात नहीं है, छट्ठा गुणस्थान तो सम्यक्दर्शनका फल है। सम्यक्दर्शनके फल स्वरूप ही चारित्र और केवलज्ञान है। मैं अनन्त गुणोंकी शक्तिवाला तत्त्व हूँ, इस प्रकार स्व के अनन्त विश्वासमें परका विश्वास टूट जाता है, और परका अनन्त विश्वास टूटनेसे स्व का विश्वास हो जाता है, और उस विश्वासमें से आन्तरिक चारित्र प्रगट होता है, जिसका नाम मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। कहा भी है कि-" एक होय त्रयकालमें परमारथको पंथ "। मोक्ष मार्ग दो चार नहीं होते किन्तु एक ही होता है। आचार्यदेवने ऐसी अपूर्व बात कही है, यदि उसका रंग चढ़ जाये तो स्वोन्मुख होते देर न लगे।

यह मिथ्यात्व आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोह कर्मकी प्रकृतिके उदय पूर्वक होते हैं इसलिये सदा अचेतन हैं। अपने लक्षणसे विलक्षण भाव भिन्न लक्षण वाला भाव, मोह कर्मके निमित्तसे होने वाला भाव तेरा नहीं है, किन्तु

वह पुद्गलके निमित्तसे होता है, इसलिये वह पुद्गल है। चौदह गुणस्थानोंमें भग हो जाता है, क्रमश एकके बाद एक अवस्था होती है सभी गुणस्थानों की अवस्था एक साथ नहीं होती। अनन्त गुणोंका पिंड आत्मा एक साथ है, उस पर लक्ष देनेसे अखड स्वभावकी प्रतीति होती है। शरीरादि बाह्य वस्तुका लक्ष छोड़ देना चाहिये, इतना ही नहीं किन्तु कर्मोंके विपाकके कारण आत्माकी पर्यायमें जो मेद होता है उसका भी लक्ष छोड़कर अनन्तानन्त गुणोंके पिंड रूप आत्माका लक्ष करे तो उसमें सुख और शाति है।

सम्यक्दर्शनका विषय सम्पूर्ण आत्मा है, वह स्व विषय है। मोहके निमित्तसे जो मेद होता है वह पुद्गल है। जो गुणस्थानोंकी निर्मल पर्याय होती है, वह जड़ नहीं है, किन्तु मोह और योगके उदयके कारण गुणस्थानके जो मेद होते हैं, उस अपेक्षासे गुणस्थानको जड़ कहा है। यह तो श्रद्धाकी बात है। पर पदार्थों पर और अवस्था पर जो लक्ष जाता है, उसे छोड़। खड पर लक्ष देनेसे अखड स्वभाव प्रगट नहीं होगा, किन्तु अखड पर लक्ष देनेसे उसमें से पर्याय प्रगट होगी। यह अपूर्व सूत्र है, इसका मनन करना चाहिये, तभी यह बात समझमें आयेगी। 'यह बात मेरी समझमें नहीं आ सकती' ऐसी धारणा बना लेनेसे और जिज्ञासाके बिना कैसे समझमें आ सकता है? न समझनेकी शल्य ही आड़े आती है। इसी शल्यको लेकर केवली भगवानके पास भी गया, किन्तु वहाँसे यों ही कोरा चला आया। केवली भगवानका जो उपदेश होता है वह इसलिये होता है कि जगत जीव समझ सकें। यदि वह तुझसे ग्रहण न हो सके तो वह उपदेश भी व्यर्थ सिद्ध होगा। इसलिये इस शल्य को निकाल दे कि—मेरी समझमें नहीं आयेगा। जब कि दूसरे जीवोंकी समझ में आ सकता है तब तेरी समझमें क्यों नहीं आयेगा?

यह विषय अतरगसे सम्बन्ध रखता है। आत्मा पर लक्ष देना कि मैं आत्मा अखड हूँ, परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ सो यह आत्माका विषय है। विषयका अर्थ है ध्येय।

गुणस्थानके मेदोंका लक्ष छोड़ दे, क्योंकि वे कर्मके निमित्तसे होने वाले मेद हैं। वह पर निमित्तक आरोप है, इसलिये उसकी दृष्टिको दूर करके

अखंड चैतन्यमें अनारोपित दृष्टि करानेके लिये चौदह गुणस्थानोंकी अवस्थाको जड़ कहा है।

" कारणानुविधायीनि कार्याणि " अर्थात् जैसा कारण होता है, तदनुसार वैसा ही कार्य होता है। जैसे जौ पूर्वक जौ ही होते हैं, चने नहीं होते, तदनुसार पुद्गलके निमित्तसे जितने भग होते हैं उन्हें भी पुद्गल ही कहते हैं। इसप्रकार व्रताव्रतके परिणाम और शुभाशुभके परिणाम भी पुद्गलके कारण होते हैं इसलिये वे द्रव्यदृष्टिसे पुद्गल ही हैं। अपेक्षाके भग होते हैं, और भग पर लक्ष जानेसे विकल्प उठते हैं। पुद्गलकी उपस्थितिसे भग होते हैं इसलिये वे जड़ हैं। वे भग व्यवहारसे आत्माके कहलाते हैं, किन्तु वे निश्चयसे आत्मा में नहीं हैं। इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये कि जहाँ व्यवहारसे बात होती है, वहाँ वह वास्तवमें वैसी नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अनन्त शक्तिका पिंड है, वह तुझे बतला रहे हैं कि आत्मा ऐसा है, तेरी सुगन्ध तुझमें ही विद्यमान है, उसका अनुभव पूर्वक उपभोग करना तेरे हाथकी बात है।

चौदह गुणस्थान सर्वथा जड़ नहीं हैं, वे चैतन्यकी अवस्था हैं, किन्तु उनमें जड़का निमित्त है, इसलिये जड़ कहा है। वह चौदह गुणस्थानोंका भेद तेरा स्वरूप नहीं है, यदि वह तेरा स्वरूप हो तो सिद्धोंमें भी चौदहों अथवा कोई सयोगी अयोगी इत्यादि गुणस्थान रहना चाहिये, किन्तु वहाँ कोई भी भग नहीं रहता, वहाँ कर्मके निमित्तसे भग होते हैं, इसलिये वे जड़ हैं। किन्तु गुणस्थानोंकी अवस्था चैतन्यमें होती है।

मिथ्यात्वी जीवको अभीतक आंतरिक शांति प्राप्त नहीं हुई, उसे समझाते हैं कि आत्माका स्वरूप समझ और उसमें स्थिर हो तभी शांति मिलेगी, दूसरे किसी उपायसे शांति प्राप्त नहीं होगी। मिथ्यात्वादिको नष्ट करनेका यह एक ही प्रकार है, और परिभ्रमण करनेके अनेक प्रकार हैं। विपरीत श्रद्धा एक प्रकारकी है किन्तु उसके परिभ्रमण करनेके फल स्वरूप नरकगति, देवगति, तिर्यंचगति इत्यादि अनेक प्रकार हैं। आत्मामें अनन्तगुण विद्यमान हैं, उनके अतिरिक्त तुझे और किसकी चाह है? यह कुटुम्बादि संयोग कभी साथमें रहने वाले नहीं हैं।

अनन्तगुणोंका पिंड सम्पूर्ण आत्मा वर्तमानमें प्रति समय परिपूर्ण भरा हुआ है। वही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके प्रगट करनेका कारण है। सम्यक्दर्शनकी पर्याय भी चारित्रकी पर्यायको प्रगट करनेमें परमार्थत कारण नहीं है, क्योंकि सम्यक्दर्शन अवस्था है, किन्तु श्रद्धाका विषय जो समस्त परिपूर्ण द्रव्य है, उसके विषयके बलसे पाँचवें छट्ठे गुणस्थानकी चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। पर्यायके लक्षसे पर्याय प्रगट नहीं होती, अपूर्ण पर्याय पूर्ण पर्यायका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जो कम निर्मल पर्याय है, वह अधिक निर्मल पर्यायको कैसे प्रगट कर सकती है? किन्तु अखंड परिपूर्ण के लक्षसे ही अधिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तूने कर्म को, कर्म निमित्तक भावको और परवस्तुको अपना मानकर अपनी गोद भर रखी है, अब उसे एक बार खाली कर, परका आग्रह छोड़, भारका त्याग करके हलका हो, एक बार सम्पूर्ण आग्रह छोड़कर सब ओरसे उठ खड़ा हो, ऐसा करनेसे यह बात तेरे मनमें जम जायेगी, यदि कहीं भी चिपक रहा तो फिर हिल-डुल नहीं सकेगा, इसलिये एकबार तो रागसे मुक्त होकर यह अनुभव कर कि मैं राग रहित हूँ फिर चाहे भले ही राग आये किन्तु एकबार तो पल्ला झड़ककर खड़ा हो जा कि जिससे समझमें आ सके कि सत्य क्या है। कर्मोंके निमित्तसे होने वाले गुणस्थान इत्यादिके भग भेदोंसे उठाकर तेरी दृष्टि अखंड स्वभावमें लगानी है, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि एकबार सब ओरसे पल्ला झाड़कर खड़ा हो जा और कहीं भी अंशमात्र भी चिपका मत रह।

गुणोंका विकास हुए बिना यह माने कि मेरे गुण विकसित हुए हैं, तो गुणोंके खिलनेसे जो शांति मिलनी चाहिये वह नहीं मिलेगी। अखंड आत्माकी श्रद्धा किये बिना गुण नहीं खिलते। जौ पूर्वक जौ ही होते हैं, इस न्यायसे गुणस्थान भी पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। गुणस्थानोंकी अचेतनता आगमसिद्ध है। जौ पूर्वककी युक्ति देकर गुणस्थानोंका जड़ और आगमकी साक्षी देकर उनका अचेतनत्व सिद्ध किया है। गोम्मटसार जैसे व्यवहार शास्त्रोंमें भी चौदह गुणस्थानोंको मोह और योग निमित्तक कहा है फिर इस

अध्यात्म शास्त्रमें तो वैसा कहेंगे ही।

भगवानकी दिव्यध्वनि आगम है। आगममें भी यही आदेश है, कि तू चैतन्यघन सम्पूर्ण निर्मल है, यदि उसपर दृष्टि डाले तो वही मोक्षमार्गका प्रारम्भ है। उस मार्गको प्राप्त करनेके बाद उसमें बीचमें पाँचवां, छट्ठा गुणस्थान इत्यादि क्या क्या आता है, इसे साधक अवश्य समझ लेगा। जो व्यक्ति जिस मार्ग पर चला ही नहीं उसे क्या मालूम हो सकता है, कि मार्गमें क्या क्या आता है? इसीप्रकार जिसे मोक्ष मार्गकी प्रतीति हुई है, उसे सब कुछ ज्ञात हो जायेगा। पहले आत्माको अंतरंगसे स्वीकार कर, फिर उसके अभ्याससे यथार्थ निर्णय होने पर निर्विकल्प अनुभव होगा।

चैतन्य स्वभावसे व्याप्त, आत्मासे भिन्नरूप गुणस्थान भेद ज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान होनेसे भी सदा उनकी अचेतनता सिद्ध होती है।

युक्ति, आगम और अनुभवसे सिद्ध है कि गुणस्थान जड़ हैं। युक्तिमें जौ पूरक जौ होनेकी बात कही है, आगममें कर्म निमित्तक गुणस्थान बताये हैं, और अनुभवमें भंग भेद नहीं होते। इसप्रकार तीनों तरहसे गुणस्थान अचेतन सिद्ध किये गये हैं। अवस्थासे लक्ष छूटे और स्व में एकाग्र हो, तब आत्माका अनुभव होता है, और परका पक्ष नहीं रहता, भंग भेदका लक्ष नहीं रहता। भंग-भेद सम्यग्दर्शनका विषय नहीं हैं। इसप्रकार भेद ज्ञानियोंके द्वारा गुणस्थानकी अचेतनता सिद्ध होती है। गुणस्थानकी पर्याय आत्मामें होती है, जड़में नहीं, किन्तु भंग भेद सम्यक्-दर्शनका विषय नहीं हैं, इसलिये गुणस्थान अचेतन हैं। इस बातको ज्योंकी त्यों यथार्थतया माने तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे। यह स्वरूप जैसा है, वैसा ही समझकर उसकी प्रतीति करके स्थिर हो तो उसमें ज्ञानकी और पुरुषार्थ की अनन्त क्रिया आ जाती है।

देव, गुरु, शास्त्रका प्रेम किये बिना स्त्री, पुत्र कुटुम्बादिका राग नहीं छूटता। शरीर और कुटुम्बादिकी अपेक्षा देव, गुरु, शास्त्रके प्रति अनन्त गुना प्रेम बढ़ जाना चाहिये। यदि देव–गुरु–शास्त्रकी अपेक्षा शरीर और कुटुम्बादि के प्रति प्रेम बढ़ गया तो वह अनन्तानुबन्धी राग है। सम्यग्दर्शन होनेके

बाद तो देव, गुरु, शास्त्रके प्रति अपार भक्ति हो ही जाती है, किन्तु उससे पूर्व भी सत्की जिज्ञासामें देव-गुरु-शास्त्रकी ओरका राग बढ़ जाना चाहिये। इस प्रकार सत्की जिज्ञासामें भी देव, गुरु, शास्त्रकी ओरकी भक्ति पहले आती है। 'ज्याँ ज्याँ जे जे योग्य छे त्हाँ समजवु तेह'। यद्यपि राग बंधन है, किन्तु वह बीचमें आता अवश्य है। जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृतिका बंध होता है वह भी बंधन है। वह तीर्थंकर प्रकृति आत्माको लाभ नहीं पहुँचाती। तीर्थंकर देव भी रागको दूर करके वीतरागता प्रगट करते हैं, वही उन्हें लाभ करती है।

जैसे गुणस्थानको अचेतन कहा है, उसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, और संयमलब्धिस्थान इत्यादि समस्त भंग भी पुद्गलके निमित्त से होनेसे अचेतन हैं। चैतन्यके अखण्ड स्वभावमें भंग भेद नहीं हैं। चैतन्य आत्मा अनन्त गुणोंका अभेद पिंड है। उसकी श्रद्धा किये बिना धर्मका वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। इसलिये पहले यथार्थ श्रद्धा करनेका जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

पहले देव-गुरु शास्त्रकी यथार्थ लक्षणोंके द्वारा परीक्षा करे, और फिर उनके द्वारा जो वस्तु स्वरूप समझाया गया है, उसे स्वयं बहुमान और अर्पणता पूर्वक समझनेका प्रयास करे। देव और गुरुके आन्तरिक हृदयकी मूल प्रयोजनभूत परीक्षा करे, और फिर वे जैसा कहें तदनुसार बहुमान और अर्पणता पूर्वक समझनेका प्रयास करे। जिसे सत्की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह सत्को यथार्थ लक्षणोंसे पहिचान सकता है। किन्तु यदि कोई यह कहे कि पहले मुझे सबका सब समझा दो उसके बाद तुम्हें मानूँगा तो इसमें माननेकी बात ही कहाँ रही? अमुक प्रकारसे समझाने पर जिसे उसमेंसे सतकी जिज्ञासा जागृत हुई हो वह निर्णय कर सकता है कि यह सत् है, और फिर जैसा वह समझाये उस प्रकार स्वयं यथार्थ समझकर वस्तु स्वरूपका निर्णय करके उसमें स्थिर हो तो सुखको प्राप्त होता है।

आत्मामें कर्मसंयोगसे जो विकार विद्यमान है, वह आत्माके स्वभावमें नहीं है। जो हितका इच्छुक है, उसे कर्मोंके भेदका लक्ष छोड़कर स्वभाव पर दृष्टि करनी चाहिये यही हितका उपाय है। आत्मा वस्तु है, वह परिणामी है, बदलती है, और अवस्था बदलते बदलते अनन्तकाल तक रहती है, किन्तु एक समयमें एक ही अवस्था प्रगट होती है। अनन्त गुणोंकी मिलकर अनन्त अवस्थाएँ प्रगट होती हैं। भूत और भविष्यकालकी अन्य अवस्थाएँ आत्मामें द्रव्यरूप होती हैं। ऐसे आत्मस्वरूपको लक्षमें, प्रतीतिमें लिठाये तो धर्म हो।

अनन्तानन्त पर्यायोंका पिंड गुण, और अनन्तानन्त गुण पर्यायोंका पिंड द्रव्य परिपूर्ण है। किन्तु उस परिपूर्ण स्वभावको समझाने वाले देव, गुरु-शास्त्र कौन हैं, यह जाने बिना परिपूर्ण स्वभाव नहीं जाना जाता। स्वभावको समझानेवाला सच्चा निमित्त क्या और कौन है, इतना विवेक करना न आये तो आत्माके परिपूर्ण स्वभावका परिचय नहीं हो सकता। सच्चा या झूठा निमित्त कौन है, इसप्रकार जिसे निमित्तके अन्तरकी जानकारी नहीं है, वह अपने उपादानको ही नहीं पहिचान सकता। जिसे सच्चे और झूठे देव, गुरु, शास्त्रका विवेक अथवा उनका अन्तर या भेद करना नहीं आता, उसके अन्तरंगमें अपना सम्पूर्ण स्वभाव नहीं जम सकता, क्योंकि सच्चे और झूठे देव-गुरु-शास्त्रकी सत् जिज्ञासा पूर्वक परीक्षा करना सो प्रथम पात्रता है। उस पात्रताको पहले प्रगट किये बिना आन्तरिक वास्तविक स्वभाव कहाँसे जम सकता है? सच्चे देव गुरु स्वयं परिपूर्ण स्वभावको समझे हैं, और दूसरोंको समझाते हैं। सच्चे देव, गुरु और शास्त्र आत्माके परिपूर्ण स्वरूपको बताते हैं, तथा कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, आत्माका विपरीत स्वरूप समझाते हैं, इनमेंसे जिन्हें सच्चे झूठेका विवेक करना नहीं आता उसका सच्चा पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। जिसे एक समयमें परिपूर्ण स्वभाव पर लक्ष करना है, उसे प्रशस्त और अप्रशस्त रागके निमित्तका विवेक करना होगा। यदि स्व परका वर्तमान अवस्थाका विवेक करना न आया तो अन्तरंगमें भरे हुए परिपूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभावका विवेक करके पुरुषार्थ कहाँसे उदित होगा?

सच्चे देव गुरु शास्त्र रागमें लगानेके लिये नहीं किन्तु परिपूर्ण स्वभाव

को पहिचाननेके लिये, स्वलक्ष करनेके लिये हैं। किन्तु ऐसा न समझकर स्वय रागके चक्करमें पड़ जाता है, सो वह पुण्यबन्ध करेगा, किन्तु स्वोन्मुख नहीं होगा, और इसलिये वह परिपूर्ण स्वभावको नहीं पहिचान सकेगा। देव गुरु-शास्त्र कहते हैं कि तू यथार्थ निमित्त तक पहुँच चुका है, शुभरागके निकट आगया है, अब तू कुलाँट खा और अन्तरंगमें अपने परिपूर्ण स्वभावको पहिचान।

गुणस्थान इत्यादिके भंगोंको आगम और युक्तिसे जड़ कहा है, उसे शिष्यने लक्षमें ले लिया, सच्चे निमित्तोंसे सत्यको स्वीकार कर लिया है और मिथ्या आगम तथा युक्तिको मिथ्यारूपमें स्वीकार कर लिया है। यह सब परिपूर्ण स्वभावकी ओर उन्मुख होनेको किया है। आत्माके लक्षका अभ्यास करते करते आत्मानुभव हो गया और अन्य राग इत्यादिका लक्ष छूट गया है।

चौदह गुणस्थान मोह और योगके निमित्तसे होते हैं इसलिये वे पुद्गल हैं, इस प्रकार आगम और युक्तिसे सिद्ध की गई बात जिसके मनमें नहीं बैठती उसे आत्मानुभव नहीं हो सकता।

सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और सच्ची युक्तिकी ओर जिसका लक्ष है, वह शुभ राग है, जो कि कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और अशुभभावोंमें नीचे नहीं गिरने देता। वह जीव आत्माके लक्षपूर्वक जिज्ञासा भाव से सुनता है, उसका भाव अपनी ओर लक्ष करनेका होता है। इसप्रकार परिपूर्ण स्वभावका लक्ष होनेसे लक्षसे लक्षको बढ़ाते हुए आत्मानुभव होता है, स्वसंवेदन होता है, और निमित्तका लक्ष छूट जाता है।

यदि ऐसा लक्ष हो जाये कि अविकारी आत्मा निराला है, मुक्त है, तब देव, गुरु इत्यादि निमित्तको निमित्तके रूपमें कहा गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तुझे युक्ति आगमकी बात जम गइ तभी तो तूने निमित्त का स्वीकार किया है। तूने देव-गुरु-शास्त्रके कथित आशयको पकड़ लिया, अर्थात् तूने अपने परिपूर्ण स्वभावको लक्षमें ले लिया और अपना ओर उन्मुख हुआ तब सच्चा निमित्त निमित्तरूप कहलाया।

आचार्य देवने पाँचवी गाथामें कहा था कि मैने जैसा गुरु परम्परा से सुना है, वैसा ही युक्ति, आगम और अनुभवसे कहूँगा, उसी प्रकार यहाँ ६८

वीं गाथामें जीवाजीवाधिकारको पूर्ण करते हुए युक्ति आगम और अनुभवसे वही बात कही है। इस प्रकार आचार्य देवने पाँचवीं गाथासे जैसा प्रारम्भ किया था उसी प्रकार यहाँ समाप्त किया है।

भवका अन्त करने वाले पुरुषका आश्रय लिये बिना भवका अन्त नहीं होता। भवका अन्त करनेवाले निमित्तरूप आलम्बनमें देव, गुरु, शास्त्र और भीतर भवका अन्त करनेवाले आत्माका अपनी ओर उन्मुखताका पुरुषार्थ है, इसप्रकार अन्तरंगमें स्वयं और बाह्यमें देव गुरुशास्त्रका आश्रय लिये बिना भवका अन्त नहीं होता।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें चैतन्य अभेद है, और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान, दर्शन हैं। द्रव्यार्थिकनय अर्थात् जिसे द्रव्यका प्रयोजन है, किन्तु राग-द्वेष तथा भंग भेदका प्रयोजन नहीं है। ढालकी दो बाजू होती हैं, अर्थात् ढालको देखनेके दो पहलू होते हैं। उनमेंसे जो एक पहलू को देखता है, वह दूसरेको नहीं देखता, इसीप्रकार जिसे आत्माके अभेद स्वभावकी ओर देखनेका प्रयोजन है उसे राग-द्वेष, भंग भेदका मूल्य नहीं है, उसे उस ओर देखनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

वस्तु, उसके गुण और उसकी पर्याय भी निर्मल है, किन्तु कर्मके निमित्तसे जो भंग भेद होते हैं वह उसका स्वभाव नहीं है। जो निमित्ताधीन भेद होते हैं वे आत्माके नहीं हैं। किन्तु स्वभावोन्मुख होता हुआ भाव उसका है। पहले जो २९ बातें कही गई हैं, उनमें केवलज्ञानकी पर्यायको अलग नहीं कर दिया है, किन्तु केवलज्ञानकी भूमिकामें जो कम्पनका विकार है उसे अलग कर दिया है, इसीप्रकार चौदह गुणस्थानोंमें निर्मल चैतन्यकी प्रगट होने वाली पर्यायको अलग नहीं कर दिया है किन्तु निर्मल पर्यायके बढ़ने पर उस उस भूमिकामें साथ ही साथ जो मोहके भेद रहते हैं, उन्हें अलग कर दिया है। वैसे जो निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है, वह तो चैतन्यका ही मात्र है। यहाँ यह कहा है कि तू सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको पहिचान और स्वसन्मुख हो। राग जितने जितने अंशमें दूर होता है, उतने उतने अंशमें निर्मल पर्याय का अनुभव होता है। सिद्ध होने पर सम्पूर्ण निर्मल पर्यायका अनुभव रह जाता

है। सिद्ध होनेके बाद उसमें प्रति समय निर्मल निर्मल अवस्था होती रहती है। एक समयके बाद दूसरे समयमें दूसरी अवस्थाका और तीसरे समयमें तीसरी अवस्थाका अनुभव होता है, इसप्रकार प्रति समय परिणमन होता ही रहता है। यदि कोई कहे कि सिद्धोंमें परिणमन नहीं होता तो उसका यह कथन मिथ्या है। समस्त पर्यायोंका अनुभव जाने एक काल प्रगट केवलि भगवताका मेल कैसे बैठेगा? एक ही समयमें नहीं होता, क्योंकि यदि एक समयमें ही सबका उपभोग हो जाये तो दूसरे समयमें उपभोगके लिये क्या रहेगा? इसलिये ऐसा नहीं है, किन्तु सिद्धोंको प्रति समय आनन्दका नया नया अनुभव होता ही रहता है, वे समस्त पर्यायें स्वभावमें भरी पड़ी हैं, उनमेंसे प्रगट होता है, इस लिये जो समस्त अवस्थायें वर्तमानमें जिसमें भरी हुई हैं—ऐसे अखण्ड आत्म स्वभावका विश्वास करना चाहिये, उसीकी प्रतीति करना चाहिये। अनन्त सामर्थ्यसे परिपूर्ण द्रव्य ही लक्ष देने योग्य है, वही द्रव्यार्थिकनयका विषय है, और वही सर्व प्रथम धर्म है।

पर निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादिके भाव चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं, वे चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं, कहीं जड़में वे भाव नहीं होते, किन्तु वे पर निमित्तसे होते हैं और वे चैतन्य की सर्व अवस्थामें व्याप्त नहीं हैं, वे भाव सर्व अवस्थाओंमें नहीं रहते इसलिये वे चैतन्यशून्य हैं और वे चैतन्यस्वभावसे शून्य हैं इसलिये जड़ हैं। यदि वे पुण्य-पापके भाव सिद्धोंमें या परमात्म दशामें रहते हों, तो वे आत्माके भाव कहे जा सकते हैं, परन्तु सिद्धोंमें या परमात्मामें वे भाव नहीं होते, इसलिये वे जड़ हैं।

आगममें भी उन भावोंको अचेतन कहा है। यह कहकर यह सिद्ध किया है कि जो आगम आत्माके परिपूर्ण स्वभाव और उसके विकारीभावका वर्णन करता है, तथा जो यह बतलाता है कि विकार अचेतन है, पर निमित्तसे होनेवाला भाव है, वह सच्चा आगम है। जिस आगममें निमित्ताधीन होनेवाले भावोंको एकान्तसे आत्माका भाव कहा हो, पराश्रित या परावलम्बी भावोंको आत्माका भाव कहा हो और जो आत्माके सच्चे स्वभावका वर्णन न करे वह

स्ताधीन होनेवाले चैतन्यके भावोंमें पृथक् मात्र पूर्ण निर्मल स्वरूप चैतन्यको बताये वही सच्चा आगम है। इसलिये सच्चे आगमको जाने बिना अपने सच्चे उपादानको नहीं जाना जा सकता।

और फिर भेदज्ञानी भी उन पुण्य-पापके भावोंको चैतन्यसे भिन्न रूपमें अनुभव करते हैं, इसलिये भी वे अचेतन हैं। भेदज्ञानी अपने स्वभावमें उपयोगको लगाते हैं तब विकार अवस्था टूटती जाती है, और फिर वह नहीं रहती, इसलिये वह अचेतन है।

प्रश्नः—यदि वे मात्र चेतन नहीं हैं, तो क्या हैं? पुद्गल हैं या कुछ और?

उत्तरः—पौद्गलिक कर्म पूर्वक होनेसे वे निश्चयसे पुद्गल ही हैं, क्योंकि जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। और कर्मके निमित्तसे वे भेद होते हैं, इसलिये वे पुद्गल ही हैं। आत्मा ज्ञायक स्वभाववाला तत्व है। जिसका जो स्वभाव होता है, वह अपूर्ण या अधूरा नहीं होता। उस स्वभाव पर लक्ष देनेसे अपूर्णता या अधूरापन दिखाई ही नहीं देगा। ऐसे चैतन्यस्वभावको देखें तो जिसमें राग द्वेष या विकारी भाव है ही नहीं, वह चैतन्य स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी प्रतीति करना ही वास्तविक प्रतीति है, वही धर्मका प्रारम्भ है।

जगतमें जब किसीके अच्छे पुण्यके परिणाम होते हैं अथवा उसके द्वारा पुण्यके कोई कार्य होते हैं तो वह अपनेको धन्य मानने लगता है। किंतु वह यह नहीं समझता कि पुण्य तो आत्मस्वभावकी हत्या करके प्रगट होने वाला विकार है, वह विकारभाव नाशवान है, फिरभी उसका विश्वास करता है, और आत्मा अखंड परिपूर्ण है उसका विश्वास नहीं करता। जहाँ थोड़ासा पुण्य करता है, वहाँ गद्गद् हो जाता है, किंतु उसे यह पता नहीं है कि उस क्षणिक पुण्यसे शांति प्राप्त नहीं होगी। एक ओर तो कहता है कि मैने अच्छे पुण्यकार्य किये हैं, और दूसरी ओर यह कहता है कि न जाने अभी कितने भव धारण करना होंगे, अथवा न जाने मेरा क्या होने वाला है। इसप्रकार उसे अपने अंतरंगमें विश्वास नहीं है, और मनमें सन्देह भरा हुआ है, तथा अनन्त भवोंका भाव बना हुआ है, तब फिर यह यह कैसे माना जाये कि

उसके मनमें उन देव गुरु आदि की बात जम गई है, जिनका अनन्तभवका भाव टूट गया है। जिसके अन्तरंगमें अनन्त भवोंके नाश करनेकी बात जम जाती है, उसके अनन्तभव हो ही नहीं सकते, और उसके ऐसा सन्देह भी नहीं हो सकता। इसलिये यह निश्चय हुआ कि पुण्य इत्यादिके विकारी भाव चाहे जितने हों तथापि वह आत्माके निःसन्देह होने में कारण नहीं हैं। पुण्यके भग भवका सन्देह दूर नहीं कर सकते और शांति नहीं दे सकते, इसलिये निःसन्देह होनेके कारणभूत अविकारी पूर्ण आत्मस्वभाव पर लक्ष देना चाहिये। पराश्रयसे निःसन्देहता प्रगट नहीं होती, और आंतरिक शांति प्राप्त नहीं होती। इसप्रकार पराश्रयसे श्रद्धा और चारित्रका दोष आता है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है? उसके उत्तरस्वरूप श्लोक कहते हैं —

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।

जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

अर्थः—जो अनादि है अर्थात् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, जो अनन्त है अर्थात् जिसका कभी विनाश नहीं होगा, जो अचल है, अर्थात् जो कभी चैतन्य भावसे अन्य रूप चलाचल नहीं होता, जो स्वसंवेद्य है, अर्थात् जो स्वयं स्वतः ज्ञात होता है, और जो स्फुट अर्थात् प्रगट है–छुपा हुआ नहीं है, ऐसा अत्यन्त चकचकित होने वाला चैतन्य स्वयं ही जीव है।

यहाँ शिष्यने अस्ति रूप चैतन्य भगवानको जाननेके लिये प्रश्न किया है, कि जिसका आश्रय लेने से हित हो, कल्याण हो। उसे गुरुने उत्तर दिया है।

जो अनादिसे है। जैसे किसी गोल चक्रका कोई प्रारम्भ ज्ञात नहीं होता, उसीप्रकार जो वस्तु अनादि है उसका प्रारम्भ कैसे हो सकता है? जिसका प्रारंभ नहीं है, वह वस्तु ही न हो ऐसी बात नहीं है। किंतु यदि आदि हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि उससे पूर्व वस्तु नहीं थी, और जब वस्तु ही नहीं थी तो उसका प्रारंभ कैसे हो सकता है? इसलिये जो वस्तु वर्तमानमें है, वह त्रिकाल

है, स्वत सिद्ध है। जो वस्तु है, उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता, इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु अनादि अनन्त है।

जब कि वस्तु कहीं संयोगोंसे उत्पन्न नहीं होती तो उसका नाश भी नहीं होता। एक एक गुण एकत्रित होकर वस्तु उत्पन्न हो, और फिर गुण बिखर जायें तथा वस्तुका नाश हो जाये, ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। वस्तुका आदि नहीं है, तो उसका अन्त भी नहीं है, किन्तु वह स्वत सिद्ध है, इसलिये वस्तु किसीसे न तो उत्पन्न होती है, और न किसीसे उसका नाश ही होता है, ऐसा वस्तु स्वभाव है।

इस श्लोकमें 'अनादि' कहकर भूतकालकी बात कही है, और 'अनन्त' कहकर भविष्य कालकी बात कही है, और 'अचल' कह कर वर्तमान की बात कही है, अर्थात् आत्मा वर्तमानमें चलाचलतासे रहित है,—अवस्थामें भी विकार नहीं है। जानना इत्यादि स्वभाव जैसा है, वैसा ही है, कुछ चल हो और कुछ अचल हो ऐसा नहीं है। अवस्थामें भी कुछ चल हुआ है, सो वह भी परमार्थसे नहीं है। वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी पर्याय अचल है जिसे निमित्तका और रागका आश्रय नहीं है, ऐसी पराश्रयरहित निर्मल पर्याय है।

आत्मा स्वसंवेद्य है, अर्थात् स्वय स्वत जाना जा सकता है। भगवान आत्मा तो प्रगट ही है वस्तु और वस्तुस्वभावका सामर्थ्य प्रगट ही है, वह कर्मा च्छादित नहीं है। वस्तु आदि-अन्तसे रहित, वर्तमानमें चलाचलतासे रहित प्रगट स्फुट है। यदि स्वत जाने तो प्रगट ही है, वह तेरे द्वारा ज्ञातव्य और अनुभव करने योग्य है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा चकचकित करता हुआ प्रकाशमान है। जैसे अमूल्यरत्न चकचकित करता हुआ प्रकाशमान होता है, और वह चाहे जितने वायुवेगसे बुझ नहीं सकता, उसीप्रकार स्वत प्रकाशमान आत्माकी चक-चकाहटको कोई कर्म नहीं ढँक सकता। यहाँ चैतन्यके अरूपी स्वभावको हीरे की तरह चकचकित कहा है, किन्तु वास्तवमें आत्माका कोई रग नहीं होता। ऐसा आत्मतत्त्व किसीसे छुपा हुआ नहीं है। वह अरूपी चैतन्य, अत्यत चक

चकित और प्रकाशमान स्वय जीव है, दूसरा कोई जीव नहीं है। यदि उस चैतन्यकी शरण ले तो तुझे शाति प्रगट हो।

सिद्धत्व आत्माकी निर्मल अवस्था है, और संसार विकारी अवस्था है। आत्मा परिपूर्ण वस्तु है। वस्तु पर्यायके द्वारा देखी जाती है, वस्तुसे वस्तु नहीं देखी जाती। पर्यायके द्वारा वस्तु पर दृष्टि डाले तो वह ज्ञात होती है। यदि आत्मा को देखना हो, किन्तु आत्माकी ओर पीठ देकर उससे विरुद्ध शरीर वाणी और मनपर दृष्टि डाले तो आत्मा नहीं दिखाइ दे सकता परन्तु कर्मफलरूप सयोगी पदार्थ दिखाइ देंगे। और यदि अन्तरगदृष्टिके द्वारा अपनी ओर दृष्टि करके देखे तो भीतर ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द आदि अनन्त गुणस्वरूप वस्तु दिखाई देगी।

आचार्यदेव कहते हैं कि चेतनता ही जीवका लक्षण है। जो लक्ष्य को बतलाता है, उसे लक्षण कहते हैं। जानने योग्य आत्मा लक्ष्य, और उसे बतानेवाला उसका लक्षण है। आत्मा वस्तु है और उसकी चेतनता उसका लक्षण है। चेतनता लक्षण द्वारा आत्मा जाना जा सकता है। पुण्य पाप या राग द्वेषके परिणाम आत्माका लक्षण नहीं है, किंतु चेतनता ही आत्माका लक्षण है। आत्माको जाननेके लिये आत्मा लक्ष्य है, और चेतनता उसका लक्षण है। उस लक्षण से आत्मा जाना जा सकता है, आगेके श्लोकमें यह बतलाते हैं कि चेतनता ही जीवका लक्षण है —

> वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो,
> नामूर्तत्व मुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्व ततः।
> इत्यालोच्य विवेचकैः समुचित नाव्याप्यतिव्यापि वा
> व्यक्त व्यजितजीवतत्त्वमचल चैतन्य मालम्ब्यताम्॥ ४२॥

अर्थ.—अजीवके दो प्रकार हैं,—एक वर्णादि युक्त और दूसरा रहित। इसलिये अमूर्तत्वका आश्रय लेकर भी (अमूर्तत्वको जीवका लक्षण मान कर भी) जगत जीवके यथार्थ स्वरूपको नहीं देख सकते;— इसप्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषोंने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणोंसे रहित चेतनता को जीवका लक्षण कहा है, जो कि योग्य है। वह चैतन्य लक्षण प्रगट है,

उसने जीवके यथार्थ स्वरूपको प्रगट किया है, और वह अचल है,— चलाचलता रहित सदा विद्यमान है, उसीका अवलम्बन करो।

यहाँ आचार्यदेव ने चैतन्यको पहिचाननेका अबाधित लक्षण कहा है। जैसे बाजारमें बहुतसे लोग चले जारहे हों उसमें से यदि दूध बेचने वाले ग्वालेको पहिचानना हो तो कहा जाता है कि जिसके सिर पर दूधका घड़ा रखा हो वह ग्वाला है, इसीप्रकार यह शरीर, मन, वाणी और पुण्य पाप के भाव इत्यादिका चक्कर एक साथ चलता है। उसमेंसे यदि कोई कहे कि ऐसा कौनसा मूल लक्षण है कि—जिसके द्वारा आत्माको पहिचाना जा सके? और उसमें अन्य किसीका ग्रहण न हो? तो वह लक्षण चेतना अर्थात् जानना—देखना है। उस जानने—देखनेके लक्षणसे आत्मा ही का ग्रहण होता है, अन्यका नहीं।

अजीवके दो प्रकार हैं,— एक वर्णादि सहित, और दूसरा वर्णादि रहित। उनमेंसे पुद्गल द्रव्य, वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त है, और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और कालद्रव्य अरूपी हैं, वर्णादि रहित हैं। इसलिये अरूपीपन आत्माका लक्षण नहीं हो सकता, अर्थात् अरूपीपनसे आत्माको नहीं पहिचाना जा सकता, क्योंकि अरूपीपनको आत्माका लक्षण माननेसे धर्मास्तिकाय इत्यादिको आत्मा माननेका प्रसंग आ जायेगा, और इस प्रकार अरूपित्वको आत्माका लक्षण माननेसे **अतिव्याप्ति** नामक दोष आजायेगा, क्योंकि वह अरूपित्व लक्षण लक्ष्यभूत आत्माके अतिरिक्त अन्य धर्माधर्मादिक द्रव्योंमें भी व्याप्त है, वह मात्र आत्मामें ही व्याप्त नहीं है, इस लिये अरूपित्व लक्षणसे आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता।

यदि आत्माका लक्षण केवलज्ञान माना जाये तो उसमें **अव्याप्ति** नामक दोष आ जायेगा, क्योंकि केवलज्ञान तो अरहंत और सिद्ध जीवोंमें ही होता है, समस्त जीवोंके नहीं होता इसलिये वे जीव नहीं कहलायेंगे इसलिये केवलज्ञान आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। समस्त जीवोंको पहिचाननेका निर्दोष लक्षण चेतना अर्थात् ज्ञाता दृष्टा है। यह लक्षण निगोदसे लेकर सिद्धों तक सभी जीवोंके होता है, इसलिये अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे

रहित चेतना ही जीवका योग्य लक्षण है, उस लक्षणसे आत्माको पहिचान कर भेदज्ञान किया जा सकता है ।

जिसे आत्मकल्याण करना हो अर्थात् आत्मसुखका मार्ग ग्रहण करना हो उसे आत्माका निर्दोष लक्षण जान लेना चाहिये, जो कि लक्ष्यसे अलग न हो सके । जो जिससे अलग हो सकता है, वह उसका लक्षण नहीं हो सकता । जो लक्षण अपनेसे अलग हो जाये अथवा जो अपने में सम्पूर्णतया व्याप्त न हो और जो नाशवान हो ऐसे लक्षणसे आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता । शरीर मन, वाणी और शुभाशुभ परिणाम अपनेसे अलग हो जाते हैं । और नाशवान हैं, इसलिये उस लक्षणसे आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता, अथवा वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता ।

धर्म करनेवालेको एक चेतना लक्षणका आधार लेना चाहिये । उसमें कोई सकल्प - विकल्प, आकुलता, हर्ष - शोकके भाव और शरीर, मन, वाणी इत्यादि कुछ नहीं आते । जानना देखना आत्माका प्रगट लक्षण है । जानना - देखना, गुणी चैतयका गुण है । यदि उसका अवलम्बन ले तो शुभाशुभ भाव और शरीर, वाणी इत्यादिका अवलम्बन सहज ही छूट जाता है ।

इसप्रकार आत्मा लक्ष्य है, और जानना - देखना उसका लक्षण है । स्वय जाननेके आधारमें रुचि - प्रतीति करके उसमें जितना रत हो सो धर्म है, और पुण्य,- पापके अवलम्बनमें जितना रत हो उतना अधर्म है ।

जैसे वस्तुके बिना गुण अग्निके बिना उष्णता, और गुडके बिना मिठास अलग- अकेली नहीं रह सकती, उसीप्रकार आत्माके बिना ज्ञानगुण अलग - अकेला नहीं रह सकता । इससे सिद्ध है कि आत्मा और उसके गुण दोनों अभेद हैं—एकरूप हैं । आत्माके गुण आत्मामें ही व्याप्त हैं, वे परमें कदापि नहीं होते ।

यहाँ कोई कह सकता है कि इसमें करने की कौनसी बात है ? किंतु यदि विचार किया जाय तो इसमें अपने करने की अनन्त बातें निहित हैं । आत्माके स्वलक्षणके द्वारा आत्माको पहिचानने और फिर उसमें स्थिर

होनेमें अनन्त पुरुषार्थ करने की बात है। आत्माके लक्षणके द्वारा आत्माको पहिचाना–पकड़ा, और उस अनन्त गुणस्वरूप आत्माके अतिरिक्त मुझमें कोई भी शुभाशुभ भाव या शरीर, वाणी, मन इत्यादि नहीं हैं, इसप्रकार स्व रूपकी सत्ताभूमिमें से निश्चय होनेसे अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है और वहाँसे मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। प्राय जीव कोई प्रयत्न नहीं करना चाहते और वे अनन्त कालसे पर पदार्थोंकी रुचि और उसके चक्करमें पड़े हुए हैं। यदि वे अपनी ओर रुचि करें तो आत्माकी अचिंत्यताका कुछ ध्यान आये। अज्ञानी जीव इसी चक्करमें पड़े हुए हैं कि राग-द्वेष, शरीरादिकी क्रिया, कुटुम्ब-परिवार और मकान इत्यादि मैं ही हूँ, या वे मेरे हैं, और वे यह भूल गये हैं कि जो ज्ञाता है सो मैं हूँ। हे भाई! जो जानना–देखना है सो ही तू है, यह स्वभाव त्रिकालमें भी नहीं छूट सकता, यह सदा विद्यमान है। जगत उसीका अवलम्बन करे। आचार्य देव कहते हैं कि हे हितामिलाषियो, हे स्वतन्त्रताके इच्छुको! जानने–देखनेके भावका ही अवलम्बन ग्रहण करो। यदि आत्मस्वभावको पहिचानना हो–उसे ग्रहण करना हो, कल्याण करना हो तो चैतन्यकी ओर उन्मुख होओ, और उसीका अवलम्ब लेकर उसीमें स्थिर हो जाओ।

स्वावलम्बनके बिना मात्र देव, शास्त्र, गुरुका अवलम्बन ग्रहण करना परावलम्बन ही है। स्वावलम्बन ग्रहण करने पर आत्म प्रतीति होती है तत्पश्चात् आत्मामें स्थिरता होती है। स्वोन्मुख होने पर जानना–देखना और उसमें स्थिर होना होता है, इसप्रकार उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनोंका समावेश हो जाता है।

निश्चयसे वर्णादि भावोंमें रागादि भाव आ जाते हैं। वे भाव जीवमें कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिये उन भावोंके द्वारा आत्मा नहीं पहिचाना जाता। वह उसका लक्षण नहीं है। निश्चयसे तो वे आत्माका लक्षण हैं ही नहीं, *किन्तु व्यवहारसे भी उन्हें जीवका लक्षण माननेमें अव्याप्ति नामक दोष आता* है, क्योंकि सनत् रूपसे वे भाव सिद्ध भगवानमें व्यवहारसे भी व्याप्त नहीं

होते, इसलिये अव्याप्ति नामक दोष आता है। यहाँ अव्याप्ति दोषमें असम्भव दोषका भी समावेश हो गया है।

यह वस्तुका लक्षण कहा जा रहा है, पर्यायका नहीं। पर्याय दृष्टि से विकारी अवस्था या संसार अवस्थाको व्यवहारमें आत्माकी अवस्था कहते हैं किन्तु वह कहीं वस्तुका लक्षण नहीं है। यदि वह वस्तुका लक्षण माना जाये तो वस्तुसे वस्तुका लक्षण कभी और कहीं भी अलग नहीं हो सकता, इस लिये वह लक्षणसिद्धोंमें भी रहना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञान-दर्शनरूप चेतना लक्षण कभी भी जीवसे अलग नहीं होता, और वह सिद्ध जीवोंमें भी होता है।

राग द्वेषके भाव व्यवहारसे भी यदि चैतन्य 'द्रव्य' रूप हो गये हों, वस्तुमें प्रविष्ट हो गये हों तो राग-द्वेषके भाव सिद्ध जीवोंमें भी रहना चाहिये, परन्तु वे सतत आत्मस्वभावमें नहीं रहते, इसलिये व्यवहारसे भी वे भाव द्रव्य रूप नहीं हैं, परन्तु अवस्थामें अवश्य होते हैं। उपादानसे ही नहीं किन्तु व्यवहारसे भी राग-द्वेष तेरे नहीं हैं। यदि व्यवहारसे राग-द्वेष द्रव्यरूप हों तो वे आत्माका स्वभाव हो जायें, और जो आत्माका स्वभाव होता है वह कभी दूर नहीं होता, इसलिये निमित्ताधीन भाव पर्यायका लक्षण हैं। जो चैतन्यकी विकारी पर्यायरूप भाव होते हैं, वे पर्यायका लक्षण हैं, वस्तुका नहीं। वे भाव वस्तुरूप हुए ही नहीं इसलिये व्यवहारसे भी वस्तुका (जीव का) लक्षण राग-द्वेष नहीं है।

इसलिये निश्चय कर कि इस समय भी मैं निश्चय या व्यवहारसे वर्ण गंध, शरीर या राग-द्वेष विकारी भावरूप नहीं हूँ। मुझमें जानने-देखनेका अस्तित्व है, और उन भावोंका नास्तित्व है। यह निश्चय करके जानने-देखने की ओर स्थिर होने की परिणति कर।

लोग कहते हैं कि आत्मा अरूपी है, किन्तु अरूपित्व भी आत्माका मुख्य लक्षण नहीं है, क्योंकि वह सर्व जीवोंमें व्याप्त होकर भी धर्माधर्मादिक अजीव द्रव्योंमें भी पाया जाता है, इसलिये उस लक्षणमें अतिव्याप्ति नामक दोष आता है। इसलिये अरूपी लक्षण द्वारा आत्माको पहिचाननेसे आत्माका

यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता। और चेतना लक्षण अन्य किसी द्रव्यमें व्याप्त नहीं होता, इसलिये चेतना ही आत्माका मुख्य और प्रगट लक्षण है। उसके द्वारा आत्माको परसे भिन्न जाना जा सकता है। (उस चेतना-स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना ही अनन्त ज्ञानियोंने धर्म कहा है। ऐसा उत्तम मनुष्य भव प्राप्त करके यदि आत्मस्वरूपको नहीं समझा तो फिर तेरा कहाँ ठिकाना लगेगा।

आत्माका स्वभाव जानना देखना है, इस बातको आज तक न तो स्वयं सुना और समझा है, और न मुमुक्षुजन ही जान पाये हैं, इसलिये मरण समय दुःख आ खड़ा होता है, इसका कारण यही है कि एक ओर तो आत्मस्वभावको नहीं पहिचाना और दूसरे शरीरको अपना मान रखा है। लोग इस चक्करमें पड़े हुए हैं कि जड़की यह अव्यवस्था क्यों कर हो रही है? किन्तु वह परमाणुओंकी अवस्था है, उनकी व्यवस्था है, परमाणु परमाणु की व्यवस्था रूपमें परिणमित हुए हैं, इससे तुझे क्या? किन्तु अज्ञानी जीव व्यर्थकी पीड़ा लिये फिरता है, और दूसरे भवमें जाकर भी वहाँ भी उसे साथ ले जाता है। आत्मा अनन्त गुणोंका समूह पिंड है, उसके सामने दृष्टि नहीं रखता और शरीरकी ओर दृष्टि रखकर यह मानता है कि जो शरीर है सो मैं हूँ। और इसलिये शरीर पर कोई दबाव आनेसे बेचैन हो उठता है। यदि आत्माकी ओर दृष्टि हो तो परसे अपनेको पृथक् समझे, और इसलिये शरीर पर कोई दबाव आनेसे आकुलित नहीं होता किन्तु मात्र उसका ज्ञाता रहता है। प्रभो! तेरा लक्षण जानने देखनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसा माने बिना तू व्यर्थ ही हैरान हो रहा है,—तू व्यर्थ ही प्रतिक्षण भयकर भाव मरणोंमें मर रहा है। जानने-देखनेके भावोंके अतिरिक्त दूसरे कोई भाव हों तो वे आत्मा के जानने देखनेके जीवनका नाश करने वाले भाव मरणके भाव हैं। जो आत्माके ज्ञान दर्शनरूप जीवनका नाश करता है, उसे मरण समय शान्ति कहाँसे हो सकती है? आत्म स्वभावका अवलम्बन लेनेसे ही हित होता है, कल्याण होता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी हितार्थी या आधार नहीं है।

पुण्य भी परमाणुओंकी एक अवस्था है, पुण्य प्रकृतिका उदय होने से बाह्य अनुकूलता प्राप्त हो जाती है, किन्तु अंतरंगका निर्णय किये बिना, चैतन्यलक्षणके अवलम्बनके बिना शांति कहाँसे आयेगी ? पुण्यके भाव करने पर भी उनमें शांतिका कारण कौन है ? पुण्यका फल प्राप्त होने पर उसी पर लक्ष देने लगता है, और यह प्रतीति नहीं करता कि मैं ही ज्ञानज्योति हूँ, तब फिर तुझे कौन शरण होगा ? पुण्यसे भविष्यमें जड़का संयोग प्राप्त हो जायेगा किन्तु मरण समय जब आकुलित होगा तब संयोग क्या करेंगे ? ज्ञानानन्द लक्षणको जाने बिना यों ही कुचल मरनेका नाम बालमरण है, अज्ञानमरण है, जब मरणकी चक्कीमें पिसता है तब पुण्यका संयोग कुछ नहीं कर पाता ! इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जानने-देखनेके लक्षण द्वारा आत्माको ग्रहण कर तो उसकी शरणसे हित कल्याण होगा, उसकी शरण के बिना अन्यत्र कहीं भी हित नहीं है। शरीर और पुण्य इत्यादि सब अशरण हैं। आत्माके लक्षणसे आत्माको पहिचाने बिना अन्य कोई शरण नहीं है।

ऐसे चेतनालक्षण द्वारा जीव प्रगट है, तथापि अज्ञानी लोगोंको उसका अज्ञान क्यों रहता है ? इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि —

(वसंततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानीजनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ४३ ॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्त भिन्न लक्षणके कारण जीवसे अजीव भिन्न है, उसे (अजीवको) उसके द्वारा ही (स्वतन्त्रतया, जीवसे भिन्नरूपसे) विलसित-परिणमित होता हुआ ज्ञानी पुरुष अनुभव करता है, तथापि अज्ञानी जीवको अमर्याद रूपसे फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्वपरके एकत्व की भ्रांति) कैसे नचा रही है ?—हमें यह बड़ा आश्चर्य और खेद है ?

आचार्यदेव कहते हैं कि यह जानना-देखना लक्षण प्रगट है, वह लक्षण राग द्वेषमें व्याप्त नहीं है, किन्तु वह तो आत्माके आधार पर अवलंबित है, आत्मामें ही व्याप्त हो रहा है। ऐसे आत्मस्वभावको न पहिचान कर अज्ञानी का अज्ञान कैसे नाच रहा है? चाहे जैसा प्रसग हो तथापि क्या जानने देखनेका नाश हो सकता है? यदि जानने देखनेरूप गुणका नाश हो तो गुणीका भी नाश हो जाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। गुणीके आधार पर गुण प्रगट रूपसे व्याप्त है, और राग द्वेषका व्याप्त होना पुद्गल पर आश्रित है। इसप्रकार भिन्न लक्षणोंके होने पर भी अज्ञानीके ऐसा क्यों होता है? उसका मोह कैसे नाचता है? हमें इससे महा आश्चर्य होता है।

आत्माके ज्ञानसे जड़ भिन्न परिणमन करता है, ऐसा ज्ञानी जीव अनुभव करते हैं। शरीर, वाणी, मन, राग, द्वेष, आकुलता इत्यादि परभावों का मेरे जानने देखनेमें आधार नहीं है, वह अजीव अपने आप स्वतन्त्रतया विलसित हो रहा है, परिणमन कर रहा है। उन राग-द्वेष इत्यादिके भावों को द्रव्यदृष्टिसे अजीवमें गिना है। उस अजीवका अपने आप परिवर्तन-परिणमन होता है, उसमें मेरे चैतन्यका हाथ नहीं है। शरीर, वाणी, मन इत्यादि सब अपने आप स्वतन्त्रतया विलसित हो रहे हैं। शरीरका कार्य शरीर और आत्माका आत्मा करता है। कोई कहता है कि हम दूसरेके कामको सुधार देते हैं! किन्तु जहाँ आत्मा शरीरका ही कुछ नहीं कर सकता तो फिर दूसरे का तो कैसे करेगा? शरीर शरीरका, वाणी वाणीका और मन मनका कार्य करता है, इसप्रकार जड़ पुद्गल द्रव्य भी सब भिन्न भिन्न, स्वतन्त्रतया विलसित हो रहे हैं। उनमेंसे कोई भी जड़ द्रव्य किसी दूसरे जड़ द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, तब फिर आत्मा जड़का कुछ करे, यह तो हो ही कहाँसे सकता है? ज्ञानीको पुरुषार्थकी मन्दतासे पर्यायमें राग-द्वेष होता है, परन्तु वह निमित्ताधीनभाव है, इसलिये द्रव्यदृष्टिसे उसे अजीवमें गिना गया है।

एक आत्मा अपना काम करे और शरीरका भी काम करे, इसप्रकार एक द्रव्य दो द्रव्योंकी अवस्थाको करे, यह तीनकाल और तीनलोकमें नहीं हो

सकता, किन्तु अज्ञानियोंको वैसा भ्रम हो गया है। आत्मा ज्ञानभावसे ज्ञान का कर्ता और अज्ञानभावसे राग-द्वेषका कर्ता होता है। वैसे परद्रव्यका कर्ता ज्ञानी तो क्या किन्तु अज्ञानी भी नहीं है। अज्ञानी मात्र मानता है कि मैं पर का कार्य कर देता हूँ, इसमें वह मात्र विपरीत मान्यता ही करता है, वैसे पररूप शरीर, वाणी और मन इत्यादि का काम अज्ञानी भी नहीं कर सकता।

प्रश्न:—रोगके समय भले ही न बोल-चाल सके किन्तु निरोग समयमें तो आत्मा बोलने चालनेका काम करता है?

उत्तर:—समयसारकी ९६ वीं गाथामें आचार्यदेवने मृतक कलेवर कहा है,—जीव सहित शरीर को मुर्दा कहा है, जिसप्रकार पानीके संयोगसे पीतलके लोटे को पानीका लोटा कहा जाता है उसीप्रकार शरीरमें जीव है— ऐसा उसे उपचारसे सचेतन कहा है। उस मृतक कलेवरमें अमृत रूप विज्ञान घन आत्मा व्याकुल हो रहा है, और चक्करमें पड़ा हुआ है, इसलिये वह वैसे भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। शरीरके साथ आत्मा है, इसलिये उसे सचेतन कहा है, वैसे तो यह शरीर ज्ञान-दर्शनसे रहित मुर्दा ही है। अज्ञानके कारण मै शरीर का यह कर सकता हूँ और यह कर सकता हूँ एसा लगता है, किन्तु रोग या निरोगके समय भी आत्मा शरीरादिका कुछ भी नहीं कर सकता। जड़ और चेतन दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं, और जो भिन्न हैं वे भिन्नका कभी कुछ नहीं कर सकते।

धर्मी जीव जड़की स्वतन्त्र अवस्थाको जड़से होती हुई देखकर विकारी अवस्थाको भी आत्मासे भिन्न जानता है। अस्थिरताके कारण अल्प विकारी अवस्था चैतन्यकी अवस्थामें होती है, किन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे अपनसे भिन्न जानता है।

आत्माका स्वभाव जैसा अमर्याद है वैसा ही उल्टा पड़ा हुआ विपरीत मान्यतामें अमर्याद रूपसे मोह व्याप्त हो रहा है, घोर अज्ञान हो गया है। अज्ञान ही संसारका बीज है, और सम्यक्ज्ञान मोक्षका बीज है।

आत्माके ज्ञान लक्षणमें दर्शन ज्ञान चारित्र,—इन तीनोंका समावेश रहता है, आत्मा जानने-देखने आदि अनन्त गुणोंका पिंड है, इसके अतिरिक्त वह परका कुछ भी नहीं कर सकता, तीनलोक और तीनकालमें भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता, तब फिर अज्ञानीका मोह क्यों नाचता रहता है ? आचार्यदेवको धर्म न समझने वालेके प्रति प्रशस्त खेद हो जाता है ।

लोग समझते हैं कि यदि चतुर डाक्टर मिल जाये तो रोग मिट जाये, किन्तु यह अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है । यदि डाक्टर अच्छा कर सकते होते तो डाक्टर स्वयं क्यों मर जाते हैं ? चाहे जितने उपाय करो तथापि जो जैसा संयोग मिलना है, वह बदल नहीं सकता और जो बदलनेवाला है वह फिर मिल नहीं सकता । लाख बात की एक बात यही है कि कोई किसीका कुछ कर ही नहीं सकता । आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा होनेपर भी अज्ञानी का मोह क्यों नाचता रहता है ।

अज्ञानीका अभिमान दूसरे और दूसरोंके कार्योंमें फैला हुआ है । कई लोग कहा करते हैं कि पहले दूसरेका कल्याण कर दें, फिर अपना कर लेंगे, किन्तु जो स्वयं ही नहीं समझा वह दूसरेको क्या समझायेगा ? दूसरे का कल्याण होना उसी पर अवलम्बित है, तुझ पर नहीं । दूसरेका पुरुषार्थ जागृत हुए बिना वह कदापि नहीं तर सकता । इसलिये तू सत्को ढूँढनेका पुरुषार्थ कर । इसमें भी अपना ही पुरुषार्थ काम आयेगा । यदि सत्की सच्ची जिज्ञासा होगी तो अवश्यमेव सत्की प्राप्ति होगी । सद्गुरुका योग मिलना पुण्याधीन है, उसका कर्ता स्वयं नहीं है, किन्तु जिसे सत्को समझने की वास्तविक जिज्ञासा जागृत होती है, उसे या तो सत् स्वरूप अपने ही अतरंगमें समझमें आ जाता है, अथवा सद्गुरुका योग मिल ही जाता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है । आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानीके शरीर, वाणी, राग, द्वेष और कुटुम्बादिमें अपनेपनका मोह क्यों नाच रहा है ? और फिर कहते हैं कि यदि मोह पिचता है तो भले नाचे ! तथापि वस्तु स्वभाव नहीं बदल सकता ।

(वसंततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव ॥ ४४ ॥

अर्थः—इस अनादि कालीन महा अविवेकके नाटकमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं । (अभेदज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है जीव अनेक प्रकारका नहीं है । यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारोंसे विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस अविवेकके नाटकमें पुद्गल ही नाच रहा है । राग-द्वेष विकार इत्यादि पर भाव हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार जिसे पृथक् प्रतीति करनेकी शक्ति नहीं है, उसकी श्रद्धारूपी जड़ ही ठीक नहीं है । जिसने परभावसे भिन्न विवेक करके परके साथकी एकत्वकी बुद्धि रूपी जड़ोंको उखाड़ फेंका है, उसके अल्प अस्थिरता रूपी टहनियाँ और पत्ते रहने पर भी वे विकसित नहीं हो सकते, किन्तु वे सूख जायेंगे और नष्ट हो जायेंगे ।

भगवान आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, और जो यह जड़ पदार्थ नाच रहे हैं सो मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, इस प्रकार आंतरिक प्रतीतिका होना ही धर्म है और यही मुक्तिका उपाय है । यहाँ अज्ञानरूपसे नाचनेको जड़ कहा है, और चैतन्यके अज्ञान एवं विकारी परिणामोंको भी जड़ कहा है । चेतन प्रगट लक्षण है, वह सदा विद्यमान है । अभेद ज्ञानमें अर्थात् सम्यक्ज्ञानमें यह सब पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई दे रहा है, जीव अनेकप्रकारका दिखाई नहीं देता । इसलिये जो यह दिखाई दे रहा है, सो सब पुद्गलका ही नाच है ।

कलम द्वारा शब्दका लिखा जाना वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है, आत्माके द्वारा वह क्रिया नहीं हो सकती । अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे

लिया जा रहा है और ज्ञानी मानता है कि मैं इस लिखे जानेकी क्रियाका ज्ञाता ही हूँ कर्ता नहीं।

भगवान आत्मामें जो अन्य विकारी अवस्था होती है, वह क्षणिक है। चैतन्यका लक्षण विकारसे विलक्षण है। विकार जड़का और निर्विकार आत्माका लक्षण है। आत्मस्वरूपको पहिचान कर उसमें स्थिर होना ही धर्म है। उसके अतिरिक्त जो रागादिक विकार है, वह सब आत्मासे विलक्षण है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य धातुसे सुशोभित है।

जैसे राख, कालिख और धुएँसे रहित अंगार लाल लाल जाज्वल्यमान दिखाई देता है उसी प्रकार आत्मामें इस शरीररूपी राखका आवरण कर्मों की कालिख और राग द्वेषका धुआँ नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसका बारम्बार परिचय कर, यही धर्म है। जो धारण कर रखे सो धातु है, आत्मा स्वयं अनंत गुणोंसे टिका हुआ है, शरीरादिक से नहीं, उसे पहिचान, उसकी रुचि कर ! यही हितका मार्ग है, अन्य नहीं।

आत्मा पदार्थ है, तत्त्व है। कोई भी पदार्थ गुण रहित नहीं होता, और कोई भी गुण गुणी रहित नहीं होता। द्रव्य और गुण दोनों वस्तुसे अभिन्न हैं। वस्तु स्वरूपको यथावत् जानकर उसमें स्थिर होने से धर्म होता है। पर द्रव्यके परिणमनको मैं बदल सकता हूँ यह मान्यता मिथ्या है, जो कि चौरासीके भ्रमणका मूल है। आत्मस्वरूपको यथावत् जानकर उसमें स्थिर होना भव भ्रमणको मिटानेका उपाय है।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि चैतन्यमें नहीं, किन्तु जो चैतन्यकी अवस्था में होते हैं—ऐसे चिद्विकारोंको देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह मेरा स्वभाव है, आत्मा तो ज्ञायक मूर्ति है, ज्ञायकस्वभाववाला तत्त्व है, उसकी पर्यायमें जो कुछ विकारकी वृत्ति होती है, उसे ज्ञानभावसे जान लेना चाहिये, किन्तु ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह भी मेरा स्वभाव है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव कहते हैं कि पुण्य पापके जो जो परिणाम होते हैं वे सब आत्मा के—निजके नहीं हैं, आत्मस्वभाव नहीं हैं, इसलिये वे अधर्म हैं। यदि यह कठिन भी मालूम हो तथापि यदि आत्महित करना हो तो यह सब समझना ही

होगा। आत्माके ज्ञायक धर्मके अतिरिक्त अ य कोई पुण्य पापके परिणाम आत्मा का धर्म नहीं हैं। पुण्य पापके परिणामोंका होना अलग बात है, और उसमें धर्म मानना अलग बात है। पुण्य पापके परिणामोंको होता हुआ देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह मेरा धर्म है पर के प्रति अपनेपनकी म-यता अनन्त ससारका मूल है।

चिद्विकारोंको देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह चैत-य ही हैं, क्योंकि यह युक्ति पूर्वक कहा जा चुका है कि चैत-यकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त हो वही चैतन्यत्व कहलाता है। रागादिक विकार चैत-यकी सर्व अवस्थाओंमें -याप्त नहीं रहते क्योंकि मोक्ष अवस्थामें उनका अभाव हो जाता है, इसलिये वे चैत-यके नहीं हैं। रागादि विकारोंका अनुभव भी आकुलतामय दु ख रूप है, इसलिये वह चेतन नहीं हैं, चैतन्यका स्वभाव नहीं हैं कि-तु जड़के निमित्तसे होनेके कारण जड़ ही है। चैत-यका स्वभाव तो निराकुल है।

पाप और पुण्य विकार दोनों आकुलतामय हैं, कि-तु अज्ञानीजन पुण्यके फलको मीठा और पापके फलको कड़ुवा मानते हैं, कि-तु यह निरा भ्रम है, क्योंकि पुण्य पापके वर्तमानमें जो परिणाम होते हैं वे भी दु खरूप हैं, आकुलतामय हैं, तब फिर उनके फल मीठे कहाँसे हो सकते हैं? जो वर्तमान में ही दु खरूप हैं उनके फल भी दु खरूप ही होंगे। अज्ञानीको भ्रमवश सुख मालूम होता है। जिसे विष चढ़ा होता है, उसे नीमके पत्ते कड़वे नहीं मालूम होते, इसका अर्थ यह नहीं कि—नीमके पत्तोंकी कड़वाहट मिट जाती है, कि-तु विषके प्रभावसे कड़वे नहीं मालूम होते, इसीप्रकार अज्ञानकी विपरीतताके प्रभावसे अज्ञानीको पुण्यके फल मीठे मालूम होते हैं, जब कि वास्तवमें वे विष फल हैं, तथापि विपरीत मा-यताके विषप्रभावसे वे मीठे मालूम होते हैं। व स्तवमें पुण्यके भाव और पुण्यके फल,—दोनों दु ख रूप ही हैं, किन्तु अज्ञानी ने उन में सुख की कल्पना कर रखी है।

आत्मामें पुण्य-पापका अनुभव दुःखरूप है। दोनों चांडालीके पुत्र हैं। आत्मा अमूर्तपिंड है, इसका आश्रय लिये बिना न तो कभी किसीका हित हुआ है, न होता है, और न होगा। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसकी पर्यायमें पुण्य-पापके भाव होते हैं यह विष हैं, आत्म स्वभावकी हत्या करनेवाले हैं। पुण्य-पापके भाव ही दुःखरूप हैं तब फिर उनके फलोंका तो कहना ही क्या है! भला वे सुखरूप कहाँसे हो सकते हैं? आत्मस्वभावका वेदन शांत निराकुल है, उसे जाने बिना आत्मानुभव नहीं हो सकता। पुण्य पापके भाव आत्माको शांति नहीं देते, किन्तु आत्म स्वभाव ही शांति देता है। पुण्य पापके भाव आत्माका स्वभाव नहीं हैं, और जो जिसका स्वभाव नहीं है उसका आश्रय लेनेसे स्वभाव कैसे प्रगट हो सकता है? सत् सत्से प्रगट होता है, असत्से नहीं। आत्मा अनन्त गुणोंका पिंड है उसकी वर्तमान अवस्थामें मात्र राग-द्वेष होता है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु आकुलतामय है, इसलिये जड़ है, इसप्रकार दोनोंका पृथक् ज्ञान करनेसे ज्ञाता तत्व प्रगट होता है।

अब भेदज्ञानकी प्रवृत्तिके द्वारा यह ज्ञाता द्रव्य स्वयं प्रगट होता है, इसप्रकार कलशमें महिमा प्रगट करते हुए इस अधिकार को पूर्ण करते हैं—

(मंदाक्रांता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥

अर्थ—इसप्रकार ज्ञानरूपी आरेको बारम्बार अभ्यास पूर्वक चला कर भी जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रगट रूपसे पृथक न हुए, वहाँ तो ज्ञाता द्रव्य अत्यंत विकास रूप होने वाली अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्तिके द्वारा विश्वको व्याप्त करके अपने आप ही अतिवेगसे उग्ररूपसे प्रकाशित हो गया।

जैसे लकड़ीका साधा देखकर बीचमें आरा चलानेसे उसके दो टुकड़े हो जाते हैं, उसीप्रकार ज्ञानरूपी आरेसे यह भेद कर लेना चाहिये कि मैं तो ज्ञान शांति, अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादिका अनन्त गुणोंका पिंड हूँ और इसके अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी तथा भीतर होनेवाले पुण्य पापके परिणाम इत्यादि सब पर हैं। और इसप्रकार स्वभाव तथा विभावकी संधि देखकर ज्ञानरूपी आरे द्वारा दो टुकड़े कर लेना चाहिये।

राग द्वेषके भाव बदलने वाले हैं और मै सदा स्थायी शाश्वत् वस्तु हूँ, इसप्रकार आत्माके स्वभाव और विभावके बीच आरा चलाकर दोनोंको अलग अलग कर देना चाहिय, और ज्ञाना स्वभावमें एकाग्र हो जाना चाहिये। उसीका नाम आरा चलाया कहा जाता है।

मुझमें परमाणुका एक अंश भी नहीं है, और मैं रागका एक अंश भी नहीं हूँ, किन्तु मै अनन्तगुणोंका पिंड शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, इसप्रकार श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना सो चारित्र है। ज्ञायक आत्मामें ज्ञायककी प्रतीति, ज्ञान और उसका चारित्र तीनों समाविष्ट हो जाते हैं। जैसे लकड़ीके दो टुकड़े करनेके लिये आरेको बारम्बार चलाना पड़ता है, उसीप्रकार ज्ञानरूपी आरेको बारम्बार अभ्यास पूर्वक चलाकर ज्ञायक द्रव्यमें **एकाग्र होने** मे अत्यंत **प्रवीण होकर** जीव और अजीव दोनोंको भिन्न भिन्न कर देना चाहिये। ज्ञानरूपी आरा चलाते चलाते जीव और अजीव दोनों प्रगट रूपसे अलग न हो पाये कि इतनमें तो वहाँ ज्ञाताद्रव्यमें लीन हो गया, इसलिये ज्ञाता द्रव्य स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो गया और ज्ञाताद्रव्यमें लीन होनेपर जीव-अजीव दोनों अलग हो गये।

ज्ञायकका ज्ञान करना उसकी आत्माका प्रतीत करना और उसमें एकाग्र होना ऐसा ज्ञानकांड स्वभाव है, जड़की क्रिया करने रूप क्रियाकाँड आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माकी अरूपी क्रिया आत्मामें होती है, परका क्रियाकाँड आत्मामें नहीं होता। कोई कहता है कि निष्काम भावसे परकी क्रिया करनेमें क्या हानि है? उससे कहते हैं कि मैं परकी क्रिया कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता में और परकी क्रिया करनेकी इच्छामें अनन्त सकामना है,

निष्कामता नहीं। निष्कामता तो यह है कि जहाँ यह दृष्टि हो कि मैं परकी क्रिया कर ही नहीं सकता। वहाँ परकी क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं रहती, उसके बाद जो क्रिया होती है वह स्वामित्वबुद्धि पूर्वक नहीं होती। रागकी या शरीरकी क्रिया होती है, अथवा हो जाती है, किन्तु उसमें स्वामित्व बुद्धि नहीं है, राग पर राग नहीं है, किन्तु वह रागका ज्ञाता रहता है। परकी क्रिया निष्काम भावसे करनी चाहिये, इसप्रकार जहाँ करनेकी बुद्धि है वहाँ निष्काम दृष्टि नहीं किन्तु सकाम दृष्टि है। इस बातको आज माने कल माने या दो चार भवोंके बाद माने, किन्तु यह मार्ग ग्रहण किये बिना कहीं भी कभी हित नहीं हो सकता।

पहले कलशमें कहा था कि पुद्गल द्रव्य नचता है और इस कलश में ज्ञानरूपी आरेसे 'यह इस प्रकार भिन्न है, यह इसप्रकार भिन्न है', यों वह पर आरेको नचाकर अर्थात् परिणमित करके एकाग्र हुआ कि वहाँ ज्ञाता द्रव्य प्रकाशित हो उठा। इसप्रकार पहले कलशमें नास्तिको और इसमें अस्तिको प्रधान बनाकर कथन किया है।

यथार्थ चारित्र होनेका कारण यथार्थ दर्शन है। यथार्थ प्रतीति या यथार्थ विश्वासके बिना एकाग्रता नहीं हो सकती, इसलिये एकाग्र होनेका कारण पहले आत्माको पहिचानकर यथार्थ प्रतीति करना है। विपरीत श्रद्धा में विपरीत और यथार्थ श्रद्धामें यथार्थ एकाग्रता होती है।

यह शरीर वाणी और मन ही नहीं किन्तु विकार भी मुझसे भिन्न हैं। मेरे दर्शन ज्ञान चारित्र शरीरमें नहीं किन्तु मुझमें ही हैं। मैं अनन्त गुणोंका पिंड आत्मा हूँ इसप्रकार परसे पृथक्त्वका बोध और उसकी प्रतीति करना तथा उसमें स्थिर होना चारित्र है। इसप्रकार ऐसा अभ्यास करते करते ज्ञाता द्रव्य भलीभाँति प्रकाशित हो जाता है। जीव और अजीव दोनों प्रगटरूपसे पृथक् नहीं हो पाते कि वहाँ ज्ञाताद्रव्य अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति द्वारा विश्वको व्याप्त करके अपने आप ही अति वेगसे उग्रतया प्रकाशित हो उठता है। यह जड़ और यह आत्मा है, ऐसा अभ्यास करते हुए जड़ और चैतन्य प्रगटरूप से अलग न हुए कि वहाँ तो आत्मा अपने स्वभाव में

लीन हो जाता है, अथवा वह फूलकी कलीकी भाँति विकसित हो उठता और इसप्रकार जड़ तथा चैतन्य दोनों अलग हो जाते हैं । फूलकी कलीकी भाँति आत्माके गुण शक्तिरूपसे विद्यमान थे वे विकसित हो जाते हैं ।

चिन्मात्रशक्ति अर्थात् ज्ञानमात्र शक्तिके द्वारा विश्वको व्याप्त कर लेता है । अर्थात् विश्वको जाननेका आत्माका स्वभाव है । इसप्रकार मेरा स्वभाव जगतके समस्त पदार्थोंको जानने का है । मेरा और परका व्यवहारसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है । परमार्थसे मैं अपने ज्ञानकी पर्यायको ही जानता हूँ । इसका अर्थ यह नहीं कि मैं परको जानता ही नहीं हूँ, क्योंकि ज्ञान परको भी जानता है, आत्माका स्वभाव स्व पर प्रकाशक है । वह निश्चयसे अपने ज्ञानकी पर्यायको जानता है, किंतु व्यवहारसे परको भी जानता है । इस प्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेका मेरा स्वभाव है, यह जानता हुआ वह अपने आप ही पराश्रयके बिना, स्वतन्त्रतया अनिवेग से ज्ञाताद्रव्य विकसित हो उठता है । बारबार अभ्यास करने पर और स्वोन्मुखताकी प्रतीति होने पर एकाग्रता होती है, वहाँ अति वेगसे उग्रतया ज्ञाताद्रव्य प्रकाशित हो जाता है, उसमें किंचित्मात्र विलम्ब नहीं होता ।

जहाँ जीव और जड़ दोनों स्पष्टतया भिन्न प्रतीत हुए कि वहाँ तात्काल निर्विकल्प अनुभव हुआ, सम्यक्दर्शन हुआ, सर्व प्रथम बोध बीज प्राप्त हुआ, श्रद्धा रूपी बीज प्रगट हुआ और सब प्रथम धर्म उदित हो गया । वहाँ मै आत्मा हूँ, शांत स्वरूप हूँ ऐसे बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट जाते हैं, और निर्विकल्प आनन्दमय अनुभव हुआ, अहो ! अनन्त समृद्धि प्रगट हो गई ।

भेदज्ञानसे अलग करते करते, एकाग्र होते होते अनुभव हुआ, सम्यक्दर्शन हुआ, आन्तरिक शुद्धि बढ़ी, और मैं ऐसा हूँ, या वैसा हूँ, इत्यादि बुद्धिपूर्वक होनेवाले विचार भी छूट गये । यह सबसे पहली इकाई की बात है एल० एल० बी० जैसी बड़ी भूमिकाकी बात नहीं है, यह तो प्रथम सम्यक्दर्शनकी बात है । जैसे अज्ञानी जीव सांसारिक विवाहादि कार्यों में ऐसा लीन हो जाता है कि उनके अतिरिक्त सब कुछ भूल जाता है, इसी-

प्रकार ज्ञानी जीव निरुपाधिकतत्वके स्वादमें लीन हो जाता है। और वह स्वभाव भावकी ओर बढ़ता हुआ बाहरके समस्त तत्वोंको दुःखरूप देखता है, तथा वह जानता है कि आत्मस्वभावको पहिचान कर उसमें स्थिर होनेसे अनन्त जन्म मरणका दुःख दूर करके स्वभावकी अनन्त समृद्धि और अनन्त सुख प्रगट होगा। मेरे स्वभावमें बाह्य अवलम्बन नहीं है, मैं शरीर, मन, वाणी और विकल्पोंसे रहित हूँ इसप्रकार विचार करते करते जहाँ स्वभावमें जम गया कि वहाँ निर्विकल्प अनुभव हो जाता है। इसीका नामधर्म है। पुण्य-पापके परिणामोंसे धर्म नहीं होता त्रिकालमें भी असत्के मार्गसे सत् नहीं आता। वस्तु स्वरूप किस प्रकारका है यह समझनेके लिये पहले यथार्थ श्रवण करना चाहिये। राग-द्वेष और भ्रान्तिरूप विकारके हिंडोले पर झूल रहा है, एक दो घटे श्रवण किया और मान लिया कि अब हम कर लेंगे। किन्तु भाइ! अनन्तकालसे विविध प्रकार की विपरीत मान्यताएँ बना रखी हैं, उन्हें दूर करनेके लिये सत्समागम द्वारा बारम्बार अभ्यास करना चाहिये, उसके बिना समझमें नहीं आ सकता। एक-दो घटे सुननेसे धम हो जायेगा एसी समझमे पुरुषार्थ उदित नहीं होगा जिसे आत्महित करनेकी रुचि हो गइ हो उसे अपूर्णता स्वीकार नहीं होती।

इस कलशमें कहा है कि विश्वको व्याप्त करके, अर्थात् विश्वको जानकर ज्ञाता द्रव्य प्रगट होता है। इसका अर्थ यह है कि सम्यक्‌दृष्टि जीव श्रुतज्ञान द्वारा विश्वके समस्त भावोंको संक्षेपसे अथवा विस्तारसे जानता है, और निश्चयसे विश्वको प्रत्यक्ष जाननेका उसका स्वभाव है। इसलिये यह कहा है कि वह विश्वको जानता है। सम्यक्‌दृष्टि जीव श्रुतज्ञानके द्वारा, अर्थात् आत्माके निर्मलज्ञानके द्वारा समस्त विश्वके भावोंको जानता है। जैसे एकसे लेकर दस तकके अक सीख लेनेपर उनमें लाखों करोड़ोंकी संख्या और सारे पहाड़े आ जाते हैं उसीप्रकार जहाँ ऐसी सर्वतोमुखी प्रतीति हो गइ कि मेरा चैतन्य भगवान परसे निराला है वहाँ तत्सम्बन्धी सारी गिनती और पहाड़े ज्ञात हो जाते हैं। उसके हाथमें विश्वकी सब व्यवस्थाको जानने की रीति आ जाती है। जिसने आत्माको जान लिया उसने सबको जान

लिया। जहाँ आत्म प्रतिति हो गई वहाँ सम्यक्दृष्टि जीव समस्त लोकके भावोंको संक्षेप या विस्तारसे जान लेता है। यद्यपि सबको प्रत्यक्ष जाननेका उसका स्वभाव है, इसप्रकार केवलज्ञान नहीं हुआ है, तथापि सम्यक्दृष्टि जीव विश्वको जानता है ऐसा कहा है। इसप्रकार इस कलशका एक आशय सम्यक्दर्शनका और दूसरा केवलज्ञानका है।

जीव और अजीवका अनादि कालीन संयोग है, अर्थात् वे मात्र एक साथ रह रहे हैं, एकमेक नहीं हुए हैं। उस संयोगके अलग होनेसे पूर्व अर्थात् जीवके मुक्त होनेसे पूर्व आत्मा और जड़के भेदज्ञानको बारम्बार भाते हुए अमुक दशा होनेपर निर्विकल्पधारा बन जाती है, जिसमें केवल आत्माका अनुभव रह जाता है। जहाँ गुणी आत्माके लक्षसे एकाग्र हुआ और श्रेणी जम गई वहाँ मात्र आत्माका अनुभव रह जाता है, लीनताके सुदृढ़ होनेपर बुद्धिपूर्वक होने वाले विचार छूट जाते हैं और उससे भी अधिक श्रेणीके स्थिर होनेपर अबुद्धिपूर्वक होने वाले विचार भी छूट जाते हैं, और फिर अत्यंत वेगपूर्वक आगे बढ़ने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इसप्रकार जो स्वभाव पहले शक्तिमें था वह साक्षात् प्रगट हो जाता है। पहले सम्यक्दर्शनका अभ्यास किया, फिर स्थिरताका प्रयत्न किया, और फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ, तत्पश्चात् मोक्ष हुआ। और मोक्ष होनेके साथ ही अघातिय कर्मोंका भी नाश हो जाता है। परसे भिन्न होनेकी यह रीति है, और यही स्वतंत्र सुखका उपाय है।

पहले सत्समागमके द्वारा यह समझना चाहिये कि स्वाश्रय क्या है, और पराश्रय क्या है। इसका यथावत् परिचय करके अभ्यास करने पर सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। सम्यक्दर्शन होने पर जगतके समस्त भावोंको जानता है। सम्यक्दृष्टि जीवके स्थिर होनेकी शक्ति प्रगट होती है, और उससे केवलज्ञान प्रगट होता है। उस केवलज्ञानमें सब साक्षात् पूर्णतया ज्ञात होता है।

इसप्रकार जीव और अजीव अलग, अलग होकर रंगभूमि से बाहर हो जाते हैं। इस समयसारको नाटककी उपमा दी गई है। जड़ और चेतन

दोनों एकत्रित होकर रंगभूमिमें नाच रहे थे, वे दोनों अलग हो जाते हैं।

इस समयसारको नाटक कहनेका कारण यह है कि जैसे नाटकमें कोई भर्तृहरि राजाका वेश धारण करके उसके समस्त जीवन चरित्रको तीन चार घंटेमें ही बता देता है, इसीप्रकार अनादिकालसे एक ही साथ चले आने वाले आत्मा और कर्मोंको जिन्होंने एक मान रखा है, उन जीवोंको आत्मस्वरूप बताकर मोक्षमें पहुँचानेके लिये आचार्यदेवने ४१५ गाथाओंमें सब कुछ बता दिया है।

जीवाजीवाधिकारमें पहले ३८ गाथाओंमें रंगभूमि-स्थल बताया है, तत्पश्चात् नृत्य मंच पर जीव और अजीव दोनों मिलकर प्रवेश करते हैं, और दोनोंने एकत्वका स्वाँग रचा है, तथापि दोनोंकी प्रवृत्ति प्रतिक्षण भिन्न भिन्न है। जड़की अवस्थाका आत्मा और आत्माकी अवस्थाका जड़ आधार नहीं है, किन्तु अज्ञानावस्थामें दोनों मिलकर नाच रहे थे कि वहाँ सम्यग्ज्ञानीने लक्षणभेदसे परीक्षा करके दोनोंको अलग जान लिया इसलिये स्वाँग पूरा हो गया। जैसे कोई बहुरूपिया वेश बना कर नाच रहा हो, और उसे लोग पहिचान लें कि यह तो अमुक व्यक्ति है तो वह गालफुलाकर चला जाता है, इसीप्रकार जड़ और चैतन्य नाच रहे थे उन्हें सम्यग्ज्ञानीने मूल रूपमें—अलग अलग जान लिया इसलिये वे अलग हो गये, अर्थात् रंगभूमिमें से निकल भागे, और परमाणु जगतमें रह गये और आत्मा मोक्ष चला गया। -

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निज भाव सुदावैं,
श्रीगुरुके उपदेश सुनै' रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जग मांहि महन्त कहाय बसैं शिव जाय सुखी नित थावैं।

जीव और अजीव अनादि संयोगसे मिले हुए हैं। शरीर वाणी और मन सब जड़ हैं—परमाणुओंका समूह हैं। और वे जगतके अनादि तत्व हैं, और चैतन्य भगवान भी अनादि तत्व है। जीव, अजीव अनादि संयोगसे एक ही स्थान पर रह रहे हैं, इसे मूढ़ जीव नहीं समझता। जड़ और चैतन्य दोनोंको भिन्नरूपसे जाने बिना आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। जड़ और चैतन्य

हैं, किन्तु जिनने आत्मस्वरूपको जान लिया है वे ही सच्चे महत हैं। महत धर्मात्मा होता है, और वह निरुपद्रव निर्विघ्न शिवपदमें पूर्ण दशा प्रगट करके निवास करता है। आत्मा स्वयं कल्याणमूर्ति है, उसमें स्थिर होना ही शिवपद है, शिवपद आत्मामें है, अन्यत्र-बाहर नहीं। सिद्ध क्षेत्र भी बाह्य क्षेत्र है, आत्माका शिवपद आत्मामें ही है। शिवपद प्राप्त होने पर आत्मामें सदा सुखावस्था बनी रहती है। एक बार मोक्षपर्याय प्रगट हो जाने पर फिर संसारमें अवतार नहीं लेना पड़ता।

कुछ लोग यह मानते हैं कि दूसरोंको तारनेके लिये पुनः अवतार ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है। जैसे जले हुए बीज फिर कभी नहीं उग सकते। इसीप्रकार जिनका संसारका बीज जल चुका है, और मोक्षपर्याय प्रगट होगई है वे फिर कभी संसारमें अवतार नहीं लेते। जो जीव आत्मविकास करके आगे बढ़ते हैं वे दूसरोंको तारनेके लिये नहीं, किन्तु स्वयं मोक्ष प्राप्तिके लिये ऐसा करते हैं। आत्माकी यथार्थ प्रतीति और ज्ञान करके उसमें स्थिर होनेसे शिवपद प्राप्त होता है, जहाँ आत्मा शाश्वत् सुख भोगता है।

श्री कुंदकुंदाचार्यदेवने इन ६८ गाथाओंमें और अमृतचंद्राचार्यने इनकी टीकामें अनेकानेक अद्भुत बातें कही हैं। यदि उन्हें ज्योंका त्यों समझ ले तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

[इसप्रकार इस समयसार शास्त्र पर अध्यात्म योगी श्री कानजी स्वामी द्वारा किये प्रवचनोंका यह प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ।]

❀ समाप्त ❀

दोनों एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिये क्या वे एक हो गये हैं ? क्या एक तत्व दूसरे तत्त्वरूप हो सकता है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु मूढ़ जीव समझता नहीं है, इसलिये आत्मताको प्राप्त नहीं होता।

सम्यक् भेद विज्ञान होने पर तत्काल ही वीतरागता नहीं होती, किन्तु निज और परके एकत्वकी विपरीत मान्यताको बदलकर दोनोंको भिन्न मानने लगा, पुण्य-पाप और अपने स्वरूपमें भेद करके निज परको भिन्न भिन्न मानने लगा। इसप्रकार अपने भावके दाव पेंच या कलासे आत्माको पकड़ा जा सकता है। यहाँ 'मुदाये' का अर्थ यह है कि अपनी प्रगट करने योग्य कला आत्माके निज भावसे प्रगट होती है, परसे नहीं।

सत्के प्रति प्रीति हो तभी तो सत्को समझनेकी भावना होती है ? और तभी गुरुका उपदेश सुननेके लिये तत्पर होता है। जिसे आत्माको जाननेकी उत्कट इच्छा होती है, वह कहता है कि अहा ! मैंने ऐसा उपदेश कभी नहीं सुना था, जो कुछ गुरु कह रहे हैं इसप्रकार मैंने कभी नहीं समझा था, यह तो कोई अपूर्व ही बात है। इसप्रकार उल्लास पूर्वक पुरुषार्थ करता हुआ अज्ञान दूर करता है। जिस समय पुरुषार्थ किया वही समय भला है और वह दिन भला है। पुरुषार्थ करनेमें चारों समवाय आ जाते हैं। वस्तु पर यथार्थ दृष्टिकी और उसमें स्थिर हुआ सो वह पुरुषार्थ, और पुरुषार्थ द्वारा जो स्वभाव पर्याय प्रगट हुई सो स्वभाव, जिस समय स्वभाव पर्याय प्रगट हुई सो सुकाल, पुरुषार्थके द्वारा जो पर्याय होनी थी वह हुई सो नियत और स्वभाव पर्याय प्रगट होते समय जो कर्म का अभाव हुआ सो कर्म है। चार समवाय अस्तिरूप हैं, और कर्म नास्तिरूप है, इसप्रकार पुरुषार्थमें चारों समवाय आ जाते हैं।

अज्ञानके दूर होने पर आत्माकी महत्ताकी प्रतीति हुई कि जगतमें महन्त हो गया है। आत्मा, महात्मा और परमात्मा, इसप्रकार आत्माके तीन प्रकार हैं। आत्मा अनादि कालसे है, किन्तु जब उस आत्माकी प्रतीति होती है, तब वह महात्मा हो जाता है, और पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट होने पर परमात्मा हो जाता है। रुपया पैसा और बाह्य वैभव वाले सच्चे महन्त नहीं

हैं, किंतु जिनने आत्मस्वरूपको जान लिया है वे ही सच्चे महत हैं। महत धर्मात्मा होता है, और वह निरुपद्रव निर्विघ्न शिवपदमें पूर्ण दशा प्रगट करके निवास करता है। आत्मा स्वयं कल्याणमूर्ति है, उसमें स्थिर होना ही शिवपद है, शिवपद आत्मामें है, अन्यत्र–बाहर नहीं। सिद्ध क्षेत्र भी बाह्य क्षेत्र है, आत्माका शिवपद आत्मामें ही है। शिवपद प्राप्त होने पर आत्मामें सदा सुखावस्था बनी रहती है। एक बार मोक्षपर्याय प्रगट हो जाने पर फिर संसारमें अवतार नहीं लेना पड़ता।

कुछ लोग यह मानते हैं कि दूसरोंको तारनेके लिये पुन अवतार ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है। जैसे जल हुए बीज फिर कभी नहीं उग सकते। इसीप्रकार जिनका संसारका बीज जल चुका है, और मोक्षपर्याय प्रगट होगई है वे फिर कभी संसारमें अवतार नहीं लेते। जो जीव आत्मविकास करके आगे बढ़ते हैं वे दूसरोंको तारनेके लिये नहीं, किन्तु स्वयं मोक्ष प्राप्तिके लिये ऐसा करते हैं। आत्माकी यथार्थ प्रतीति और ज्ञान करके उसमें स्थिर होनेसे शिवपद प्राप्त होता है, जहाँ आत्मा शाश्वत् सुख भोगता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इन ६८ गाथाओंमें और अमृतचन्द्राचार्यने इनकी टीकामें अनेकानेक अद्भुत बातें कही हैं। यदि उन्हें ज्योंका त्यों समझ ले तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

[इसप्रकार इस समय शास्त्र पर अध्यात्म योगी श्री कानजी स्वामी द्वारा किये प्रवचनोंका यह प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ]

❁ समाप्त ❁